व्याख्यान माला

(BEADS OF SERMONS)

(दूसरा भाग)

योगीप्रवर हठयोग राजयोग आचार्य
ब्रह्मर्षि श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द
सरस्वती जी महाराज

योग निकेतन ट्रस्ट, नयी दिल्ली



व्याख्यान माला

(दूसरा भाग)

५४ प्रकार के विभिन्न व्याख्यानों के संकलन द्वारा
आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार का
नया अनुसन्धान

प्रणेता
आत्मवित् योगीप्रवर हठयोगराजयोगाचार्य
ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षि श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द
सरस्वती जी महाराज

रचयिता
व्याख्यान माला (प्रथम भाग), बहिरंग-योग,
आत्म-विज्ञान, ब्रह्म-विज्ञान, प्राण-विज्ञान,
ज्योति-विज्ञान, निर्गुणब्रह्म

प्रकाशक

योग निकेतन ट्रस्ट

योग निकेतन ट्रस्ट
३० ए/७८, पंजाबी बाग, देहली-११००२६

प्रथम संस्करण
मार्च, १९८२

मूल्य : २५ रुपये

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली-११००५३ में मुद्रित

भूमिका

श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज के व्याख्यानों का यह दूसरा भाग भक्तजनों के लाभार्थ प्रस्तुत करते हुए हमें अति प्रसन्नता हो रही है। पहला संग्रह बहुत लोकप्रिय रहा। उसमें ५४ व्याख्यान संग्रहित किए गए थे। इसमें भी ५४ व्याख्यान रखे गए हैं। दोनों को मिला कर १०८ व्याख्यानों की पवित्र माला पूर्ण होती है।

श्री १०८ पूज्यपाद स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी के मुखारविन्द से प्रकट हुए अमूल्य वचनों को बड़े यत्नपूर्वक श्री ब्रह्मचारिणी अरुणा एवं ललिता टेप करती रहीं। उन व्याख्यानों को बाद में लिपिबद्ध किया गया और योगनिकेतन ट्रस्ट दिल्ली के द्वारा दो पुस्तकों के रूप में प्रकाशित कराया गया।

योगाभ्यासियों के लाभ के लिए इस पुस्तक में विभिन्न विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई है। अभ्यासियों के जानने योग्य वह सारा ज्ञान इस ग्रंथ में गागर में सागर की तरह संकलित कर दिया गया है।

मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति है आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार कैसे करें ? कुण्डलिनी की शक्ति का जागरण कैसे करें ? इस प्रकार के सूक्ष्म विषयों से लेकर काम, क्रोध, भय और लोभ को वश में कैसे करें ? ब्रह्मचर्य की महिमा क्या है ? ब्रह्माण्ड के साथ आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध क्या है ? इन विराट विषयों तक विस्तृत चर्चा की गई है।

आशा है योगाभ्यासी एवं चिन्तक इन आदेशों का लाभ उठाकर सुमार्ग पर चल सकेंगे और कल्याण के भागी बनेंगे।

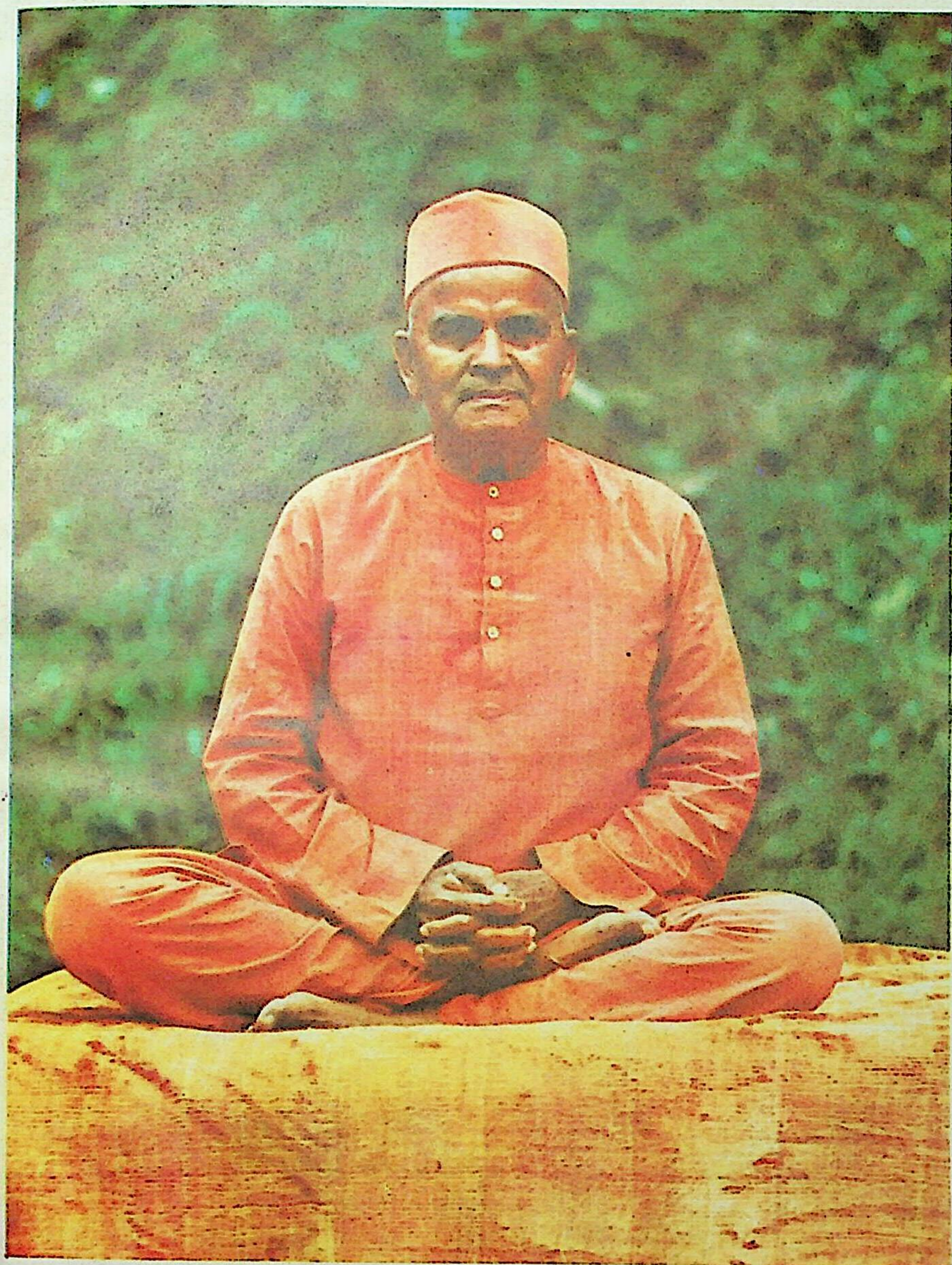
इन ग्रन्थों को अंग्रेजी में भी प्रकाशित कराया जा रहा है। इनके लिए अनुवाद कार्य हो रहा है। कुछ समय पश्चात् वे पुस्तक भी प्रकाशित हो जाएंगी।

बलदेवराज चरला, मन्त्री,
योग निकेतन ट्रस्ट, दिल्ली।

प्राक्कथन

व्याख्यान माला का दूसरा भाग—इस ग्रन्थ में ५४ व्याख्यान संग्रह किए हैं। प्रथम व्याख्यान माला में भी ५४ व्याख्यान प्रकाशित कराए गए हैं। इन दोनों ग्रन्थों में १०८ व्याख्यानों को प्रकाशित कराया गया है। यदि एक ही ग्रन्थ में १०८ व्याख्यान प्रकाशित करा देते तो ग्रन्थ बहुत मोटा और भारी हो जाता और कीमत भी वढ़ जाती। सर्व साधारण के लिए खरीदना भी कठिन होता। अतः सर्व जनता के लिए खरीदना आसान हो जाय इसीलिये दो विभागों में प्रकाशन कराना उचित समझा। इन व्याख्यानों को भाषण के समय में टेप किया गया और पश्चात् उनको टेपों से उतार कर सब को संग्रह किया गया है, क्योंकि १०८ मणकों की एक माला होती है, अतः इन ग्रन्थों का नाम माला के रूप में व्याख्यान माला रखा गया है। इनमें की १०८ पूज्य पाद्स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वतीजी महाराज के भिन्न-भिन्न विषयों पर जो उपदेश साधकों को अभ्यास से पूर्व हुआ करते थे इनको श्री ब्रह्मचारिणी अरुणा लालता देवी टेप करती रहती थीं उनको लिपिवद्ध करके योग निकेतन ट्रस्ट देहली ने दो पुस्तकों के रूप में प्रकाशित कराया है। यह काम लोकोपकार के लिए किया गया है ताकि संसार के सब लोग इन उपदेशों से लाभ उठाकर सुमार्ग पर चल सकें और कल्याण के भागी बनें। इन ग्रन्थों को हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित कराया जा रहा हैं। हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं, अंग्रेजी में अनुवाद हो रहा है। कुछ समय तक वे भी प्रकाशित हो जायेंगी।

स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती
प्रधान व संस्थापक योग निकेतन
३० ए/७८, पंजावी बाग, देहली-२६



श्री १०८ स्वामी योगेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज

Shri 108 Swami Yogeshwaranand Saraswati Ji Maharaj

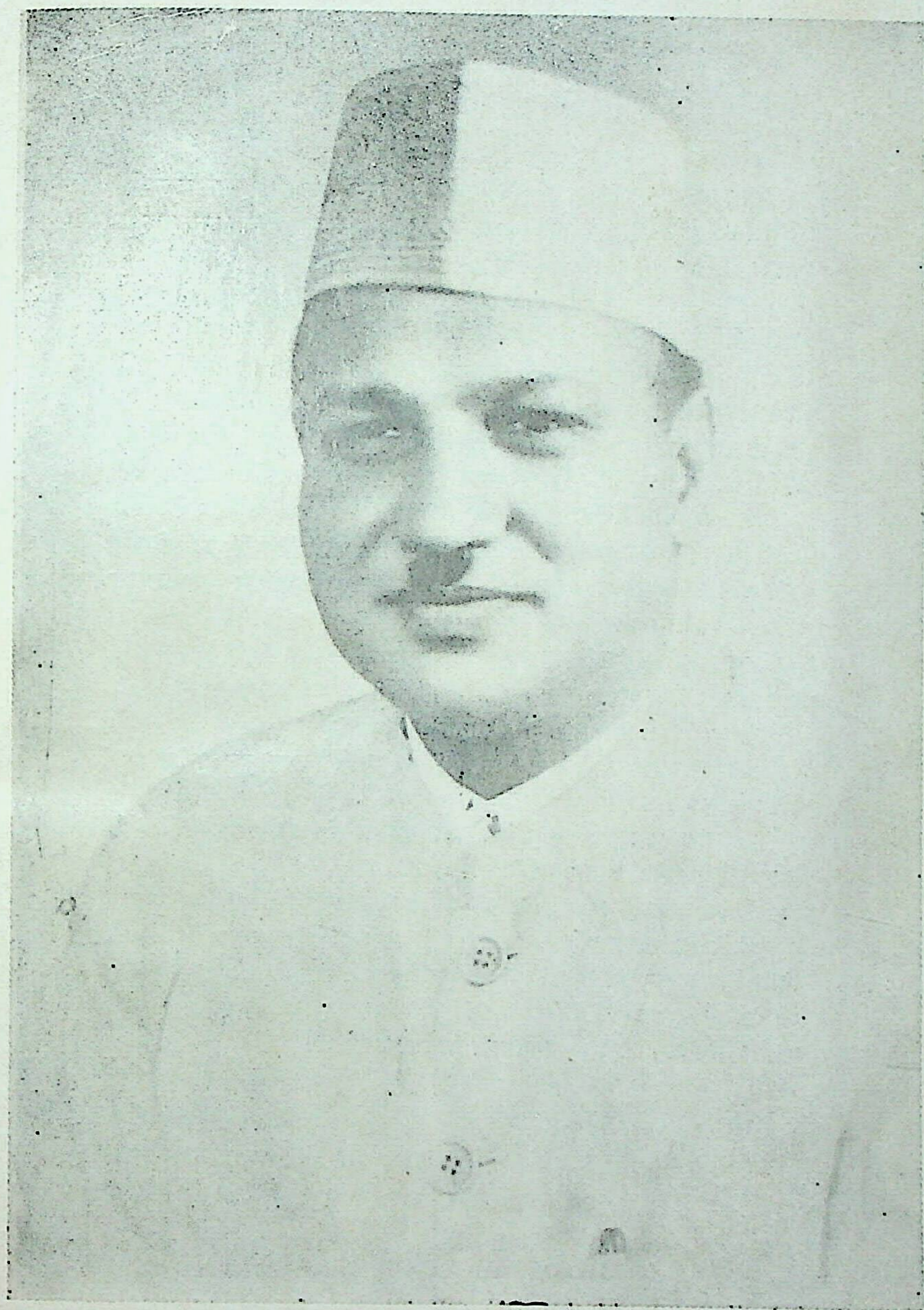
व्याख्यान माला

[भाग दो]

विषय सूची

उपसंहार

इस व्याख्यान माला ग्रन्थ में ५४ प्रकार के विविध उपदेशों का वर्णन किया गया है। पाठकों के लिए ये उपदेश श्रेय मार्ग में प्रेरणा करने वाले होंगे। ५४ उपदेश इससे पूर्व प्रथम भागमें प्रकाशित हो चुके हैं अतः १०८ उपदेश इन दोनों भागों में प्रकाशित करके जनता जनार्दन का बहुत उपकार किया है। इन दोनों ग्रन्थों में आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के अनेक कार्यों के विज्ञान का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।



श्री सेठ हरिकृष्ण दास अग्रवाल जी

इस पुस्तक के प्रकाशन में अपने पूज्य पिता श्री सेठ हरिकिशन दास जी अग्रवाल की पुण्य स्मृति में सब खर्च श्री सेठ किशन जी ने हरिकिशन दास तुलसी राम अग्रवाल धमार्थ ट्रस्ट से दिया है।

श्री सेठ हरिकिशन दास जी बाल्यकाल से ही अमृतसर से मेरे बहुत ही अच्छे समीपवर्ती परिचितों में से थे। आपने अपने जीवन में वड़ी उन्नति की। सभी सोसाईटियों और धमार्थ कार्यों के करने में आपकी वड़ी रुचि थी। स्वामी प्रेमपुरी जी के सम्पर्क में रहकर आपने बहुत कार्य किये हैं। प्रेम कुटीर के बनवाने में आपका वड़ा भारी सहयोग रहा है। आपने मानन नाम का एक मासिक पत्र भी जारी किया था। अरवों रुपयों की सम्पत्ति पुत्रों को देकर परलोक पधारे।

भारत में विजली की तारों की वड़ी कमी थी। आपने वड़ी भारी करोड़ों की फैक्ट्री वम्बई में बनाकर बहुत उत्पादन वढ़ाया। जिससे विजली सर्वत्र मिलने लगी और सस्ती भी प्राप्त होने लगी। सेठजी निश्चयात्मक बुद्धि के समझदार व्यक्ति और प्रभावशाली थे।

अमृतसर के एक धनी घराने की पुत्री आसावती जी से आपका विवाह हुआ था। आपके तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं। सवसे वड़े पुत्र केवल किशन, बांके विहारी और योगी तथा शशी और कान्ता दो पुत्रियाँ हैं।

श्री केवल किशन जी के पुत्र और पुत्रियां राधिका तथा पुत्र सुनील और गौतम तथा मनोज हैं।

श्री वांके अग्रवाल के पुत्र मनीश और वन्दना तथा मुक्ता एक प्रिय पुत्री हैं। योगी के घर में सन्तान नहीं हुई।

इस परिवार से मेरा सम्वन्ध 60 वर्ष से गुरु शिष्या का चला आ रहा है। सेठ हरिकिशन दास जी की धर्म पत्नी वड़ी सतीसाध्वी, धर्मदान और दया की निधि हैं। आपके द्वार से कोई याचक खाली हाथ कभी नहीं आता है। मैं स्वर्गीय श्री सेठ हरिकिशन दास जी अग्रवाल की आत्मा के लिए दिव्य लोक में परमसुख शान्ति और आनंद के लिए भगवान से प्रार्थना करता हूँ।

प्रधान
योग निकेतन ट्रस्ट
30ए/78 पंजाबी बाग
दिल्ली

व्याख्यान-५५

चार प्रकार के धर्मों का पालन करना कठिन है।

ओ३म, अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेराध्यताम्।
इदमहमनृतात सत्यमुपैमि ।। यजुर्वेद १-१-५ ।।

मैं जब बहुत छोटा था तब पंचतन्त्र में एक श्लोक पढ़ा था, यह नीतिशास्त्र में भी कई जगह आता है। "अत्यासन्नः विनाशाय दूरतो परिवर्जयेत। मध्य भावेन सेव्यन्ते राजा गुरु वन्हिस्त्रियः।" इसका भाव यह है कि राजा, गुरु, अग्नि और स्त्री इन चारों के पास अधिक निवास का मौका मनुष्यों को मिलता है। "अत्यासन्न विनाशाय" राजा के अति समीप रहे तो कभी न कभी उसको क्रोध आ जायेगा तो शीघ्र दण्ड का भागी बन जायेगा. इसलिए नरेश के सम्पर्क में निरन्तर या स्थायी रूप से रहने का निषेध किया है। राजा होता भी ऐसे ही है। कभी कृपालु हो जाए तो जागीर देने में संकोच नहीं करता और क्रुद्ध हो जाए तो सर्वस्वापहरण करते हुए भी तनिक नहीं झिझकता। जेल में डाल देना तो केवल साधारण-सी बात है। इसलिए नृप का अति सान्निध्य वर्जित किया गया है।

गुरु से भी अति सम्पर्क श्लाघनीय नहीं माना गया है। यदि रहना ही पड़ जाय तो उतंक के समान संयमपूर्वक रहे। ६० वर्ष तक गुरु-चरणों में रहा था। उपमन्यु ने भी ४५ वर्ष तक गुरु-चरणों में वास किया था। इसी प्रकार सत्यकाम भी बहुत वर्ष तक गुरु के पास रहा था।

परन्तु खेद है कि हमें तो गुरु-चरणों में रहने का थोड़ा ही अवसर मिला था। केवल एक रात और एक दिन ही एक गुरु के पास रहे और इनसे पहले वाले गुरु के पास केवल एक माह तक रहे। पहले गुरु के पास जब एक माह तक रहे तब हमसे एक भूल हो गई थी, अपराध हो गया था। उस समय ऋषि दयानन्द जी का बड़ा प्रचार था। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, वेदों के ज्ञाता थे। उन्होंने, जो मत धर्म की कसौटी पर नहीं कसे जा सकते थे, उनका खण्डन किया। उस समय सर्वत्र खलबली-सी मच गई थी। जो लोग धर्मों और सम्प्रदायों से सताये जा रहे थे वे सब उनके अनुयायी बन गये। आर्य सिद्धान्तों का सर्वत्र बोलबाला था। प्रतिदिन महर्षि के अनुयायियों की संख्या-वृद्धि हो रही थी। उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे थे। हमने भी उनके

ग्रन्थों को पढ़ा था। हमारी बुद्धि भी तार्किक बन गई थी।

हम काश्मीर में कंगन नाम के स्थान में जिन महाराज के पास योग सीखा करते थे, हमें उनकी बातों पर विश्वास प्रायः नहीं हुआ करता था। वे बड़ी तीव्र गति से चला करते थे। वे हमारे लिए ८ मील की दूरी से पैदल चलकर दो घण्टे के अन्दर ही प्रतिदिन भिक्षा लाकर दिया करते थे। भिक्षा में १० छटाँक चावल, १ छटाँक मक्खन और थोड़ा-सा नमक ही प्राप्त हुआ करता था। हम इस १० छटाँक चावल को मिट्टी की हाँड़ी में उबाल लिया करते थे और एक गुफा में रहा करते थे। वहाँ पत्थर के नीचे एक गुफा थी, उसी में हम दोनों ब्रह्मचारी रहा करते थे। बाहर पत्थर पर रख चावल खा लिया करते थे। हमारे गुरु जी भी पत्थर पर रखकर ही भोजन लिया करते थे। पूर्णरूपेण अपरिग्रह का पालन करते थे। इन गुरु जी के पास एक महीना तक कठिन साधना और तपश्चर्या करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

एक दिन हम दोनों नें उनसे निवेदन किया कि महाराज हमें भी अपने साथ भिक्षाटन के लिए ले चलिये। वे कहने लगे—"बच्चो, स्थान बहुत दूर है। तुमसे चला नहीं जाएगा।" हमनें उनसे अपने मन की बात तो कही नहीं और उनके साथ जाने का हठ करते रहे। आठ मील जाने में हमें ढाई घण्टे लगे और इसी प्रकार आने में भी।

उस समय हमारी १२ घण्टे की समाधि लग जाया करती थी, शून्यता में चले जाते थे। गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ करते थे और समाप्ति "ओ३म्" पर करते थे और "ओ३म्" को छोड़कर फिर शून्यता में चले जाते थे। यही हमारा दैनिक कार्यक्रम था। पूज्य गुरुदेव ने प्रथम सप्ताह हमें गायत्री मन्त्र का जाप करवाया, दूसरे सप्ताह में "तत्सवितुर्वरेण्यम्" के आगे के भाग को छुड़वा दिया। दूसरे सप्ताह में केवल तीन व्याहृतियाँ ही रह गईं। और तीसरे में केवल "ओ३म्" ही रह गया, और चतुर्थ सप्ताह में "ओ३म्" भी छुड़वा दिया और वे हमें शून्य समाधि में ले गए। ये सब उन्होंने अपने मनोबल से करवाया था। उनका मनोबल वास्तव में बड़ा महान् था।

एक दिन हम बैठे-बैठे तंग से आ गए थे। अतः मैंनें उनसे पर्वत पर चलने के लिए निवेदन किया। किन्तु उनको यह बात पसन्द नहीं आयी और उपदेश देने लगे—"बेटा, सारी जिंदगी तुम लोगों ने घूम-घूमकर बिता दी। भटकते ही रहे। अभी तक तुम लोगों ने जीवन में कुछ नहीं किया। समाधिस्थ होने का अभी तो तुम्हें अवसर मिला है।" वे थे बड़े दयालु। इतना कहने के उपरान्त पूछा—"अच्छा तुम्हारा मन घूमने को बहुत कर रहा है?" हम दोनों ने कहा—"महाराज, मन तो बहुत कर रहा है।" वे कहने लगे—"दिल करता है तो चलो ले चलेंगे।" हम दोनों ने डण्डे उठाये और उनके साथ चल दिये। वे कहने लगे—"डण्डों की जरूरत नहीं;

क्योंकि, घने जंगलों में तो जाना नहीं है, केवल पहाड़ पर ही तो चलना है। हमें यदि कोई हिंस्र जीव मिल गया तो उसका मुकाबला कर लेंगे।" वे हमारे आगे-आगे चल रहे थे और हम उनके पीछे।

हम पहाड़ पर चढ़े ही थे कि एक भालू हमारी ओर भागता हुआ आने लगा। गुरु जी हमसे आगे जा रहे थे। उनसे तो कुछ नहीं कहा और हमारे सामने आकर खड़ा हो गया। हम दोनों घबड़ा गये। वह हम पर हमला करने लगा। हमने भी अपने-अपने डण्डे सँभाल लिये और मुकाबले के लिए तैयार हो गये। किन्तु गुरु जी कहने लगे—"अरे बच्चो, इन डण्डों से तुम्हारा क्या बनेगा?" और उन्होंने हमारे हाथों से डण्डे खींचकर दूर फेंक दिये और भालू से कहने लगे—"अच्छा जाओ बच्चा।" उनके इन शब्दों को सुनकर ही भालू भाग गया।

पहाड़ से हम उतरकर स्थान पर पहुँचे तो गुरु जी ने हमें उपदेश दिया। इस उपदेश में अधिकतर गुरु के प्रति श्रद्धा, विश्वास, भक्ति की उदात्त भावनाओं पर अत्यधिक बल दिया गया था। "तुम अभी अधिकारी नहीं थे। पता नहीं तुम्हारे चेहरे देखकर हमें क्यों दया आ गयी। किन्तु तुम हमारे वास्तव में योग्य शिष्य नहीं थे।" हम दोनों की आँखों में आँसू आ गये। हाथ जोड़कर हमने उनसे क्षमा-याचना की। उन्होंने हमें बहुत समझाया—"देखो, महापुरुषों का, गुरुजनों का संग बार-बार प्राप्त नहीं होता है। बड़े सौभाग्य और महान् पुण्य के प्रताप से महात्माओं का दर्शन तथा सत्संग प्राप्त हुआ करता है। अब तक जो कुछ भी हमने आपको बतलाया है, उसको तुम दृढ़ भूमि करना। यही तुम्हारे लिए कल्याण का हेतु हो जायेगा। हमने तुम्हारी बुनियाद पक्की कर दी है।" हमें कभी इसकी शंका भी नहीं हुई थी कि वे हमें छोड़कर चले जायेंगे। हम रात को ११ बजे से २ बजे तक सोया करते थे। उन्होंने ११ बजे उपदेश देना प्रारम्भ किया और दो घंटे तक देते रहे, फिर हमें आज्ञा दी कि अब तुम सो जाओ।

गुरुदेव गुफा के भीतर नहीं रहा करते थे, दरिया के किनारे रहते थे। वे रात्रि में भो अभ्यास किया करते थे। केवल कुछ देर तक दिन में सोया करते थे। रात्रि में दरिया के किनारे समाधि लगाकर बैठ जाते थे। सर्दी-गर्मी की वे कभी कुछ भी परवाह नहीं करते थे। अपने पास एक लंगोटी और छोटा-सा आसन रखा करते थे। वे उसी रात को हमको छोड़कर चले गये। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर गुरु-चरणों में रहने का अवसर मिले तो अपने को मारकर उनके चरणों में सर्वस्व अर्पण करके रहा जाय तभी सफलता प्राप्त होती है। यदि उस समय हमसे यह भूल न हुई होती तो वे हमें अवश्य चरम स्थिति तक पहुँचा देते और न जाने हमें क्या कुछ बता देते। हम दोनों उस दिन रात-भर नहीं सोये। गुरु जी हमें फिर कभी मिले ही नहीं। शिष्य को गुरु के हृदय को जीतना चाहिए। गुरु तो शिष्य के हृदय को जीता ही करते हैं, पर शिष्य भी अपनी अति श्रद्धा, भक्ति तथा विश्वास से गुरु

के हृदय को जीत लिया करता है और उनके हृदय में स्थान लाभ किया करता है। नीतिशास्त्र विशारदों ने जो कहा है वह सर्वोत्तम है। अत्यन्त सान्निध्य में न रहते हुए यथोचित आदरपूर्वक व्यवहार और सेवा करनी चाहिए। दूसरे ब्रह्मचारी का नाम अश्विनीकुमार था।

उन गुरुदेव द्वारा प्राप्त विद्या की हम १४ वर्ष तक साधना करते रहे। शून्य समाधि बड़ी लम्बी हो गयी थी। कई-कई दिन तक हम समाधिस्थ रहते थे। हम इसे और अधिक लम्बी करना चाहते थे। इसका अभ्यास करते-करते एक बार ऐसी भावना उत्पन्न हुई कि इस शून्य समाधि को बढ़ाते रहने से क्या लाभ होगा? यह समाधि यदि चार मास की भी हो जायेगी, तो भी इससे किसी प्रकार का लाभ नहीं प्राप्त हो सकेगा। यदि कोई व्यक्ति ७ दिन तक भी सोता रहे तो इससे लाभ क्या होगा? कुछ भी प्राप्ति न होगी। शून्य समाधि हमें आत्मानुभूति की ओर तो नहीं ले जा सकती, ब्रह्मज्ञान तो इससे प्राप्त नहीं हो सकता। इन कार्यों के लिए गुरु के सान्निध्य की परमावश्यकता होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उतंक आदि की बुद्धि प्रखर नहीं थी, इसलिए कई वर्षों की सान्निध्य-प्राप्ति के उपरांत ही वे निज लक्ष्य को लाभ कर सके। अतः तप और साधना में अधिक समय लगाना चाहिए।

गुरु के पास समर्पण भावना से जाना चाहिए। जो शिष्य बुद्धिमान और मेधावी होता है वह थोड़े काल में ही बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकता है। कहा है कि "अक्लमन्द ए इशारा काफी" अर्थात् बुद्धिमान के लिए तो केवल संकेत मात्र ही पर्याप्त होता है।

आप लोगों के पास तो गुरु है ही। मेरे पास तो कोई गुरु भी नहीं था, पर मुझे एकान्त में तपस्या करने का बहुत शौक था। मैंने इस शरीर को बहुत कष्ट दिया है। मैं इसे बहुत तंग करता था। भावना यह थी कि शरीर पर पूर्ण विजय लाभ की जाये। शरीर और मन पर अभी भी विजय प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि शरीर के स्वाभाविक धर्मों को तो किसी भी प्रकार से रोका नहीं जा सकता। मन के जो स्वाभाविक धर्म हैं उन्हें कैसे हटाया जाय। सर्वथा निरोध असम्भव है। संकल्प-विकल्प मन का स्वाभाविक धर्म है, यह कभी भी रोका नहीं जा सकेगा।

तीसरा है अग्नि। मुझे एक बार सर्दियों में काश्मीर रहना पड़ा। रात में कभी पूरी नींद सो नहीं पाया। काश्मीरी लोग तो रात्रि में कांगड़ी को लेकर सो जाते हैं, इसलिए उन्हें तो नींद आ जाती है। मैंने भी कांगड़ी लेकर सोने का अभ्यास किया। दो-चार दिन में ही चार लोइयाँ जला डालीं। कांगड़ी लेकर सोने की आदत नहीं थी। इसलिए आग लग जाती थी। काश्मीरियों के पेट जल-जलकर काले पड़ जाते हैं। पेट जलने से पेट पर काले दाग हो जाते हैं। काश्मीर में चोला

पहनने का बड़ा रिवाज है। नंगा पेट इसलिए रखते हैं जिससे कांगड़ी को पेट के साथ रखने में सुविधा हो। इन सबके पेट कांगड़ी से जल जाते हैं। धूनी तपने वाले सन्तों के मुख और शरीर भी काले हो जाया करते हैं। मैंने भी चार साल तक धूनी तपी है। अग्नि के तापने से स्वभाव प्रायः चिड़चिड़ा-सा हो जाया करता है। मन भी चंचल-सा हो जाता है।

चौथी बात है स्त्री का संग। अब हमारे पास लड़के और लड़कियाँ सभी आते हैं। वे आपस में दोस्त बन जाते हैं। मुझे तो विश्वास नहीं कि दोस्त बन करके ये लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेंगे। ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत कर सकेंगे। युवावस्था के लड़के-लड़की एक ही जगह, एक ही कमरे में रहकर ब्रह्मचारी रह जायें, इसमें हमें तो विश्वास नहीं होता। यदि इनमें कोई ऐसा हो तो मैं उसे नमस्कार करता हूँ। ब्रह्मचारी के लिए तो एकान्त में स्त्रियों के पास सोने का विधान ही नहीं है। ऐसा ऊँचा आदर्श ब्रह्मचर्य का है। और गृहस्थी भी गृहस्थाश्रम में २५ साल निवास करने के पश्चात् वानप्रस्थी होते थे। ब्रह्मचर्य का पालन जैसा भारत में होता है वैसा विदेशों में हमारे देखने में नहीं आया। दस-बीस-पचास साल जिस पत्नी के सहवास में इकट्ठे निवास किया है, उससे एक साथ इतना ऊँचा वैराग्य हो जाय कि वे ब्रह्मचर्य का पालन कर सकें, यह महान् कठिन है। योगाभ्यासी को तो विशेष रूप से संयम एवं नियम से रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करने के लिए बड़े तप एवं त्याग की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य तो इन्द्रियों पर बड़ी भारी विजय है। पत्नी के साथ रहते हुए ब्रह्मचर्य का पालन कर सकना तो एक प्रकार से भगवान् पर विजय प्राप्त करना है। गृहस्थी रहकर ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करने वाले तो वन्दनीय हैं। पूजा के योग्य हैं। मीठा खाकर मीठे को छोड़ना मुश्किल है। हमारे यहाँ तो ब्रह्मचारी को स्त्रियों से स्पर्श करने का भी विधान नहीं है। मनु आदि ने तो ब्रह्मचारी आदि के लिए अत्यन्त कठोर विधान बताये हैं। पति-पत्नी साथ रहते हों और ब्रह्मचर्य का पालन भी करते हों, यह तो बड़ी भारी विजय है। जीवनमुक्ति है। अनमिले के तो सभी त्यागी बन जाते हैं। पास पदार्थ होते हुए, सारे साधन होते हुए त्याग-वैराग्य की भावना हो तो यह ऊँचा आदर्श है। और वह सच्चा ब्रह्मचर्य है। अगर किसी ने जीवनमुक्त बनना है और जीते जी ही मोक्ष का सुख भोगना है, तो इस प्रकार के धर्मों का पालन करना चाहिए। तभी मृत्यु के पश्चात् शायद अच्छे लोक में जा सकेंगे। किन्तु यह तभी हो सकता है जब जीवनमुक्तों के समान और ज्ञानी एवं तत्त्वदर्शियों के समान हो। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य धर्म बहुत ऊँचा माना गया है। ब्रह्मचर्य के द्वारा समस्त संसार पर विजय प्राप्त हो जाती है। सारे अनर्थों का हेतु गृहस्थाश्रम होता है। सारी बातें इसी से प्रारम्भ होती हैं। हमारे अभ्यासी एवं साधकों को भगवान की तो बात दूर रही, कम से कम इस प्रकार के धर्मों का पालन तो करना ही चाहिए,

जिससे अन्तःकरण पवित्र और निर्मल हो जाय। सर्वत्र तुम्हें भगवान् ही भगवान् नजर आये। आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान से पहले इन्द्रियदमन करके विषयों से मन को हटाना चाहिए। इनपर अधिकार हो जाता है तो आत्मज्ञान भी हो जायेगा और ब्रह्मज्ञान भी हो जायेगा। अगर इनपर अधिकार नहीं हुआ तो कुछ भी हाथ नहीं आयेगा।

व्याख्यान-५६

सदाचार सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

ओ३म ।। यतो यत: समीहसे ततो नोऽअभयं कुरू।
शंनः कुरू प्रजाभ्योऽभयं न: पशुभ्य: ।। यजुर्वेद ३६-२२ ।।

इस मन्त्र में भगवान् से प्रार्थना की गयी है कि हम जो भी विधिपरक कर्म करते हैं, जो भी सम्यक् चेष्टायें करते हैं और जो भी शुभ इच्छायें करते हैं, उन सभी कार्यों में हमें अभय तथा कल्याण प्राप्त हो। सबको सुख, शान्ति और अभय दान मिले। प्राणी मात्र से हमें निर्भयता प्राप्त हो। हम पशुओं से भी निर्भय हो जायें। मृत्यु का भय भी एक प्रकार से भय ही है। यह सबसे बड़ा भय है। इससे सभी डरते हैं। प्राणी मात्र इससे काँपते हैं। यह अंतिम अभिनिवेश क्लेश सभी प्राणियों में बना ही रहता है। इसका अभाव नहीं होता है।

कल प्रसंग चल रहा था लौकिक व्यवहार के विषय में। आज उसी को पुनः विस्तार से वर्णन करूँगा। मनु ने एक श्लोक लिखा है कि "मात्रा स्वस्रा दुहित्रावान विविक्तासने वसेत्। बलवानेन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमप्युपकर्षति।।" माता, बहन, लड़की यदि ये युवावस्था की हों तो इनके पास में एकान्त में, एक शय्या पर या एक आसन पर बैठना नहीं चाहिए। क्योंकि ये इन्द्रियां बहुत बलवान् होती हैं। मति के भ्रष्ट होते तथा दूध के फटते देर नहीं लगती, किसी पर्वत पर चढ़ते हुए घंटों लग जाते हैं, किसी कोठे पर चढ़ते हुए देर लग जाती है। पर उनसे गिरने में कुछ सेकेंड भी नहीं लगते। मनुष्य झटपट नीचे गिर जाता है। यदि इन संस्कारों को हमने पैदा किया होता तो वर्तमान जीवन में हटाने की बात बन जाती, किन्तु हम तो अनादि काल से यही मानते रहे हैं कि इन्द्रियों के भोग और कर्म हमारे साथ स्वाभाविक ही हैं। और वे अनादि काल से चले आ रहे हैं। तुम चाहे पुनर्जन्म मानो या न मानो। अगर पुनर्जन्म को मानते हो तो सिलसिला खत्म ही नहीं होता। इस जन्म के भी संस्कार इतने संगृहीत हो जाते हैं युवावस्था तक अर्थात् १८ या २० साल की अवस्था तक, उनका निरोध करना असम्भव-सा हो जाता है। इन्द्रिय का अपने विषयों को सेवन करना इनका स्वाभाविक ही धर्म है, इनको हटाया नहीं जा सकता। ज्ञान और वैराग्य की आवश्यकता है। ज्ञान के बिना इनका निरोध नहीं

हो सकता और निरोध किया जाय तो बिना वैराग्य के वह निरोध स्थायी नहीं ठहरता है। निरोध और व्युत्थान बने ही रहते हैं, पर वैराग्य से जो संस्कारों का निरोध होता है वह दृढ़ बनता है। तब तनु और प्रसुप्त संस्कार भोग देने के लिए प्रवृत्त नहीं होते, यही ज्ञानियों के जीवन में विशेषता होती है। मनु का जो विधान है उसपर मैं इस अवस्था में भी अमल करना पसन्द करता हूँ।

युवावस्था में मैं एक बार मदुरा में ठहरा हुआ था। मीनाक्षी देवालय की परिक्रमा करने के पश्चात् बैठकर ३-४ घंटे तक साधना प्रतिदिन किया करता था। एक पंजाबी परिवार वहाँ रहता था। यह काँगड़े से उजड़ कर वहाँ गये थे। उस परिवार के माता और उसकी लड़की भी मन्दिर में मत्था टेकने (नमस्कार करने) रोज जाया करते थे। मुझे रोज देखते थे। मेरी युवावस्था थी, मैंने पीले वस्त्र धारण किये हुए थे। वे मुझे देखकर चले जाते थे। वे सोचने लगे, यह ब्रह्मचारी इतनी देर तक बैठा रहता है, जब हम आते हैं बैठा ही होता है, क्या करता है जानना चाहते थे। सवेरे मैं आ जाता था, मंदिर के दर्शन करके एक तरफ परिक्रमा में जो स्थान होता था शान्त वहाँ ध्यान में बैठ जाता था। ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे तक साधना में बैठता था। एक वक्त भोजन बनाकर खा लेता था। वे लोग मेरे पास बैठकर मेरे उठने के समय की इंतजार करते-करते ५-६ घंटे बैठकर तंग होकर निराशा में डूबकर चले जाते थे। मेरे साधनामय इस प्रकार के जीवन से वे बहुत प्रभावित हुए थे। कहने लगे एक दिन, महाराज आप हमारे यहाँ भोजन करो। मैंने कहा—"नहीं, मैं भोजन आप ही बनाकर खाता हूँ।" फिर कहने लगे—"हमें थोड़ा-बहुत उपदेश दिया करें।" मैंने कहा—"हाँ, यह हो सकता है।" उन्होंने अपने मकान मे गीता की कथा करने के लिए १ घंटा समय रख दिया। मैं भोजन आदि करके ४ से ५ बजे तक कथा करने चला जाता था, फिर आकर ८ बजे तक मैं मंदिर में साधना करने बैठ जाता था। उसकी लड़की का स्नेह, प्यार मेरे प्रति प्रकट होने लगा। मुझे तो कोई पता नहीं था। वहाँ माँ-बाप दोनों की सलाह हो रही थी कि यह पंजाबी ब्रह्मचारी है, अगर इससे अपनी लड़की का विवाह करें, तो ज्यादा अच्छा होगा। उन्होंने मेरे ऊपर इस प्रकार के डोरे डालने शुरू किये और गीता की कथा की रचना रची। मुझे कई दिन कथा करते हो गये, बड़ा ज्ञान-ध्यान का सत्संग चल रहा था। एक दिन वह माता कहने लगी—"महाराज यह मेरी लड़की युवती हो गयी है। आप ब्रह्मचारी हैं, अगर आप इसको पसंद कर लेवें तो मैं इसका विवाह आपके साथ कर दूँगी।" लड़की भी सुन्दर थी, गौर वर्ण था, युवावस्था थी। मैं भी जवान था। ये संस्कार उसकी माता ने मेरे अन्तःकरण में डाल दिये। जब मैं घर से भागा था तो माता ने मुझे उपदेश दिया था। उस वक्त छोटी उम्र में ही विवाह करने का रिवाज होता था। विवाहादि की सब बातें घर में होती रहती थीं। मैं अपने वैराग्य की बातें करता था, मौका सोचता था, कब घर से भागूँ, कैसे निकलूँ, क्या करूँ, कहाँ जाऊँ। मुझे

झिड़कें भी बहुत पड़ती थीं, ताड़ना भी होती थी। किसी काम में मन नहीं लगता था। अलग बैठकर कई-कई घण्टे गायत्री का जाप करता था। माता को पता लग गया था कि अब इसने घर में रहना नहीं है। उसने मुझे एक बार उपदेश दिया—"देखो बेटा, बाहर जाकर कुत्ता नहीं बनना। कुत्ता वमन करके उसी को चाटने लगता है। यहाँ तेरे विवाहादि के सब प्रबन्ध हैं। बाहर जाकर विवाह नहीं करना। अगर तू भाग भी गया, निकलकर चला भी गया, तो बाहर जाकर विवाह न करना, विवाह घर में ही आकर करना।" यह शब्द मेरे याद थे। विवाह की बातें सुनकर मेरे मन में भी खलबली-सी मच गयी। मन को बहुत समझाया, बहुत कुछ किया, आखिर को फिर सोचा—देखो, माता ने कहा था बाहर जाकर कुत्ता न बनना। कुत्ता बन करके ही तो विवाह करना होगा। मुझे उस वक्त और कोई उपाय नहीं सूझा, वहाँ से कथा आदि छोड़कर जैसे घर से मैं भागा था वैसे ही मैं वहाँ से भी भागकर रामेश्वर चला गया। वहाँ जा करके मैं ८५ दिन पानी में रहकर पानी पी-पी कर व्रत किया। इस प्रकार के विवाहादि के संस्कारों को तथा वहाँ की बातों को निवारण करने के लिए ४५ दिन पानी पी करके मैं रामेश्वरम् के मंदिर में साधना करता रहा, उपवास किये, तब जाकर के वे संस्कार कुछ दबे। माता के उपदेश की याद आती रही। कहने का तात्पर्य यह है कि मुझे तो अपने जीवन का सब पता है।

मनु ने धर्म को बतलाते हुए वानप्रस्थ की बड़ी डोंडी पीटी है। पचास वर्ष के बाद २५ वर्ष तक उन्होंने वानप्रस्थ के बतलाये हैं। वे कहते हैं कि जब वानप्रस्थ लेना हो अर्थात् वानप्रस्थी बनना हो, तो पत्नी के प्रति माता के समान भावना पैदा हो जानी चाहिए। अब मेरी तो यह समझ में नहीं आता कि कितना ऊँचा उसको वैराग्य हो गया है, पच्चीस वर्ष तो पत्नी के अंग-संग में रहा हो, एकदम उस आश्रम को बदलते ही दूसरे आश्रम में जाते ही पत्नी के प्रति माता के सदृश भावना हो जाय; हमें तो यह कुछ युक्तिसंगत बात मालूम नहीं पड़ती। इसलिए वानप्रस्थ अवस्था में भी अगर रहना ही है तो एक बात है, पति-पत्नी को अलग-अलग रहना चाहिए; दूसरी बात है, अलग-अलग कमरों में सोना चाहिए। तीसरी बात है कि पत्नी के साथ में, एकान्त में, एक शय्या पर, एक आसन पर न बैठे। मनु का जो विधान पुरुषों के लिए है पत्नी के लिए भी वही विधान है, क्योंकि पत्नी को भी माँ, बेटी या बहन जैसी भावना बनानी चाहिए। तभी तो इस प्रकार के विचार बनेंगे। यदि वानप्रस्थ आश्रम में भी पत्नी में पति जैसी ही भावना बनी हुई है तो मुझे तो समझ में नहीं आता वे किस प्रकार ब्रह्मचारी रह सकेंगे। क्योंकि केवल मन, वचन और कर्म या केवल शरीर की ही बात नहीं है, मन में भी कामजन्य संस्कार आदि नहीं रहना चाहिए। इस प्रकार से हमारे तो जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार निरुद्ध नहीं हो रहे हैं। अनायास किसी पदार्थ विशेष को देखकर उस प्रकार के संस्कार जाग उठते हैं। उसको लेने के लिए, भोगने के लिए प्रवृत्ति होने लगती है, तो एकदम इतना ऊँचा

वैराग्य उस गृहस्थी में कहाँ से आयेगा जब तक पत्नी के प्रति पति की माता जैसी भावना न हो जाय, इसलिए दूर रहकर के भी कम से कम शरीर का पाप कर्म तो नहीं होगा। अगर मन के अन्दर कोई विचार, विकल्प आदि पैदा हो जाये, उनको तो अभ्यास, ज्ञान और वैराग्य के द्वारा निरोध करते रहना चाहिए। और अलग रह-कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते रहना चाहिए, क्योंकि ५० साल में इतना बुढ़ापा तो आ नहीं जाता है। बुढ़ापा आता है ७५ वर्ष के बाद। इसलिए अंतिम चौथा आश्रम संन्यास के लिए बताया है।

मैं युवावस्था में बहुत वर्षों तक अकेले में रहता था, स्त्रियों के पास नहीं जाया करता था। पहले मैं किसी को बेटा-बेटी नहीं कहा करता था, क्योंकि ब्रह्मचारी गृहस्थी बना नहीं होता, उसके बेटा-बेटी नहीं होते। इसलिए बेटा-बेटी कहने का अधिकार भी नहीं होता। आयु के लिहाज से मेरे बेटे-बेटी लगते थे। १९६२ में मैं संन्यास लेकर चौथे आश्रम में पहुँचा तब से बेटा-बेटी कहना शुरू किया। जिन्होंने गृहस्थाश्रम से वानप्रस्थ में पहुँचना है, उनको पत्नी के प्रति माता जैसी भावना हो जाये तो यह बहुत ऊँचा आदर्श है। बड़ी तपस्या है, बड़ी भारी साधना है। बड़ा भारी इन्द्रियनिग्रह तथा मन पर अधिकार है। वह तो जीवनमुक्त बन जायेगा। अलग रहने से कम से कम शरीर का तो बचाव होगा। यदि मन के अन्दर कोई विकार आते भी हैं तो उनको अभ्यास, वैराग्य, ज्ञान से निरोध करता रहेगा। एक स्थिति ऐसी आ जायेगी कि संस्कार भी निवृत्त हो जायेंगे, क्योंकि संस्कार ही प्रवृत्ति का हेतु हुआ करते हैं।

भारतीय सभ्यता को विदेशियों की सभ्यता के साथ तुलना करते हैं तो जमीन-आसमान का फरक देखने में आता है। भारत के अन्दर खासकर हिन्दू धर्म के अन्दर माता-पिता लड़के और लड़की के विवाह का चुनाव करते हैं। बाहर के देशों में लड़के-लड़की को खुली छुट्टी दे देते हैं। मेरा तो इसके विषय में अनुभव यह है कि जो पचास-साठ साल से बड़ी उम्र के लोग हैं वे सब के स्वभावों को लड़के-लड़की के गुणों को जितना जान सकते हैं उनके गुण-दोषों को, परिवार को, माता-पिता को समझ सकते हैं, उतना लड़के-लड़की नहीं जान सकते हैं। भारत की प्रथा यह है कि माता-पिता, लड़के-लड़कियों का चुनाव करते हैं। फिर उनकी सम्मति भी लेते हैं। बाहर के देशों में दसवीं क्लास की पढ़ाई के बाद माता-पिता बच्चों को खुली छुट्टी दे देते हैं। दो साल एक के साथ दोस्ती की, दो साल किसी और के साथ दोस्ती की, ऐसे एक ही जीवन में कई-कई दोस्तों को छोड़ देते हैं। मुझे तो समझ में नहीं आता कि इनका चरित्र कैसे अच्छा बनेगा क्योंकि "आचारः प्रथमो धर्मः" आचार अर्थात् आचरण मनुष्य का सर्वप्रथम धर्म कहा है। नौजवान लड़के-लड़की एकान्त में रह करके महीनों तक, सालों तक दोस्त रहें, ब्रह्मचर्य का पालन करें, यह असम्भव बात है। इससे तो यह अच्छा है उनको शादी कर लेनी चाहिए तब

तो सदाचार का पालन हो सकता है। मनु आदि के धर्मों का पालन किया जा सकता है। सह-शिक्षा जो होती है इससे भी लड़के-लड़कियों का चरित्र अच्छा नहीं रहता। इण्डिया हो या बाहर के देश हों, स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक ही आकर्षण होता है, सदाचार का पालन नहीं कर सकते। मैं तो इस विचार का हूँ कि लड़कें-लड़कियों के स्कूल अलग-अलग हों और लड़कियों को स्त्रियाँ ही पढ़ाएँ, लड़कों को पुरुष लोग पढ़ाएँ तब बच्चों का चरित्र कुछ अच्छा वन सकता है। दो साल एक के साथ रहे फिर दूसरे को मित्र बनाकर उनके साथ रहे मित्रता भी लड़के-लड़की की होती है। इनकी संतान कैसे चरित्रवान सदाचारी बन सकेंगी ? जो शादी करके जीवन में एक पत्नी या पति के साथ सदाचार का जीवन व्यतीत करें तो उनकी संतानें अच्छी होंगी, कैरेक्टर अच्छा होगा, चाल-चलन अच्छा रहेगा, क्योंकि यह वहुत ऊँचा धर्म है। हमारे अन्दर बुढ़ापे तक तथा मरण-पर्यन्त जो काम की भावना बनी रहती है, संसार के भोगों को भोगने की इच्छा कभी शान्त ही नहीं होती, उसका कारण यह है कि मर्यादा और धर्मों का पालन नहीं करते।

क्राइस्ट के जीवन में यही विशेषता थी। वह भी तो युवावस्था में रहे हैं, उनके जीवन में कोई ऐसी घटना सुनने या पढ़ने में नहीं आयी है कि उन्होंने किसी लड़की के साथ प्यार किया, दोस्ती कभी की हो। अगर एक लड़के की दस लड़कियों के साथ दोस्ती रही हो और उस लड़की की भी दस लड़कों के साथ दोस्ती रही हो तो उन दोनों का विवाह करें, तो उनको दूसरी लड़कियों की या लड़कों की स्मृति आती रहेगी। ऐसा व्यक्ति तो योगी नहीं बन सकता। ऐसा व्यक्ति तो सदाचारी नहीं हो सकता। सदाचारी तो वह व्यक्ति है जो एक पत्नी या एक पति के साथ जीवन बिताये। उनका आचार (कैरेक्टर) ऊँचा होता है। जो जगह-जगह सहवास करने वाले हैं, यह तो जैसे बाजारी वेश्याएँ होती हैं। इनका जीवन भी वैसा ही वन जाता है, इनके जीवन में तो पवित्रता आ ही नहीं सकती। फिर इनकी संतान भी अच्छी नहीं बनेगी। इसीलिए अच्छे चरित्र की आवश्यकता है। हम विवाह के विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि संसार की परम्परा कैसे चलेगी ? विवाह होना चाहिए। जीवन में एक बार हो गया, पहले ही सोच-विचार करके विवाह करो। अगर लड़की या लड़का अच्छा नहीं है तो अच्छे बनाने की कोशिश करो या पहले सोच-समझकर के विवाह करो। सदाचार से रहें तो संतान अच्छी बनेंगी, देश अच्छा बनेगा, मन में शान्ति रहेगी, परेशानियाँ नहीं होंगी। कम से कम योगी को तो ब्रह्मचर्य का पालन करना ही चाहिए और योगी का आचरण जैसे क्राइस्ट का आचरण था वैसा सदाचारमय जीवन होना चाहिए। अरबों आदमी उनकी पूजा, उपासना, भक्ति करते हैं, रोज उनको प्रणाम करते हैं। उनके जीवन के चरित्र की भी तो बड़ी विशेषता थी। अगर वे दुराचारी, व्यभिचारी होते तो शायद उनका इतना नाम और सम्मान नहीं होता। वे धर्म के लिए मर मिटे, शूली पर

चढ़े। इतना ऊँचा सदाचार था उनका और किसी पैगम्बर की इतनी प्रशंसा सुनने में नहीं आती इसलिए अरबों लोग उनके पीछे लगे हैं। आपको भी उनका ही आचरण करके उनकी तरह विवाह से पहले सदाचारी रहना चाहिए। विवाह हो जाय तो जैसे गृहस्थाश्रम के धर्म हैं उनका पालन करें। उन बातों का तो अमल करते नहीं, भगवान् के पीछे डंडे लेकर पड़े हुए हैं। इन्द्रियों पर, मन पर, अधिकार होना चाहिए, इन पर अधिकार हो जाय तो भगवान् भी प्रसन्न होंगे, इन्द्रियाँ पवित्र होंगी, मन पवित्र होगा, उससे भगवान् की भक्ति, पूजा, उपासना करोगे, तो वह भी आपको आलिंगन में ले लेगा, प्यार में ले लेगा, अपना दर्शन दे देगा। "आचारः प्रथमो धर्मः" इनका आचार बड़ा पवित्र था और ये सदाचारी ब्रह्मचारी थे। उनके जीवन में किसी लड़की से दोस्ती की, प्यार की बात पढ़ने में नहीं आयी, सुनने में भी नहीं आयी। उनको धर्म पर तथा परमात्मा पर इतना विश्वास था कि शूली पर चढ़ना पसंद किया पर अपने धर्म का परित्याग नहीं किया। संसार में तो गुणों की पूजा होती है, पवित्र जीवन की पूजा होती है। हमें इन दो विषयों में उनके आचरण को अपनाना चाहिए तभी हमारा योग सफल होगा, हम भगवान् के बहुत समीपवर्ती बन जाएँगे, आत्म-ज्ञान भी हो जायेगा और ब्रह्मज्ञान भी हो जायेगा। आने वाली दुनिया तुम्हारे गुणों की उपासना करेगी, तुम्हारा अनुकरण करेगी, जैसा मेरा जीवन होगा वैसा ही तुम्हारा भी जीवन बनेगा, जो मेरे संपर्क में रह रहे हैं कुछ तो उन पर असर होगा ही। कहीं कस्तूरी रखी हुई है तो उसकी सुगन्धि आसपास फैल जाती है! जिन महापुरुषों का जीवन पवित्र हुआ करता है, उनके अनुयायियों का भी जीवन पवित्र हुआ करता है। क्रिश्चियन लोगों को क्राइस्ट के प्रति जितनी श्रद्धा, भक्ति, विश्वास है मेरा उनसे ज्यादा उनके प्रति विश्वास है क्योंकि उन्होंने भगवान् को प्राप्त करने के लिए इतने ऊँचे धर्म का पालन किया, भगवान् से मिलने के लिए सब कुर्बान कर दिया, शूली पर चढ़े। उनके जीवन में सदाचार की इतनी ऊँची सुगन्धि आती है कि कहीं दुराचार-व्यभिचार की बात ही नहीं आयी! कितना ऊँचा उनका जीवन था। वे तो जीवनमुक्त महान् आत्मा इस संसार में आये थे, इसलिए इतने लोग उनके पैरोकार बने।

इसाई धर्म में तलवार के जोर से ईसाई नहीं बनाया गया। जैसे उनके आचार्य थे, पैगम्बर थे, नेता थे, उन्हीं का आचरण करके धर्म का प्रचार किया क्योंकि धर्म का प्रचार करने का तो सबको अधिकार है। अपनी भावनाओं और विचारों का प्रचार करने का अधिकार सबको है। उनके विचारों का प्रचार करके संसार के लोगों को अपने पीछे लगाया है। यही कारण है कि महान् आत्माओं में जीवन की घटनाएँ ऊँची ही हुआ करती हैं। जिनके जीवन ऊँचे हुआ करते हैं, वे महान आत्माएँ हुआ करती हैं। संसार के लोग उनके पीछे चलकर अपना कल्याण किया करते हैं। दो बातें इनकी हमें बहुत अच्छी लगती हैं। एक सदाचार की और

दूसरी है धर्म और परमात्मा के लिए कुर्बानी करनें और शूली पर चढ़ने की।

आप लोग मेडिटेशन में बैठकर मन और इन्द्रियों को समाहित करके ऐसी स्थिति वनायें, जैसे ललिता ने ७२ घंटे बनाई थी। आप एक या दो घंटे ही बना लेवें। शरीर पर भी पूरा कंट्रोल हो, और इन्द्रियों पर भी कंट्रोल हो, केवल भगवान् का ही स्मरण हो, चाहे नाम से ही उसका स्मरण कर लो, पर नाम के अलावा और कुछ चिंतन न हो। आज यही अभ्यास करना है। जो भगवान् का नाम तुम्हें ज्यादा प्यारा लगता है उसी पर मन को टिका देना। नाम दो शब्द का हो या तीन का हो, जो नाम तुम्हें प्यारा लगता है उसी नाम पर अपने मन को लगाना है और शरीर को भी वहीं लगाये रखना चाहिए। कोई चेष्टा नहीं करनी, निश्चेष्ट होकर के भगवान् के साथ ऐसी डोरी बाँध लो जिससे अपना शरीर, इन्द्रिय इधर से उधर, टस से मस न होने पाये। आकाश के समान परमात्मा को व्यापक समझ करके जैसे आकाश में एक शब्द को बोलो वह सारे आकाश में फैल जाए, क्योंकि शब्द जो है वह आकाश का गुण है, गुण अपने गुणी में जाकर मिलेगा, व्याप्त-सा हो जाएगा। ऐसे ही भगवान् का जो तुम्हें नाम प्यारा है उसका कुछ भी महत्त्व समझ लो, वह नाम उसका गुण है या धर्म विशेष है। जब तुम गुणी को पुकारोगे, गुण के रूप में वह शब्द जो है परमात्मा का नाम है वह सारे आकाश में गूँज उठेगा। अब मेरा शब्द फैल रहा है, तुम्हारे तक सुनाई दे रहा है। ऐसे ही छोटा-सा मधुर-सा एक नाम ले लो। उसको स्नेह से, प्यार से, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास से मानसिक उच्चारण करते-करते उस आकाश-मण्डल में वह सर्वव्यापक जो भगवान् है उसमें वह शब्द फैलता हुआ, जाता हुआ, तुम्हें मालूम होना चाहिए। इस प्रकार लवलीन से बन जाओ।

व्याख्यान-५७

उन्मनी, शाम्भवी, शक्तिसंचालिनी मुद्राओं द्वारा आत्म-साक्षात्कार।

ओ३म्—यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। अथर्व० १०-८-१

हमारे शरीर में तीन केन्द्र (सेंटर) माने गये हैं : मूलाधार, हृदय और मस्तिष्क। मस्तिष्क का विज्ञान तो प्रायः सभी को समझ में आ जाता है, परन्तु मूलाधार और हृदय का विज्ञान सभी को समझ में नहीं आता। क्योंकि मस्तिष्क में तो सारी इन्द्रियाँ वर्तमान रहती हैं और ये इन्द्रियाँ ही सारे पदार्थों को बतलाने वाली होती हैं। प्रायः जितने भी भौतिक पदार्थ होते हैं उनको बताने वाली इन्द्रियाँ ही होती हैं। इसलिए मस्तिष्क की बात शीघ्र ही समझ में आ जाती है। अगर आपको नीचे का भाग मूलाधार का विज्ञान समझ में नहीं आता है तो आपके मस्तिष्क में मन, इन्द्रिय, बुद्धि वर्तमान हैं। आपको जो इतना विज्ञान के बारे में बताया जाता है, शरीर के विषय में, आत्मा के विषय में, परमात्मा के विषय में, तो आप इनके द्वारा ही खोज करो, इनके द्वारा ही अनुसंधान करो। यदि इन्द्रिय बताने में समर्थ हो सकती हैं तो इनके द्वारा ही प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न करो और यदि मन, बुद्धि बता सकते हैं तो इनके द्वारा जानने की कोशिश करो, अनुसंधान करो, इन्हें देखो और समझो। ये सब यही तीन केन्द्रों के अंदर हैं। परन्तु इसके पहले आपको अन्दर की ओर मन का स्वरूप समझना होगा जिससे तुम काम लेना चाहते हो।

अब आप लोग शायद प्रश्न करोगे कि मन तथा बुद्धि क्या चीज हैं? इसका क्या स्वरूप है? तो इसका उत्तर इस प्रकार से है। जब तुम ध्यान के द्वारा मस्तिष्क में देखना शुरू करोगे तो तुम्हें वहाँ मन कार्य करते हुए प्रतीत होगा। और तुम्हें यह भी अनुभव होगा कि मन किसी देश विशेष में रह करके कार्य कर रहा है, या बुद्धि किसी स्थान विशेष या देश विशेष में रहकर कार्य कर रही है। अब तुमको इस बात की जानकारी करनी चाहिए कि मन और बुद्धि में अन्तर है या नहीं। उनके कार्यों में अन्तर है कि नहीं। इस प्रकार तुम सबको अपने मस्तिष्क के अन्दर खोज करनी चाहिए। चाहे आपने मूलाधार या हृदय को ही अभ्यास का विषय क्यों न

बनाया हो, वहाँ भी मन और बुद्धि ही कार्य करेगी। पहले-पहल तो उसी स्थान में पहुँचने के लिए कोशिश करनी चाहिए।

अब मान लो कि आपने विज्ञान का विषय मूलाधार बनाया है। मूलाधार के विषय में प्राचीन ऋषियों तथा आचार्यों के उपनिषदों और दर्शनों में कुण्डलिनी शक्ति के बारे में विशेष वर्णन तो नहीं दिया है। प्राणोत्थान की भी कोई ऐसी बात नहीं आती है। परन्तु अर्वाचीन आचार्य जो हुए हैं, वे केवल शक्ति के उपासक हुए हैं। उन्होंने परमात्मा को उतना प्रधान नहीं माना है, जितना कि शक्ति को माना है। जैसे वर्तमान में भी लोग अधिकतर देवी के ही पुजारी हैं। भगवान् को भी देवी के रूप में ही देखते हुए उपासना करते हैं। उसी को ही सारे संसार की जननी या सब कुछ समझते हैं। जो आचार्य शक्ति के उपासक हैं, जैसे हठयोग के आचार्य, मेरे ख्याल में तो ये सब दो-ढाई हजार वर्ष से ही हुए हैं। बुद्ध, काइस्ट आदि के बाद में ये आये हैं। वेद में तो चक्रों के वर्णन आए हैं पर कुण्डलिनी-शक्ति के बारे में मुझे वेदादि ग्रन्थों में देखने में नहीं आया है। जो प्रधान प्राचीन ११ उपनिषदें हैं जिनको विद्वान् लोग प्रमाण मानते हैं, उनमें तो कुण्डलिनी की कोई चर्चा ही नहीं है। एक मन्त्र अथर्ववेद में आता है "अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पुरोऽयोध्या" लेकिन जैसे कि आजकल के आचार्यों ने कुण्डलिनी-शक्ति में चक्र बनाकर, देवताओं के वाहन आदि की बात बतला दी है वैसे वेद के विद्वानों ने इस मंत्र की व्याख्या इस प्रकार से नहीं की है, जो कि अर्वाचीन आचार्यों ने किया है। मैंने भी अपने ग्रन्थ आत्म-विज्ञान में चक्रों और कुण्डलिनी के बारे में वर्णन किया है। परन्तु अर्वाचीनों ने उन चक्रों के अन्दर जो अक्षरों की उत्पत्ति बतलाई है, देवता, वाहनादि का वर्णन किया है, यह उपनिषद् काल का सिद्धान्त नहीं है। इन सब का तो इनके बाद में शक्ति-उपासना आदि करने वाले, तन्त्र योग को मानने वाले आचार्य लोग और हठयोग के गुरु गोरखनाथ, भर्तृहरि, मत्स्येन्द्रनाथ आदि ने ज्यादा प्रचार किया है। कुण्डलिनी-शक्ति, चक्र विज्ञान आदि का ज्यादा विस्तार किया है। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने, उपनिषदकारों ने या वैदिक विद्वानों ने इन पर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया। या तो फिर उनको यह बात समझ में नहीं आयी होगी। लेकिन यह बात कुछ असंगत-सी लगती है। हाँ, इतना तो मैं भी कहूँगा कि कुण्डलिनी-शक्ति अर्वाचीन विज्ञान है। इस विज्ञान के आधार पर अगर कुण्डलिनी-शक्ति को लिया जाए तो जैसे मस्तिष्क में स्वाभाविक ही ज्योति का प्रादुर्भाव होता है क्योंकि यहाँ ज्योति को या रूप वाले पदार्थ को दिखलाने वाले यह नेत्र वर्तमान हैं। यह बात साधारण तौर से सभी व्यक्तियों की समझ में आती है कि आँखें रूप को दिखलाती हैं। यदि हम इनको ऐसे ही थोड़ा बन्द कर देते हैं तो इनकी किरणें बाहर की ओर दिखलाने के लिए ज्ञानवाहक नाड़ियों से निकल कर दूसरे पदार्थ को प्रकाशित करती हैं। उसी प्रकाश को आँख के बन्द कर लेने पर

बाहर निकलने का मार्ग नहीं मिलता। जिसके कारण प्रकाश का चक्र जैसा आँखों के सामने दीखने लगता है।

अब मुद्राओं के बारे में थोड़ा कहूँगा। ध्यानाभ्यास के लिए तीन प्रकार की मुद्राएँ होती हैं। उन्मनी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा और शक्तिसंचालिनी मुद्रा। उन्मनी मुद्रा में आँखें खुली हुई रहती हैं और ध्यान मस्तिष्क में रहता है। जब आप मस्तिष्क के पदार्थों को देखने के लिए आँखों की दृष्टि को अन्दर की ओर ले जाओगे तो वह उन्मनी मुद्रा कहलायेगी। यह मुद्रा मस्तिष्क के पदार्थों को यथार्थ दिखलायेगी। इसमें भ्रान्ति नहीं होगी। आँखें बन्द कर लेने पर पलकों का पर्दा पड़ जाता है जिससे भ्रान्ति हो जाती है। यदि आपको आँखों से निकलती हुई कोई ज्योति दिखाई पड़े या मस्तिष्क के अन्दर चक्कर-सी लगाती हुई दीखे या झिलमिलाती हुई दीखे, तो इससे आपका विज्ञान यथार्थ होगा। नेत्रों के बन्द करने पर आपको जो-जो भ्रान्ति हुई थी उसका निवारण आप स्वयं कर सकेंगे। क्योंकि आँख बन्द कर लेने पर प्रायः साधक को यह भ्रान्ति हो जाती है कि यह प्रकाश किसका है वह निर्णय नहीं कर पाता। यह प्रकाश मन का है या बुद्धि का है या इन आँखों का है। क्योंकि हम बुद्धि को भी प्रकाशवती कहते हैं और मन को भी प्रकाश वाला कहते हैं; ज्योतिषाम् ज्योति भी कहते हैं। जब मन ज्योतिष्मान् है तो वह ज्योति तुम्हें ध्यान के द्वारा भी नजर आनी चाहिए। क्योंकि इन आँखों के द्वारा मन और बुद्धि को देखा नहीं जा सकता। एक अन्दर भी तो आँख विद्यमान है जहाँ से प्रकाशों का स्रोत स्थूल आँख तक पहुँचता है। बाहर के नेत्रों को खुला करके आप उस स्रोत को अन्दर की ओर मोड़ दें, ध्यान को भी और इस प्रकार के स्रोत को भी। यदि उस काल में आपको प्रकाश की कोई गतिविधि नजर आए तो आप यह निर्णय करने की कोशिश करो कि इसमें से कौनसा प्रकाश मन का है। जिस कारण मन को ज्योतिषाम् ज्योति कहा गया है। क्योंकि बुद्धि के भी कई रूप बताए गए हैं। इसको विशोका, ज्योतिष्मति, प्रज्ञालोक आदि कहा है। विशोका ज्योतिष्मति बहुत प्रसिद्ध शब्द है। वह बुद्धि की कौन-सी स्टेज है? कौन-सा स्थान है? वह भी तुम सबको खोज करना चाहिए। इस विशोका ज्योतिष्मति के द्वारा आप मस्तिष्क का विज्ञान, बुद्धि का विज्ञान और मन का विज्ञान, जिस मन के बारे में वेद में ज्योतिषाम् ज्योति कहा गया है, उस प्रकाश का विज्ञान उन्मनी मुद्रा के द्वारा आप सब प्रत्यक्ष करें। यह तो हुई उन्मनी मुद्रा के द्वारा विज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार की बात।

अब हम आप लोगों को कुछ शाम्भवी मुद्रा के बारे में बतलायेंगे। शाम्भवी मुद्रा के द्वारा विज्ञान और साक्षात्कार किया जाता है। शाम्भवी मुद्रा में भी आँखें खुली रहती हैं और ध्यान हृदय में रहता है। आप ध्यान का केन्द्र अपने हृदय को बनायें और जिस ज्योति का वर्णन हम पहले कर चुके हैं, उसी तरह हृदय में भी चित्त

रूपी ज्योति विद्यमान है, जो प्रकाश स्वरूप है। इसी चित्त में वृत्तियों का उदय होता है। सूक्ष्म प्राण का भी प्रादुर्भाव इसी चित्त में होता है। ये सब बातें आपको शाम्भवी मुद्रा के द्वारा समझ में आयेंगी। शाम्भवी मुद्रा में आपकी आँखें खुली हुई-सी रहेंगी और आपका ध्यान हृदय प्रदेश में रहेगा। वहाँ आप पदार्थ को गतिशील होते हुए प्रकाश रूप में देखेंगे या प्राण के रूप में या ज्योति के रूप में या तेज के रूप में, अर्थात् किसी भी रूप में आपको प्रतीत होगी। जैसे आप कोई चीज प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं इस प्रकार से आप सब अभ्यास करें। ध्यान के समय आप केवल आँखें ही क्यों बन्द करते हो? कान तो आपके उस समय खुले ही रहते हैं तो फिर आँखें भी क्यों न खुली रहें। आपकी आँखें खुली हैं तो उस समय भी आपको ज्योति या प्रकाश या प्राण का क्षोभ आदि भी नजर आना चाहिए क्योंकि आपको तो बुद्धि की दृष्टि से देखना है। स्थूल आँखों की इसमें क्या आवश्यकता है? ये तो इतने सूक्ष्म पदार्थ हैं जिससे आपको आकार-प्रकार वाले नजर नहीं आते। उनको तो बुद्धि के द्वारा ही देखा, समझा और अनुभव किया जा सकता है क्योंकि आत्मा और परमात्मा को भी बुद्धि के द्वारा ही अनुभव करना है। तो मेरा कहने का तात्पर्य है कि शाम्भवी मुद्रा में आँखें खुली रहेंगी और ध्यान हृदय में रहेगा। यह शाम्भवी मुद्रा है और इस मुद्रा के द्वारा आप चित्त के स्वरूप को देखें। आत्मा-परमात्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव करें। जब आप शाम्भवी मुद्रा के द्वारा अपना ध्यान हृदय में ले जाएँगे तो वहाँ आपको एक अन्धकार-सा, गुफा-सी नजर आयेगी और उस गुफा में मानो एक प्रकार से सूर्य उदय हो रहा है ऐसा अनुभव होगा। यह ध्यान की गहन स्थिति है, ऊँची अवस्था है। यह अनुभव किसी-किसी अभ्यासी को हुआ करता है। तब योगी ध्यान के द्वारा उस गहरी-सी गुफा में प्रवेश करता है। इसीलिए तो हृदय को भ्रमर गुफा कहते हैं, वैसे तो भ्रू-मध्य को भी भ्रमर गुफा कहा गया है। जब योगी इन स्थानों को ध्यान का विषय बनाता है तो यहाँ से उसे दीपशिखा-सी नजर आती है। क्योंकि भ्रू-मध्य से इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का संगम होता है, इसीलिए इसको त्रिवेणी संगम भी कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी बीच में है और इड़ा, पिंगला बायें-दायें हैं। ये तीन नाड़ियाँ कण्ठ तक आकर फिर सुषुम्ना दो भागों में विभक्त होती है। यहाँ से एक भाग भ्रू-मध्य की ओर जाता है और दूसरा पीछे लघुमस्तिष्क में आकर रुक जाता है। सुषुम्ना ज्ञान का संचार या वहन करती है। उसे सारे शरीर में फैलाती है। उसके साथ ज्ञानवाहक, गतिवाहक सैकड़ों तन्तुओं का सम्बन्ध बना हुआ होता है। लघुमस्तिष्क उसको कहते हैं जहाँ इन्द्रियों का स्पष्ट रूप से ज्ञान नहीं होता है। ये जो इन्द्रियों का विज्ञान है यह पहले कुछ अव्यक्त-सा छिपा हुआ होता है, स्पष्ट नहीं होता। जब हम लघुमस्तिष्क से होकर वृहद् मस्तिष्क में पहुँचते हैं तो उस समय इन्द्रियों के अपने स्वरूप का पता चलता है। इनके कार्य व्यापार आदि स्पष्ट

नजर आने लगते हैं। पहले लघु मस्तिष्क में जड़रूप-सा ज्ञान होता है। इसके बाद वृहद् मस्तिष्क में इनका विकास होकर स्फुरण-सा होने लगता है। इनके व्यापार आदि ठीक-ठीक नजर आने लगते हैं। अभ्यास में ध्यान की दिव्य दृष्टि द्वारा लघु मस्तिष्क में भी गतिविधियों को जान सकते हैं। उदाहरण के लिए—मान लो कि मैं अभी बोल रहा हूँ, जिसे वाणी कहते हैं। पहले तो यह वाणी शब्द के रूप में कण्ठ में आकर घें-घें के रूप में बनता है। फिर दन्त, तालू आदि में आकर के इसका स्पष्ट होता है। इसी प्रकार जो यह ज्ञानवाहक तन्तु है पहले इनका स्रोत लघु मस्तिष्क में जाता है। इसके बाद वृहद् मस्तिष्क में जाकर इनका रूप स्पष्ट नजर आने लगता है। इस प्रकार यहाँ इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध हैं। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना भ्रू-मध्य में जाकर सम्बन्ध बनाती हैं। यह सब विज्ञान आपको बुद्धि ही दिखलायेगी।

अब रही मूलाधार की बात, तो अब तीसरी मुद्रा शक्तिसंचालिनी के बारे में कुछ आप सबको बताऊँगा। इसमें भी आप सबकी आँखें खुली होनी चाहिए और ध्यान मूलाधार में हो। वास्तव में इड़ा, पिंगला नाड़ियाँ ब्रह्मरन्ध्र से चली हैं और मूलाधार में आकर इनकी समाप्ति हो जाती है। जैसे साँप होता है, उसका मुँह तो ऊपर होता है और मुंह से ही सारे शरीर की रचना होती है। अन्त में नीचे जाकर पूँछ बन जाती है। इसी प्रकार इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना की समाप्ति मूलाधार में पूँछ-सी हुई है। शक्ति की उपासना करने वालों ने नाभि से नीचे के स्थान को हृदय और मस्तिष्क से भी ज्यादा महत्त्व दिया है। क्योंकि जो तंत्रशास्त्र को ज्यादा महत्त्व देने वाले हैं, शक्ति की उपासना करने वाले हैं, भगवान् को भी शक्ति के रूप में, स्त्री के रूप में मूलाधार में मानते हैं और उस स्थान की पूजा करते हैं। मूलाधार को बहुत महत्त्व देने का कारण यह भी है कि वास्तव में माता का गर्भाशय नाभि के नीचे स्थान में होता है। यहीं बालक का निवास होता है और पुरुष में भी जनन करने की शक्ति नाभि से नीचे के स्थान में होती है। संसार की सृष्टि का सृजन तो इन स्थानों से ही चलता है। इनसे ही हम सब की उत्पत्ति हुई है। पहले पहल हमारा यहाँ ही ९-१० महीने निवास-स्थान होता है और यही हमारे उद्भव का स्थान है। इस स्थान-विशेष में ही हमारा सृजन होता है और यहीं हमारी उत्पत्ति, विकास आदि होता है। ये लोग इसी को ज्यादा महत्त्व देते हुए कुण्डलिनी शक्ति आदि की बात करते हैं।

हाँ, तो अब हम शक्तिसंचालिनी मुद्रा की बात करेंगे। इसमें आँखें खुली हों और इसके द्वारा मूलाधार को ध्यान का लक्ष्य बनाया जाय। प्राणायाम के द्वारा भी शक्ति संचालित की जाती है। इसमें मूलाधार को बार-बार ऊपर को संकोच किया जाता है और बार-बार प्राण को बाहर फेंका जाता है। जैसे—भस्त्रिका, त्रिबन्ध रेचक आदि जो बलपूर्वक प्राणायाम किया जाता है। इनके द्वारा इस शक्ति

की जागृति होती है। इस स्थान में भले ही प्रकाश ऊपर से चला हो या बुद्धि अपना प्रकाश लेकर चली हो, लेकिन इस प्रकाश या ज्योति की समाप्ति अन्त में मूलाधार में ही आकर होती है। और जब वहाँ जाकर उसके बाहर निकलने के लिए कोई स्थान नहीं मिलता तब वह वहाँ से वापस ऊपर की ओर लौटता है। जैसे जब जल ऊपर से भरते हुए नीचे आयेगा तब नीचे भी पूरा भर जायेगा तो फिर उछलते हुए वापस लौट जायेगा। इसी प्रकार से प्रकाश के साथ होता है। जब मूलाधार में बार-बार अभ्यास किया जाता है तो गर्भाशय के स्थान में, जहाँ इड़ा, पिंगला आकर के समाप्त हुई हैं, इस स्थान में ब्रह्मनाड़ी नाम की तथा और बहुत-सी नाड़ियाँ यहाँ आकर रुकी हैं। यहाँ इनकी समाप्ति हुई है। यहाँ से कुछ नाड़ियाँ निकलकर ऊपर को गयी हैं जैसे सर्पनकी नाड़ी ऊपर से भी चलती हैं और नीचे से भी। इसी प्रकार हमारे शरीर की रचना में भी कुछ नाड़ियाँ मूलाधार से चली हैं और ब्रह्मरन्ध्र से भी चली हैं। कुछ हृदय और मस्तिष्क से भी चली हैं। मूलाधार में भिन्न-भिन्न नाड़ियों के नस या तन्तुओं के भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हैं। इसीलिए इस स्थान को इतना महत्त्व दिया है। इसको शक्ति का केन्द्र भी माना है। यहाँ से जनन होता है, रज-वीर्य का संग्रह होता है और इनका निर्माण भी यहीं होता है। इन तीनों का विकास भी यहीं होता है। वास्तव में यहाँ शक्ति की उत्पत्ति ज्योति के रूप में होती है। यहाँ से रक्त वर्ण या लाल वर्ण की ज्योति उत्पन्न होती है जो दीपशिखा या मोमबत्ती की लौ के समान प्रतीत होने लगती है। इस तरह यह गतिशील होकर फव्वारे की तरह ऊपर की ओर चढ़ने लगती है। जैसे कुएँ में पत्थर फेंकते हैं तो पानी उछलकर ऊपर की ओर जाता है। उसी प्रकार मूलाधार में प्राण और अपान के टकराने से क्षोभ होता है, क्योंकि अपान-प्राण का स्थान मूलाधार ही है। जब ध्यान-दृष्टि के द्वारा अपान-प्राण में धक्का दिया जाता है तो वही प्राण ज्योति के रूप में प्रकट हो जाया करता है। जैसे वायु, अग्नि के रूप में परिणत होती है। जहाँ अग्नि जल रही हो और वहाँ वायु भी चलने लगे, तो वह वायु अग्नि के रूप में परिणत हो जाती है। इसी प्रकार यहाँ शक्तिसंचालिनी मुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी नाम की शक्ति या ज्योति का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ से ज्योति ऊपर की ओर चलकर शरीर की सारी रचनाओं को दिखा देती है। यहाँ मनुष्यों का जन्म-स्थान है। इसमें कई मास तक हम सब निवास किए हैं. यही संसार का सृजन करनेवाला स्थान है। इसीलिए तंत्रशास्त्रों के आचार्यों ने इस मूलाधार को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

इस शक्तिसंचालिनी मुद्रा के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर इस स्थान का विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ऊपर के प्रकाश जिस प्रकार नीचे के स्थानों को दिखा देते हैं वैसे ही यहाँ प्रकाश उत्पन्न हो करके ऊपर के पदार्थों को दिखाने में समर्थ हो जाता है। हृदय का प्रकाश भी ऊपर की चीजों को दिखा

देता है। यदि हृदय का प्रकाश न चले तो ऊपर मन, बुद्धि कार्य नहीं करेंगे क्योंकि जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राण-शक्ति हृदय में ही विद्यमान है। इसीलिए निद्रादि की अवस्था में भी प्राण कार्य करता रहता है। प्राण का वास्तविक उद्गम स्थान हृदय में ही माना गया है। वैसे तो कुछ व्यक्ति मस्तिष्क को ही विज्ञान का केन्द्र (सेंटर) मानते हैं और वहाँ मन, बुद्धि आदि को मानते हैं। इसी में आत्मा-परमात्मा का निवास भी मानते हैं। इसमें दो विचारधाराएँ हैं। एक तो यह है कि मूलाधार को ही सृष्टि का सृजन और विकास मानते हैं इसीलिए तंत्रशास्त्र वाले शक्ति के रूप में इसको मान करके या परमात्मा का अवतरण शक्ति के रूप में मान लिया है। इसी को ज्यादा महत्त्व देते हुए इसकी ही ज्यादा भक्ति, उपासना आदि करते हैं। ये लोग मस्तिष्क और हृदय को ज्यादा महत्त्व नहीं देते।

कर्मेन्द्रियों में दो इन्द्रियों का व्यापार सदा चलता ही रहता है। जैसे—हाथ और पाँव को बाँध करके कुछ काल तक रखा जा सकता है। वाणी को मौन के द्वारा रोका जा सकता है, परन्तु गुदेन्द्रिय और उपस्थेन्द्रिय का व्यापार बन्द नहीं होता है। एक प्रकार से ये दोनों ही हमारे जीवन की आधारशिला हैं और हमारे पोषण भी करते हैं। यदि टट्टी और पेशाब बन्द हो जाय तो परेशान होकर मृत्यु तक हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि कर्मेन्द्रिय में ये दो इन्द्रियाँ प्रधान हैं जोकि इस शरीर का आधार बनी हुई हैं। शरीर का शोषण करती हैं, जीवित रखती हैं। हालाँकि और भी कर्मेन्द्रियाँ उनमें सहायक हैं, परन्तु प्रधानता इन्हीं दो की है। जब कुमारी ललिता की समाधि ७२ घण्टे की लगी थी तो उसके हाथ बन्द रहे, पाँवों का आसन लगा रहा, मुँह बन्द रहा, परन्तु टट्टी और पेशाब का कार्य होता रहा। जब यह तीन दिन की समाधि के बाद उठी तो इसकी टट्टी शिलाजीत के समान काली थी। ऐसा क्यों हुआ था, क्योंकि जठराग्नि उसको शरीर में दग्ध करती रही, पाक करती रही, क्योंकि आँतों में भोजन का कुछ अंश जरूर रह जाता है। वस्ति आदि क्रिया के द्वारा इनकी पूरी-पूरी सफाई नहीं होती है। मैं जब युवावस्था में कई-कई दिनों की समाधि में बैठा करता था तो मेरी भी यही स्थिति हो जाती थी। तीन-चार दिन बैठने के बाद व्युत्थान के पश्चात् जब टट्टी जाता था तो पहले-पहल काली शिलाजीत जैसी टट्टी आती थी। पेशाब की भी यही हालत हो जाती थी, ऐसा रक्तवर्ण हो जाता था मानो खून ही निकल रहा हो। कभी-कभी तो पेशाब करते समय चीसें निकल जाया करती थीं। क्योंकि पेशाब भी मसानों और गुर्दों में आकर जमा होता है, और वह वहाँ दग्ध होता रहता है। बाहर निकलने का मौका उसको नहीं मिलता इसलिए लाल या पीले वर्ण का हो जाता है। बल्कि पेशाब करने में दर्द भी होने लगता है। क्योंकि तीन-चार दिन तक मल और पेशाब निकलता नहीं है इसलिए उसको बाहर निकालते समय दर्द अनुभव होता है। इस प्रकार हम लोग अनधिकार चेष्टा और इन्द्रियों पर अत्याचार करते हैं ज्यादा लम्बी समाधि लगा करके।

ललित ने जो ७२ घण्टे की समाधि लगायी थी उसका शरीर अभी भी ठीक नहीं होगा हालाँकि आज उसका व्युत्थान हुए तीसरा दिन है।

हाँ, तो मैं दो कर्मेन्द्रिय की बात कर रहा था कि उपस्थेन्द्रिय और गुदेन्द्रिय इन दोनों का कर्म-व्यापार कभी बन्द नहीं होता। इनका अपना कार्य चलता ही रहता है; चाहे मनुष्य समाधि की अवस्था में हो या व्युत्थान में हो। वाणी को तो मुँह बन्द कर दें तो बन्द हो जायेगी, वह अपना कार्य नहीं करेगी। तीन-चार दिन हाथ-पाँव बाँधकर के बैठ जाओ तो वह उतने दिन काम नहीं करेंगे; परन्तु पेशाब और मल-त्याग की इन्द्रिय काम करती ही रहेंगी, भले ही उसको बाहर निकलने का मौका न मिले। उसको जबर्दस्ती रोक के रखा जा सकता है, लेकिन पाक रूपी धर्म तो बना ही रहता है, जठराग्नि काम करती रहती है। मल तो दग्ध होता रहता है और बड़ी आँत में काला पड़ता रहता है, क्योंकि ध्यान दूसरी तरफ था जिसके कारण वह बाहर नहीं निकल सका। इसलिए इतनी लम्बी समाधि को महत्त्व अधिक दिया जाता है। तो मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों इन्द्रियाँ हर समय हर अवस्था में कार्य करती ही रहती हैं। इनके कार्य का अभाव कभी नहीं होता। अन्य इन्द्रियों के कार्य को कुछ दिन तक रोका जा सकता है।

आज आप लोगों को मस्तिष्क, हृदय और मूलाधार के विज्ञान के विषय में थोड़ा बताया गया है कि ये तीन ही हमारे शरीर के मुख्य अंग माने गये हैं। और यही तीनों स्थानों के विज्ञान का महत्त्व दिया गया है। इनके विज्ञान के बारे में बहुत ऊँची-ऊँची बातें बतायी गयी हैं। जिसे मैंने स्वयं ग्रन्थों में पढ़ा है एवं बहुत-से विद्वानों, आचार्यों के द्वारा सुना है। इसके साथ-साथ आप लोगों को तीन मुद्राओं के द्वारा साधना करने की विधि भी बता दी है।

अब आज आप लोग चाहे उन्मनी मुद्रा के द्वारा मस्तिष्क में अभ्यास करें या शाम्भवी मुद्रा के द्वारा हृदय में अभ्यास करें, अथवा शक्तिसंचालिनी मुद्रा के द्वारा मूलाधार में अभ्यास करें। यह तो आप ही लोगों की इच्छा के ऊपर है। परन्तु आज आँखें खोलकर अभ्यास करना है। कहो तो बत्ती बन्द कर दूँ और नहीं तो जलती छोड़ दूँ। अब आप लोग अर्धोन्मीलित आँख बनावें अर्थात् आधी आँखें खुली रहें और आधी बन्द रहें। दृष्टि अन्दर रहे। बाहर के पदार्थों को देखते हुए भी न देखें। चाहे आप सब इन तीनों मुद्राओं में से किसी को अपना अभ्यास का विषय बनायें। और इसी के द्वारा अन्दर के पदार्थों को देखने की कोशिश करो। बस आज का व्याख्यान इतना ही है। अब आप लोग साधना के लिए तैयार हो जाओ।

व्याख्यान-५८

ज्ञान-कर्म-उपासना के द्वारा आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार।

ओ३म्—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों का सम्बन्ध आपकी साधना के साथ है। अभ्यास के द्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रारम्भ होता है। कल के प्रवचन में आपको तीन प्रकार की मुद्राओं के द्वारा ध्यान साधना करने की विधि बताई गई थी। उन्मनी, शाम्भवी और शक्तिसंचालिनी इन तीन मुद्राओं का अभ्यास मस्तिष्क, हृदय और मूलाधार में होता है। मस्तिष्क में पंचभूतों के द्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान का वर्णन मैं पिछले महीनों में कई दिनों तक करता रहा हूँ। उन्हीं का अभ्यास इन तीनों मुद्राओं के द्वारा किया जाता है। तीनों स्थानों में इनके द्वारा आत्म-साक्षात्कार और ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है जो कर्म, उपासना और ज्ञान का ही विषय है।

पहले हम उन्मनी मुद्रा को लेते हैं। मान लें कि हम शान्त भाव होकर बैठे हैं। अर्धोन्मीलित नेत्र हैं। जब सामने आँखों को खोलकर त्राटक के द्वारा देखते हैं तो उस समय ऐसा भान होता है कि एक क्षण में बाहर का विषय आ जाता है तो दूसरे क्षण में अन्दर के विषय का ध्यान आ जाता है। अन्दर के विषय क्या? जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं। जैसे—शब्द को लें या ज्योति को, जल को लें या किसी अन्य चीज को, बात एक ही है। मान लें कि हम उन्मनी मुद्रा के द्वारा प्रणव ओंकार शब्द को लेते हैं क्योंकि शब्द आकाश का गुण है; और आकाश के द्वारा या शब्द के द्वारा परमात्मा की उपासना की जाती है। यह एक प्रकार अभ्यास करने का कर्म हो जाता है। जैसे—मैं साधना करने बैठा हूँ, यह कर्म है और जिस माध्यम के द्वारा साधना करूँगा अर्थात् शब्द या आकाश के द्वारा, तो यह उपासना हो जायेगी। यही उपासना हमें ईश्वर के समीप तक पहुँचायेगी; क्योंकि उपासना का अर्थ होता है: उप कहते हैं समीप को और आसन कहते हैं बैठने को, तो इसका अर्थ हुआ भगवान् के समीप बैठना। इसी को उपासना कहते हैं। उपासना अपने से भिन्न की की जाती है। स्व से स्व का भी ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए जैसे दर्पण

को ले लो। दर्पण को अपने मुख के सामने रखने से अपने मुख का ज्ञान हो जाता है, तो इसमें दर्पण माध्यम बना अपने स्वरूप को दिखाने में। इसी प्रकार चित्त रूपी दर्पण या बुद्धि रूपी दर्पण को सामने रखकर उस आत्मा या परमात्मा का ज्ञान, दर्शन या अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार से यह कर्म, ज्ञान, उपासना उन्मनी मुद्रा के द्वारा की जाती है।

एक होता है पदार्थ और एक होता है पदार्थ का गुण। जो पदार्थ परिणामी होते हैं, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने वाले होते हैं, उनमें गुण-गुणी भाव संबंध हुआ करता है। और जिनमें किसी भी प्रकार का अवस्थान्तर परिणाम नहीं हुआ करता, उनमें गुण-गुणी भाव का सम्बन्ध नहीं हुआ करता। मैंने तो परमात्मा के बारे में बहुत अध्ययन एवं अनुसंधान किया है। परन्तु मुझे तो परमात्मा में गुण-गुणी भाव का सम्बन्ध प्रतीत नहीं हुआ; क्योंकि उसमें किसी प्रकार का अवस्थान्तर परिणाम नहीं होता। जैसे प्रकृति परिणामिनी है, यह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने वाली है, वैसे परमात्मा में परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति के गुणों का प्रादुर्भाव इसलिए होता है, वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन होकर चली जाती है। कारण से कार्य रूप में परिणत हो जाती है। क्योंकि जहाँ गुण-गुणी भाव का सम्बन्ध होगा वहाँ कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा। जो सर्वव्यापक चेतन सत्ता है उसमें कोई गुण-गुणी भाव सम्बन्ध नहीं होता जो एकदेशी पदार्थ है और जहाँ अवस्थान्तर परिणाम होता है वहाँ गुण-गुणी भाव होता है। परन्तु यह बात परमात्मा में नहीं घटती है कि परमात्मा किसी देश-विशेष में ठहरता हो। उसको हम सबने सर्वव्यापक माना है। इसलिए परमात्मा में किसी देश-विशेष में गुण की उत्पत्ति की आवश्यकता नहीं रहती है। गुण वहाँ काम करता है जो किसी दूसरे देश में जानेवाला पदार्थ है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना ही गुण है। इसी अवस्थान्तर परिणाम का नाम गुण हो जाता है। लेकिन परमात्मा में ऐसी बात देखने में नहीं आती। अगर रूढ़िवाद से मान लिया जाय कि परमात्मा में भी अवस्थान्तर परिणाम होता है, जैसे अन्य आचार्यों ने गुण-गुणी भाव सम्बन्ध माना है। इसमें अनेक गुणों का वर्णन किया है। तो फिर क्या होगा कि एक तरफ तो जड़ प्रकृति का परिणाम होगा। जैसे प्रकृति अपने कार्यों को उत्पन्न करती है। उसी प्रकार चेतन भी अपने कार्यान्तरों के द्वारा जीवात्माओं को उत्पन्न करता जायेगा, दोनों में समानता आ जायेगी; फिर अन्तर इतना ही रह जायेगा कि जड़ स्थूल परिणामी मानना पड़ेगा और चेतन को सूक्ष्म परिणामी। जैसे—वायु सूक्ष्म है, परिणामी है और अग्नि को भी व्याप्त कर लेता है। परन्तु चेतनस्वरूप ब्रह्म में इस प्रकार का परिणाम क्रम देखने में नहीं आता और न अनुभव में ही आया है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा में गुण-गुणी भाव का सम्बन्ध नहीं होता।

अब उपासना की चर्चा करूँगा। उपासना दो प्रकार से की जाती है। एक गुण के द्वारा और एक पदार्थ के द्वारा। जिस पदार्थ का जो गुण है, उस गुण के द्वारा भी परमात्मा की उपासना की जा सकती है। जैसे—आकाश को ले लो। आकाश सर्वव्यापक है और परमात्मा भी व्यापक है। आकाश की सर्वव्यापकता को माध्यम बनाकर परमात्मा की सर्वव्यापकता के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर दो तो इसके द्वारा भी परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मान लो हमने नाम रख दिया सर्वव्यापक ईश्वर, या 'ओ३म्'। इस प्रकार यह शब्द आकाश का गुण हो जाता है। इस गुण को भी लेकर गुणी की उपासना की जाती है। हालाँकि परमात्मा में गुण नहीं है पर हमने नाम रख लिया, संकेत कर दिया, उसे पुकारना है, अपनी इच्छानुसार व्यवहार में लाना है। हम उसको व्यवहार में लाने के लिए जैसी हमारी बुद्धि ने बताया, वैसा ही अपनी इच्छा से नाम रख लिया। जैसे कोई ने सर्वव्यापक कह दिया तो कोई ने सर्वज्ञ कह दिया। सर्वज्ञ इसलिए कह दिया गया है कि वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। सर्वव्यापक इसलिए कहा जाता है कि वह सब जगह व्याप्त है। सूक्ष्म इसलिए कहा गया है कि उससे बढ़कर कोई सूक्ष्म नहीं है। अब ये सब जो बातें बतलायी गयी हैं वह कोई अलग-अलग वस्तु का वर्णन नहीं किया गया, बल्कि एक ही चीज के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया गया है। यह कोई उसका अलग गुण नहीं है, बल्कि एक दृष्टिकोण से उसकी बड़ाई की जा रही है। उसका महत्त्व बताया जा रहा है। उसकी महानता को बतलाने के लिए हम सबने अपनी इच्छानुसार नाम रख लिए हैं। परन्तु वह है एक ही, जिसके ऊपर इतने नामों का आरोप कर दिया गया है। साधारण बुद्धि वाले उसके गुण, परिणाम और परिवर्तन को ही मान लेते हैं। वास्तव में देखा जाय तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। गुणान्तर परिणाम भी उसमें नहीं होता है, एक जैसा ही सर्वत्र देश में व्याप्त है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी में भी। कहने का तात्पर्य यह है कि हर देश-काल में उसकी समानता एक-सी बनी हुई है। जैसे आकाश सर्वत्र एक सा ही व्याप्त है। उसी प्रकार चेतन परमात्मा भी सर्वत्र एक-सा व्याप्त है।

जब आप उन्मनी मुद्रा के द्वारा आकाश को माध्यम बनाते हैं चेतन परमात्मा के साक्षात्कार के लिए, तो आपको आकाश पोल जैसा सर्वत्र देखने में आ रहा है। इसका गुण क्या है ? एक तो इसका गुण पदार्थों की रचना या निर्माण। दूसरा यह है कि उन पदार्थों को अवकाश प्रदान करना। अगर अवकाश न मिले तो हम इन हाथों को कैसे जोड़ सकते हैं या इधर-उधर कैसे हिला-डुला सकते हैं। इसलिए जिस तरह यह आकाश रचना के लिए उपयोगी है, चेतन के लिए भी उपयोगी है और दूर तक शब्द फैलाने के लिए भी उपयोगी है। क्योंकि आकाश का गुण शब्द ही माना गया है। शब्द आकाश में भी उत्पन्न होता है। उसी प्रकार पृथिवी का गुण गन्ध है। गन्ध पृथिवी का बहुत सूक्ष्म रूप है। यहाँ पृथिवी को काटते-छाँटते इतनी

सूक्ष्म अवस्था में लायी गयी है जो उड़कर चलने वाली होती है। अगर इस गन्ध को एकत्रित किया जाय तो यह तहें-सी बनकर पृथिवी का रूप धारण कर लेती हैं। इसलिए जितने भी पदार्थ पृथिवी से उत्पन्न होते हैं, उनमें कोई-न-कोई गन्ध रहती ही है।

हाँ, तो मैं उन्मनी मुद्रा के बारे में बतला रहा था कि जब उन्मनी मुद्रा के द्वारा आकाश को लक्ष्य बनाया जाता है जैसे यह आकाश सर्वत्र है वैसे ही आप अपनी ध्यान-दृष्टि को मस्तिष्क के अन्दर ले जायेंगे तो वहाँ भी आपको आकाश की व्याप्ति प्रतीत होगी, और उसी के समान और कोई विलक्षण रूपवाली वस्तु नजर आयेगी, जिसे चेतन या परमात्मा कहते हैं। अतः परमात्मा का भी कुछ-न-कुछ रूप मानना ही पड़ेगा, क्योंकि जो कोई पदार्थ या वस्तु है उसका कोई न कोई नाम रखना ही पड़ेगा जैसे भी हमारी बुद्धि बतायेगी। जैसे हम समझेंगे वैसे ही अपनी अक्ल के अनुसार नाम रख देंगे। तो इससे सिद्ध होता है कि जितने भी नाम परमात्मा के सुनने में आते हैं ये सब हम लोगों ने ही अपनी बुद्धि के अनुसार बनाये हैं। जैसे जिसको समझ में आया वैसा ही नाम रख दिया।

जैसे इस आकाश के समान मिलती-जुलती और कोई इससे विलक्षण सत्ता इसके अन्दर ओत-प्रोत है वही चेतन सत्ता ब्रह्म है। जैसे गरम वायु के अन्दर अग्नि ओत-प्रोत होती है या वायु आकाश के अन्दर ओत-प्रोत होता है, इसी प्रकार चेतन परमात्मा भी आकाश में ओत-प्रोत है। अब आप विभु-सी, दृष्टि डालकर अपने मस्तिष्क के अन्दर चेतन सत्ता को अनुभव करने की कोशिश करें। जब आप आकाश के द्वारा उपासना करेंगे तो आपको मस्तिष्क में व्यापक-सी दृष्टि डालनी होगी, क्योंकि आकाश आपके मस्तिष्क के अन्दर-बाहर व्याप्त है। यदि आप शब्द के द्वारा परमात्मा की उपासना करेंगे, उसका अध्ययन करेंगे, समझने की कोशिश करेंगे, उस समय क्या होगा ? क्योंकि शब्द छोटा है और एक देश में उत्पन्न होनेवाला है। आकाश एक देश में उत्पन्न नहीं होता। भले ही आप भगवान् की अपेक्षा आकाश को एकदेशी मान लें। परन्तु और जो तत्त्व, अग्नि, वायु और जल हैं इसकी अपेक्षा यह विभु है। हमारी बुद्धि की दृष्टि एकदेशीय है। सर्वदेशीय दृष्टि नहीं है। इस-लिए हमें भी अपनी बुद्धि को अपनी दृष्टि को आकाश द्वारा उपासना करने के लिए विभु-सी बनाना पड़ेगा। जैसे आकाश सारे विश्व में फैला हुआ है वैसे ही अपनी बुद्धि को भी फैलाना पड़ेगा। किसी शब्द के द्वारा आप परमात्मा का नाम रख लें, चाहे राम, ओ३म्, गॉड, परन्तु यह नाम ऐसा हो जिसमें मधुरता, कोमलता और प्रिय हो और उसका उच्चारण करने में ज्यादा जोर न लगता हो। अब आप उस शब्द को लेकर ब्रह्मरंध्र में प्रवेश करें और ऐसा अनुभव करें कि वह शब्द आपके ब्रह्मरंध्र में गूंज रहा हो, वहीं पर उत्पन्न हो रहा हो। ऐसी भावना बनाकर उसी शब्द में तारतम्यता बना लें अर्थात् उच्चस्वर तथा मन्दस्वर बना लें। जब आपकी

तारतम्यता बन जायेगी तो वह शब्द आकाश में घुल-मिल जायेगा क्योंकि शब्द आकाश का गुण है और गुण अपने गुणी में जाकर मिल जाता है। जब शब्द आकाश में जाकर घुल-मिल जायेगा तब चेतन परमात्मा भी उस आकाश में घुला-मिला हुआ होने से वह शब्द फिर चेतन परमात्मा में आकर घुल-मिल जायेगा। उससे अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेगा। तब फिर आपको उस चेतन परमात्मा का दर्शन या अनुभव होने लगेगा। क्योंकि जब शब्द का संयोग उस परमात्मा के साथ होगा तो उसमें क्रिया उत्पन्न होगी। और यह बात सर्वत्र देखी गयी है कि जब दो पदार्थों का मेल होता है तो उसमें क्रिया अवश्य ही उत्पन्न होती है। हालाँकि हम परमात्मा में क्रिया का अभाव मानते हैं परन्तु यह बात ध्यान-दृष्टि में आती है। जैसे शब्द आकाश में उछलता-कूदता हुआ सा प्रतीत होता है। क्योंकि शब्द आकाश में गमन करता है। ऐसे ही उसका नाम है प्रणव या 'ओ३म्' या 'राम' शब्द। यह शब्द चेतन को कम्पायमान करेगा। लेकिन यह चेतन का हम अपना गुण नहीं कहेंगे क्योंकि यह गुण तो आकाश का है। परन्तु वह आकाश शब्द के साथ कम्पायमान अवश्य होगा, क्योंकि एकदेशीय चीज सर्वदेशीय चीज को हिला देती है। यद्यपि चेतन हिलता नहीं है, परन्तु हिलता हुआ सा प्रतीत होता है।

जैसे दिल्ली में या गर्म प्रदेशों में ग्रीष्म काल में जब गर्मी पड़ने लगती है तो आप सब देखे होंगे कि जब दुपहरी में लू चलती है तो हवा पर कोई चीज हिलती हुई या कम्पायमान होती हुई दिखायी पड़ती है। ऐसे ही शब्द भी आकाश में गमन करता हुआ, जैसे आकाश को पकड़कर शब्द चल रहा हो और आकाश उसके आगे-पीछे चल रहा हो ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे ही प्रणव के आगे-पीछे चेतन चल रहा है। चेतन में तरंगें-सी उठती प्रतीत होती हैं। हम यह नहीं कहते कि उसी में तरंगें उठ रही हैं। परन्तु वह हमारे दर्शन का विषय तभी बनेगा, ज्ञान का विषय तभी बनेगा जब एक अवस्था से दूसरी अवस्था में हम उसे परिवर्तन करेंगे। हालाँकि यह बात भी ठीक-ठीक नहीं घटती कि उसमें दूसरी अवस्था होती है; किन्तु अपने आपको समझाने के लिए, उससे विज्ञान प्राप्त करने के लिए उसको उथल-पुथल, आगे-पीछे करके देखना है। उसको पूर्वापर जानना है। जैसे किसी पदार्थ को देखना या जानना हो तो उसको उलट-पुलट कर चारों तरफ घुमाकर देखना पड़ता है, तब वह दर्शन का विषय बनता है। इस प्रकार शब्द और आकाश की उपासना द्वारा इस मस्तिष्क में चेतन का साक्षात्कार होता है।

मुझे ७५ साल हो गये परमात्मा का अध्ययन करते हुए। अब भी अध्ययन कर रहा हूँ। इसी को स्वाध्याय भी कहा जाता है। जैसे एक कहावत है कि 'बाल की खाल निकालना'। उसी प्रकार मैं भी परमात्मा के पीछे पड़ा हुआ हूँ, 'बाल की खाल निकालने के लिए' अर्थात् मैं प्रयत्नशील होकर सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा उसका अनुसंधान करने में लगा हूँ। प्रत्येक पदार्थ के द्वारा उसको प्रत्यक्ष करना चाहता

हूँ, उसको देखना चाहता हूँ। जैसे बुद्धि के द्वारा जब उसको जान सकता हूँ तो हाथ के द्वारा स्पर्श करके क्यों नहीं जान सकता हूँ? हाथ भी तो एक बुद्धि का विशेष अंग है। बुद्धि के द्वारा ही इसमें गति होती है, उसी के द्वारा यह चलता है, जैसे रात्रि में इसमें बुद्धि नहीं होती सोई हुई होती है उस समय इन्द्रियाँ काम नहीं करती हैं। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है, कि बुद्धि उस समय अपना कार्य बन्द कर देती है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियों में भी बुद्धि का ही कार्य है और इन्द्रियों के द्वारा भी उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। जैसे आप आकाश को ले लें। आकाश को हाथ के द्वारा स्पर्श किया जा सकता है। वैसे ही चेतना का भी स्पर्श किया जा सकता है। हालाँकि वह स्पर्श का विषय नहीं बनेगा; परन्तु हम सब तो साधारण बुद्धि के मनुष्य हैं, इसलिए हम अपनी बुद्धि से समझ रहे हैं, क्योंकि जब एक चीज के द्वारा उसका प्रत्यक्ष हो सकता है तो और चीजों के द्वारा भी उसका प्रत्यक्ष हो सकता है। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है, ऐसा नहीं है कि एक चीज में है और एक चीज में नहीं है, एक स्थान में है और दूसरे स्थान में नहीं है। हम तो परमात्मा को एक-एक कण में व्याप्त मानते हैं और एक-एक कण में उसका दर्शन किया जा सकता है। उसी प्रकार बुद्धि है। क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही तो प्रत्येक कार्य होता है। जितने भी पदार्थों में गतिशीलता या क्रियाशीलता देखने में आती है वह सब तो बुद्धि के सम्बन्ध होने से ही होता है। बुद्धि एकदेश में रहने वाली थोड़ी ही है, बल्कि सारे शरीर में वह व्याप्त है। जैसे—आप एक छोटा-सा दीपक लेंगे और उसको जलायेंगे तो उसका प्रकाश निकलकर सारे कमरे को प्रकाशित कर देगा। ऐसी तो बात नहीं है कि उसका प्रकाश किसी एक देश विशेष में ही हो रहा है, बल्कि उसका फैलाव विस्तार कमरे में विभु है। प्रकाश में फैलने की विभुता है तभी तो सारा कमरा प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार सारे शरीर में बुद्धि की विभुता है। मैं तो केवल आप सबको समझाने के लिए कह देता हूँ कि बुद्धि मस्तिष्क में बैठी हुई है। जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है, स्थूल पदार्थों में भी व्याप्त है, वैसे ही समष्टि बुद्धि भी अपने से भिन्न सारे स्थूल पदार्थों में व्याप्त है। तभी तो हम इनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। परमात्मा पहले ही व्यापक है। प्रकृति जब चित्त या बुद्धि की अवस्था में आयी तब उस चित्त के देश-विशेष में जो परमात्मा है उसकी आत्मा संज्ञा हो गयी है। अब वही प्रकृति परिणत होती हुई बुद्धि की अवस्था में आयी तभी तो उस बुद्धि के देश में उसकी आत्मा संज्ञा परमात्मा के स्थान पर रखी गयी है। एक प्रकार से आत्मा सारे शरीर में व्याप्त है। जैसे उस प्रकृति से परिणत होता हुआ चित्त उसमें आकर चेतन आत्मा की संज्ञा जीवात्मा हुई। ऐसे ही परिणत होते हुए जब बुद्धि की अवस्था में प्रकृति आयी तो वहाँ भी आत्मा संज्ञा रखी जा सकती है।

बुद्धि को एकदेशीय मान करके भी वह अपने कारण के साथ रहती है। रज:प्रधान जो महत्तत्त्व है उससे बुद्धि की उत्पत्ति होने से कार्य के साथ में कारण रहा करता है। रज:प्रधान जो महत्तत्त्व है वह बुद्धि के साथ में वर्तमान है। जैसे हम आकाश के देश का भेद करते हैं, ऐसे एक प्रकार से प्रकृति भी सर्वत्र विभु-सी है और बुद्धि के देश में वह प्रकृति भी कारण रूप से कार्य के साथ रहती है। उस बुद्धि के देश में भी चेतन सत्ता वैसे ही वर्तमान है जैसे कि हृदय में है। इसलिए बहुत-से आचार्यों ने चित्त को न मानते हुए बुद्धि को ही करण मान लिया है, उसी में आत्मा की स्थिति मानी है। "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धि तु सारथि विद्धि" बुद्धि को यहाँ सारथि कहा गया है। अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि हमारे सारे शरीर में व्याप्त है तभी तो हमारे शरीर में स्पर्श का सर्वत्र भान होता है। भले ही स्पर्श वायु का धर्म है, परन्तु निर्णय तो बुद्धि ही करती है। बुद्धि के साथ में उसका सम्बन्ध है। रात्रि की निद्रा में बुद्धि में व्यापार नहीं होता। उस समय स्पर्श आदि का ज्ञान भी नहीं होता। परन्तु जाग्रत् में आपको स्पर्श आदि का ज्ञान हो रहा है। जाग्रत् अवस्था में बुद्धि काम करती हुई सारे शरीर में व्याप्त है।

बस, आज इतना ही कहना पर्याप्त है, आज जो विषय आप लोगों को बताया गया है इसी विषय पर आज आप सब मनन करें और फिर निदिध्यासन भी करें क्योंकि इसी के द्वारा साक्षात्कार भी करना है। इसमें आप आँखें खुली रखकर अनुसंधान करें। परन्तु इसमें कभी-कभी आपको बाहर के पदार्थ दृश्य में आ जायेंगे और कभी-कभी अंदर के पदार्थ भी ध्यान में आ जाते हैं। अगर इस रूप में आपका विज्ञान चलता है तो आप बाहर के पदार्थों को छोड़ दें। दीखें तो भी न देखें। उनको छोड़कर अन्दर के पदार्थों का अनुसंधान करें। क्योंकि मन तथा बुद्धि में चंचलता अधिक होती है। जब दसों इन्द्रियाँ समाहित हो करके एक कार्य को करती हैं तो ज्ञान कम हो जाता है। यदि आपकी इन्द्रियाँ थोड़ी देर के लिए भी अन्तर्मुख होती हैं तो उतनी ही देर में आप उनका अध्ययन कर लेंगे। कुछ न कुछ अवश्य ही अनुभव होगा। यदि कभी-कभी बाहर भी दृष्टि चली जाती है तो उन्मनी मुद्रा के द्वारा उसको अन्दर मोड़कर वहाँ का विज्ञान प्राप्त करने की कोशिश करें। ऐसा करने से आपको ब्रह्मज्ञान एक क्षण में ही हो जायेगा। अब आप लोग शान्तिपूर्वक बैठ जायें और उन्मनी मुद्रा के द्वारा आत्मा-परमात्मा के जानने का प्रयत्न करें।

व्याख्यान-५९

प्रणव रूप शब्द के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार।

ओ३म—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति न: पूषाविश्ववेदा :।
स्वस्ति न स्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि: स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥

ऋग्वेद १-८९-६

आज प्रात:काल उन्मनी मुद्रा के द्वारा ब्रह्मरंध्र में चेतना की खोज का प्रसंग चल रहा था। इस समय भी हम उसी प्रसंग को लेकर आगे बढ़ते हैं। मैं पहले भी आप लोगों को बता चुका हूँ कि पदार्थ दो प्रकार के होते हैं: एक चेतन, दूसरा जड़। चेतन पदार्थ भी दो प्रकार के होते हैं: एक आत्मा, दूसरा परमात्मा। जड़ और चेतन का सम्बन्ध सदा एक-दूसरे से बना हुआ रहता है। जैसे—यह शरीर है और चेतन इसके अन्दर विद्यमान है जो जीवन-शक्ति देकर इस शरीर को चला रहा है। उस जीवन-शक्ति का किस प्रकार से साक्षात्कार होता है, उसका साधन क्या है? उन्हीं विषयों को यहाँ बताना है। जैसे आपने पहले आकाश को माध्यम बनाया था और आकाश के गुणों को भी माध्यम बनाया था और दोनों का परस्पर समन्वय करके शब्द के द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार का अभ्यास किया था। अब आप प्रणव का मानसिक उच्चारण करते हुए प्रणव के द्वारा आकाश में स्पन्दन-सा, तरंगें-सी पैदा कर देने का प्रयत्न करें। आकाश में भी चेतन सदा व्याप्त है। इसलिए उसमें भी स्पन्दन-सा होने लगता है। यद्यपि उसमें कोई कम्पन या वाइब्रेशन की बात नहीं बनती है, फिर भी वह सबसे सूक्ष्म होने से उसमें प्रतीति होने लगती है। जैसे वायु, अग्नि या तेज के संयोग सम्बन्ध होने से उष्णता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसी प्रकार से जो प्रणव है वह ब्रह्म का वाचक है। ऐसा मानव ने अपने ज्ञान के लिए, विवेक के लिए तथा अपने व्यवहार में लाने के लिए मान लिया है। उसमें भी गतिविधि मालूम होने लगती है। यदि किसी के साथ उसकी व्याप्ति न हो तो वह दर्शन का भी विषय नहीं बन सकेगा। क्योंकि व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध होने से ही हम उससे स्थूल पदार्थ को लक्ष्य बना सकेंगे। उसके गर्भ में मिला-जुला हुआ देख सकेंगे। जितने पदार्थ हैं, वायु, अग्नि, जलादि, ये सब स्थूल पदार्थ हैं। आकाश सब पदार्थों से सूक्ष्म और व्यापक होकर ठहरा है। ऐसा कोई

पदार्थ संसार में नहीं है जिसको इस आकाश ने धारण करके व्याप्त न किया हो।

जो कार्य आप भगवान् से करवाना चाहते हैं, वह सब आकाश से सिद्ध होने से कुछ लोग आकाश को ही भगवान् मान बैठे हैं। परन्तु फिर भी जब हम बहुत सूक्ष्म दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि आकाश नित्य, निरवयव पदार्थ तो हो नहीं सकता है। फिर उसको हम जड़ नहीं कहेंगे, उसको प्रकृति का कार्य-विशेष या गुण-विशेष नहीं कहेंगे, क्योंकि मूल प्रकृति तो आकाश से भी सूक्ष्म है। यह आकाश तो प्रकृति का ही एक परिणाम-विशेष है। जब सर्वप्रथम संसार का सृजन प्रारम्भ होता है, उस समय उसको गतिशील बनाने के लिए इधर-उधर चलने के लिए आकाश ही व्यापक रूप से खड़ा होता है। इसके अपने ही गर्भ में गति वर्तमान है, यह गति सूक्ष्म प्राण की है क्योंकि चेतन का सम्बन्ध ही सूक्ष्म प्राण की उत्पत्ति का हेतु बना रहता है। और उसमें कम्पन रूप से जो परिणाम होते रहते हैं वह एक प्रकार से रजोगुण का ही धर्म है। रजोगुण भी कारण रूप से वर्तमान हो करके इसमें क्रिया का हेतु बना हुआ है जिसको हम प्राण कहते हैं। यह प्राण शक्ति उसकी साम्यावस्था में भी वर्तमान रहती है। सृष्टि से पहले पर-मात्मा विद्यमान रहता है। प्रकृति भी विद्यमान रहती है। अब संसार का सृजन करना है तब प्रकृति को अवकाश की आवश्यकता हो जाती है। अतः सृष्टि-रचना में प्रकृति के लिए चेतन-ब्रह्म में ही अवकाश समझना होगा या इसमें चेतन का अवकाश समझें। यहाँ एक प्रकार से चेतन को ही अवकाश का हेतु समझें। जैसे यह सूक्ष्म आकाश ही मेरी अँगुलियों के अवकाश का हेतु है। ऐसे ही चेतन-ब्रह्म सूक्ष्म होकर उसमें व्याप्त है। जहाँ हम उसको व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध भी नहीं कह सकते वहाँ भी वह वर्तमान है। उसको भी वहाँ अतिक्रम करके वह स्थित हुआ है। वहाँ चेतन में ही अवकाश का रूप बनता है। वह गति का हेतु भी बनता है। उस गति के लिए अवकाश चाहिए। फिर दिशा भी चाहिए कि किधर से किधर को यह चलेगी। फिर कितने समय में वहाँ पहुँचतो है, यह काल हुआ। ये तीन पदार्थ साम्यावस्था में प्रकृति के कारण, जगत् से पहले पैदा हो गये हैं। सूक्ष्म प्राण का कम्पन भी इनको सूक्ष्म रूप से पैदा कर रहा था। उस सूक्ष्म प्राण के घबड़ाहट में ही सूक्ष्म आकाश, काल, दिशा भी सूक्ष्म रूप में स्थित थी। आकाश भी उत्पत्तिमान है। यह आकाश, चेतन सत्ता ब्रह्म नहीं हो सकता। सबको व्याप्त करके ठहर नहीं सकता।

हाँ, तो अब हम दूसरा साधन आप लोगों को शाम्भवी मुद्रा के द्वारा बतलायेंगे कि शाम्भवी मुद्रा के द्वारा भगवान् को किस प्रकार से देखा जा सकता है। शाम्भवी मुद्रा का अर्थ यह है कि इसमें आँखें खुली हुई हों और ध्यान के द्वारा अपनी दृष्टि को मोड़कर हृदय में ले जायें। बुद्धि को इसके साथ में जोड़ दें, क्योंकि वहाँ बुद्धि ही आपको शब्दों के विषय में विवेचन करेगी, क्योंकि शब्द भी अनेक प्रकार के होते हैं,

उनमें भेदक ज्ञान कराने वाली बुद्धि ही होगी। जब आप भाव-विभोर होकर प्रणव का मानसिक उच्चारण करेंगे अर्थात्, जो शब्द का उच्चारण भावना से किया जाता है वह मानसिक जाप कहलाता है। थोड़ी-सी जिह्वा हिलती हो वह उपासुं जाप कहलाता है। जिसमें वाणी या शब्द बोल रहे हैं वह वाचिक जाप कहलाता है। हृदय एक ऐसा स्थान है जहाँ चित्त, आत्मा, परमात्मा का निवास है। जब हम उस हृदय में प्रणव का मानसिक जाप भावना के द्वारा करते हैं और आँखें खुली रखते हैं और ध्यान हृदय में जहाँ धड़कनें होती हैं, वहाँ रखते हैं और उसी में तन्मय हो जाते हैं, तो उस समय शरीर का भान नहीं रहता है। यदि उस समय सूक्ष्म शरीर की प्रतीति हो जाय तो उसके गर्भ में भी चेतन सत्ता आकाश की तरह व्याप्त मिलेगी। जैसा आकाश मस्तिष्क में भी व्याप्त था वैसे ही यहाँ हृदय में भी वर्तमान है। हृदय में आकाश को समझते हुए उसकी कल्पना करते हुए, सूक्ष्मता के साथ परमात्मा का व्याप्य-व्यापक भाव समझना चाहिए, क्योंकि उसकी व्यापकता हृदय रूपी आकाश के अन्दर भी व्याप्त है। जब आप भावना से प्रणव शब्द को मानसिक रूप से बहाकर वहाँ ले जायेंगे और उसका उच्चारण करेंगे तो शब्द की भावना से चेतना जाग्रत् होने लगती है। उस समय गुण और गुणी का सम्बन्ध होता है क्योंकि शब्द आकाश का गुण है। तो आप उस समय प्रणव रूपी शब्द से हृदय रूपी आकाश को जाग्रत् कर देंगे जो उसके गर्भ में वर्तमान रहता है। इस प्रकार प्रणव के द्वारा भी हृदय में परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है, क्योंकि उस समय आँखें खुली रहती हैं और ध्यान हृदय में रहता है। वहाँ शब्द का मानसिक उच्चारण होने से चेतना कम्पायमान-सी होने लगती है। मानो हम आकाश में ही शब्द पैदा कर रहे हों उस समय चेतन और आकाश दोनों कम्पायमान होने लगते हैं।

जैसे आपको आकाश का रूप नजर नहीं आता, परन्तु उसकी प्रतीति होती है चाहे वह कोई चीज क्यों न हो, भले ही उसको पोल समझें। इससे भी अति सूक्ष्म और भिन्न एक पदार्थ उसके गर्भ में है जिसको हम सब परमात्मा आदि नामों से कहते हैं। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि शाम्भवी मुद्रा में प्रणव जाप के द्वारा हृदय में परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। भले ही शब्द आकाश का गुण है परन्तु वायु इसको अपने ऊपर धारण करके चलती है, क्योंकि वायु से भी सूक्ष्म शब्द है। ओंकार या गॉड शब्द का आप मानसिक उच्चारण करके, पहले ब्रह्मरन्ध्र में ही उसकी अनुभूति या प्रतीति करें, पुनः उसी शब्द को प्राण या श्वाँस के साथ ऊँची भावना बनाकर हृदय के साथ जोड़ दें। उस समय आपको ऐसा प्रतीत होगा कि वह शब्द श्वाँस के साथ आता-जाता है और हृदय में उस शब्द का उच्चारण हो रहा है। फिर अपनी भावना को थोड़ी और ऊँची बनाकर श्वाँस-प्रश्वाँस के साथ मूलाधार में ले जायें और वहाँ भी उस शब्द की प्रतीति

होनें लगे ऐसा प्रयत्न करें। इसी क्रम से स्थान-भेद के साथ-साथ शब्द के उच्चारण की भावना का भेद हो जायेगा। यही शब्द जैसे आपको हृदय में परमात्मा का साक्षात्कार करायेगा, वैसे ही मस्तिष्क में और मूलाधार स्थान में भी शब्द के द्वारा साक्षात्कार करायेगा।

मूलाधार में भी आकाश व्याप्त है। जब शब्द आकर मूलाधार के अवकाश में टकरायेगा वहाँ चेतन के साथ में जो आकाश का सम्बन्ध है, उसको भी कम्पायमान-सी, चलायमान-सी आकाश के अन्दर चेतना की तरंगें-सी उठती हुई आपको अनुभूत होंगी। आपको वही समझना है कि यह परमात्मा का रूप है या यही प्रतीति इसमें परमात्मा की है। जैसे यह आकाश काशमीर देश का है ऐसे ही अन्य सब देशों का भी है। जैसे मस्तिष्क का आकाश है वैसे ही हृदय और मूलाधार का आकाश भी है। जब हम परमात्मा को आकाश के साथ व्याप्त मानते हैं तो हृदय में भी वैसा ही है और मस्तिष्क तथा मूलाधार में भी वैसा ही है। इस प्रकार से शब्द के द्वारा भी परमात्मा का साक्षात्कार करने की यह सरल विधि है। शब्द आकाश का गुण होने से गुण-गुणी का सम्बन्ध होता है। गुण और गुणी के द्वारा हम परमात्मा को कैसे जान सकते हैं आकाश तो हमें उनकी विभुता बतलाता है और शब्द उसके नाम को बतलाता है। नाम और नामी का शब्दार्थ अन्तर होता है। कोई भी पदार्थ होगा उसके नाम के लिए हम शब्द का उच्चारण करते हैं। उसका जो नाम होगा, वह शब्द कहलायेगा। फिर उसका अर्थ करेंगे कि इसके अन्दर क्या विशेषता है, क्या गुण है, तो यह उसका अर्थ हो जायेगा। जब हम उसके द्वारा उसको जान लेंगे, समझ लेंगे, तो वह ज्ञान हो जायेगा। मान लें जैसे—ओंकार शब्द है। यह आकाश का गुण है। फिर यह शब्द आकाश में व्याप्त है और परमात्मा भी आकाश में व्याप्त है, तो पहले यह शब्द अपने गुणी के पास गया, फिर गुणी ने उस व्याप्त परमात्मा के साथ सम्बन्ध करा दिया। यह तो हुआ शब्द और आकाश के द्वारा परमात्मा की उपासना, उसके ज्ञान और साक्षात्कार की विधि। मैंने पहले भी कहा था कि ज्ञान, कर्म और उपासना तीन चीज होती हैं। कर्म उपासना करने को कहते हैं अर्थात् जिसमें कुछ किया जाय वह कर्म कहलाता है और ज्ञान से कर्म होता है। पर ये तो आप पहले ही सुन चुके हैं, मेरा तो यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द और आकाश के द्वारा भी परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

इसके पश्चात् मैं आप सबको प्राण, स्पर्श और वायु के द्वारा परमात्मा को साक्षात्कार करने की विधि बताऊँगा। आज आकाश और शब्द के द्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान की बात परमात्मा के बारे में बताई गई है। कर्म, उपासना, ज्ञान, उन्मनी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, शक्तिसंचालिनी मुद्रा, गुण-गुणी और गुण जिसके आश्रय ठहरता है, इन सबकी तीन-तीन बातें आप लोगों को बतायीं।

शब्द आकाश का गुण है और आकाश को परमात्मा ने व्याप्त किया है। आकाश ने इसको धारण किया तो यह शब्द आकाश का गुण हुआ और आकाश गुणी हुआ। आकाश परमात्मा के आश्रय ठहरा हुआ है, यह परमात्मा का ज्ञान हुआ। उन्मनी मुद्रा द्वारा मस्तिष्क में ध्यान किया जाता है। शाम्भवी मुद्रा में हृदय को ध्यान का लक्ष्य बनाया जाता है और शक्तिसंचालिनी मुद्रा के द्वारा मूलाधार में ध्यान किया जाता है। शब्द और आकाश के द्वारा कर्म, ज्ञान, उपासना की बात बताई गयी है। यह आप सबको एक साधना करने की विधि बताई गयी है। आजकल मैं आप सबके समक्ष परमात्मा के अत्यन्त सूक्ष्म के विज्ञान का वर्णन कर रहा हूँ। अगर भगवान् मोटा होता या कहीं बैठा हुआ या स्थूल पदार्थों के सदृश होता तो मैं आप सबों को उसे पकड़कर सामने दिखा देता। परन्तु अफसोस यह है कि वह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, जिसका वर्णन केवल सूक्ष्म वाणी के द्वारा ही किया जा सकता है और नहीं तो फिर स्वयं अनुभव का विषय बन सकता है। अगर आप सबको यह क्रम या विज्ञान समझ में आ जाता है तब तो परमात्मा का साक्षात्कार होना कोई कठिन बात नहीं है। बस, आज आप लोग इन्हीं तीनों मुद्राओं के द्वारा परमात्मा को देखने, समझने की कोशिश करें।

व्याख्यान-६०

शब्द और आकाश को माध्यम बनाकर कर्म, ज्ञान और उपासना के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार।

ओ३म्—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

आजकल कर्म, ज्ञान और उपासना का विषय चल रहा है। पिछले दो दिनों से तो शब्द और आकाश के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने की विधि का वर्णन करता आ रहा हूँ कि शब्द के द्वारा परमात्मा के पास कैसे पहुँचा जा सकता है। इसका वर्णन किया है। शब्द भी हमारे शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। नस-नाड़ियों, हृदय की धड़कन, जहाँ भी देखें कोई न कोई शब्द अवश्य सुनाई पड़ेगा। भले ही इन सबका कारण प्राण है परन्तु वायु शब्द में गति कर देती है। आकाश उसको अवकाश प्रदान करता है और आकाश के अन्दर ही वह उत्पन्न होता है। फिर भी यदि वायु की उत्पत्ति न हो तो शब्द का गमन एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं हो सकता। इसलिए शब्द के गमनागमन में वायु हेतु होती है। क्योंकि वायु का प्रधान कर्म या गुण गति माना गया है। आकाश में गति सूक्ष्म रूप से रहती है। क्योंकि आकाश से ही वायु की उत्पत्ति होती है। अनन्त शब्द एकत्रित होकर वायु का रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि प्रकृति परिणत होती हुई चल रही है। अतः कारण अपने कार्य में सर्वत्र रहता है। वायु के अन्दर आकाश भी स्वतः उत्पन्न होता हुआ चला जाता है। तीनों प्रकारों के शरीरों की पाँच प्रकार के कोशों की जिसको स्तर-विशेष कहते हैं उसी प्रकार अवस्थायें भी एक दूसरी अवस्था में उत्पन्न होती हुई चल रही हैं। जब यह प्रकृति आकाश की अवस्था में आई तो उस सूक्ष्म रूप से स्थूलता के रूप में परिवर्तित होती गई। जैसे—मान लें कि एक सेब का बीज है, एक ही बीज के अन्दर उसके पत्ते टहनी, शाखायें, तना, जड़, फल, फूल इत्यादि वर्तमान हैं। जब हम उसको कार्य-क्षेत्र में लाकर भूमि में बोते हैं, तब वह अपने स्वरूप में अंकुर लेकर उगता है और फिर वही बीज धीरे-धीरे वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार इस सृष्टि का निर्माण होता है।

प्रलयकाल में यह भी प्रकृति के गर्भ में बीज रूप से वर्तमान रहता है। अपने उपादान कारण में चल जाता है। फिर यह शनैः-शनैः विकास भाव को प्राप्त होकर इतने बड़े कार्यात्मक जगत् का रूप धारण कर लेती है। जितना समय इसको अपने कारण में जाने के लिए लगता है, उतना ही समय फिर इसको कारण से कार्य रूप में आने के लिए लगता है। अर्थात् इसको चार अरब वर्ष तो अपने कारण में जाने में लगता है और फिर चार अरब वर्ष इसको अपने कार्य रूप पृथिवी तक पहुँचने में लगता है। फिर पृथिवी से प्राणियों का प्रादुर्भाव या उत्पत्ति या विकास होता है। अगर इस प्रकार की भूमि नहीं हो तो प्राणियों के शरीर नहीं बनते। जैसे सूर्यलोक में वनस्पति आदि यहाँ के जैसी नहीं हैं, वही बात चन्द्रलोक में भी है। वहाँ जीवों की या प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होती है। इस लोक में जो प्राणदा वायु है वह वायु का ही परिणाम विशेष है। सूर्यलोक, चन्द्रलोक की वायु की अपेक्षा पृथिवी लोक की वायु प्राणदा है। उन लोकों की वायु प्राणदा नहीं है। इस प्रकार वायु के भेद ४९ प्रकार के हो जाते हैं। जैसे सूर्य आदि देश में भी वायु वर्तमान है। परन्तु वह पहली-पहली वायु है। फिर वही वायु परिणाम भाव को प्राप्त होकर शनैः-शनै जब पृथिवी पर आ जाती है तो यहाँ आकर औषधि तथा जीव आदि का प्रादुर्भाव करती है। जल और पृथिवी जहाँ रहते हैं वहीं प्राणियों के शरीर का विकास होता है। जहाँ पर जल और इस प्रकार की उपजाऊ भूमि होती है, वहाँ प्राणियों का प्रादुर्भाव नहीं होता। इसी तरह जब यह प्रकृति आकाश के रूप में आई उस समय यह अनन्त सूक्ष्म शब्दों के ही रूप में बन गयी। फिर वह शब्द ही परिणाम भाव को प्राप्त होकर, संयोग को प्राप्त होकर परमाणुओं के रूप में बन गया। आकाश के ६० परमाणु मिलकर एक वायु का अंग बना। इस प्रकार फिर यह वायु के रूप में आकाश आ जाता है तो जो सूक्ष्म शब्द होते हैं वह भी वहाँ वर्तमान रहते हैं और फिर स्थूल भी हो जाते हैं। इस प्रकार फिर ये दोनों अर्थात् शब्द और वायु मिल जाते हैं। वायु में गति होने के कारण शब्द में धक्का देने लगती है और फिर इस धक्का से तेज उत्पन्न होता है जो अग्नि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जैसे आकाश सारे विश्व में व्याप्त है। अन्तर सिर्फ़ इतना है कि यह उसकी अपेक्षा स्थूल है। हमारे शरीर में भी अनेक शब्द उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म शब्द हो प्राण के रूप में परिणत हो जाते हैं।

जब हमारे शरीर का निर्माण पंचभूतों से हुआ है तो शरीर-निर्माण के समय पंचभूत बनकर तैयार रहते हैं और फिर पंचभूतों का परिणाम रज, वीर्य के रूप में परिवर्तन होकर हमारे शरीर का उपादान कारण बनता है। उस रज-वीर्य के अन्दर वायु भी वर्तमान होती है। क्योंकि वहाँ वायु न हो तो गति प्रक्षेपण आदि नहीं होता। एक देश से दूसरे देश तक नहीं जा सकता। वायु इस समय तो हमारे

शरीर में प्राण के रूप में परिणत होकर के आया है। प्राण इस प्रकार परिणत होकर फिर यही प्राण हमारे शरीर में चेतन-सा बन करके हमारे जीवन का आधार बन जाता है। यहाँ वायु और प्राण भी हमारे जन्म का कारण है। शरीर में तो रज-वीर्य की गति के लिए प्राण कारण है और आकाश-मण्डल में वायु कारण है। हमारे शरीर में जो प्राण है वह भी वायु की तरह सारे शरीर में व्याप्त है। यदि इसका अभाव हो जाय तो सारा ही शरीर शून्य और निश्चेष्ट हो जायेगा। रक्त की गति बन्द हो जायेगी। क्योंकि रक्त की गति का हेतु प्राण ही बना हुआ है अन्यथा शरीर मुर्दा जैसा हो जायेगा। इसलिए प्राण शरीर को जीवित-सा बनाये रखता है।

अब हम आप लोगों को प्राण के द्वारा उपासना करने की विधि बतलाते हैं। जैसे पहले मैंने आप लोगों को तीन प्रकार की मुद्रायें बतायी थीं: उन्मनी मुद्रा, शाम्भवी मुद्रा और शक्तिसंचालिनी मुद्रा। अब उन्मनी मुद्रा को लेकर प्राण के द्वारा कर्म, उपासना और ज्ञान के रूप में परमात्मा तक पहुँचने का उपाय बताता हूँ। इन तीन साधनों के द्वारा हम भगवान् से मिलना चाहते हैं। यद्यपि वह हमसे दूर नहीं है। परन्तु जब तक हमें उसका ज्ञान नहीं होता, तब तक तो वह हमसे दूर रहता है और तभी कर्म, ज्ञान तथा उपासना की बात बनती है। जब वह समझ में आ जाता है तो फिर स्थूल रूप से इतनी आवश्यकता नहीं होती पर सूक्ष्म रूप से तो योगी वहाँ भी कार्य करते हैं। मान लें आपने एक बार परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया, इतने क्षण के लिए आपका उससे सम्बन्ध हो गया। परन्तु इतने क्षण में भी तो आपका कर्म, ज्ञान, उपासना हुआ ही। वहाँ वे बहुत सूक्ष्म रूप से हो गये। जब पहले-पहल उसका अध्ययन, या जानने की कोशिश करते हैं तो उस समय कर्म, ज्ञान और उपासना स्थूल हो जाते हैं। इन तीनों के अन्दर भी स्थूल सूक्ष्म अति सूक्ष्म की बात होती है। प्रत्येक पदार्थ सत्त्व, रज और तम भेद से स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर बन जाता है। सात्त्विक रूप सूक्ष्मतर होता है, राजसिक रूप सूक्ष्म होता है और तामसी रूप स्थूल या बहुत भारी होता है। ये तीन बातें सब समय साथ में रहती हैं।

जब आप प्राण के द्वारा इन तीनों स्थानों में परमात्मा की उपासना करना चाहते हैं तो उस समय क्या करना चाहिए? उस समय आप आँखें खोलकर प्राण को खींचकर शनैः-शनैः ऊपर की ओर चढ़ावें और जहाँ ब्रह्मरन्ध्र की पोल या रिक्त स्थान है वहाँ टक्कर लगावें। ज्ञान का स्थान मस्तिष्क में माना गया है। परमात्मा की व्याप्ति भी इसमें है। जब परमात्मा का ज्ञान हो जाता है तब वह इस अंगूठे में भी दीखने लगता है, नाखून में भी प्रत्यक्ष होने लगता है। जब इन अंगों में प्रत्यक्ष नहीं होगा, तो समझो कि वृहद् मस्तिष्क में भी नहीं होगा और यदि एक बार समझ में आ जाता है तो उसके दर्शन के लिए समस्त पदार्थ माध्यम

बन जाते हैं, साक्षात्कार के साधन बन जाते हैं। इसलिए प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में शनैः-शनैः चढ़ाने की कोशिश करें। जैसे कि कल उपासना के लिए सूक्ष्म शब्द के बारे में बताया था। वैसे ही बहुत सूक्ष्मता से प्राण को वहाँ ले जायें और वहाँ छोड़ दें। वहाँ इसका संघात होगा, मेल होगा। श्वास-प्रश्वास तो स्थूल प्राण है। इसके अन्दर जो सूक्ष्म प्राण है वह समस्त शरीर में व्याप्त है। इस कण्ठ से ऊपर के देश में व्यान प्राण या पाँचों उपप्राण भी वर्तमान हैं। जैसे—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। ये पाँच उपप्राण भी इस देश में वर्तमान हैं। इनके द्वारा भी उपासना की जा सकती है। उदान का सम्बन्ध मस्तिष्क तक बना रहता है। भले ही इसका स्थान कण्ठ देश में है। इसका प्रभाव ऊपर-नीचे तक भी होता है। आप जब स्थूल प्राण को ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाते हैं, तो वहाँ जाकर वह सूक्ष्म प्राण के साथ सम्बन्धित होता है और जो व्यान-प्राण सूक्ष्म है वह चेतना के साथ सम्बन्धित रहता है। व्यान-प्राण अन्य प्राणों की अपेक्षा सूक्ष्म है। सारे शरीर में वह व्याप्त है। व्यान ही वहाँ आत्मानुभूति का माध्यम बन जाता है। चेतन के साथ घुला-मिला रहने से चेतन और व्यान दोनों व्याप्त से नज़र आते हैं। प्राण के द्वारा कर्म, ज्ञान, उपासना करने का यह एक उपाय है। यदि आप सूक्ष्मता से परमात्मा का अध्ययन या साक्षात्कार करना चाहते हैं तो जो सात प्राण हृदय से ऊपर वर्तमान हैं ये भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूप में वर्तमान रहते हैं। यदि इनके तारतम्यिक भेदों का साक्षात्कार कर लें तो आपकी बुद्धि की कुशलता ही समझी जाएगी।

जब आप सात्त्विक उदान का सम्बन्ध चेतन के साथ करेंगे तब चेतन आपको शुक्ल वर्ण के रूप में भासमान प्रतीत होगा। यदि आप राजसिक व्यान के साथ सम्बन्ध बनायेंगे तब नीलिमा, शुक्लता अधिक होगी और यदि तमःप्रधान के द्वारा सम्बन्ध बनायेंगे तब उसके रूप में और परिवर्तन आ जायेगा। इस प्रकार ज्ञान भी तीन प्रकार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेद से होगा। जब ज्ञान सत्त्व बन जाता है तो चेतन का अपना वास्तविक स्वरूप भासने लगता है। जब रजःप्रधान ज्ञान से सम्बन्ध बनता है, तब चेतन भिन्न रूप से भासने लगता है, क्योंकि "रूपम् रूपम् प्रतिरूपो वभुव" बन जाता है। अयस्कान्त मणि के पास जिस रंग का पदार्थ ले जाएँगे वह वैसी ही भासने लगेगी। उसी प्रकार चेतन प्रत्येक रूपवान पदार्थ के पास तद्रूप भासने लगता है।

इस प्रकार इसके २१ प्रकार के भेद करके २१ प्रकार के उपायों द्वारा चेतन का साक्षात्कार होता है। यद्यपि आकाश हमारी प्रतीति का विषय बनता है, फिर भी इसके रूप का निर्धारण आज तक हम नहीं कर पाये। इससे ही आपके सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं। हर समय इसको देखते हैं परन्तु इसके रूप का निर्णय आज तक कोई भी नहीं कर सका। क्योंकि आकाश में यह विशेषता है कि जब इसके

साथ में वायु का सम्पर्क होता है तो वायु के रूप में परिणत हो जाता है। जब अग्नि के साथ सम्पर्क होता है तो अग्नि के रूप में परिणत हो जाता है। जब पृथिवी के साथ सम्पर्क होता है तो पृथिवी के रूप में परिणत हो जाता है। जब इसका सम्पर्क जल के साथ होता है तो जल के रूप में भासने लगता है। अतः यह आकाश आप सबके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण का दृष्टांत है। सर्वव्यापक चेतनसत्ता भगवान् को भी आप इसी प्रकार समझ लें। जो भी पदार्थ उसके सम्पर्क में जाता है, वह वैसा ही भासने लगता है। पहले उसके सम्पर्क में प्रकृति गयी तो वह प्रकृति के रूप में भासने लगा। फिर प्रकृति महत्तत्त्व के रूप में आयी तो वह महत्तत्त्व के रूप में भासने लगा। जब यह प्रकृति परिवर्तित होती हुई पृथिवी के रूप में आयी तो भगवान् पृथ्वी के रूप में भासने लगा। यहाँ आकाश के दृष्टांत से परमात्मा को भी समझ लेना चाहिए। प्रकृति जड़ होते हुए भी सारे कार्य करती है और परमात्मा चेतन होते हुए सारा कार्य करता है क्योंकि ज्ञान आदि धर्म या गुण स्वरूप प्रकृति में है। पर यह सब कार्य चेतन के द्वारा ही होता है। प्रकृति में जो भेद या एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना यह सब चेतन के सम्पर्क से ही होता है। तुम्हारे शरीर में जितनी भी क्रियायें हो रही हैं वह सब प्राण के सन्निधान से हो रही हैं। जैसे प्राण समस्त शरीर में ओत-प्रोत है वैसे परमात्मा भी समस्त ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत है। जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं उन सबमें वह ओत-प्रोत है।

आज इतना ही कहना पर्याप्त है। अब आप लोग अभ्यास के लिए सावधान हो जायें और आज आप लोगों को उन्मनी मुद्रा के द्वारा प्राण से मस्तिष्क में उपासना करनी है। जब आँखें थक जायें तो थोड़ी देर के लिए बन्द कर लें, पुनः खोल लें। जिस प्रकार कान खुले हैं उसी प्रकार आँख भी खुली रखें। तभी शाम्भवी मुद्रा और उन्मनी मुद्रा सिद्ध होगी। जैसे मैं किसी पदार्थ को देखना चाहता हूँ तो मेरी आँखें खुली हैं और आप सबके नाना प्रकार के रूपों को देख रहा हूँ। अगर इसी दृष्टि को हम अन्दर मोड़ देंगे तो अन्दर के भिन्न-भिन्न पदार्थों की रचना इसी प्रकार दिखाने लगेंगी। इसलिए आप मुद्राओं को साधन बनाकर अभ्यास कीजिए। क्योंकि परमात्मा अनन्त है और उसके पास पहुँचने के लिए, साधन भी अनन्त हैं। इसीलिए तो मैं आप सब को उसके पास पहुँचने के लिए, उपासना करने के लिए, नाना प्रकार के पदार्थों को माध्यम बनाकर भिन्न-भिन्न तरीका बता रहा हूँ। इससे कर्म भी होता है, उपासना भी होती है और ज्ञान भी होता है। जैसे आप इस घड़ी के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो यह घड़ी भी आपको साक्षात्कार कराने में साधन बन सकती है। क्योंकि इसके भीतर भी तो परमात्मा की व्याप्ति है। आकाश इसमें भी तो वर्तमान है। जब भगवान् का स्वरूप एक बार समझ में आ जाता है तो वह फिर किसी पदार्थ में प्रतीत होने लगता है। जैसे

आपको आकाश का स्वरूप समझ में आ जाये तो आपको सर्वत्र आकाश ही प्रतीत होगा। प्रत्येक पदार्थ में आकाश को देख सकोगे, समझ सकोगे। ऐसे ही परमात्मा की प्रतीति भी आपको एक बार समझ लेने पर प्रत्येक पदार्थ में उसकी अनुभूति होने लगेगी। फिर आप किसी भी पदार्थ को माध्यम बना करके उसको देख सकेंगे।

व्याख्यान-६१

राग बन्धन का हेतु है और वैराग्य मोक्ष का हेतु है।

ओ३म्—यस्मादृते न सिद्धति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥ ऋग्वेद, १-१८-७॥

भक्ति योग में राग की प्रधानता होती है। ज्ञानयोग में वैराग्य की प्रधानता होती है। हम लोग राजयोगी हैं, इसलिए वैराग्य को हम सबसे अधिक महत्त्व देते हैं और इस मार्ग में भगवान् मे भी राग त्यागना पड़ जाता है। क्योंकि जब तक राग रहेगा तब तक बन्धन का हेतु बना रहेगा चाहे वह राग जड़ का हो या चेतन का हो। लेकिन ये दोनों ही बन्धन का हेतु हैं। अब तक हम लोग जितने भी कर्म करते आये हैं वह सब रागयुक्त ही हैं और यही राग बन्धन का हेतु बना हुआ है। भक्ति-योग में राग को ज्यादा महत्त्व दिया गया है, क्योंकि स्वर्ग या मोक्ष में भगवान् की गोद में जाकर भक्त आनन्द का उपभोग करता है। परन्तु हम लोग तार्किक हैं और तर्क के द्वारा भगवान् का अनुसंधान करते हैं। क्योंकि जीवन-भर तो हम यहाँ भगवान् के लिए ज्ञान, भक्ति, उपासना तथा ध्यानादि के द्वारा उनसे बँधे रहें जिसमें व्युत्थान भी होते रहते हैं और स्वर्ग में जाकर भी भगवान् का चिन्तन आदि बना रहे, निरोध, व्युत्थान होता ही रहे, तो वह भी बन्धन का ही कारण बना रहेगा। परन्तु यह बात हम अनुमान के द्वारा ही कहते हैं, क्योंकि स्वर्ग में जाकर किसने देखा, मोक्ष किसने देखा? इस लोक में भी व्युत्थान निरोध होता ही रहता है। समाधि अवस्था में निरोध होता है और फिर व्युत्थान भी होता है, फिर उस लोक में जाने की क्या आवश्यकता है, जब भगवान् इस लोक में भी विद्यमान है? मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ वैराग्य का महत्त्व अधिक है। परन्तु भक्तियोग में राग को ज्यादा महत्त्व दिया जाता है। वे लोग भगवान् के सान्निध्य को जो स्वर्ग या मोक्ष को मानते हैं, भगवान् के समीप रहकर आनन्द सुख भोग करते हैं, ऐसा भक्ति-योग वाले मानते हैं। परन्तु मैं तो अब इस निर्णय पर पहुँच चुका हूँ कि मोक्ष की अवस्था में जब तक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि नहीं होंगे तब तक आनन्द, शान्ति सुख का उपभोग नहीं किया जा सकता है। जैसे यहाँ हमारे साथ मन, बुद्धि, चित्त अहंकारादि हैं, तभी यहाँ के सात्विक आनन्द का उपभोग या अनुभव करते हैं।

परन्तु यहाँ हम शरीर से भी बँधे हुए हैं। फिर उस मोक्ष में भी शरीर का भाव मानना पड़ेगा। इसलिए मैं कहता हूँ कि यदि वहाँ भी शरीर रहता है, भगवान् के साथ जुड़ना-हटना रहता है। वहाँ भी समाधि व्युत्थान की अवस्था होती रहती है तो फिर उस लोक में जाने से क्या लाभ? भगवान् यहाँ भी वर्तमान है तो क्यों न यहीं प्राप्त करें? फिर इतना कष्ट अर्थात् प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता थी? और इस लोक और उस लोक में क्या अन्तर रह जाता है? तो मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे यहाँ राग बना रहा वैसे मुक्ति में भी बना रहा तो फिर मोक्ष कहाँ हुआ? फिर तो बन्धन का हेतु हो गया। इसलिए राग सर्वथा बन्धन का हेतु है और त्यागने योग्य है। तत्त्व ज्ञान के उदय होने पर वैराग्य उत्पन्न होता है। इससे प्रकृति और इसके कार्यों का भी राग विच्छेद हो जाता है। जब मोक्ष में यह शरीर और करण आदि कुछ नहीं रहेंगे तब तो कुछ आनन्द और शान्ति की बात न बनेगी। उस अवस्था के बारे में हम कुछ नहीं कह सकते हैं कि तब क्या होगा। क्योंकि जब तक करण हैं, इन्द्रियें हैं तब तक तो किसी भी अवस्था का वर्णन हो सकता है; लेकिन जहाँ कोई करण या शरीर नहीं है तो वहाँ किसके द्वारा वर्णन किया जा सकता है? अतः वह वर्णनातीत ही है। इसलिए इस प्रकार के भी स्वर्ग और मोक्ष के बारे में सन्देह बना रहता है। क्योंकि जब ईश्वर सर्वत्र एक समान है, तब किसी लोक-विशेष में उसकी प्राप्ति के लिए, उसका आनन्द या सुख भोगने के लिए, जाने की क्या आवश्यकता है। यहाँ भी तो भगवान् वर्तमान है। पहलगाम में भी तो भगवान् विद्यमान है तो क्यों नहीं उसके साथ मिलकर शान्ति और आनन्द भोग लिया जाय? किसी लोक-विशेष में जाने की क्या आवश्यकता है? यहाँ शरीरों के द्वारा भोगा जाता है। वहाँ भी समाधि की अवस्था में शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिए शरीर और करण का भाव अगर वहाँ रहेगा तो वहाँ भी, बन्धन का हेतु बनेगा। जैसे अभी तक मुझे इतना ज्ञान हुआ है कि किसी दूसरे के पास जाकर समझने की बात नहीं रही। परन्तु शरीर के बन्धन का अनुभव अब भी होता है। जब तक यह शरीर और करण रहेंगे तब तक मोक्ष होना कठिन ही है। मरने के बाद क्या होगा? उसको हम नहीं बता सकते कि मोक्ष क्या चीज है। यदि ये बातें अब समझ में आ जायें कि ये सब इन्द्रियाँ और करण के भोग हैं, उन्हें रहना ही है, उनका ये स्वाभाविक धर्म है। हमारा निरोध विज्ञानादि उन पर कुछ काम नहीं करता। जब राग-द्वेष आदि धर्म आत्मा के नहीं माने जाते करणों के धर्म माने जाते हैं, तब तो आत्मा मुक्त ही है। फिर बन्धन किसका है? अगर शरीर और इन्द्रियों की मुक्ति मानते हैं तो इनके रहते हुए सुख-दुःख रहता ही है इनका अभाव नहीं होता।

हाँ, तो मैं भक्तियोग के विषय में चर्चा कर रहा था कि भक्तियोग में राग का महत्त्व दिया गया है। अब वर्तमान में जो ज्ञानी पुरुष है, वह सब ओर

से उदासीन होता चला जा रहा है। और जो भक्त है उसका राग व्यापक होता चला जा रहा है। ये दोनों सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न हैं। राग और वैराग्य का परस्पर विरोध है। जहाँ राग होता है वहाँ वैराग्य नहीं होता है। अब वैराग्य को जब प्रयोग करेंगे, तो वहाँ संसार के प्रत्येक पदार्थ से सम्बन्ध-विच्छेद होगा। इसी तरह राग भी संसार के प्रत्येक पदार्थ से होगा। अब इतने दिन की साधना से मुझे भी यही ज्ञान होता है कि अब भगवान् के राग से भी मुक्त होना चाहिए। यह मेरे मन की भावना है। जैसे आकाश के साथ यदि भगवान् है तो इसमें मैं राग करूँ या न करूँ एक ही बात है। इसमें मुझे कुछ नहीं कहना है। इसी तरह भगवान् जड़ तो नहीं है। परन्तु मैं उससे राग करूँ या न करूँ वह मुझे कुछ नहीं कहेगा। यह केवल हमारी अपनी ही मान्यतायें हैं। जब से मैंने होश सम्भाला तब से भगवान् के लिए परेशान रहा और बड़ा संघर्ष भी किया, जीवन में संघर्षों के साथ युद्ध करना पड़ा। ऐसे ही सारा जोवन बीता और अब भी ऐसी भावना या संस्कार लेकर जाऊँगा। भगवान् के अनुराग के बारे में मैं तो यह समझ पाया हूँ कि यह अनुराग अन्तःकरण का धर्म है। यदि आत्मा का धर्म अनुराग मानता हूँ तो आत्मा को भी चित्त की तरह विकारवान मानना पड़ेगा। क्योंकि चित्त भी विकारवान है, उत्पन्न हो करके आया है और चित्त का धर्म भी राग है और आत्मा का भी धर्म राग है तो ये दोनों बातें आपस में युक्तिसंगत नहीं दीखती हैं। यदि चित्त को हटा दिया जाये तो क्या आत्मा स्वयं करण बनेगा और स्वयं ही कर्त्ता बनेगा, स्वयं ही कर्म बनेगा ? क्योंकि कर्त्ता, कर्म और करण में अन्तर हुआ करता है और कर्त्ता हमेशा सुख-दुःख का भोक्ता हुआ करता है।

जैसे कोई आदमी कर्म करता है या खेती करता है तो उसे खेती करने के लिए औजार आदि की आवश्यकता पड़ती है। बिना करण के व्यापार नहीं चलता। जब इस लोक में सब जगह करण की आवश्यकता पड़ती है तो मोक्ष या स्वर्ग में भी कोई करण जरूर होगा। सुख और दुःख हम मन और इन्द्रियों के द्वारा भोगते हैं; जैसे—रात्रि की निद्रा अवस्था में मन और इन्द्रियाँ सब शान्त हो जाती हैं। तत्सम्बन्धी सुख-दुःख का अभाव हो जाता है। परन्तु आत्मा तो उस समय भी वर्तमान रहती है, तो वहाँ आत्मा क्यों नहीं करण बनता है ? उसको इन्द्रियों की क्या आवश्यकता है ? इस लोक में भी वह स्वयं करण बन सकता है। स्वयं ही कर्त्ता बन सकता है। जैसे मोक्ष की अवस्था में आप उसको स्वयं ही कर्त्ता कहते हो, करण मानते हो, तो यहाँ क्यों नहीं मानते हो ? जब यहाँ सुख-दुःख भोगने के लिए करणों की अपेक्षा करता है तो स्वर्गलोक में या ब्रह्मलोक में भी उसकी अपेक्षा होनी चाहिए। परन्तु यह बात यहाँ देखने में नहीं आती। हमेशा प्रत्यक्ष पूर्वक ही अनुमान हुआ करता है। यह जो हमारी इस प्रकार धारणा है कि वहाँ (मोक्ष में) हमारे शरीर और इन्द्रियाँ नहीं होंगी और भगवान् की गोद में बैठकर वहाँ आनन्द का उपभोग करेंगे। यह बात

सर्वथा विपरीत ही दीखती है । मैं तो इस विषय में नितान्त प्रत्यक्षवादी बन गया हूँ । क्योंकि प्रत्यक्ष पूर्वक ही अनुमान होता है । आप मेरे सामने रोज दो घण्टे ध्यान (मेडिटेशन) करते हैं, आप लोगों को भी बहुत बार ऐसी अवस्था आती होगी । पूर्ण शान्ति और आनन्द का अनुभव होता होगा । कभी-कभी शरीर का भी भान नहीं रहता होगा और बहुत-से अभ्यासी को तो यह भी पता नहीं होता कि मैं कहाँ बैठा हूँ । उस समय केवल आनन्द की अवस्था होती है । उस समय शरीरादि का कोई भान नहीं रहता है । जब इस प्रकार की अवस्था आती है वह इन करणों के द्वारा ही हुआ करती है । जैसे निद्रा में भी कुछ सुख-शान्ति अनुभव होती है । परन्तु उस समय व्यक्ति को पता नहीं होता है कि मैं अब सुख भोग रहा हूँ या दुःख । उठने के पश्चात् अनुमान करता है । सुख के पश्चात् शरीर प्रसन्न होता है, हल्का-फुल्का होता है । तो मनुष्य अनुमान करता है कि शायद आज मुझे सुख-शान्ति या आनन्दपूर्वक नींद आयी थी । परन्तु यह सुख आनन्द का ज्ञान तो उसको निद्रा में नहीं था, उस समय तो उसको कोई सुखात्मक या दुखात्मक चीज का अनुभव नहीं हो रहा था । अगर मोक्ष में भी निद्रा के समान भोग मान लें तो निद्रा भी तो एक चित्त की वृत्ति ही मानी गयी है । अगर मोक्ष की अवस्था में निद्रा के समान सुख और दुःख की अनुभूति होती है तो जैसे मनुष्य सोने के बाद जागता है तो कहता है कि आज मेरा चित्त खिन्न-सा है आज सोने में आनन्द नहीं आया । तो इसी प्रकार मोक्ष में भी अनुभूति अवश्य होती और यदि मोक्ष में सुख होगा तो दुःख भी अवश्य होगा । जैसे दिन है तो रात भी है, ये दोनों साथ ही रहेंगे । इसलिए मोक्ष लोगों की केवल कल्पना है कि वहाँ आनन्द ही आनन्द रहता है ।

बिना करण के उपभोग नहीं होता । वर्तमान में समाधि में जो दुःख-सुख, शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती है इसे प्रत्यक्ष देखकर ही हम मरने के बाद इसका अनुमान करते हैं कि मोक्ष में भी ऐसा ही सुख-दुःख होना चाहिए । यदि इस जाग्रत् अवस्था में हमें सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता तो शायद मोक्ष के विषय में भी अनुमान नहीं होगा । परन्तु यहाँ तो इन्द्रियाँ और करण वर्तमान हैं । यदि आप मोक्ष में भी इन्द्रियाँ एवं करण वर्तमान मानते हैं और सुख-दुःख की प्रतीति मानते हैं तो फिर उस लोक में जाने की क्या आवश्यकता है ? क्यों न यहाँ ही कोई देश-विशेष जैसे दिल्ली, पटना, बम्बई, कलकत्ता या अन्य अच्छे शहरों में जन्म लेकर सुख और आनन्द को भोग लें ? फिर किसी अज्ञात लोक में जाने की जरूरत नहीं रहती । इस प्रकार की कल्पना हम सबने मोक्ष के विषय में की है । यह कोई विशेष बुद्धिमत्ता की बात नहीं है । जैसे एक नौजवान लड़का है । उसको किसी ने भूल से तार दे दिया कि तेरी पत्नी या बच्चे की आज मृत्यु हो गयी है । और वह गलत तार, सुनकर रोना, चिल्लाना शुरू कर देता है । फिर कहीं उसको ज्ञात हुआ कि यह बात झूठी है तब तो उसको तसल्ली होती है । ऐसे ही भगवान् के प्रति हमारा रोना-

चिल्लाना बना रहता है। जैसे कि मैंने अभी आपको गलत तार का उदाहरण दिया। परन्तु भगवान् तो न तुम्हारे हँसने से प्रसन्न होता है और न तुम्हारे रोने से प्रसन्न होता है। यह तो केवल हम सबकी अपनी-अपनी भावना है, क्योंकि गुण-दोष तो सभी देशों, धर्मों, सम्प्रदायों, समाजों में रहते हैं। परन्तु हमें तो जिस देश, धर्म, सम्प्रदाय, समाज से गुण मिले उसको ग्रहण करना है बाकी को छोड़ देना है। इस प्रकार अपना विचार बनाने से सभी धर्मों-कर्मों का आदान-प्रदान करने से सबके साथ एकता हो जाती है; जिससे स्नेह, प्यार और वात्सल्यता की भावना बढ़ती है। तभी देश, जाति, समाज अच्छे बनेंगे, मनुष्य अच्छे बनेंगे, सुख-शान्ति का प्रवाह बहने लगेगा।

हाँ, तो हम राग और वैराग्य का वर्णन राजयोग और भक्तियोग के द्वारा कर रहे थे, पर बात कहाँ से कहाँ चली गयी। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तियोग राग की वृद्धि करता है। भक्ति शब्द का अर्थ ही है स्नेह, प्यार। वात्सल्य भाव को ज्यादा बढ़ाना, प्रीति को, प्रेम को अधिक बढ़ाना एक प्रकार से स्वामी-सेवक का भाव बनाना है। अपने आपको इष्ट की दासता स्वीकार करनी है। परन्तु भगवान् ने किसी को कुछ आकर कहा हो यह बात किसी ने नहीं देखी। ध्यान, समाधि की अवस्था में योगी या भक्त लोग कुछ अपनी ऐसी भावनायें बना लेते हैं और जैसी अपनी भावनायें या विचार होते हैं वैसा ही उनको समाधि की अवस्था में अनुभव होता है। जैसे जब स्नेह, प्यार, वात्सल्य भाव से इस आकाश को अपनाया जाय तो वह जो मेरे स्नेह प्यार के संस्कार होंगे वह आकाश या चेतन-मण्डल में जा करके शुद्ध और पवित्र बनेंगे और फिर वही विचार वापस लौटकर योगी और भक्त को समझ में आते हैं कि यह भगवान् की ओर से आये हैं। जब हम भगवान् को किसी प्रकार से कर्त्ता नहीं मानते, उसमें कोई परिणाम या विकार नहीं मानते हैं जैसे उदाहरणार्थ—मान लीजिए, मैं आपके पास रोता-गिड़गिड़ाता हूँ और आपको दया आ जाती है। परन्तु आपके अन्दर तो कर्त्ता-भोक्ता की बातें वर्तमान हैं इसलिए दया आनी चाहिए। परन्तु परमात्मा में तो कर्त्ता-भोक्ता की बातें नहीं है। वह तो केवल सन्निधान मात्र से रहता है।

अब रही कर्मफल की बातें तो वह तो हमें ऐसे भी मिल जाता है। इसलिए वहाँ ध्यान समाधि में मंत्र, जप आदि करके विचार बनाते हैं तो उन विचारों का ही वह फल होता है। भगवान् को तो आज तक कोई देखा नहीं कि वह फल देता है। जैसे—किसी को तार आयी हो कि आज तेरा लड़का होगा या अमुक व्यक्ति की मृत्यु होगी या और कोई खुशखबरी तो दी नहीं। पर सुख-दुख का अनुभव करता है। अब यह बात विचार की ही तो है ऐसे विचार बन गये। इसी प्रकार हम लोग भगवान् के बारे में भी विचार बना लेते हैं और उन विचारों का फल सुख, शान्ति और आनन्द की प्रतीति होती है क्योंकि जो इस प्रकार का कर्म कर रहा है स्नेह

ग्रौर प्यार के कार्यक्षेत्र में ग्राया है। उसका फल तो स्नेह, प्यार, शान्ति ग्रौर ग्रानन्द ही मिलेगा। यह कोई भगवान् की ग्रोर से ग्राने-जाने वाली बात नहीं है। क्योंकि जब वह निरवयव, निष्क्रिय है तो वहाँ ग्रादान-प्रदान की बात नहीं वनती है। ग्रादान-प्रदान की बात वहाँ होगी जहाँ कर्म होगा, व्यापार होगा। भगवान् में किसी प्रकार का कर्म-व्यापार, ग्रादान-प्रदान नहीं होता। वहाँ कर्म की उत्पत्ति नहीं है। कर्म की उत्पत्ति हमेशा एकदेशी में होती है।

ग्रब मैं ज्ञानियों के विषय में कहता हूँ। मुझे तो ग्रब राग ग्रौर वैराग्य भी ग्रधूरे ही दीखते हैं। क्योंकि ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वह वैराग्य के रूप में परिणत हो जाती है। परन्तु वैराग्य सर्वथा देखने में नहीं ग्राता। पहली बात तो यह है कि जब तक यह शरीर बना रहता है तब तक इससे राग बना ही रहता है। जैसे मैं ग्राप सबको छोड़कर किसी जंगल में बैठ जाऊँ, लोक-व्यवहार का भी परित्याग कर दूँ, परन्तु इस शरीर को तो देखना ही पड़ेगा। इसे खाने-पीने, पहनने-ग्रोढ़ने के लिए देना ही पड़ेगा। तो इसके लिए या तो भीख माँगना पड़ेगा या कुछ काम करना पड़ेगा। यदि कुछ नहीं करूँ तो फिर इसका ग्रात्मघात करना होगा। फिर यदि नींद ग्रा गयी तो सोना भी पड़ेगा। नींद खुलने के बाद जागना भी होगा। प्यास लगेगी तो पानी भी पीना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म तो हर हालत में करने ही होंगे। मैंने स्वप्न पर ग्रधिकार पाने के लिए बहुत यत्न किये परन्तु सभी प्रयत्न विफल रहे। क्योंकि जो तीन ग्रवस्था, जाग्रत्, स्वप्न ग्रौर सुषुप्ति हैं इन पर ग्रधिकार पाना सर्वथा ग्रसम्भव ही है। स्वप्न भी तो एक वृत्ति ही है। इस समय तो हम वृत्ति निरोध करने का यत्न कर रहे हैं, वह भी तो एक प्रकार से वृत्ति-विशेष है। जैसे संकल्प किया कि वृत्तियों का निरोध करना है, कोई भी वृत्ति ग्राये तो उसका निरोध करना है, यह भी एक वृत्ति है, कर्म-व्यापार ही है ग्रौर इसका ग्रभाव किसी ग्रवस्था में देखने में नहीं ग्राता। ग्रतः सर्वथा वैराग्य ग्रौर वृत्ति की बात सिद्ध नहीं होती ग्रौर सर्वथा राग की बात भी सिद्ध नहीं होती। ग्रगर मुझे किसी चीज से राग है तो ऐसी जगह में रहने का यत्न करता हूँ कि जहाँ राग बहुत न हो। क्योंकि मुझे तो दूसरे के प्रति दुःख-सा होने लगता है। चिड़चिड़ा-सा स्वभाव होने लगता है। दूसरों के प्रति द्वेष की उपेक्षा की भावना बनी रहती है। सर्वथा राग का भी ग्रभाव नहीं होता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि राग ग्रौर वैराग्य भी स्वाभाविक ही हैं ग्रौर ग्रनादि काल से परम्परा से चला ग्रा रहा है। हम राग के कर्मों को ज्यादा करके उसको मूर्त बना देते हैं। ताजा ग्रौर ग्रधिक पनपा देते हैं। उसी प्रकार वैराग्य को भी ज्यादा कर्म करके स्थूल बना लेते हैं। परन्तु ग्रभाव किसी चीज का मूल से नहीं होता और न उसका विनाश ही मूल से होता है। राग का भी विनाश नहीं है ग्रौर वैराग्य का भी विनाश नहीं है। उसको सजातीय कर्म करके घटा या बढ़ा देते हैं। परन्तु वह प्रधान भी हमें भविष्य में क्लेश का हेतु ही

बनता है। जैसेकि योगदर्शन में एक सूत्र आया है "परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुण-वृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः"। योग २-१५। अन्त में योगी को सब दुःख ही दुःख दिखायी देता है और दुःख का सर्वथा अभाव नहीं होता क्योंकि अनादि काल से स्वाभाविक ही साथ चला आ रहा है। इनकी निवृत्ति तो मोक्ष से ही सम्भव है।

व्याख्यान-६२

प्राणों के द्वारा हृदय में आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार।

ओ३म्—यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरू।
शं नः कुरू प्रजाभ्यो अभयम् न पशुभ्यः॥ यजु० ३६-८८॥

मैंने परसों के प्रवचन में आप सबको तीन प्रकार की मुद्राओं के द्वारा प्राण को माध्यम बनाकर हृदय-प्रदेश में आत्म-साक्षात्कार करने की विधि बतायी थी। साथ-साथ यह भी बताया था कि उन्मनी मुद्रा के द्वारा मस्तिष्क में आत्मा और ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे किया जाता है। परन्तु हृदय की बात कुछ शेष रह गयी थी। आज आप लोगों को पुनः प्राण के माध्यम से हृदय में आत्म-साक्षात्कार करने की विधि का वर्णन करूँगा। जैसे—आपने परसों श्वास-प्रश्वास की गति को लेकर मस्तिष्क में अभ्यास करने की बात सुनी थी। वह तो ऊपर के ध्यान का विषय था। प्रायः जहाँ हृदय में धड़कन होती है वहाँ तक तो श्वास-प्रश्वास चलता ही रहता है, तो आज आप लोग प्राण को ऊपर की ओर ले जाकर फिर हृदय में तीन प्रकार से स्पर्श करने का प्रयत्न करें। एक तो स्पर्श बहुत सूक्ष्म रूप से कारण शरीर में करें, दूसरा थोड़ा स्थूल रूप से सूक्ष्म शरीर में और तीसरा उससे स्थूल बनाकर स्थूल शरीर से स्पर्श करें। जिस प्राण को आप सूक्ष्म स्वर से ले जाओगे तो उसका सम्बन्ध सीधा चित्त से होगा और वहाँ चित्त के प्रदेश के आस-पास में चेतन सत्ता वर्तमान रहती है। उसके और चित्त के बीच में जो सम्बन्ध है वहाँ सूक्ष्म प्राण वर्तमान रहता है जिसको यह प्राण गतिशील बना देता है। दो प्रकार के प्राण हमारे हृदय में वर्तमान हैं। एक समष्टि रूप से दूसरा व्यष्टि रूप से। समष्टि प्राण व्यष्टि प्राण के साथ ही रहता है। व्यष्टि प्राण चित्त और आत्मा के संयोग से उत्पन्न हुआ है और समष्टि प्राण प्रकृति और ब्रह्म के संयोग सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ है। समष्टि प्राण की उत्पत्ति समष्टि महत्तत्त्व से जब प्रकृति के तीन विभाग सत्त्व, रज और तम के भेद से हुआ, तब हुई। तो सत्त्व प्रधान तो महत्तत्त्व जो था उससे समष्टि चित्त की उत्पत्ति हुई और व्यष्टि चित्त से व्यष्टि प्राण की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार से यहाँ तीन प्रकार के प्राण हैं: १—चित्त का प्राण, २—समष्टि प्राण और ३—समष्टि का कारण जो महत्तत्त्व का है और ये तीनों प्राण आपस में मिले हुए हैं। यदि और

ऊपर को ग्राप चले जायेंगे तो कारण रूप प्रकृति के साथ में चौथा प्राण ग्रापको मिल जायेगा।

ग्रब बहुत सूक्ष्म-सी श्वास-प्रश्वास की गति को बनाकर हृदय की ग्रोर ले जायें। वह प्राण वहाँ जा करके हृदय के साथ उसका सम्पर्क बनायेगा ग्रौर फिर चित्त में जाकर वहाँ सूक्ष्म-सा कम्पन (वाइब्रेशन) पैदा होगा। सूक्ष्म-सा कम्पन प्रारम्भ होने लगेगा ग्रौर वह कम्पन इस स्थूल प्राण से सूक्ष्म प्राण के साथ सम्बन्ध बनायेगा जो चित्त में उत्पन्न हुग्रा सूक्ष्म प्राण है। वह चित्त का कार्य-विशेष या वृत्ति-विशेष है। वह सूक्ष्म प्राण की गति जब बहुत सूक्ष्म रूप से हो जायेगी वह सत्त्व प्रधान होगी ग्रौर उसका सम्बन्ध चित्त के साथ होगा। जहाँ कारण शरीर के साथ ग्रात्मा-परमात्मा का सम्बन्ध होगा, वहाँ चेतना की ग्रनुभूति होगी ग्रौर जब इस श्वास को जरा ग्रौर ऊँचा करेंगे तो उसका सम्बन्ध हृदय में सूक्ष्म शरीर के साथ होगा, जोकि स्पर्श तन्मात्रा का प्राण सूक्ष्म शरीर में वर्तमान है। पाँच सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति हुई है। ग्रब ग्रभ्यास का जो दूसरा क्रम है उसमें श्वास कुछ ग्रौर ऊँचा होगा, उसका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के प्राण के साथ होगा। सूक्ष्म तन्मात्रा का स्पर्श-रूप प्राण जो है या स्पर्श तन्मात्रा का जो कार्य है वे वहाँ सूक्ष्म शरीर में प्राण उसके साथ सम्बन्ध करेगा। सूक्ष्म शरीर में भी चेतना का सम्बन्ध तो है ही। ग्रब उस प्राण को चेतना के साथ सम्पर्क करके उसके स्पर्श का ग्रनुभव कीजिए। यह सूक्ष्म शरीर के द्वारा दूसरा क्रम है।

ग्रब तीसरे क्रम में भी इसी प्रकार श्वास को थोड़ा ग्रौर ऊँचा कीजिए ग्रौर उसका सम्बन्ध नाभि से लेकर सारे शरीर में होगा। स्थूल प्राण के साथ भी चेतना का सम्बन्ध होने से उसको भी माध्यम बना करके चेतना का साक्षात्कार या ग्रनुभव किया जा सकता है। इस स्थूल प्राण का कारण रूप वायु समष्टि वायु है ग्रौर समष्टि वायु का ही परिणाम-विशेष यह स्थूल प्राण है। ग्रब उसको माध्यम बना-कर परमात्मा के साथ सम्बन्ध बनाइये। ग्रब यहाँ दो माध्यम हो गये, एक तो स्थूल प्राण, जो व्यष्टि रूप से सम्पूर्ण शरीर में है, दूसरा समष्टि रूप से, जो वायु के रूप में वह सर्वत्र विद्यमान है। ग्रब इन दोनों के द्वारा परमात्मा के साथ स्थूल सम्बन्ध बनाकर स्थूल पदार्थों के द्वारा साक्षात्कार करें। परन्तु यह एक प्रकार से तम:प्रधान-सी ग्रवस्था हो जाती है। हृदय-प्रदेश में स्थूल, सूक्ष्म ग्रौर कारण इन तीनों शरीरों का सम्बन्ध है ग्रौर तीन ही प्रकार के यहाँ प्राण भी वर्तमान हैं। स्थूल शरीर के प्राण का भी प्रादुर्भाव हृदय से होता है। क्योंकि हृदय की धड़कन बन्द हो जाय तो प्राण का गमनागमन रूप व्यापार समाप्त हो जायेगा। वैसे तो मस्तिष्क में भी स्थूल प्राण का बहुत सूक्ष्म स्रोत है क्योंकि सर्वप्रथम जो बालक की उत्पत्ति होती है। फिर इसी में से नीचे सारे शरीर में निकलकर प्राण चलता है। मूल मस्तिष्क ही होता है ग्रौर तना, शाखा नीचे चलते हैं। तना ग्रा करके हृदय में

वर्तमान होता है और शाखा इसके नीचे हाथ, पाँव बन जाते हैं। इसलिए इसको 'ऊर्ध्व मूलम अधः शाखा' कहा है। जैसे कोई बीज भूमि में बोते हैं। पहले उस बीज में से अंकुर निकल करके ऊपर को चलता है। इसी प्रकार सर्वप्रथम शरीर की उत्पत्ति में मस्तिष्क को बीज समझना चाहिए। इसीलिए हमारे मस्तिष्क में जितनी मोटी और भारी अस्थि है उतनी किसी अंग में नहीं है, इसलिए पृथिवी का जो विशेष भाग है वह पहले खोपड़ी के अन्दर वर्तमान होता है। पृथिवी जब शरीर की रचना करती है तो उसके सात्त्विक भाग का परिणाम ही यह अस्थि-विशेष है और इसमें से ही बाक़ी अस्थियों का प्रादुर्भाव होकर विकास होने लगता है। जैसे बीज से अंकुर बना और उससे तना, फिर बड़ी-बड़ी शाखा बन करके बहुत विशाल वृक्ष बन गया। यही स्थिति इस शरीर की है। अब वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो वृक्ष के तना को तिरछा काट करके देखा जाय तो बीच में एक गिरी-सी निकलती है। वह गिरी वृक्ष के ऊपर की शाखाओं को भी बढ़ाती है और नीचे को भी बढ़ाती है। इन वृक्षों में भी हृदय उस तने में होता है। इसी प्रकार जो हमारा शरीर रूपी वृक्ष है उसमें हृदय ऊपर की ओर भी विकास करता है और नीचे को भी विकास करता है। भले ही सर्वप्रथम इसका विकास खोपड़ी से हुआ हो, परन्तु केन्द्र (सेंटर) या जीवनी शक्ति का आवास या ठहरना, इस हृदय स्थान में ही होता है। इसी स्थान में सुषुप्ति की अवस्था में भी प्राण कार्य करता रहता है और मस्तिष्क सो जाता है। जीवनी शक्ति का प्रारम्भ इस हृदय में ही होता है। इससे भी ऊपर मस्तिष्क का पोषण होता है और नीचे का भी पोषण होता है। इसीलिए जीवनी शक्ति के प्रधान रूप से तीन प्रकार के प्राण यहाँ वर्तमान हैं। श्वाश-प्रश्वास की गति से स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप प्राणों के द्वारा परमात्मा से सम्बन्ध बनाना चाहिए और उसका स्पर्श करके साक्षात्कार करना चाहिए। यह प्राण के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार हृदय-प्रदेश में होगा। यदि किसी एक शरीर के माध्यम से या एक शरीर के प्राण से तुम्हें परमात्मा की बात समझ में आती है या उसके साथ संबंध बनाकर स्पर्श की अनुभूति होती है तो वैसा ही दूसरे प्राणों से भी इसका अभ्यास करना चाहिए।

मैंने तो आप सबको पहले से ही सूक्ष्म विधि बता दी है। अब स्थूल विधि बताऊँगा। स्थूल विधि में श्वास-प्रश्वास को पहले लम्बा-लम्बा रेचक-पूरक करते हुए शरीर से स्पर्श करते हुए नीचे नाभि-प्रदेश तक ले जायें और ऐसा अनुभव करें कि यहाँ भी परमात्मा की व्याप्ति है। कण्ठ से लेकर मूलाधार तक शरीर के तीन विभाग होते हैं—१. कण्ठ से लेकर हृदय, २. हृदय से लेकर नाभि तक, और ३. नाभि से लेकर मूलाधार तक। यह जो मध्यम विभाग है इसमें स्थूल प्राण का सम्बन्ध बना करके, आप परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं और हृदय-प्रदेश में भी

जो ग्रन्थि है उनका भेदन कर श्वास-प्रश्वास की गति से सम्बन्ध बनाकर परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। स्थूल श्वास के गमनागमन का पता तो आप सबको आसानी से लग जायेगा, परन्तु परमात्मा की सूक्ष्मता का हो सकता है आप सबको समझ में न आये। लेकिन उस समय आप सब आकाश से उसकी तुलना कर लेना। इस बाह्य आकाश का सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर में भी हृदय-प्रदेश में है। वहाँ भी आप आकाश को माध्यम बना सकते हैं और आकाश में आप परमात्मा को व्याप्त समझें तो इस प्रकार आकाश के साथ परमात्मा की व्याप्ति भाव सम्बन्ध बनाकर भी आप साक्षात्कार कर सकते हैं। स्थूल शरीर में स्थूल वायु का विकार विशेष स्थूल प्राण है। इसके बाद सूक्ष्म तन्मात्रा नाम का जो सूक्ष्म भूत है वह भी सूक्ष्म वायु से सूक्ष्म प्राण उत्पन्न होकर सूक्ष्म शरीर में आया है। वहाँ आप श्वास-प्रश्वास को जरा सूक्ष्म-सा हल्का-सा बनाकर ध्यानपूर्वक सम्न्वध बनायें, क्योंकि उसका सम्बन्ध हृदय के साथ बना रहने के कारण परमात्मा का साक्षात्कार कराने में सहायक होगा। फिर अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान दृष्टि के द्वारा सूक्ष्म प्राण का सम्बन्ध चित्त के साथ बनायें, क्योंकि स्थूल शरीर में स्थूल प्राण सर्वत्र व्याप्त है। सूक्ष्म शरीर भी इसके आकार-प्रकार का होता है और उसमें सूक्ष्म तन्मात्रा का प्राण व्याप्त है। परन्तु कारण शरीर का स्थान हृदय-प्रदेश में है। जैसे अण्डे के अन्दर जीवनी शक्ति वर्तमान होती है और उसी में उसका विकास होता है। तब सूक्ष्म प्राण ऊपर से लेकर चित्त के साथ सम्बन्ध बना लेता है जिससे वहाँ एक प्रकार की कम्पन-सी पैदा होती है। जब आप सूक्ष्म प्राण के साथ सम्बन्ध बनाकर चित्त-प्रदेश में पहुंचने की कोशिश करें जहाँ कि चेतना का निवास-स्थान है। इस प्रकार कारण रूप प्राण से भी परमात्मा का साक्षात्कार आपको चित्त-प्रदेश में हो सकता है।

परसों मैंने आप सबको शब्द के द्वारा, आकाश के द्वारा, उन्मनी मुद्रा के द्वारा मस्तिष्क-प्रदेश में परमात्मा के साक्षात्कार की बात बताई थी। आज के उपदेश में वायु और प्राण को माध्यम बना करके स्पर्श के द्वारा हृदय-प्रदेश में शाम्भवी मुद्रा के द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार करने की विधि बताई, और कल आप सबको शक्तिसंचालिनी मुद्रा के द्वारा मूलाधार के प्रदेश में ज्योति के द्वारा, अग्नि के द्वारा या प्रकाश के द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार करने की विधि बतलाई जायेगी। क्योंकि अग्नि भी १२ प्रकार की होती है जो मूलाधार में अग्नि उत्पन्न होती है। यह अग्नि आध्यात्मिक होती है और यह अग्नि का अद्भुत प्रकाश धर्म होता है क्योंकि भौतिक अग्नि तो स्पर्श करने से जलाती है। परन्तु ये जो अन्दर की अग्नि है वह स्पर्श करने से जलाती नहीं है बल्कि विज्ञान में पोषक होती है। इनका प्रकाश भौतिक अग्नि के समान चकाचौंध नहीं करता है। इनमें मधुरता, कोमलता भरी होती है। इस प्रकार हमारे शरीर को १२ प्रकार की अग्नि मिलकर प्रज्वलित किए हुए है। इसीलिए यहाँ जब आपको चेतना का अनुभव होगा

उस समय एक अलौकिक अग्नि का प्रादुर्भाव होगा, जिसे आजकल के अन्य आचार्यों ने कुण्डलिनी शक्ति के नाम से कहा है। सर्वप्रथम अभ्यासी को उसका अनुभव मूलाधार में ही होता है। बस आज का प्रवचन समाप्त करता हूँ। अब आप सब सावधान होकर बैठ जायें। जो-जो विधि बताई हैं उनके द्वारा आत्मा-परमात्मा का अनुसन्धान करें।

व्याख्यान-६३

तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु की आवश्यकता है।

ओ३म्—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदामदेवं भुवनेशमीडयम्॥
श्वेता० ६-७॥

एक वर्ष के अनन्तर बड़ी लम्बी प्रतीक्षा के बाद यह शुभ दिन प्राप्त हुआ है। मेरे लिए कश्मीर की भूमि पावन भूमि है। कश्मीर में कंगण नाम का एक स्थान है। वहाँ एक गुफा में मैंने अपने दूसरे गुरु के पास एक मास रहकर हठ-योग और समाधि का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। इसी के संचार और प्रसार के उपलक्ष्य में यहाँ 'योग निकेतन आश्रम' की स्थापना की है। आज गुरु-पूजा का पावन पर्व है। परम पूज्यपाद अवधूत परमानन्द जी महाराज ने इस कश्मीर देश में ही एक समय मुझे अध्यात्म ज्ञान प्रदान किया था। सर्वप्रथम मैं उनकी चरण-वन्दना करता हूँ।

यह गुरु-पूजा क्यों चली है, इसकी आवश्यकता क्यों है? "स पूर्वेषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात्" भगवान् को गुरुओं का गुरु माना गया है। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन आदि सब सदा भगवान् की आराधना तथा पूजा करते आ रहे हैं और सब उसको प्रधान रूप से मानते हैं। भगवान् के बाद दूसरा स्थान आचार्यों का है। मुसलमान भाइयों ने मुहम्मद को, ईसाइयों ने लॉर्ड क्राइस्ट को, बौद्धों ने महात्मा बुद्ध को, हिन्दुओं ने कृष्ण, राम, वेदव्यास को तथा अन्य महापुरुषों को सर्वमान्य, सर्वपूज्य, गुरुपदवी से विभूषित किया है। इसी प्रकार विज्ञान की परम्परा सर्व धर्मों में प्रचलित है। सब धर्मों और सब सम्प्रदायों के महापुरुष बन्दनीय और पूज्यनीय हैं। हम सब एक ही मार्ग के पथिक हैं। सबका गन्तव्य पथ एक ही है। हम सबके जीवन का लक्ष्य भी एक ही है और वह है परमात्मा की प्राप्ति और मोक्ष-लाभ।

जब हमारा लक्ष्य, सिद्धान्त और विचार समान हैं और भगवान् भी एक ही है तो हमारे अन्दर जाति, रंग, वर्ण आदि का भेद किसी प्रकार का भी नहीं होना चाहिए। जिस धर्म को मैं मानता हूँ उसको हिन्दू, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान, जैन

आदि सभी मानते हैं। मेरा धर्म सर्वप्रिय और सर्वसम्मत है। इसलिए सब समान रूप से उसका आदर करते हैं। जाति, देश, वर्ण, धर्म का भेदभाव मेरे जीवन में तो समाप्त हो गया है। मैं समस्त विश्व में एक ही धर्म की स्थापना करना चाहता हूँ। हम सबका सार्वभौम धर्म एक ही होना चाहिए। अतः हम सबका धर्म एक ही है।

भगवान् प्रत्यक्ष रूप से तो ऐसा देखने को नहीं आता कि वह आकर हमें उपदेश और ज्ञान आदि दे और सब कुछ सिखाये। सब लोग ईसाई, मुसलमान, सिक्ख, पारसी आदि अबादत जब करते हैं तो बैठकर या खड़े होकर या ध्यान की स्थिति में ही करते हैं। सब लोग ऐसे परमात्मा को मानते हैं जिसका रूप, आकार नहीं है। मुहम्मद ने भी ऐसे ही खुदा को माना, ईसा ने भी, बुद्ध ने भी और कृष्ण ने भी ऐसे ही भगवान् को माना है। हम सबका वही एक उपास्य देव है। अध्यात्म विज्ञान की यह परम्परा पैगम्बरों व गुरुओं के द्वारा चलती है। भगवान् तो शायद गुप्त रूप से अथवा अन्तर्यामी रूप से हृदय में विज्ञान का विकास करता है। जहाँ विज्ञान देकर गुरु तथा पैगम्बर सब चुप हो जाते हैं वहाँ सर्वव्यापक चेतन सत्ता का विज्ञान प्रारम्भ होता है। जहाँ हमारा विज्ञान और हमारे पैगम्बरों का विज्ञान समाप्त हो जाता है वहाँ से समाधि की अवस्था में उस परमात्मा का विज्ञान प्रारम्भ हो जाता है। वह समाधि में समाधिस्थ व्यक्ति को विज्ञान प्रदान करता है।

संसार में दो प्रकार के विज्ञान हैं—एक भौतिक विज्ञान और दूसरा अध्यात्म विज्ञान। भौतिक विज्ञान की शिक्षा स्कूलों, कालेजों में दी जाती है। भौतिक विज्ञान से हम नाना प्रकार के भौतिक विज्ञानों का सृजन करते हैं और सब प्रकार के भोगों की सामग्री, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, कला, कौशल आदि की भौतिक विज्ञान द्वारा इनकी परम्परा चलती है।

भौतिक विज्ञान को महाराजा, गृहस्थी और धनाढ्य चलाते हैं। इस प्रकार से इसका विकास चलता रहता है। यह हमारे जीवन के सुख का हेतु बनता है।

आध्यात्मिक विज्ञान को सन्त, महात्मा, विभिन्न सम्प्रदायों के संस्थापक परम्परा से चलाते आ रहे हैं। पाठशालाओं, विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षक भी गुरु ही हैं। परन्तु ये भौतिक विज्ञान प्रदान करते हैं। जैसे हमारे योगनिकेतनों में अध्यात्म विज्ञान प्रदान किया जाता है। योगी लोग, ज्ञानी लोग इस अध्यात्म विज्ञान की परम्परा को चलाते हैं। आप एक बच्चे को जंगल में छोड़ दो, दूसरे बच्चे को पाठशाला में प्रवेश करा दो, पचास वर्ष के उपरान्त भी जंगल में छोड़ा हुआ बच्चा जंगली ही बनकर आपके पास आयेगा। सम्भवतः तुम्हारे गाय-भैंस भी कुछ-कुछ बुद्धि रखते होंगे, कुत्ते और बिल्ली भी मनुष्य की बात को समझकर तदनुरूप कार्य करते देखे गये हैं; परन्तु जंगली मनुष्य को न कोई बुद्धि है न ज्ञान। ज्ञान तो गुरुजनों से या माता-पिता के द्वारा प्राप्त होता है और उसकी वृद्धि होती है। गुरुजनों का स्थान भगवान् से दूसरा स्थान है।

जितने भी विश्वविख्यात महापुरुष हुए हैं ये सब गुरुजन ही हैं, हमारे पूज्य हैं। अपने समय में उनके सहस्रों अनुयायी थे और अब भी हैं जैसे इस समय हमारे भी बहुत अनुयायी हैं। हमने भी कई ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन ग्रन्थों के द्वारा विज्ञान का प्रचार-प्रसार होता रहेगा। हमारे अनुयायी भी हमारे विज्ञान और योग की परम्परा को चलाते रहेंगे। अध्यात्म विज्ञान की परम्परा गुरुजन ही चलाया करते हैं। ये ही हमें पशु से मनुष्य बनाते हैं, मनुष्य से देवता बना देते हैं। जो गुरु, पैगम्बर, उपदेष्टा, अध्यापक, मौलवी या पादरी हमारा इतना कल्याण करने वाले हैं, हमारे जीवन को इतना ऊँचा बनाने वाले हैं, उनकी पूजा, अर्चना, सेवादि करना शिष्यों का परम कर्त्तव्य है। निष्काम भाव से गुरुजन हमारे जीवन को उन्नत बनाते हैं। गुरु का ऋण इस जन्म में तो क्या, कई हजार जन्मों में भी नहीं चुकाया जा सकता है। जो हमें तत्त्वज्ञान देते हैं, आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान प्रदान करते हैं, उनसे उऋण होना आसान नहीं है। यदि उनके ऋण को चुकाने का प्रयत्न किया जाय तो भी नहीं चुकाया जा सकता है। इतना महान् उपकार उनका हमारे ऊपर है। देखो, परमात्मा ने बड़े-बड़े पर्वत, नदियाँ, लोक-लोकान्तर बनाकर दिये हैं। इनको बनाकर हमको समर्पण कर दिया है और यह आज्ञा दी कि "तेनत्यक्तेनभुन्जीथाः" उसने संसार की सृष्टि ही मनुष्यों को सौंप दी। अब हमने देश को, इस पृथिवी लोक को, सम्पूर्ण संसार को स्वर्ग के समान सुखदायी बनाना है। महात्माजन, गुरुजन, अध्यापक वर्ग, मुल्ला, मौलवी, पादरी आदि हमें इस प्रकार की शिक्षा देते हैं जिससे हमारा जीवन सफल बने, आदर्श बने, ऊँचा बने। प्रेम की भावना सबके अन्दर रहे। बुरे कर्म न करें। मदिरा, मांस, जुआ आदि सब पतित कर्मों से गुरुजन छुड़ाते हैं, हमें पशु से मनुष्य और मनुष्य से देवता बनाते हैं। श्रुति, स्मृति, दर्शन, कुरान, बाइबिल, गुरु ग्रन्थ साहब आदि महान् ग्रन्थों को लिखकर कितना उपकार किये हैं। जब तक सृष्टि रहेगी, तब तक यह विज्ञान भी रहेगा।

भौतिक विज्ञान हमारे शरीर की सब सुख-सम्पदा आदि का निर्माण करेगा। अध्यात्म विज्ञान परम सुख, परम शान्ति एवं परमानन्द देने वाला बनेगा। तब ये भौतिक विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान इस भू-लोक को स्वर्ग-लोक बना देंगे।

भगवान् का कोई रूप या आकार नहीं है, वह सर्वव्यापक है, सब सम्प्रदाय ऐसा ही मानते हैं। परन्तु उसका रूप यदि तुम्हें मानना ही है तो आप लोग जितने भी यहाँ बैठे हैं उस भगवान् का रूप आपके अन्दर चमक रहा है, दीख रहा है। प्रत्येक प्राणी के अन्दर परमात्मा की व्यापकता को देखो। जैसे मेरा आत्मा है वैसा आपका भी है जैसा, मेरे अन्दर भगवान् है वैसा ही आपके अन्दर भी है। "आत्मवत् सर्व भूतेषु" सब प्राणियों के अन्दर परमात्मा के रूप को देखो। समस्त प्राणियों को अपने समान ही समझो। तन, मन तथा धन से प्राणी मात्र की सेवा भगवान् की ही सेवा कहलाती है। भगवान् को सर्वव्यापक समझकर मनुष्य मात्र

की सेवा की भावना, दूसरों के दु:खों को दूर करने की भावना हमारे हृदय में होनी चाहिए। भक्त का प्रथम लक्ष्य होना चाहिए कि वह सर्वत्र और सर्वदा सब मनुष्यों की सेवा करे। किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष भावना न रखे। यदि किसी मनुष्य के प्रति द्वेष की भावना पैदा होती है तो उसे भगवान् के प्रति द्वेष की भावना समझना चाहिए, क्योंकि भगवान् वहाँ भी व्यापक रूप से स्थित है।

मैं पहले ब्रह्मचारी था। अब संन्यासी बन गया हूँ। बाल्यकाल से ही परमात्मा की पूजा, भक्ति, सेवा आदि करता था। मैंने त्याग, वैराग्य, तपस्या का जीवन व्यतीत किया है और कर रहा हूँ। यदि कोई मोक्ष नाम की वस्तु है और वह साधना से प्राप्त होती है तो आप लोगों से पूर्व मुझे ही मिलनी चाहिए। परन्तु मैं तो वहाँ नहीं जाऊँगा। आप सबको पहले वहाँ भेजूंगा। मैं तो यहीं रहकर प्राणी मात्र की सेवा करता रहूँगा। जब-जब मेरी जाने की बारी आयेगी, तब-तब मैं अपने बदले में आपको भेजता रहूँगा। यदि भगवान् ने सबका इकट्ठे ही मोक्ष स्वीकार कर लिया तब तो मैं अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझूँगा। "आत्मार्थे पृथिवीं त्यज्येत्" आत्मज्ञान के लिए, ब्रह्मज्ञान के लिए, मोक्ष के लिए अगर पृथिवी का राज्य भी देना पड़े तो भी परमात्मा का मिलन सबसे सस्ता है।

ईसाई, हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन किसी भी सम्प्रदाय का व्यक्ति हो, मेरा विज्ञान, मेरे विचार, मेरे सिद्धान्त सबके लिए समान हैं। हमने सब सम्प्रदायों की अच्छी-अच्छी बातों को चुन करके सार्वभौम-सा धर्म बनाया है। यही योगियों का धर्म है। अब यहाँ जितने भी अभ्यासी निवास कर रहे हैं, सब भाई-बहनों की भाँति अपने ही परिवार की तरह रहते हैं। जाति, धर्म, वर्णादि का कोई भेद-भाव नहीं है। मैं तो समस्त विश्व को ऐसा ही बनाना चाहता हूँ।

परमात्मा के विषय में जो कुछ मैंने समझा है उसको और अन्य को भी समझाकर भगवान् के पास भेजूंगा पर मैं यहीं रहूँगा।

आज तक मुहम्मद, क्राईस्ट, बुद्ध, कृष्ण, दयानन्द, गुरु नानक आदि जितने भी सम्प्रदायों के पैगम्बर और महात्मा हुए हैं आज उनकी पूजा का दिन रखा गया है। मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ। उन्होंने हम पर बहुत उपकार किया है। उनके विज्ञान का भण्डार पुस्तकों के रूप में अभी तक हमारे पास है। अगर वे ग्रन्थ न होते तो हमें कहाँ से शिक्षा मिलती? कहाँ से हमें विज्ञान मिलता? अतः सबके चरणों में आज हम नमस्कार करते हैं। मुझे जिन तीन गुरुओं ने ज्ञान प्रदान किया है, उनको भी मैं प्रणाम करता हूँ। आप सब भी मेरी आत्मा हो, आप सबमें मैं भगवान् को देखता हूँ। अतः आप सबको भी मैं नमस्कार करता हूँ।

व्याख्यान-६४

अन्तःकरण की वृत्तियों के शान्त होने पर आत्मा परमात्मा के दर्शन ।

ओ३म—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवेति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः
शिवसंकल्पमस्तु ।। यजु० ३४—१ ।।

परमात्मा की भक्ति में और ध्यान-समाधि में किन लोगों का मन नहीं लगता है, इसके विषय में उपनिषद् में एक मंत्र आता है—

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।"

नाविरतो—जिसके चित्त में संसार के भोगों से, कार्यों से, व्यवहारों से वैराग्य नहीं हुआ है या जिसका संसार के अंदर बहुत अनुराग है या सांसारिक पदार्थों में बहुत प्रीति तथा आसक्ति है, उसका मन परमात्मा की भक्ति में और समाधि में स्थिर नहीं होता । दुश्चरितात्—जिसका चरित्र अच्छा नहीं है, चाल-चलन अच्छा नहीं है, जितेन्द्रिय नहीं है, व्यभिचारी तथा दुराचारी है, उसका भी मन परमात्मा की भक्ति में और समाधि में स्थिर नहीं होता । जिसका मन सदा अशांत बना रहता है, चंचल रहता है, विक्षिप्त-सा बना रहता है, चिड़चिड़ा-सा रहता है, स्वभाव क्रोधी हो जाता है, ऐसे मनुष्य का मन भी भक्ति में स्थिर नहीं होता, ईश्वर में नहीं लगता और ध्यान-समाधि में भी नहीं लगता है ।

समाधि और ईश्वर दो चीजें हैं । "सम्यक् अधीयते इति समाधिः" जहाँ सम्पूर्ण शरीर अन्तःकरण, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर, आत्मा, प्रकृति इन सबका अध्ययन समाधि में किया जा सकता है । चिन्तन, मनन, निदिध्यासन भी एक प्रकार का अध्ययन ही है । जिनका मन शान्त नहीं होता, वे अध्ययन नहीं कर सकते और उनका मन स्थिर भी नहीं हो सकता और न समाहित ही हो सकता है । एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता, उनका मन बेलगाम के घोड़े के समान बना रहता है । उनका मन बिना अंकुश के हाथी के समान होता है, उनका मन उनके वश में नहीं होता, ऐसे व्यक्तियों का मन सदैव चंचल बना रहता है, उनके वश में आता ही नहीं । इस प्रकार के व्यक्तियों को कभी शांति उपलब्ध नहीं हो सकती । वे "क्षणे रुष्टाः क्षणे

तुष्टाः रुष्टा तुष्टा क्षणे क्षणे। अव्यवस्थित चिन्तानां प्रमादोपि भयंकरः"— चंचल स्वभाव व्यक्तियों का अपने मन पर नियंत्रण नहीं रहता। वे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाया करते हैं और रुष्ट होते भी विलम्ब नहीं करते। जन-समूह में, एकान्त में, गाँव में, नगर में, वे कहीं भी रहें उन्हें शान्ति उपलब्ध नहीं होती। सदैव अशांत ही बने रहते हैं। मनोरंजन का कोई साधन उपलब्ध न होने से उन्हें एकांत भी महान कष्ट-प्रद अनुभव होता है। नगर में लोगों से कष्ट अनुभव करते हैं, वन में लोगों के अभाव के कारण दुःखी रहते हैं। बड़े-बड़े प्रासाद भी उनको भयंकर मालूम होते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी भी योग में प्रवृत्त नहीं हो सकते। संसार के उपभोगों को भी वे सुख का हेतु नहीं समझते, वे भी उनके लिए क्लेश का कारण सिद्ध होते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति न संसार के लिए उपयोगी होते हैं और न परमार्थ और अध्यात्म के लिए ही इनका जीवन संसार में व्यर्थ-सा ही जाता है।

जब ध्यान में प्रवृत्त हो जाते हो या होना चाहते हो तो दो प्रकार की स्थितियों को उत्पन्न करना चाहिए जो आपके लिए अनुकूल हों। एक तो अनुकूल बनाओ परमात्मा का चिन्तन "चिन्तनं ध्यानमित्युच्यते"। चिन्तन का अर्थ है ध्यान। शायद आप शंका करें कि वह दिखता तो है नहीं, परमात्मा किसी मनुष्य, मूर्ति या फोटो के रूप में तो है नहीं। हम तो उसे ध्यान का विषय बनाना चाहते हैं। भगवान तो दिखता नहीं उसे किस प्रकार से ध्यान का विषय बनायें? देखो तुम्हारे सामने यह आकाश है, यह भी तुम्हारे नेत्रों से नहीं दिखता, पर उसका अस्तित्व तो है न। वह आपको एक पोल के रूप में तो दिखाई देता है। समस्त संसार इस आकाश में स्थित है। यह सबका आधार बना हुआ है। यह लोक-लोकान्तर, पृथ्वी आदि सब इस आकाश में ही स्थित हैं। यह अपने अंदर सबको धारण करते हुए भी इसमें अवकाश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। तुम इसी प्रकार परमात्मा को भी आकाश की तरह समझ लो। इस आकाश में आप अपने सब विचारों को समर्पण कर दो। कुछ भी मत रखो अपने मन में, अपने आप सब छोड़ दो। तब आपका मन शान्त हो जायगा। जैसे यह आकाश शून्य है ऐसे ही विचारों से आपका मन भी शून्य-सा हो जाना चाहिए। परमात्मा भी एक प्रकार से इसी तरह शून्य ही है, किन्तु वह सम्पूर्ण विश्व को अवकाश देने वाला है। इस आकाश को भी वह अवकाश देता है। आकाश से भिन्न ऐसा ही शून्य या खाली तुम अपनी इच्छा के अनुसार कल्पना कर लो। अगर यह बात समझ में नहीं आती हो तो देखने में नहीं आती तो कल्पना कर लो कि इसके विपरीत इससे पृथक् इससे भिन्न शून्य वस्तु या पोल है। भिन्न आकार-प्रकार के स्वरूप की एक ओर है। जब मैं देखता हूँ तो यह पोल उस पोल के समान ही दृष्टिगोचर होगा। आकाश में कोई अन्तर देखने में नहीं आयेगा इसी प्रकार कोई पदार्थ तुम्हारे शरीर में, मस्तिष्क में या हृदय के भीतर या मूलाधार में स्थित हुआ-सा दृष्टिगोचर हो। और जब तुम्हें वह समान-सी दिखाई दे, एक जैसी ही दिखाई

दे, उसमें कोई परिवर्तन न हो, ऐसी सत्ता को आप अपने अंदर समझ लो, देख लो, कल्पना कर लो और अनुभव कर लो। शरीर के अंदर एक ऐसी वस्तु है जिसमें कोई परिवर्तन, रूपान्तर या तब्दीली नहीं दिखती। चाहे तुम इसे शरीर का ही भाग समझ लो। परन्तु इस बात का ध्यान रखो कि शरीर उत्पन्न होने वाला है, नाश होने वाला है। चेतना के अतिरिक्त कोई पदार्थ स्थिर नहीं मिलेगा। सबमें रूपान्तर होता है, परिवर्तन होता है, किन्तु चेतना में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। देखो, मैं पहले बच्चा था, अब वृद्ध हो गया हूँ, इसमें शरीर का परिवर्तन है, रूपांतर है। किसी परिवर्तनहीन सत्ता को ढूँढ़ो, उसे तुम चेतन मान लो, उसे तुम कुछ भी कह लो, कुछ भी नाम उसे दे दो, मैं तो उसे कोई नाम नहीं दे सकता। ऐसा कोई पदार्थ अपने अंदर अनुभव करो, जो सदैव एक-सा रस, एक-सा रूप हो, उसे तुम परमात्मा समझ लेना। उसके लिए आप अपने संकल्प-विकल्प विचारादि को पूर्णतया समर्पित कर देना। अपनी अहन्ता, ममता को बिल्कुल भुला दो। अपना कुछ अधिकार ही मत समझो। आज के अभ्यास का यही क्रम रखो।

व्याख्यान-६५

भिन्न-भिन्न साधनाओं द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति।

ओ३म्—यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ यजुर्वेद ४०-७॥

प्रसंग चल रहा था साधना का। जो अभ्यासी शरीरों के विज्ञानों का अध्ययन नहीं करना चाहते हैं तथा बुद्धि को भी विशेष प्रखर नहीं बनाना चाहते हैं उनके लिए संकल्प-विकल्प का अभाव करने का मार्ग बताया था। संकल्प का अर्थ होता है विचार और विकल्प का अर्थ होता है, उस विचार के विषय में संदेह, तर्क, वितर्क आदि करना। योगाभ्यासी को सभी प्रकार के संकल्पों-विकल्पों या विचारों का निरोध करना चाहिए क्योंकि विचार भी एक प्रकार से संस्कार ही हैं। संकल्प-विकल्प अन्तःकरण के संस्कार हैं, अतः इन संस्कारों का निरोध करते रहना चाहिए। कुछ काल के पश्चात् एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि जब अन्दर के उथल-पुथल से व्यथित मन शान्त होकर स्थिर हो जाता है। उस अवस्था में निरन्तर क्षोभ रहित होकर स्थिर होता रहता है। उस काल में विश्राम या शान्ति का अनुभव होने लगता है। फिर वह शान्ति आनन्द के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि शान्ति और आनन्द का जो निरन्तर प्रवाह प्रवाहित होता रहता है उसमें भले ही तुम्हें परमात्मा की प्रतीति न हो, परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि मैं पूर्णतया भगवान् के साथ मिल गया हूँ अथवा जुड़ गया हूँ। इस समय इस आकाश के सदृश ही भगवान् को समझ लेना चाहिए जैसे कि मैं आकाश के साथ मिल गया हूँ।

आप लोग सबसे सूक्ष्म परमात्मा को मानते हैं और उनका दर्शन करना चाहते हैं। दर्शन के दो अर्थ हो जाते हैं। 'दर्शनं ज्ञानमित्युच्यते'। दर्शन का अर्थ ज्ञान भी हो जाता है और देखना भी। जैसे इस आकाश को हम देखते भी हैं और इसका हमें ज्ञान भी होता है। इसी प्रकार आप परमात्मा को भी अपने अन्दर समझ ल, भले ही वह आपकी आँखों या इन्द्रियों के प्रत्यक्ष का विषय न हो तो भी यह ज्ञान कर रहा है। जैसे ही यह चेतन सत्ता जो आकाश से भिन्न विलक्षण और अनिर्वचनीय-सी है उसके साथ अपने आपको मिला हुआ समझिये। आपके लिए

इतना ही ज्ञान पर्याप्त है। जैसा कि किसी ने कहा है "अलिफ एकोदरकार, इल्मों बस करो तुम यार" परमात्मा के नाम का एक अक्षर ही बहुत है। अधिक पढ़ना-सीखना तो मनोरंजन के लिए है। मैं प्रतिदिन दीर्घकाल से व्याख्यान देता रहा हूँ यह केवल आप के लिए मनोरंजन ही है, किन्तु आप सब टस से मस नहीं होते हैं। इतना उपदेश सुन करके भी वहीं के वहीं हैं। यह आप सबके लिए कर्णरस बना हुआ है। इसके बिना आपका अभ्यास अधूरा-सा रह जाता है। अभ्यास को बढ़ाने के लिए. इस प्रकार कार्य-क्षेत्र आध्यात्मिक बनाने के लिए इन उपदेशों या प्रवचनों की आवश्यकता होती है। यह जो शान्ति और आनन्द का मार्ग बताया है, यदि आप इस पर ही संतोष करके बैठ जायँ तब भी ठीक है, फिर कोई कुछ कहता रहे, उस ओर आप ध्यान न दें। केवल विचारों को हटाते हुए विचारों का अभाव कर दें। इससे शान्ति और आनन्द निश्चित रूपेण बना रहेगा। आपको समझ लेना चाहिए कि मैं भगवान् के पास ही बैठा हूँ। यदि संतोष हो जाता है तो इतना ही ज्ञान पर्याप्त है। अन्यथा समस्त वेद, शास्त्र, बाइबिल, कुरान आदि सब पढ़ते चले जाइये, परन्तु कहीं अन्त न होगा। इसके लिए एक नहीं, कितने जन्म चाहिए, फिर भी समस्त विज्ञान समाप्त नहीं होगा। इसलिए थोड़े-से ज्ञान में संतोष कर विचारों का अभाव करते चलिए। इससे शान्ति और आनन्द की अनुभूति भी होती रहेगी तथा भगवान् का सामीप्य भी बना रहेगा।

विज्ञान की साधना में हमारे शरीर के भीतर ही सूक्ष्म, कारण आदि शरीर इन्द्रियां, अन्तःकरण एवं जीवात्मा की बात आयेगी। ऐसे तो न जाने कब से सुनते-पढ़ते आ रहे हैं तथा डाक्टर लोग भी इस शरीर-विज्ञान का अध्ययन करते-करते हार गये, परन्तु वे भी आत्मा-परमात्मा को इस शरीर में खोज नहीं पाये तो औरों की तो बात ही जाने दो। इस शरीर में होने वाले विकार तथा रोगों का अन्त भी डाक्टर लोग नहीं जान पाये। इस शरीर के अन्दर जिसे हम 'अहम् अस्मि' अर्थात् 'मैं हूँ' कहने वाले को भी अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है कि मैं क्या हूँ। अभिमान का केवल एक स्वभाव बना हुआ है। 'ममेदम्' या 'मेरेपन' की भावना अन्तकाल तक बनी रहती है। इसका अभाव नहीं होता, यह अहंता किसमें हो रही है, उसका अनुसंधान करना है। योगी लोग शरीर को दो प्रकार से अध्ययन करते हैं किन्तु डाक्टर लोग एक प्रकार से ही अध्ययन करते हैं। योगी लोग इस शरीर का अध्ययन करते हुए इसके अन्दर जो अंतःकरण, आत्मा-परमात्मा या इन्द्रियाँ हैं उनका भी अध्ययन करते हैं। डाक्टर लोग तो शरीर में भौतिक पदार्थों का ही मात्र अध्ययन करते हैं। नेत्र, श्रोत्र, घ्राण आदि इन्द्रियाँ हैं परन्तु इन नेत्रों के पीछे जो देखने की शक्ति है डाक्टर लोग पूरी तरह उसको भी समझ नहीं पाये हैं। जैसे आकाश में विद्युत् कौंध जाती है ऐसे ही ये इन्द्रियाँ भी कौंधती रहती हैं। प्रत्येक क्षण इन दसों इन्द्रियों का व्यवहार होता रहता है। ऐसा लगता है कि एक ही काल में मानव चल भी रहा है, हाथ भी हिला

रहा है, सामने के दृश्यों को देख भी रहा है, कोई गा रहा है तो उसे सुन भी रहा है। यों तो सब इन्द्रियाँ एक साथ कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है वहाँ भी क्रम होता है। इन सबको नियोजित करने वाला मन होता है। मन का धर्म है "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ।। न्याय अ० १ आ० १ सूत्र १६। अर्थात् मन एक ही काल में अनेक कर्म न करके एक-एक क्रमपूर्वक ही करता है। संसार की किसी भी वस्तु में इतनी तीव्र गति नहीं होती, जितनी कि मन की गति होती है। मन के दो कर्म हैं—संकल्प और विकल्प। संकल्प का अर्थ है कि 'यह है' और विकल्प का अर्थ है कि 'यह कैसा है'। यह निर्णय वह स्वयं नहीं कर सकता। इसका निर्णय करने वाली बुद्धि होती है। अतः बुद्धि की आवश्यकता है। जिन्होंने मन और बुद्धि के पृथक्-पृथक् स्वरूप को नहीं समझा, वे दोनों को एक ही मानते हैं। वे मन और बुद्धि में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। परन्तु मन और बुद्धि दो पदार्थ हैं। मन जब बुद्धि के साथ मिलता है तब इसकी शक्ति को बढ़ा देता है। यह तो इन्द्रियों और बुद्धि का पिछलगगू-सा है।

कुछ लोग तो मानते हैं कि मन और बुद्धि इस शरीर के मस्तिष्क में रहते हैं। जैसे हाथ में लकीरें होती हैं ऐसे ही मस्तिष्क में संवेदन आदि होते हैं। अध्यात्म-वादियों का सिद्धान्त यह है कि वहाँ एक ऐसी सूक्ष्म वस्तु होती है जो मन, बुद्धि, सूक्ष्म इन्द्रियों तथा इस स्थूल शरीर पर अपना प्रभाव डालती रहती है। जैसे नेत्रों पर भी देखने का प्रभाव नेत्रों के पीछे से आता है। कान पर भी सुनने का प्रभाव मस्तिष्क के भीतर से आता है। वैसे ही स्थूल लकड़ी से बने हुए वाद्य यंत्रों जैसे हारमोनियम, तबला, बांसुरी से मधुर शब्द भीतर से ही निकलते हैं। इसी प्रकार बाहर की हमारी इन्द्रियाँ भी वाद्य के समान हैं, जैसे वाद्य को बजायें तो उससे मधुर शब्द या ध्वनि निकलने लगती है। यद्यपि शब्द हमारे अन्दर का है और गाने-बजाने वाले भी हमारे अन्दर ही हैं। ठीक इसी प्रकार नियोजित करने वाला हमारा मन भी अन्दर विद्यमान है। यहाँ भी एक सूक्ष्म-सी शक्तियों या इन्द्रियों का समुदाय संघात है। जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की भी सूक्ष्म शक्तियाँ हैं वैसे ही मन-बुद्धि की भी सूक्ष्म शक्तियाँ हैं। सूक्ष्म शरीर इन पदार्थों का एक समुदाय या संघात है। इनके शरीरों में रहने से हमारा स्थूल शरीर कार्य करने लगता है। मरण काल में जब इस शरीर से ये १७ पदार्थ निकलते हैं, यद्यपि आँख, कान, नाक, हाथ-पैर सब वर्तमान रहते हैं। परन्तु उस समय पैर क्यों नहीं चलते ? हाथ क्यों नहीं हिलते ? शब्द क्यों नहीं सुनायी पड़ता ? इससे सिद्ध होता है कि सुनने वाली, देखने वाली, चलने वाली कोई और ही शक्तियाँ थीं जो इस स्थूल शरीर के अन्दर से निकलकर चली गयीं। इन १७ पदार्थों का ज्ञान आप सबको करना है। यदि ये पदार्थ नहीं होते तो आप सबको यहाँ चार मास आकर बैठने की आवश्यकता नहीं होती, डाक्टरों से चिकित्सालयों में, विद्यालयों में पढ़-सीख लेते। परन्तु नहीं, यह तो

कोई और ही दिव्य शक्तियाँ हैं, जिन्हें आपको इस मस्तिष्क में अध्ययन करना है, पढ़ना है, जानना है, चिन्तन करना है तथा प्रत्यक्षानुभूति करनी है। जब तक ये शक्तियाँ आपके समझ में नहीं आयेंगी, तब तक इसके आगे का विज्ञान आपको समझ में नहीं आयेगा। इनके संगठन का नाम हमने स्थूल शरीर रख दिया है। ये शक्तियाँ या इनकी शक्ति मिलकर इस स्थूल शरीर के आकार-प्रकार में फैली हुई हैं। जैसे विद्युत जल में विस्तृत हो जाती है, किन्तु अग्नि पानी में विस्तृत ही नहीं होती वरन् एक-एक कण में ओत-प्रोत हो जाती है। वैसे इस समुदाय की यथा मन, बुद्धि और इन्द्रियों की शक्तियाँ इस शरीर में विस्तृत हुई हैं, इसी के आकार-प्रकार के रूप में बन गयी हैं।

जब आपको सूक्ष्म इन्द्रियों का, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् का विज्ञान समझ में आने लगेगा तब फिर आपकी बुद्धि में आत्मा-परमात्मा को भी देखने, समझने के लिए सामर्थ्य हो जायेगी, या योग्यता बन जायेगी। एकदम सीधे ही परमात्मा को समझना तनिक कठिन होगा। क्योंकि उसके विषय में तो सब कहते हैं कि वह समस्त विश्व में व्याप्त है और हमारे समस्त शरीर में व्याप्त है। तब उस अंतिम सूक्ष्म स्थान पर पहुँचने के लिए अनेक आवरण पड़े हुए हैं, उन्हें हटाना होगा। वे आवरण हैं जैसे स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर या पांच कोश, इनको पार करना होगा, तब कहीं वहाँ पहुँचना होगा। सूक्ष्म शरीर का विज्ञान अर्थात् कर्म-व्यापार, इसका निवास, इसकी आकृति, रंग-रूप आदि। जब तक इनका चिन्तन-मनन नहीं होगा तब तक आत्मा-परमात्मा की बात समझ में नहीं आयेगी। क्योंकि ये दोनों सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। इतने सूक्ष्म के पास पहुँचने के लिए सर्वप्रथम हमें स्थूल को समझना होगा। जब स्थूल ही समझ में नहीं आ रहा है तो सूक्ष्म कैसे समझ में आयेगा? इसी विज्ञान को आप लोग ध्यान की अवस्था में चिन्तन, मनन और अध्ययन करें। प्रायः आप लोगों में मन की एकाग्रता की कमी है। अभ्यास-काल में आप लोग किसी एक पदार्थ पर ध्यान अथवा धारणा करें। जैसे एक दिन मन को या बुद्धि को पकड़ लें अथवा नेत्र ही पकड़ लें और उसी एक विषय पर ऊहा-पोह, तर्क-वितर्क स्वयं उठाएँ और अपने आप ही उस पर निर्णय करने का प्रयत्न करें। इस प्रकार आपको समाधि की योग्यता प्राप्त हो जायेगी। समाधि की अवस्था में जब आप इसको देखना प्रारम्भ करेंगे और उसके अन्दर क्या-क्या पदार्थ हैं, उनका अनुसन्धान करने लगेंगे तो स्वयं ही विज्ञान प्रत्यक्ष होता चला जायेगा। उसके विषय में ज्ञान होता रहेगा। तर्क-वितर्क आदि के द्वारा बुद्धि में सूक्ष्मता आ जायेगी और आपका मन उस पर समाहित भी हो जायेगा। एक ही पदार्थ पर ठहरने की योग्यता भी प्राप्त हो जायेगी। उसी पदार्थ का चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करें। उसी का ध्यान और साक्षात्कार करें। एक-एक विषय को लेकर उसको समाधि का विषय बनावें। यदि केवल आप ओ३म्, राम आदि का जप

हजारों वर्ष भी करते रहेंगे, फिर भी उससे कुछ नहीं बनेगा क्योंकि वह तो देखने, समझने और प्रत्यक्ष करने का विषय है। यदि परमात्मा हमारे-आपके समान होता तो हम उसके समीप जाकर स्तुति, प्रार्थना, वन्दना आदि करते तो शायद उसको दया भी आ जाती, परन्तु वह तो ऐसा है नहीं और उसको दया भी नहीं आती। बेचारे दीन-दुखी तो हर प्रकार से शारीरिक, मानसिक वेदनाओं से परिपूर्ण रहते हैं। चारपाई पर तड़प-तड़प कर मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। भगवान को दया आती तो उन बेचारों को वेदना या कष्ट से मुक्त कर देता, परन्तु ऐसी बात देखने में नहीं आती है। ये तो हम लोगों ने उसके प्रति अपनी भावना बना ली है। जहाँ हमारी असमर्थता होती है वहाँ हम पराजित होकर उसका आश्रय मान लेते हैं। संचित कर्मों का फल ही हम चारपाई पर लेटकर भोगते हैं। एक बात यह भी है कि यदि कोई वैसा कर्म नहीं भी किया हो तो भी शरीर जीर्ण-शीर्ण हो करके या किसी रोग-विशेष के कारण भी चलने-फिरने में असमर्थ हो जाता है। शरीर वृद्ध हो जाने पर जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। शरीर परिणामी है, यह कोई आवश्यक नहीं है कि हमारे शरीर में रोग हमारे कर्मों के अनुसार आये ही। शरीर में जीर्णता-शीर्णता के पश्चात् क्षणिता भी आती है। जहाँ परिणाम-क्रम हो रहा हो, वहाँ कर्मों की बात नहीं है। वहाँ तो पदार्थों की उत्पत्ति, विनाश और परिणाम की बात है। परिणाम-क्रम तो स्वाभाविक ही चलता रहेगा। जो प्रधान कर्म होते हैं उनका फल शरीर के द्वारा मिलता है, और शरीर के द्वारा ही भोगते हैं। स्वयं ही कर्म करते हैं और उसका फल भोगने के साधन भी कर्म के द्वारा हम ही जुटाते हैं। जैसे कि आपको दुकान खोलनी हो, यह विचार आपके अन्दर उत्पन्न हुआ। इसके लिए आप कर्म करना प्रारम्भ कर देते हैं। आप उसके लिए तैयारी भी करते हैं एवं विचार भी करते हैं। साधन भी एकत्रित करते हैं। देश, स्थान सामग्री आदि समस्त पदार्थों को ढूँढ़ते हैं। अब आपने इतना कर्म कर लिया तो इसके फलस्वरूप आपको धन मिलेगा ही। अब आप ही बतायें कि इसमें भगवान् की क्या आवश्यकता है? यद्यपि हम भी भगवान् को मानते हैं और उसकी सत्ता को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उसका जो कर्म है उसे वह कर रहा है और जो हमारे कर्म हैं उन्हें हम करते हैं। उसने तो संसार बनाकर हमें दे दिया। अब हम चाहे जिस प्रकार से उसका उपभोग करें। आप भी तो अपने भोग के लिए प्रचुर मात्रा में सामग्री एकत्रित करते हैं। भगवान् थोड़े ही आकर रोटी बनाकर आपको खिला देगा? उसके लिए तो स्वयं ही आपको कर्म करना ही होगा।

कर्म फल भोग

मनुष्य स्वयं ही कर्म करता है और स्वयं ही उसका फल प्राप्त करता है। कर्म के बिना कुछ नहीं होता और न कुछ मिलता ही है। स्वयं कर्म फल भोगता चला

जाता है और कर्म की वासनायें या संस्कार उसके साथ ही रहते हैं। यदि आज से मैं कोई भी कर्म न करूँ तो भी कर्माशय में असंख्य संस्कार पूर्व जन्मों के अतिरिक्त इस जन्म के भी चित्त में निहित हैं। वे भी भोग-भोगकर समाप्त नहीं होंगे। यदि पुनर्जन्म का कर्म मान लेवें तो भी अनेक संस्कार पुनर्जन्म के भी धाराप्रवाह से मनुष्य के साथ जुड़े हुए हैं। उन भोगों की ही समाप्ति नहीं होती। इसलिए केवल उदासीन हो जाना है। सब कर्मों, धर्मों व्यवहारों और फलों से अपने आपको तृप्त समझना चाहिए और मन, बुद्धि को भी समझाना चाहिए कि अरे नालायक! तुमको तो दस-बीस साल में इस संसार को छोड़कर जाना है, रात-दिन हाय-हाय करके इसके लिए क्यों मरता है? इस प्रकार मन को समझाना चाहिए। इससे अपने आप ही संतोष हो जायेगा। एक बात और है, ठोकर लगकर भी कभी-कभी संतोष हो जाता है।

दो प्रकार के वैराग्य

वैराग्य दो प्रकार का होता है। एक कारण-जन्य वैराग्य और दूसरा ज्ञान-पूर्वक वैराग्य। कारण-जन्य वैराग्य से जो उदासीनता और उपरामता होती है, फिर वह कारण के उपस्थित हो जाने पर वह वैराग्य तथा उदासीनता समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—एक युवक है और उसकी शादी हो गयी है और शादी के कुछ ही काल के उपरान्त पत्नी की मृत्यु हो जाती है, या कोई नवयुवती है और उसकी भी शादी हो गयी है और उसके पति की मृत्यु भी हो गयी है, तो उस काल में युवक या युवती को दुःख होता है और दुःख वैराग्य का हेतु हो जाता है। परन्तु फिर भी यदि उस युवक या युवती को किसी अन्य लड़की या लड़का के साथ प्रेम हो जाता है तो फिर वे दोनों शादी कर लेते हैं। उनको जो अभाव के कारण वैराग्य हुआ था वह वैराग्य समाप्त हो जाता है, फिर उसको उसी चीज से राग हो जाता है अर्थात् वह वैराग्य फिर राग में परिणत हो जाता है। यह तो हुआ कारण-जन्य वैराग्य। दूसरा जो ज्ञान या विवेकपूर्वक वैराग्य होता है वह स्थायी होता है और उसमें वैराग्य-समाप्ति की बात नहीं होती, अपितु आगे बढ़कर मोक्ष की ओर ले जानेवाला होता है।

व्याख्यान-६६

मन तथा इन्द्रिय निग्रह का उपाय और आत्मानुसंधान।

ओ३म्—अग्नेनय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठांते नम उक्ति विधेम॥
यजु० ४०-१६॥

जो पुराने अभ्यासी हैं उनका मन तो शीघ्र ही समाहित हो जाता है और वे अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहें वहाँ मन को लगा भी सकते हैं। किन्तु जो नये-नये अभ्यासी हैं उनकी सर्वप्रथम यही समस्या उत्पन्न होती है कि मन स्थिर नहीं होता क्योंकि उनका मन अपने वश में नहीं होता, इसलिए स्थिर नहीं होता है। उनकी इन्द्रियाँ भी अपने वश में नहीं होतीं मानो वे इन्द्रियाँ और मन इतने दुर्दान्त हैं कि उनका निग्रह करना एक प्रकार से असाध्य-सा बन जाता है। ऐसी उनकी स्थिति होती है। कम से कम अभ्यास-काल में तो साधक को अपने शरीर और मन पर नियन्त्रण रखना ही चाहिए, तभी मन स्थिर होगा और किसी प्रकार के विज्ञान का अन्वेषण कर सकेगा। नये-नये अभ्यासियों को सर्वप्रथम शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पर मन को स्थिर करना चाहिए, क्योंकि इनका सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से है। शब्द का सम्बन्ध हमारे कानों से है, रूप का सम्बन्ध हमारी आँखों से है। यद्यपि आँखें तो अभ्यास-काल में बन्द रहती हैं परन्तु अभ्यास से पूर्व देखे हुए पदार्थों को बुद्धि स्मरण कराने लगती है। इसलिए मन को टिकाने की ही समस्या उत्पन्न होती है। आप आँखें बन्द कर लेते हैं तो सामने का दृश्य दिखायी नहीं पड़ता है। जिनको शब्द से कठिनाई होती है वे अभ्यास-काल में बैठते समय थोड़ी रुई के पिछले भाग को तनिक मोटा-सा बनायें और अगला भाग तनिक पतला बनाकर बीच के भाग को धागे से लपेट दें और उसको कान में रखकर अभ्यास में बैठें। इससे बाहर के शब्द सुनाई नहीं पड़ेंगे। शेष तीन इन्द्रियाँ तो वैसे ही बन्द हो जाती हैं। आसन लगाकर बैठने से हाथ-पाँव बँधे हुए रहते हैं। इनके कर्मों को, अभ्यास-काल में रोक दिया जाता है। अब रही मन की बात। क्योंकि मन को भी शब्द के द्वारा निरोध करना है। हमारे शरीर में अनेक प्रकार के शब्द हो रहे हैं। सबसे ऊँचा शब्द नाड़ियाँ और हृदय की धड़कन का है। यदि धड़कन की बात समझ में नहीं आती है तो जो

भगवान् का नाम आपको रुचिकर लगता हो उसीका जाप करें या कोई एक छोटा-सा मन्त्र ले लें। जैसे—ओम्, राम, गॉड, अल्लाह आदि कोई भी नाम ले सकते हैं। फिर हाथ की नाड़ी के ऊपर उँगली रखकर बैठ जायें। उस शब्द को एक-एक धड़कन के साथ 'ओ३म्' शब्द को जोड़ा जा सकता है। यदि हृदय की धड़कन भी समझ में न आये तब पैर में जहाँ गिट्टे के पास नाड़ी धड़कती है वहाँ आप अँगुली रखें और उस धड़कन के साथ अपने प्रिय भगवान् का नाम जोड़ते हुए मन को समाहित करने का प्रयत्न करें। इस धड़कन का सम्बन्ध हृदय की धड़कन के साथ रहता है। कान में भी एक शब्द उत्पन्न होता है जो कानों में घूँ-घूँ सा करता है। उस पर भी मन को लगाया जा सकता है। और उस शब्द को सुना जा सकता है। वह घूँ-घूँ कुछ काल के अभ्यास के बाद चिन्-चिन् की ध्वनि में परिवर्तित हो जाता है। उक्त ध्वनियों के ऊपर भी मन को स्थिर किया जा सकता है। कुछ काल के उपरान्त ये शब्द भी विक्षेप का हेतु होने लगते हैं। वस्तुतः शब्द भी तो वृत्ति ही है। चाहे शब्द अन्दर का हो चाहे बाहर का हो, विक्षेप का हेतु तो होगा ही। जब और ऊँची अवस्था आ जाती है तब बाहर की इन्द्रियों के विषय भी विक्षेप के हेतु होने लगते हैं। यह तो शब्द के द्वारा मन को एकाग्र करने का साधन हुआ।

मन्त्र भी शब्द के अन्तर्गत ही आता है। मंत्र मन और इन्द्रियों की एकाग्रता का हेतु बन जाता है। यदि भगवान् के प्रति आपको बहुत अधिक श्रद्धा है तब तो जिस मन्त्र से भगवान् की प्रार्थना या स्तुति की गयी हो उस मंत्र को लेना चाहिए। जैसे "त्वमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" "अग्ने नय सुपथा राये" आदि मन्त्रों का जाप करना श्रेयस्कर है। मन्त्र तो अनेकों प्रकार के हैं, अतः आपको जो भी मन्त्र प्रिय लगे वही मन्त्र लें। यदि भगवान् से उतना स्नेह या प्रेम नहीं है तब तो और भी अन्य मन्त्र हैं। ओ३म्—यो भूतञ्च अथवा "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरंरथमेव तु। बुद्धि तु सारथिं बिद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। कठ० १-३-३ ।। यह रथ रूपी हमारा शरीर है और इसमें आत्मा स्वामी है। शरीर आत्मा का रथ है। अब आत्मा का ध्यान करें कि वह कहाँ है। उसकी बात समझ में नहीं आये तो—'बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि'—बुद्धि को ढूंढो कि बुद्धि कहाँ है ? उस समय मस्तिष्क में ध्यान ले जाओ। ये दसों इन्द्रियाँ घोड़े के समान हैं और मन इनकी लगाम है। जब इन्द्रियाँ विषयों की ओर दौड़ें तो मन रूपी लगाम से इनको रोकना चाहिए। जैसे आँख रूप में, कान शब्द में, घ्राण गन्ध में और जिह्वा रसों में विचरती है, वैसे ही उनको निग्रह भी करना चाहिए। अतः उपर्युक्त मन्त्रों के द्वारा आप अपने स्वरूप को समझ सकते हैं। यह भी एकाग्रता का विषय बन जाता है।

यदि भगवान् से प्रेम है तो उसके मन्त्र का जाप करें। जब आप एकान्त में बैठकर मन्त्र का उच्चारण बोल-बोलकर करेंगे तो वह जाप वाचिक कहलायेगा। जिनका मन बहुत विक्षिप्त रहता है उनको सर्वप्रथम वाचिक जाप ही करना

चाहिए। जैसे---गायत्री मन्त्र को बोल-बोलकर कोई एकान्त में जाप करता है तो उससे मन शब्दों पर शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। यदि आप समुदाय में बैठे हों तो उपांसु जाप करना चाहिए जिससे कि अन्य व्यक्तियों को विक्षेप न हो। उपांसु जाप में मन्त्र का उच्चारण तालु में होता है। मन्त्र को अपने कानों से सुनते रहना चाहिए किन्तु ध्वनि बाहर नहीं निकलनी चाहिए। केवल होंठ फरकते रहें तथा वाणी उच्चारण करती रहे। बस इससे भी मन शीघ्र स्थिर हो जाता है। तीसरा साधन है शब्दों को ध्यान के द्वारा लिख-लिखकर उनकी आकृति वनाकर जाप और उस पर मन को ठहराना। लम्बे शब्द या मन्त्र को ध्यान की लेखनी से आकाश मण्डल में लिखता चला जाय और मन को उसी में लगाये रखे, इससे भी मन शीघ्र स्थिर हो जाता है। चौथा साधन है भावनापूर्वक मन के अन्दर जाप करना। यह मानसिक जाप कहलाता है। इन चार साधनों के द्वारा उपासना बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। जिस मन्त्र में भगवान् की स्तुति, प्रार्थना, ज्ञान, कर्म का वर्णन किया गया हो जैसे 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' आदि मन्त्र के द्वारा मानसिक जाप या उपांसु जप या भजन-कीर्तन के माध्यम से भी मन स्थिर हो जाता है। यह तो हुई शब्द के द्वारा ईश्वर की उपासना।

उक्त साधनों के द्वारा जब मन एकाग्र या समाहित हो जाय तब क्या करना चाहिए ? तब उस एकाग्रता या समाहित मन को अपने शरीर के अन्दर मोड़कर, आत्मा और परमात्मा के अनुसंधान में लगाना चाहिए क्योंकि वे दोनों सूक्ष्म रूप में हमारे शरीर के भीतर ही विद्यमान हैं। बुद्धि भी आपको शरीर के अन्दर ही मिलेगी। यह चंचल मन जहाँ नाचता-कूदता रहता है उस स्थान को देखना या ढूंढ़ना चाहिए कि वह नाचने-कूदने वाला वस्तुतः कौन है ? कहाँ है ? इसका स्वरूप कैसा है ? क्या आकार-प्रकार है। शान्त भाव से आप इस मन को देखें कि कौन-सा इसका स्थान है और विचारों का प्रवाह कहाँ से उत्पन्न होकर आ रहा है ? उन विचारों का कौन-सा स्रोत है ? स्रोत में से जिस भाँति जल निकलकर निर्बाध बाहर आया करता है इसी प्रकार विचार भी निकलकर प्रवाहित होता रहता है। इस बुद्धि में कहाँ विचार उत्पन्न हो रहे हैं और विचारों का समुदाय कहाँ इकट्ठा हुआ है उसको देखने का प्रयत्न करना है। मेरे इस जीवन के ८० वर्ष के विचार एकत्रित हुए पड़े हैं। इन असंख्य विचारों की गिनती नहीं की जा सकती है और कौन-सा वह स्थान है जहाँ पर एकत्रित होकर बैठे हैं और वे फिर वहाँ से उभरते रहते हैं, निकलते रहते हैं, उस स्रोत को या स्थान को ढूंढ़ो, देखो कि वह स्रोत बन्द हो गया या नहीं ? जाग्रतावस्था में तो विचारों का स्रोत बन्द नहीं किया जा सकता नहीं तो हमारा व्यवहार ही नहीं चल सकेगा।

अब आप यह भावना करें कि कौनसे विचार आपके लिए अनुकूल हैं और कौनसे प्रतिकूल हैं ? जो विचार प्रतिकूल हैं उन्हें हटाते चले जायें तब अनुकूल

विचार उभरने शुरू हो जायेंगे। जो अनुकूल संस्कार हैं जैसे परमात्मा की भक्ति, उपासना, पूजा ध्यानादि इन्हीं का चिन्तन-मनन करना इन्हीं के स्वरूप को समझना चाहिएं। प्रतिकूल विचार जो आयें उसको नीचे को ही दबा दें और अनुकूलों को ऊपर आने दें। जैसा कि कहा है—"अनुकूल वेदनीयम् सुखम् प्रतिकूल वेदनीयम् दुःखम्" अर्थात् जो अनुकूल विचार निकलेंगे वह आपके लिए सुख का हेतु होंगे और जो प्रतिकूल विचार निकलेंगे वे दुःख का हेतु होंगे। अन्ततः अनुकूल विचारों का भी निरोध करना पड़ेगा। यदि हमको आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना है तो आत्मा सम्बन्धी ही विचार आने चाहिए। आत्मा का क्या रूप है? कितना लम्बा-चौड़ा है? कैसा आकार-प्रकार है? प्राण, रूप, रस रूप, अग्नि रूप या शब्द रूप है? यह मेरा स्वरूप कैसा है? क्या सम्पूर्ण शरीर मैं हूँ? अथवा मैं अपने से भिन्न शरीर प्रकट करता हूँ, क्या मन, बुद्धि सबको अपने से भिन्न समझता हूँ? तत्वतः मैं कौन हूँ? क्या हूँ? इसे अपने शरीर के अन्दर ही खोजने, जानने का प्रयत्न करें। स्थूल शरीर में देखिये यदि उसमें न मिले तो सूक्ष्म शरीर में देखें और वहाँ भी न मिले तो अन्त में जहाँ वह बैठा हुआ है वहाँ तो पहुँच ही जायेंगे। फिर तो आपको उसके रूप का ऐसा दर्शन होगा कि किसी रूप के साथ उसकी तुलना नहीं कर सकेंगे। संसार में जितने भी दृश्यमान पदार्थ हैं उन सबमें आकाश वर्तमान है और यह आकाश भी पदार्थ है इसमें, गमनागमन होता रहता है। समस्त पदार्थों की उत्पत्ति का यह हेतु है। इसका रूप आप सबके लिए अनिर्वचनीय-सा बना हुआ है। यह आप सबको प्रत्यक्ष भी है फिर भी आप सब इसका रूप नहीं बतला सकते हैं। वैसे ही आत्मा का भी अनिर्वचनीय शान्त स्वरूप है। उसके रूप की आपको प्रतीति होगी परन्तु उसको आप व्यक्त नहीं कर सकेंगे। मन-बुद्धि के एकाग्र होने के पश्चात् अन्वेषण का विज्ञान वहीं से प्रारम्भ होता है। आज अपना भाषण यहीं समाप्त करता हूँ। शेष चर्चा कल होगी।

व्याख्यान-६७

प्राण के द्वारा आत्मानुसंधान।

ओ३म्—प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।
अथर्व० ११-४-१।।

कल शब्द के द्वारा आत्मा और ब्रह्म के प्रत्यक्ष की चर्चा की थी और आज प्राण के माध्यम से आत्मा-परमात्मा को प्रत्यक्ष करने की विधि का वर्णन करूँगा। प्राण की उत्पत्ति भी सूक्ष्म शब्दों से ही होती है। आकाश जब परिणाम भाव को प्राप्त होकर दूसरे रूप में परिवर्तित होता है तब वह वायु भूत को प्राप्त होता है। इस प्रकार से प्रकृति की अवस्थायें परिणत होती हुई चलती हैं। जब प्रकृति का आकाश के रूप में परिवर्तन हो जाता है तब वह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी तक पहुँच जाती है और अन्त में आकर पृथिवी पर स्थिर हो जाती है।

पंचभूतों से हमारा शरीर बना हुआ है, उसमें वायुतत्त्व भी साथ में है। यह वायु ही प्राण के रूप में परिणत हुई है। अब इसका वास्तविक स्थान कहाँ माना जाय? गर्भस्थ शिशु में जब शरीर की रचना होती है तब सर्वप्रथम मस्तिष्क का निर्माण होना ही शरीरवेत्ता मानते हैं। शरीर का मूल मस्तिष्क है। नीचे का भाग कण्ठ, वक्ष, नाभि, पैरादि इस मूल में से ही निकलते हैं। जैसे बीज भूमि में बोया जाता है और बीज में से अंकुर निकलता है, इसी प्रकार मस्तिष्क से अंग-प्रत्यंग के रूप में प्रस्फुटित होते हैं।

प्राण ही जीवन का आधार है। हमारे शरीर में नस-नाड़ियों के अतिरिक्त रक्त, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि हैं वे सब प्राण वायु द्वारा ही गतिशील होते हैं। वायु का धर्म ही गति है जिसे क्रिया गति या चलना आदि कहते हैं। चलना हमारे शरीर में वायु के द्वारा ही सम्भव होता है। यदि हम सूक्ष्म, कारण शरीर को न भी मानें तब भी इस स्थूल शरीर का आधार प्राण ही होगा। यह प्राण वायु का ही कार्य है। जब अन्य शरीर को मानते हैं तो उनमें भी प्राण है ऐसा मानना पड़ेगा। सूक्ष्म शरीर में जो प्राण आता है वह स्पर्श तन्मात्रा या सूक्ष्म वायु भूत से बनता है। कारण शरीर में जो प्राण होता है वह चित्त की ही एक क्रिया-विशेष है।

चित्त में जो रजोगुण प्रधान होता है वह क्रिया के रूप में रहता है। वैसे तो चित्त का निर्माण तीन गुणों से हुआ है। वास्तव में सत्त्व, रज और तम तीनों रूप गुण प्रकृति के गर्भ में पहले से ही विद्यमान रहते हैं, यही साम्यावस्था में क्रिया या गति का हेतु होता है। ज्ञान, कर्म और गति इन तीनों गुणों का ही कार्य समवाय सम्बन्ध से होता है। गति रजोगुण का धर्म है, यह परिणत होते हुए अन्त में वायु के रूप में स्थित होता है।

वायु भत ही हमारे शरीर में दस स्थानों में प्राण अपान आदि भाव को प्राप्त होकर स्थित हुआ है। इसके दस भिन्न-भिन्न नाम ये हैं, प्राण, अपान, समान, उदान और ध्यान ये पाँच प्राण हैं और नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय ये पाँच उप-प्राण हैं। प्राण अपानादि पाँच प्रकार के प्राण कण्ठ से लेकर मूलाधार पर्यन्त हैं। अपानप्राण में पृथिवी-तत्त्व की प्रधानता होती है। जब वायु में भी पथ्वी के कण या सूक्ष्म अणु मिल जाते हैं तो उसमें भी गरुत्व आ जाता है। जब वायु में भी पृथिवी के कण या सूक्ष्म अणु मिल जाते हैं तब भी उसमें गुरुत्व आ जाता है। वायु में अग्नि के कण जब मिलते हैं तब उतना गुरुत्व नहीं आता। क्योंकि अग्नि का धर्म ऊर्ध्वगमन और हल्कापन है। वायु का धर्म इसमें भी हल्का है। पहले की अपेक्षा दूसरे में गुरुत्व कम होता है। जब हम किसी पदार्थ का माप-तोल करेंगे तो कुछ न कुछ गुरुत्व धर्म उसमें मानना ही होगा।

नाभि से नीचे अपान-प्राण का स्थान माना गया है। मल आदि का प्रक्षेपण उसके द्वारा ही नीचे को होता है। मूत्र की अपेक्षा मल में अधिक गुरुत्व होता है, इसलिए इसमें पृथिवी-तत्त्व मानना पड़ेगा।

नाभि से ऊपर का भाग समान-प्राण का स्थान माना गया है। इस प्रदेश में अनेक ग्रन्थियाँ हैं—यकृत, आमाशय, पक्वाशय, प्लीहा, हृदय, बड़ी आँत, छोटी आँत, और वृक्क आदि हैं। इन अवयवों के भीतर जल का भाग अधिक काम करता है। यकृत द्वारा मधुर रस आदि गिरता जाता है। वहाँ से यह रस आकर अग्नि के संयोग से कुछ तीक्ष्ण-सा बनता चला जाता है और पुनः पाक रूप को प्राप्त होकर लवण आदि के रूप में परिणत हो जाता है। नाभि के ऊपर की सब ग्रन्थियों में जल-तत्त्व अधिक है। यहाँ समान-प्राण का बास माना गया है। इससे ऊपर हृदय-प्रदेश में प्राण को मानते हैं। प्राण में अग्नि तत्त्व की प्रधानता मानते हैं। इसलिए यह रक्त को रंजित करता है। हृदय और प्लीहा की ग्रन्थियाँ रक्त का निर्माण करती हैं। पक्वाशय रस को पीत वर्ण में परिवर्तन करने के पश्चात् प्लीहा की ओर भेज देता है। प्लीहा के द्वारा पाक रूप धर्म को प्राप्त हुआ यह रस किंचित्, गुलाबी होने के पश्चात् हृदय की ओर जाता है। हृदय उसको और लाल रक्त के रूप में परिणत कर देता है। ये तीन ग्रन्थियाँ इस रस को रक्त बनाने में सहायक होती हैं। हृदय में रक्त धमनियों तथा नाड़ियों के द्वारा फुप्फुसों तथा सम्पूर्ण शरीर में परि-

भ्रमण करता हुआ उनको पुष्ट करता रहता है।

हृदय प्रदेश में प्राण का वास माना है, वहाँ अग्नि-तत्त्व प्रधान रहता है। यदि शरीर में जीवनी शक्ति रूपी यह प्रक्षेपण धर्म न हो तो निश्चय ही इस रक्त का संचालन न हो पायेगा। परिणामतः मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाना सम्भव होगा। हृदय संचालन कार्य स्थगित होते ही सब ठप्प हो जाता है। जो चेतन आत्मा को अणु रूप मानते हैं उनकी तो बात ही दूसरी है, मेरी समझ में तो यही आया है कि चेतना सम्पूर्ण शरीर में ही है। आत्मा को अणु मानने में जो आपत्ति उपस्थित होती है वही परमात्मा के विषय में भी होती है। साठ परमाणुओं के समुदाय को अणु कहते हैं। अनेक अणुओं का समुदाय महान् बन जाता है। जब आप परमात्मा की व्याप्ति अणु-अणु में मानते हैं तो यह प्रश्न ही नहीं होता कि उसको हम कहाँ ढूँढें? शरीर के प्रत्येक देश में उसको देखा जा सकता है। परन्तु जब तक उसका ज्ञान नहीं होता है तब तक शरीर के विशेष-विशेष स्थानों में ढूँढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे—मस्तिष्क में या हृदय आदि प्रदेश में। जब हम निद्रा में सो जाते हैं, तब मस्तिष्क में समस्त इन्द्रियों के व्यापार बन्द हो जाते हैं, केवल प्राणमात्र ही जागरूक रहता है। प्राण का सम्बन्ध हृदय के साथ है। इससे सिद्ध होता है कि भले ही पञ्चभूतों के समुदाय से यह मस्तिष्क का भाग बना हो। परन्तु प्राण हृदय-प्रदेश में ही आकर स्थित हुआ है। हृदय सम्पूर्ण शरीर का केन्द्र है। हृदय के दो भाग हैं एक ऊपर और एक नीचे। यदि हृदय में चेतन को मान लें तो चेतन के भी विभाग करने होंगे, किन्तु चेतन तो सर्वत्र है अतः नीचे-ऊपर का प्रश्न ही नहीं होता है। शरीर के अंगों की रचना में सब के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। हृदय का एक ऐसा कार्य है जो ऊपर के भाग को भी पोषण करता है और नीचे के भाग को भी। यह दोनों भागों के प्रति रक्त और प्राण का प्रक्षेपण करता रहता है। सारे अन्न और जल का सार यह रस रूप रक्त है और जीवन का आधार बना रहता है। रक्त में गति प्राण से होती है। उसमें उष्णता पाक रूप अग्नि ही उत्पन्न करती रहती है। यह ही मेदा, रज, वीर्य के रूप में परिणत हो जाता है। यह रज-वीर्य गृहस्थ आश्रम में ठहरता नहीं, क्षीण होता रहता है। वास्तव में हृदय में प्रक्षेपण से जो क्रिया होती रहती है यह प्राण के द्वारा होती है, प्रक्षेपण रक्त का होता है और यह जीवन का आधार होता है। रक्त भी इस जल का ही परिणाम विशेष है। शरीर में अग्नि द्वारा समस्त पदार्थों का पाक होता रहता है। पाचन धर्म अग्नि का है, गति धर्म वायु का है, स्नेह जल का धर्म है। एक-एक पदार्थ के कई-कई धर्म होते हैं। प्रत्येक पदार्थ को अन्य रूप में परिणत होने में समय लगता है। इसलिए इनके ८-१० भेद हो गये हैं। एक-एक पदार्थ को परिणत होने में दिन, मास और वर्ष भी लग जाते हैं। तदनन्तर अवस्थान्तर परिणाम होता चला जाता है। उस अवस्थान्तर परिणामों के ही विभिन्न नाम हैं। नाम रखने वाले हम ही हैं, भगवान् ने किसी का

नाम नहीं रखा है। सब पदार्थों के नामकरण आदि इस मानव ने किये हैं। इस प्राण में अग्नि-तत्त्व प्रधान है। यह हृदय में स्थित है। अग्नि-तत्त्व पंचभूतों के बीच में है। इसके ऊपर वायु और आकाश हैं, इसके नीचे जल और पृथिवी हैं। मस्तिष्क से समस्त इन्द्रियों के अविरल सम्बन्ध होने से लोगों ने समझ लिया कि आत्मा भी वहीं होगा। परन्तु यह मस्तिष्क तो आत्मा का एक कार्यालय है, इन्द्रियों के व्यापारों का क्षेत्र है। इसी प्रकार हृदय को सम्पूर्ण शरीर का कार्यालय समझिये। यदि हृदय से ऊपर-नीचे, यत्र, तत्र, सर्वत्र अंगों की आवश्यकतानुसार पूर्ति न हो तो शरीर के समस्त कार्य-व्यापार ठप्प हो जाते हैं। मस्तिष्क का पोषण भी हृदय के द्वारा ही होता है।

इससे सिद्ध होता है कि जीवनी शक्ति का प्रधान कार्य हृदय में होता है। उदान-प्राण कण्ठ में रहता है और ध्यान सर्वत्र शरीर में रहता है। पाँच प्रकार के प्राण कण्ठ से नीचे रहते हैं। पाँच उपप्राणों का निवास कण्ठ से ऊपर है। आत्मा का आभास या अनुभूति एक प्रकार से व्यक्त रूप से तो मस्तिष्क में और अव्यक्त रूप से हृदय में होती है। निद्रा और समाधि की अवस्था में आत्मा की अव्यक्त-सी अनुभूति हृदय में होती है। गहनतम समाधि में जब योगी पहुँचता है तो इन्द्रियों के भी व्यापार बन्द हो जाते हैं परन्तु हृदय तब भी जागरूक रहता है। क्योंकि हृदय जन्म से मरण पर्यन्त निरन्तर कार्य करता रहता है। मस्तिष्क तो रात को सो जाता है परन्तु उस काल में भी हृदय कार्य करता ही रहता है। अर्थात् उपप्राण तो अपना कार्य बन्द कर देते हैं परन्तु प्राण कार्य करता ही रहता है, स्वाभाविक क्रियायें भी होती रहती हैं। वर्तमान के वैज्ञानिकों का अनुभव है कि इस शरीर के ७ वर्षों में ये वर्तमान के सेल्स परिणत होते-होते समाप्त हो जाते हैं और पुनः नये सेल्स पैदा होते हैं, परन्तु आत्मा वही रहता है इसमें परिवर्तन नहीं होता है। अच्छा, तो समय होने वाला है। अतः आज का प्रसंग हम यहीं पर समाप्त करते हैं। अब आप सब अभ्यास के लिए सावधान हो जायें।

व्याख्यान-६८

आत्मा-परमात्मा तथा बन्धन-मोक्ष सम्बन्धी दार्शनिक विश्लेषण।

ओ३म—विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥
ऋग्वेद १-१५४-१ ॥

समादरणीय संन्यासीगण, भद्रपुरुषो और देवियो! जितने व्यक्ति यहाँ बैठे हैं, हम सबका आत्मा तो पृथक्-पृथक् है, क्योंकि हम एक-दूसरे व्यक्ति से भिन्न-भिन्न स्वरूप को प्रकट करते हैं। अत: एक-दूसरे से सामंजस्य भी दृष्टिगोचर नहीं होता। केवल परमात्मा ही वरेण्य है। वह तो समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक है, उसको हम कैसे जानें? परमात्मा तो अनुमान से अतीत है, उसका आदि-अंत भी नहीं है। ऐसे तो इस विश्व-ब्रह्माण्ड में चार भूतों की अपेक्षा सर्वाधिक व्यापक है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिए, विभिन्न देशों के लोगों ने अपने-अपने देशों के ऊपर आकाशमण्डलों को भी अपने देश का भाग समझ लिया है एवं तदनुसार उनके वायुयान अपने-अपने आकाशमण्डलों में गमनागमन एवं विचरण करते रहते हैं। यदि कोई वायुयान अन्य देश के ऊपर से अर्थात् उस देश अथवा देशों के तथाकथित वायुमण्डलों से उड़ेगा तो उन-उन देशों की आज्ञा लेनी पड़ती है।

अब, इसी प्रकार मैं परमात्मा का भी आकाशमण्डल की भाँति विभाग करना चाहता हूँ, क्योंकि जितना मेरा शरीर है यह तो कम से कम मेरा अपना है। इसके जितने भाग में भगवान् का निवास है वह भगवान् मेरा है। उसपर आपका या अन्य किसी का अधिकार नहीं है। आत्मा को कुछ लोग अणु कहते हैं और परमात्मा को विभु कहते हैं। अणु का भी समावेश छोटे से स्थान में हो जाता है। वह जो विभु है उसका भी मेरे शरीर-प्रदेश में समावेश समझना चाहिए। आज मैं इस अणु आत्मा के विषय में वर्णन करूँगा। अर्थात् वह कैसा है? और मैं उसके विषय में क्या समझ पाया हूँ? क्योंकि बहुत वर्षों से मैं इसी अन्वेषण में लगा हुआ हूँ। जनसाधारण और विद्वान् भी इसके अन्वेषण में लगे रहते हैं, परन्तु कोई व्यक्ति उसे शीघ्र ही जान लेते हैं और कोई जीवन-भर में भी उसे जान नहीं सकते।

अब यहाँ आत्मा के विषय में शंका होती है कि इसको शरीर के किस भाग

या स्थान में माना जाय, क्योंकि यह छोटा-सा अणु है। नैयायिक और वैशेषिक-कार जो परमाणुवादी हैं वे सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण परमाणुओं को ही मानते हैं। इन लोगों का कथन है कि ६० परमाणु जब संघात भाव को प्राप्त होते हैं, मेल खाते हैं, तब एक अणु बनता है। यदि अणु शब्द का प्रयोग आत्मा के लिए किया जाता है तब बहुत-से विभाग इसके मानने पड़ेंगे और यदि इसके खण्ड-खण्ड किये जा सकते हैं तब तो चेतन आत्मा-परमात्मा के भी टुकड़े मानने पड़ेंगे। यदि इसका खण्ड नहीं मानेंगे पूर्णतया ठोस मानेंगे तो परमात्मा की व्याप्ति इसमें से होकर बहिर्गमन नहीं कर सकेगी। जब तक आप जीवात्मा को बहुत परमाणुओं का समुदाय नहीं मानेंगे अर्थात् सावयव, जिसके विभाग हो सकते हैं, हिस्से हो सकते हैं तब तक वह आत्मा अणु कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि अणु को भी इसी प्रकार माना जाय तो उसे भी सावयव मानना पड़ेगा। फिर परमात्मा की व्याप्ति भी उसमें माननी होगी। किन्तु सावयव को सदा विकारवान् मानना पड़ेगा और उसका कार्य-कारण भाव भी मानना पड़ेगा। तब फिर इस अणु आत्मा का कार्य क्या होगा? इसका कारण क्या होगा? क्योंकि जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य में भी हुआ करते हैं। यदि हम आत्मा का उपादान कारण परमात्मा को मानते हैं तब उसको भी परिणामी और विकारवान् मानना होगा। अतः परमात्मा भी इसका उपादान कारण नहीं हो सकता है।

भौतिक विज्ञानवादी पंचभूतों के संघात को इस शरीर की उत्पत्ति और इसका ही परिणाम सत्त्व सूक्ष्म अंश को आत्मा कह देते हैं। यदि इस प्रकार जड़ पदार्थ प्रकृति ही आत्मा का उपादान कारण है, तब आत्मा को भी जड़ मानना पड़ेगा। इसलिए त्रैतवाद को मानने वालों ने इसकी पृथक् ही सत्ता मान ली है जीवात्मा-परमात्मा और प्रकृति। द्वैतवाद को मानने वालों ने सर्व-व्यापक चेतन सत्ता और जड़ प्रकृति को ही माना है। केवल एक सर्वव्यापक चेतन पर-मात्मा को छोड़ यह प्रकृति भी सारे संसार या विश्व में उपादान कारण के रूप में व्यापक-सी है। और कार्य रूप में लोक-लोकान्तर आदि सब कुछ उससे बन गए हैं। इस मतानुसार आत्मा का उपादान कारण प्रकृति भी नहीं बनती, क्योंकि वह जड़ ही तो है। यदि जड़-प्रकृति को ही आत्मा का उपादान कारण मान लें तब तो आत्मा में और मन, बुद्धि आदि में कोई अन्तर ही नहीं होगा। आत्मा भी उनके समान ही हो जायेगी, क्योंकि इन सबका उपादान कारण प्रकृति है। अब यदि आत्मा का उपादान कारण परमात्मा को ही मान लें, क्योंकि कुछ आचार्यों ने अंशा-अंशी भाव भी माना है, तो जहाँ अंशा-अंशी भाव हुआ करता है वहाँ विकार रूप धम पैदा होता है, अतः फिर परमात्मा को भी विकारवान् मानना पड़ेगा। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गमन मानना होगा और अवस्थान्तर परिणाम मानना पड़ेगा। क्योंकि चेतन परिणाम भाव को प्राप्त होकर उसमें काट-काटकर टुकड़ों

के रूप में अनन्त जीवों को उत्पन्न करेगा।

मैंने अभी भगवान् का शरीर के देश में विभाग किया, विभिन्न देशों के ऊपर के आकाश को खण्डित रूप में अथवा विभाजित वर्णन किया। इस प्रकार की बात मान लें तो परमात्मा भी विकारवान् बन जाता है और उसके विकारवान् बन जाने से परमात्मा और प्रकृति में कोई अन्तर नहीं रहेगा। प्रकृति जड़ होने से परिणामिनी बनी हुई है और वह चेतन होने से विकारवान् बना हुआ है। जो गुण कारण में होता है वही गुण कार्य में आया करता है। इसी प्रकार यदि चेतन से भिन्न की उत्पत्ति मानेंगे या अंशा-अंशी भाव मानेंगे तो चेतन भी चेतनों को उत्पन्न करेगा। अतः परमात्मा की सृष्टि जीव में ही समाप्त हो जायेगी। यदि परमात्मा से जीव उत्पन्न हुआ मानेंगे तो परमात्मा परिणामिनी हो जायेगा। किसी को एक बच्चा हुआ तो किसी को दस हो गये दोनों की बात एक ही है। परमात्मा का एक ही बच्चा पैदा हो गया जीव और यहीं पर उसकी सृष्टि परिसमाप्त हो गयी।

अब प्रकृति की सृष्टि बहुत लम्बी बनेगी। मैंने अपने ग्रन्थ "ब्रह्मविज्ञान" में प्रकृति की ३२ प्रकार की अवस्थाएँ वर्णन की हैं, उन अवस्थाओं के भीतर परमात्मा का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध दर्शा करके उन सब स्थानों में, सब अवस्थाओं में सर्वव्यापक चेतन की अनुभूति या साक्षात्कार माना है। और उसके साधन भी बतलाये हैं। इस प्रकार जड़ का परिणाम होते हुए एक प्रकृति से ३२ परिणाम हो गये और वे आकर पृथिवी में परिसमाप्त हो गये।

हमारा भौतिक शरीर भूतों की सृष्टि का कार्य है। माता-पिता जो अन्न-जल आदि सेवन करते हैं वे परिणाम विशेष में परिणत होकर रज और वीर्य के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उनसे ही हमारे शरीर की उत्पत्ति होती है। पृथिवी तक ब्राह्मी सृष्टि चली और अब जो सृष्टि चल रही है वह जैवी सृष्टि है। मानवी सृष्टि या मैथुनी सृष्टि इसी प्रकार चलती है। परमात्मा का इसमें कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के लिए परमात्मा उपादान कारण नहीं बन सकता, प्रकृति भी नहीं बन सकती, फिर यह सावयव पदार्थ कहाँ से आ गया? यदि इसको आप निरवयव मानेंगे तो निरवयव आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति फिर नहीं बन सकेगी। परमात्मा की व्याप्ति सावयव में ही बनेगी। निरवयव तो यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि इसको अणु मान लिया गया है।

नैयायिकों और वैशेषिकों के विचारों के अनुसार इसको अणु न कहकर परमाणु कह देते हैं क्योंकि अणु स्थूल है। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ कि ६० परमाणुओं के संघात होने से एक अणु का निर्माण होता है। यदि इसको परमाणु का स्थान देते हैं जैसे—पृथिवी के परमाणु और पंचमहाभूतों के परमाणु हैं। तब सूक्ष्म रूप से इनका उपादान कारण तो सांख्य की परिभाषा में पंचतन्मात्रा को ही समझना होगा। योग की परिभाषा में इनको सूक्ष्म भूत कहा गया है। इस अणु-

वाद के सम्बन्ध में उपनिषद् में एक मन्त्र भी आया है 'बालाग्रशत भागस्य' अर्थात् इसका भी विभाजन सिद्ध किया है। जिसका भाग होता चला जाय तो अंत में एक ऐसी अवस्था आती है जो शून्य भाव को प्राप्त हो जाता है। जो समुदाय जहाँ से प्रारम्भ हुआ है यदि उसको काटते चले जाएंगे तो अन्त में वह उसी अवस्था में पहुंच जाएगा जहाँ से उसका प्रारम्भ हुआ था। अब यदि चेतन को अनन्त परमाणु के रूप में मान लेते हैं, क्योंकि जीवात्मा का स्वरूप परमाणु का ही रूप है जैसे पंच-भूतों का उपादान कारण जो परमाणु हैं। अणु के उपादान कारण परमाणु हैं सम्भवतः हम परमाणु को ही अणु कह दें जिसका अब कोई विभाग नहीं होता हो, इन लोगों ने परमाणु का विभाग नहीं माना है। न जाने किस बुद्धि से उन लोगों ने आकाश को विभु माना है। अब तो इस आकाश की विभुता भी सिद्ध नहीं होती क्योंकि परमाणुओं में प्रवेश करके भी नहीं निकलता। सम्भवतः वे यहीं तक पहुँच पाये होंगे। वर्तमान भौतिक विज्ञानवादी परमाणु पर पहुँचे। कालान्तर में उन्होंने परमाणु को भी खण्डित कर दिया जिससे अत्यधिक शक्ति प्राप्त हुई। सम्भवतः हमारे प्राचीन आचार्य भी इसी अवस्था तक पहुँच पाये हों। न्याय और वैशेषिकारों ने परमाणु का खण्ड नहीं माना वरन् परिमाण्डिल्य माना है जो स्थान-विशेष को ग्रहण करता है। आकाश की व्याप्ति मानी है। परन्तु आकाश की व्याप्ति बनती नहीं है, उनके बीच से अर्थात् परमाणु के बीच से वह कैसे भेदन करके निकलेगा? अतः आकाश की व्याप्ति सर्वत्र सिद्ध नहीं होती है। हाँ, आकाश को इससे सूक्ष्म मानें तो फिर उनका भी आकार-प्रकार मानकर उसके भी खण्ड-खण्ड करने पड़ेंगे। परन्तु इन्होंने खण्ड नहीं माना है। इस प्रकार शेष जगत् का उपादान कारण यदि परमाणुओं को मान लेते हैं तो हमारे शरीर में जो चेतन जीवात्मा बैठा है उसको क्या मानें? क्योंकि इसको अनेक आचार्यों ने अणु कहा है। यदि आत्मा अणु के समान वर्तमान है तो एक जड़ अणु मिलेगा और एक चेतन अणु मिलेगा और फिर दो अणु मिलकर सृजन का कार्य करेंगे, क्योंकि चेतन गति का हेतु है और परमाणु जड़ है।

मैं तो चेतन के विषय में अभी तक यही समझ पाया हूँ कि वह गति का हेतु है। गति के भी बहुत अर्थ होते हैं। चेतन केवल गति प्रदान करता है, शेष सम्पूर्ण विस्तार प्रकृति का है। चेतन यदि गति प्रदान न करे तो फिर गति किसका धर्म होगा? गति तो पदार्थ के संयोग से होती है। यहाँ एक चेतन जीवात्मा अणु मिलता है और एक जड़ प्रकृति का अणु मिलता है। अब यहाँ चेतन अणु जड़ के एक-एक परमाणु को पकड़कर गति का हेतु बनेगा। यदि इस प्रकार से गति संसार के उपादान कारण परमाणुओं में हो सकती है तो फिर ऐसी स्थिति में परमात्मा को मानने की आवश्यकता नहीं रहती और किसी सर्वव्यापक चेतन सत्ता को आकर इनको संयोजित करने की भी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि गुण तो दोनों के समान ही

हुए। आत्मा को मुक्त कहा गया है, यह है भी मुक्त। परमात्मा के समान वह भी चेतन है। इसका स्वरूप आनन्द है, तब यह भी परमात्मा जैसा बन जाता है ऐसी मान्यता विद्वानों की है। जब चेतनता दोनों की समान है तो फिर संसार के निर्माण के लिए सर्वव्यापक चेतन परमात्मा की आवश्यकता नहीं रहेगी। एक जड़ अणु है और एक चेतन अणु है और दोनों के धर्म एक-दूसरे से भिन्न हैं। फिर इन दोनों को भी आपको सावयव मानना पड़ेगा। तो फिर ब्रह्माण्ड का रचयिता कौन हुआ ? इनका संयोग करने वाला आप यदि सर्वव्यापक चेतन को मानते हैं तो फिर इन दोनों अर्थात् जड़ परमाणु और चेतन परमाणु को स्थूल मानना पड़ेगा, सर्वव्यापक परमात्मा की व्याप्ति इन दोनों सत्ताओं में माननी पडेगी। दो प्रकार के गुण हुआ करते हैं—एक स्वाभाविक और दूसरा नैमेत्तिक। जैसे यह विद्युत है इसमें प्रधान रूप से दो गुण हैं, दाह और प्रकाश, परन्तु स्वाभाविक गुण को भी प्रकट करने के लिए और कोई तीसरी वस्तु या पदार्थ की आवश्यकता है उन दोनों को मिलाने के लिए। उदाहरणार्थ मोटर में चलने की शक्ति है, समस्त साधन उसमें उपस्थित हैं, परन्तु वहाँ चेतन चालक नहीं है। अब वहाँ केवल चेतन चालक के संयोग की आवश्यकता है। फिर किसी प्रकार यहाँ भी एक अणु चेतन जीवात्मा है और दूसरा परमाणु जड़ जल, पृथिवी का है, यदि इन दोनों का संयोग स्वाभाविक-सा मान लें और यहाँ दोनों विभाग रहित हों तो संयोग की बात नहीं बनती।

कुछ आचार्यों ने परमात्मा के सगुण और निर्गुण दो गुण मान लिए हैं। यहाँ परमात्मा के दोनों गुणों को मानने में जो आपत्ति उत्पन्न होती है वही आपत्ति विभाग रहित जड़ और चेतन के संयोग में होती है। सदा दो पदार्थों का संयोग होता है। जहाँ विजातियों का संयोग होता है वहाँ उन सबका उपादान कारण एक मानना पड़ेगा। हमारे शरीर में एक विजातीय आत्मा है और दूसरी जाति वाला शरीर है। शरीर जड़ है और आत्मा चेतन। यहाँ दो विजातियों का संयोग है तथा दोनों अपने-अपने स्वरूप से भिन्न हैं। जैसे—मेरे पास एक पात्र में जल है इसको मैं दूसरे में डाल देता हूँ, तो इसमें विजातीयता नहीं आयी। क्योंकि एक ही जाति का जल है, उसे पात्र में लाकर रख दिया, परन्तु इस जल और उस जल में कोई भेद नहीं है केवल पात्र का ही भेद है। यदि इस प्रकार का संयोग मान लेते हैं जैसे—जीवात्माओं का संयोग मान लेते हैं। जीवात्मा सभी चेतन जाति के हैं, अब एक जीवात्मा को दूसरे जीवात्मा से मिलाते चले जाइये और उनके बीच में कोई व्यवधान न रहे, क्योंकि प्रकृति का इनके अन्दर व्यवधान नहीं होगा। चेतन कण प्रकृति से सूक्ष्म है। वहाँ व्यवधान न होने से एक ही सत्ता विभु-सी बन जायेगी। जैसे—समुद्र से एक घड़ा जल भरकर पुनः समुद्र में ही फेंक दिया तो दोनों की एक ही सत्ता बन जायेगी। तब यह बात समझ में आयेगी। समस्त चेतन जीवात्मा मिलकर संयोग भाव को प्राप्त होकर एक विभु-सी सत्ता व्यापक-सी सत्ता

नीचे-ऊपर सर्वत्र होगी। वहाँ आकाश बीच में नहीं होगा, बाहर-भीतर आदि एक ही विभु सत्ता बन जायेगी। तब फिर चेतन आत्मा में और चेतन ब्रह्म में क्या भेद रह जाता है? अतएव यदि इन अनन्त चेतनों को हम संयुक्त कर देते हैं तब भी एक चेतन सत्ता माननी पड़ेगी क्योंकि दोनों की समानता होने से भेद नहीं रहा। परन्तु शरीरों के भेद से हम सबका व्यवहार तो भिन्न-भिन्न होता है। जैसे—हम विभिन्न देशों के आकाश का व्यवहार करते हैं। पृथिवी के भीतर भी आकाश है और चारों भूतों के अन्दर भी आकाश है परन्तु जाति एक ही है। यदि पृथिवी में आकाश न हो तो पृथिवी में गति नहीं हो सकती। आकाश गति का हेतु है। यदि हम इस अवकाश को ही पंचभूतों में गति का हेतु मान लेवें तो फिर चेतन की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। क्योंकि अवकाश तो गति दे रहा है, गति ही इसका स्वाभाविक धर्म है। अतः पृथिवी के गर्भ में भी सूक्ष्म आकाश वर्तमान है। भू-गर्भ में अनेक प्रकार के खनिज, वायु, जल, अग्नि, तेल आदि वर्तमान हैं। इन सबका प्रादुर्भाव उसमें से ही होता है। यह आकाश न हो तो यह अँगुली नहीं हिल सकेगी। यह निस्सीम आकाश ही पृथिवी के लिए भी अवकाश दे रहा है, इसमें जल के रूप में बादल घूम रहा है। अग्नि में भी आकाश वर्तमान है और वायु में भी। आकाश से वायु स्थूल है। आकाश की व्याप्ति समस्त भूतों में है। इस प्रकार जो चेतन है वह सब में व्याप्त होकर रहता है। अतः चेतन अनेक नहीं होता है।

अब रही अणु आदि की बात। आचार्यों ने आत्मा में भी परमात्मा की व्याप्ति मानी है तो फिर अणु को सावयव मानना पड़ेगा। सावयव का उपादान कोई अवश्य होना चाहिए। बिना उपादान कारण के सावयव की उत्पत्ति नहीं होगी। यदि आत्मा को हम निरवयव मान लेते हैं तो निरवयव में परमात्मा की व्याप्ति नहीं बनेगी। निरवयव अनेक नहीं हो सकते। निरवयव के खण्ड-खण्ड नहीं हो सकते हैं। जो अणुवाद का यह दर्शन है कि परमात्मा ने इसको व्याप्त किया है यह बात मेरी समझ में नहीं आती। अतः इसका उपादान कारण कोई अवश्य है भले ही वह जड़ हो अथवा चेतन। यदि जड़ मानें तो इसमें भी शंका होती है और यह भी जड़ सिद्ध हो जायेगा। यदि चेतन मानते हैं तो सर्वव्यापक परमात्मा परिणामी हो जायेगा। तो इस प्रकार का अणुवाद मेरी समझ में नहीं आया।

अब में अणु शब्द को लेकर शरीर की बात को लेता हूँ। अणु या परमाणु रूप चेतन का सम्बन्ध चित्त के साथ माना है। वह शरीर में वर्तमान है। यदि शरीर के टुकड़े-टुकड़े किये जायें तो शरीर के भी करोड़ों खण्ड हो सकते हैं। हमारा शरीर बहुत सूक्ष्म परमाणुओं का समुदाय है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के परमाणु संघात भाव को प्राप्त होकर इस शरीर का निर्माण हुआ है। एक अणु का ही विकसित रूप इतना बड़ा शरीर है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो वह शरीर के कौन सा प्रदेश में है? यंत्रों के द्वारा आज के वैज्ञानिकों ने अणु की खोज की है।

भौतिक विज्ञानवादी और डाक्टर लोग यन्त्र के द्वारा उस अणुरूपी आत्मा को देख सकते थे परन्तु देख नहीं पाये। यदि डाक्टरों को आज तक जीवात्मा मिल गया होता तो वे आपको सामने प्लेट पर रखकर दिखा देते। ये भौतिकवादी वैज्ञानिक तो सूक्ष्म शरीर मानते नहीं। अतएव इन्होंने इससे आगे के विज्ञान को अस्वीकार कर लिया है। ये प्रत्यक्षवादी हैं। सब कुछ आँख से देखना चाहते हैं। परन्तु बहुत-सी बातें अनुभव से और शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होती हैं।

अब रही सूक्ष्म शरीर की बात। हृदय के विषय में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विद्वान् मस्तिष्क को हृदय सिद्ध करते हैं। प्राचीन आयुर्वेदाचार्य हृदय का स्थान शरीर के मध्य भाग में मानते हैं। जड़ स्वयं गतिशील नहीं होता। हम लोग तो पुनर्जन्म को मानने वाले हैं। यदि यह भौतिक शरीर ही सब कुछ है और इसी में आत्मा है तो मरणोपरान्त शरीर कब्र में चला जायेगा अथवा वायु, अग्नि, जल, पृथिवी में विसर्जित हो जायेगा। फिर हमारी पुनर्जन्म की बात कैसे सिद्ध होगी? कौन सा पदार्थ पुनर्जन्म में लेकर जायेगा? स्वर्ग तो सबने मान लिया है। अर्थात् ईसाइयों, मुसलमानों, हिन्दुओं, बौद्धों आदि धर्मावलम्बियों ने स्वर्ग को मान लिया है। कुछ मतावलम्बी प्रलयकाल या कयामत के दिन कर्म-फल निर्णय होने की बात पर विश्वास करते हैं और कुछ शरीर के कर्मों का प्रारब्ध के रूप में या दूसरे जन्म के रूप में। यदि ऐसा न मानें तो इस प्रकार के जो कर्मों का परिणाम-क्रम है वह कैसे चलेगा? अतः परिणाम-क्रम चलता है जिसे हम नित्य देखते हैं। जितने कर्म हम रात को करके सोये थे पुनः उनको ही लेकर जागृत हो जाते हैं। उन कर्मों की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। जैसे—एक कर्मचारी नित्य प्रति उठकर कार्यालय में जाता है और उसका यह क्रम निरन्तर ही चलता रहता है। इसी प्रकार एक शरीर भी विभिन्न कर्म-फल एवं संस्कारों को लेकर चलता रहता है और निरन्तर यह क्रम चलता रहता है, क्योंकि हममें नित्य परिवर्तन होते रहते हैं। रात्रि को जब सोते हैं तो कुछ काल के लिए मरण या प्रलय की अवस्था में चले जाते हैं। फिर जागरण होने पर एक प्रकार से दूसरा जन्म-सा हो जाता है। प्रातः उठने पर पुनः वही संस्कार, वही कर्म करने लगते हैं। हमारी यह नित्य की श्रृंखला समाप्त नहीं होती है तो मरण के पश्चात् आप क्योंकर कर्म समाप्त करते हैं? फिर आप कयामत में कर्म-फल निर्णय भी मानते ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि हिन्दू सौ-पचास वर्ष अर्थात् मरणोपरान्त या इसी जन्म में कर्म-फल निर्णय मानते हैं और आप कयामत के समय मानते हैं।

ईसाई, मुसलमान लोग सम्भवतः इतने सूक्ष्म में नहीं पहुँचे होंगे। हिन्दू दार्शनिकों ने इसपर सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रलय अथवा कयामत की प्रतीक्षा नहीं करते रहे, वरन् मरणोपरान्त ही अर्थात् सौ-पचास अथवा जीवनकाल समाप्ति के तुरन्त पश्चात् कर्म-फल निर्णय पुनर्जन्म अथवा मोक्ष पर पहुँच गये मानते हैं। मैं

तो नित्य के निर्णय को मानता हूँ। मेरी गणना से तो सौ वर्ष नहीं, अपितु नित्य निर्णय होता है। काल-क्रमानुसार, सेकिण्ड, मिनिट, दिन, मास, वर्ष आदि बनते हैं और इसीके अनुसार नित्य निर्णय होता रहता है। हम स्वयं अपना निर्णय करते रहते हैं, क्योंकि हमारे जो संस्कार हैं इन संस्कारों द्वारा निर्णय होते हैं। ये निर्णय कैसे होते हैं इसके विषय में अगले व्याख्यान में बताऊँगा। इस प्रकार पुनर्जन्म की परम्परा संस्कारों को लेकर, धर्माधर्म को लेकर, पाप और पुण्य को लेकर कोई चलने वाली प्रक्रिया होनी चाहिए। हमारे मुसलमान भाई समझते हैं कि जब सब कब्र में दबे होंगे तो खुदा आकर सबको उठा देगा और सब जी उठेंगे। परन्तु जीने की तो कोई वस्तु कब्र में नहीं मिलती केवल अस्थियाँ रहती हैं। शेष सम्पूर्ण शरीर गल-सड़ जाता है। अब मैं पूछता हूँ कि जब खुदा उन अस्थियों में चेतनता उत्पन्न कर सकता है तो नूतन शरीर भी तो निर्माण कर सकता है? इसलिए पुनर्जन्म की बात के लिए इस शरीर से भिन्न एक और सूक्ष्म शरीर को मानना पड़ेगा। हमारी तीन अवस्थायें होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन तीनों से आगे एक और समाधि अवस्था होती है। यह अन्तिम गहन अवस्था है। साधारणत: ये तीनों अवस्थायें हमारे जीवन में आती रहती हैं। जैसे-जैसे हमारे शरीर में अवस्थायें आती हैं वैसे-वैसे कर्मों का परिणाम-क्रम चलता है। अवस्थाओं के रूप में, यह सूक्ष्म शरीर ही हमारे स्थूल शरीर में कार्य कर रहा है। यह स्थूल शरीर जड़ है। जीवात्मा ने तो इसको पकड़ा नहीं है और न सूक्ष्म शरीर को ही पकड़ा है, किन्तु कारण शरीर ने जीवात्मा को पकड़ा है। क्योंकि कारण शरीर में जीव वर्तमान रहता है। अहंकार और चित्त कारण शरीर में रहते हैं। बुद्धि और मन सूक्ष्म शरीर में या मस्तिष्क में रहते हैं। इन सबके ऊपर की एक महाकारण अवस्था माननी पड़ेगी। प्रकृति की अवस्था में, वहाँ तो ये समस्त एक ही भाव को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ भोग आदि की बात नहीं बनती, केवल स्थूल शरीर में ही भोगादि की बात बनती है। क्योंकि स्थूल शरीर में इन्द्रियाँ आदि वर्तमान हैं। इन्द्रियाँ, बुद्धि और मन आदि १७ वस्तुएँ मिल करके भोग उत्पादन करते हैं। इनके साथ प्राण का सम्बन्ध रहता है। मैंने अपने "प्राण-विज्ञान" नामक ग्रन्थ में ७० प्रकार का प्राण सिद्ध किया है। स्थूल शरीर भोग का सम्पादन करता है। यह हमें भोग देता रहता है। १० इन्द्रियाँ पाँच तन्मात्राएँ, मन और बुद्धि सूक्ष्म शरीर में रहते हैं। हम सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से पृथक् मानते हैं। बुद्धि भी सूक्ष्म शरीर के साथ होती है।

भौतिक विज्ञानवादी का कथन है कि बुद्धि का केन्द्र मस्तिष्क में है, वहाँ छोटी-छोटी धारियाँ-सी पड़ी हुई हैं जहाँ से स्मृति आदि का प्रादुर्भाव होता है। ये लोग तो इस स्थूल शरीर से ही बुद्धि, ज्ञान आदि की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु हमारे आचार्य लोग यह नहीं मानते, क्योंकि हम एक और शरीर इसके अन्दर मानते

हैं। मन और बुद्धि उस सूक्ष्म शरीर में हैं। स्थूल शरीर में सात धातुयें हैं। पंचभूत मिलकर सात धातु वाला स्थूल शरीर बनता है। यह शरीर ढाँचा-सा है। इसके द्वारा स्थूल भूतों और स्थूल जगत् का उपभोग होता है। सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर के अन्दर रहकर इसको नियोजित करता है। उससे स्थूल शरीर संचालित या गतिशील होता है। सारे पंचभूत मरणोपरान्त स्थूल शरीर में वैसे ही वर्तमान रहते हैं। केवल सूक्ष्म शरीर का निष्क्रमण होता है। स्थूल शरीर निश्चेष्ट होकर रह जाता है। इस मृत स्थूल शरीर को उठाये हुए यह सूक्ष्म शरीर नहीं रहता है। मन-बुद्धि तो सूक्ष्म शरीर के थे और उसके ही साथ चले गये। स्थूल जगत् की सृष्टि में स्थूल पदार्थ हुए हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत् की सृष्टि में सूक्ष्म शरीर का उपादान कारण पंचतन्मात्रा यह सूक्ष्म भूत होते हैं। ये सूक्ष्म शरीर के निर्माण में पंचतन्मात्रा ही उपादान कारण वनते हैं। इससे पहले मन और बुद्धि ऊपर से आयी हुई होती है। बुद्धि का निर्माण महत्तत्त्व सृष्टि में ही हुआ होता है, मन का निर्माण अहंकारिक सृष्टि में होता है। वे सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त होते हैं। ये सूक्ष्म शरीर के भीतर वर्तमान होते हैं। बुद्धि, मन, इन्द्रियों के द्वारा इनका भोग होता है। सूक्ष्म भूत या पंचतन्मात्राओं का जो अणु शक्ति आकाश-मंडल में उड़ते-फिरते हैं, उनका उपभोग सूक्ष्म शरीर करता है। सूक्ष्म शरीर पंचतन्मात्राओं को (शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा) ग्रहण करता है। तभी सूक्ष्म शरीर जीवित रहता है। यह स्थूल शरीर भी स्थूल आहार से जीवित रहता है, इसमें वायु भी उपादान कारण है और वायु का सेवन करके जीवित रहता है। अग्नि भी उपादान कारण है, यह बाहर से, सूर्य से, औषधि से उष्णता लेकर जीवन देता रहता है। हमारे शरीर के भीतर ७० प्रकार की अग्नि वर्तमान है। इसी प्रकार जल, पृथ्वी, आकाश आदि भी उपादान कारण हैं।

आकाश-मण्डल में अनन्त प्रकार के पंचश्रेणु, चतुश्रेणु, त्रिश्रेणु, द्वयणुक आदि सबका गमनागमन होता रहता है। हमारे शरीर के साथ में भी इन परमाणुओं का गमनागमन बना रहता है। इन परमाणुओं के आकार-प्रकार, रंग-रूप सब में अंतर रहता है। स्थूल आहार औषधि, अन्न, जल आदि के रूप में सेवन करते हैं। इसका परिणाम भाव शरीर में होकर स्थूल भाग को, स्थूल शरीर ग्रहण करता है और जो पंचतन्मात्रा के रूप में परिणत होते हैं उनको सूक्ष्म शरीर ग्रहण कर पुष्ट बना रहता है। एक प्रकार से उसमें दो शक्तियाँ हैं। एक तो इस स्थूल शरीर से तन्मात्राओं को ग्रहण करने की शक्ति और दूसरी आकाश-मण्डल से भी ग्रहण करने की शक्ति रहती है, क्योंकि जब यह आकाश-मण्डल में विचरता है तब इसका सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ नहीं रहता इससे निकलकर चला जाता है। जो सूक्ष्म शरीर आकाश-मण्डल में विचरता है, वह पंचतन्मात्राओं को सेवन कर पुष्ट बना रहता है। हमारा सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के समान ही आकार-प्रकार

का होता है। कभी-कभी स्वप्न में जो हमारे पूर्वज दादा, नाना आदि आकर खड़े हो जाते हैं, उसी शरीर में या उसी आकृति में वह सूक्ष्म शरीर है। यह स्थूल शरीर की प्रतिच्छाया है। इस स्थूल शरीर के समान आकार-प्रकार वाला पुतला निकल-कर चला जाता है और कुछ दिनों तक अपने स्थूल शरीर के आसपास विचरता रहता है, क्योंकि इस स्थूल शरीर के साथ मोह, ममता रहती है, परिवार के साथ भी मोह, ममता रहती है। इसीलिए वह आकाश-मण्डल में आसपास में विचरता रहता है। यह सूक्ष्म शरीर कई मास, वर्ष पर्यन्त भी विचरता रहता है और आकाश-मण्डल में सूक्ष्म परमाणुओं का सेवन करता रहता है। वहाँ सूक्ष्म इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब वर्तमान रहते हैं। वहाँ सूक्ष्म शरीर और उसके अन्दर कारण शरीर वर्तमान रहता है।

जिस प्रकार सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़कर जाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर को भी माना है तब कारण शरीर सूक्ष्म शरीर को छोड़कर आगे निकल जाता है। स्थूल शरीर का मरण अधिक से अधिक १०० वर्ष में होता है परन्तु सूक्ष्म शरीर का प्रलय लम्बी अवधि के बाद होता है। इस सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म शरीर का निर्माण ब्राह्मी-चेतन सत्ता के द्वारा होता है। स्थूल शरीर का निर्माण यहाँ मानवी सृष्टि या मैथुनी सृष्टि के द्वारा होता है। जब सूक्ष्म का प्रलय होगा, उस काल में जो आभास या प्रतिबिम्ब आकाश-मण्डल में विचर रहा है यह भी विनाश भाव को प्राप्त हो जाता है। चित्त, आत्मा और अहंकार उसमें से निकल जाते हैं, जैसे भौतिक सृष्टि में स्थूल शरीर विनाश भाव को प्राप्त हो जाता है। वैसे ही सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म इन्द्रियाँ इनके भोग आदि अहंकारिक सृष्टि में परिसमाप्त हो जाते हैं। चित्त और अहंकार आत्मा को धारण किये हुए, आगे महत्तत्त्व के लोक में पहुँचते हैं।

महत्तत्त्व कारण शरीर का उपादान कारण है। चित्त में ज्ञान की प्रधानता रहती है। सत्त्वगुण की प्रधानता भी विशेषतया उसमें रहती है। जहाँ चित्त, अहंकार और आत्मा रहेंगे वहाँ भी कुछ न कुछ सुख-दुःख का भोग मानना ही पड़ेगा। इसलिए वहाँ भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन अवस्था माननी होंगी। इन्द्रियों के भोग वहाँ नहीं होंगे, परन्तु चित्त का भोग अवश्य मानना पड़ेगा। जैसे—जब आप समाधि की गहन अवस्थाओं में जाते हैं, उस समय आपका स्थूल शरीर से भान जाता रहता है, बुद्धि भी शिथिल-सी पड़ जाती है। इन्द्रियों के भोग सम्बन्ध भी शिथिल पड़ जाते हैं। एक अनिर्वचनीय-सी शान्ति और आनन्द की अनुभूति होती रहती है, वह चेतन के संयोग से होता है और वह चित्त का ही एक विशेष धर्म है या अवस्था है। वहाँ चेतन के संयोग से आनन्द की अनुभूति होती है। यह बहुत काल तक एक अरब और पचास करोड़ वर्ष महत्तत्त्व की सृष्टि में रह-कर वहाँ ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है। एक दिन इस सृष्टि का विनाश होना है।

उत्पत्ति के पश्चात् मृत्यु भी निश्चित होती है। महत्तत्त्व भी अपने कारण में जायेगा। जब महत्तत्त्व का विनाश होगा तो चित्त अपने महत्तत्त्व में विलीन हो जायेगा। महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य विशेष है और अपने उपादान कारण में ही वह प्रवेश करेगा, क्योंकि जो गुण कारण में होते हैं वही गुण कार्य में भी होते हैं। प्रकृति भी जड़ है और महत्तत्त्व भी जड़ है, अतः महत्तत्त्व भी इसमें प्रवेश करेगा।

अब रही मोक्ष की बात। यहाँ तो बहुत आचार्यों ने बड़े आनन्द की उपलब्धि मानी है। बड़े आकाश-पुष्प दिखाये हैं। या तो फिर उस काल में किसी शरीर का भाव मानना पड़ेगा। चाहे सूक्ष्म शरीर मानें, चाहे कारण शरीर मानें, चाहे अन्य कोई शरीर मानें, परन्तु बिना शरीर या कारण के भोग की उपलब्धि नहीं होगी। वहाँ करण तो आत्मा का नहीं रहता, अब आनन्द का भोग किसके द्वारा होगा? इन महापुरुषों ने कह तो दिया कि आत्मा के अपने भी गुण हैं। किसीने ६ गुण कह दिये, किसीने २४ गुण बता दिये तो फिर आत्मा को भी परिणामी मानना पड़ेगा। अभी तक तो चित्त में परिणाम हो रहा था, परन्तु अब तो आत्मा में भी परिणाम होने लगा। यदि वे गुण उसके हैं तो स्वाभाविक धर्मों को प्रकट करने वाला होना चाहिए। फिर तो आत्मा भी विकारी हो जायेगा। मुझे तो आगे कोई बात समझ में नहीं आती, क्योंकि आत्मा के साथ कोई गुण की बात नहीं बनती है। कोई शरीर की भी बात नहीं बनती है, क्योंकि जहाँ परिणाम-क्रम हुआ करता है, वहाँ गुणान्तर भाव उत्पन्न हुआ करता है। परन्तु आत्मा में किसी प्रकार का परिणाम देखने में नहीं आता, कोई परिवर्तित अवस्था भी देखने में नहीं आती। अतः वहाँ आनन्द की बात नहीं बनती, क्योंकि हम दिन-भर इन्द्रियों के द्वारा भोग करते हैं, फिर वहाँ भी आनन्द का भोग करने के लिए करण की आवश्यकता होगी। जो करण चित्त था, वह तो अपने कारण में चला गया तो फिर वहाँ आनन्द का उपभोग कैसे करेगा? इन महापुरुषों ने तो कह दिया कि ये आत्मा के स्वाभाविक गुण थे। यदि आत्मा स्वाभाविक ही २४ गुण लेकर आया था तो फिर सूक्ष्म शरीर और इन्द्रियों की क्या आवश्यकता थी? इस लोक में उन्हीं से अपना भोग भोगता रहता, फिर उसे भगवान् तक पहुँचने के लिए इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ता? फिर सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रिय, शरीर आदि बनाने की या भोग करने की क्या आवश्यकता थी? जब अपनी स्वाभाविक शक्ति थी तो उसीके द्वारा यहाँ भी भोग करता, इस प्रकृति को क्यों कष्ट दिया। अब समय नहीं है, अतः इस विषय पर पुनः कभी चर्चा करूँगा।

व्याख्यान-६९

तत्त्वज्ञानी का लक्षण और आचरण कैसा होना चाहिए ?

ओ३म्—मेधां में वरूणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे ॥
यजुर्वेद ३२-१५

कल के प्रसंग में शंका उठाई गयी थी कि जिनको ब्रह्म या आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है, उनका क्या लक्षण है ? क्या ब्रह्मज्ञान हो जाने पर मोक्ष हो जायेगा ? यह दोनों शंकाएं मिली-जुली-सी हैं। आज इसके विषय में चर्चा की जाएगी। गीता में तत्त्वज्ञानियों और जीवन-मुक्तों की अवस्थाओं का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। उपनिषदों और दर्शनों में भी कहीं-कहीं सूत्र रूप से वर्णन है। जो इस शरीर के रहते ही मुक्ति का कुछ अनुभव करने लगे हों ऐसे जीवन-मुक्तों का लक्षण गीता में इस प्रकार कहा है—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥" गीता-११-१३ ॥

अर्थात् जिसको ब्रह्मज्ञान हो गया है वह ज्ञानी या योगी कैसा है ? 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां'—किसी भी प्राणी से उसका द्वेष भाव नहीं रहता है। जब द्वेष की भावना नहीं रहती है तो हिंसा की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। अर्थात् वह योगी या ब्रह्मज्ञानी किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता है क्योंकि द्वेष से ही हिंसा की भावना उत्पन्न होती है। समस्त प्राणी मात्र के साथ सर्व प्रकार से मित्रता की भावना हो जाती है। 'मैत्र करुण एव च' अर्थात् मैत्री भाव होना चाहिए, करुणा-दया की भावना होनी चाहिए। 'निर्ममो निरहंकारः' किसी प्रकार की ममता उसमें नहीं होनी चाहिए। इस जगत् में जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं। इन दोनों में ममता, अहंकार आदि की भावना न हो। कर्म-व्यवहार करते हुए भी किसी प्रकार का अभिमान न हो। अभिमान तो एक प्रकार से जीवन का आधार बना हुआ है। जैसे—'ममेदम्' यह मेरा है, यही भावना तो हमें कार्य करने में प्रवृत्त करती है। बिना अहंकार के कोई कर्म भी नहीं होता। अहंकार बंध एवं मोक्ष दोनों में हेतु है। बन्धन का हेतु तो उस अवस्था में होता है जब किसी

पदार्थ में अपनेपन की भावना होती है कि यह मेरा है। परन्तु यह मेरापन प्रायः इस शरीर के रहते हुए बना ही रहता है। यदि दूसरे पदार्थों के साथ यह भावना समाप्त भी हो जाएगी, किन्तु अपने शरीर के साथ यह भावना मरण-पर्यन्त रहेगी ही क्योंकि सदा इसके पालन-पोषण एवं रक्षण में लगा रहता है। 'समदुःख-सुखः क्षमी' अर्थात् सुख और दुःख में एक समान हो जाए। यह धर्म भी बड़ा कठिन है। 'तुल्य निन्दा स्तुति' और 'संतुष्टो येन केन चित्त'—निन्दा और स्तुति में समान रहें। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसी में संतुष्ट रहें। परन्तु संतोष तो होता ही नहीं, थोड़ा साधन आता है तो उसी को और अधिक बढ़ाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं।

इस प्रकार का जो लक्षण गीताकार ने किया है, यह लक्षण तो सांसारिक व्यक्तियों में नहीं दीखता और न यह लक्षण लोक-व्यवहार करते हुए ही घट सकता है। जिन्होंने गीता का प्रतिपादन किया है वे भी तो पाण्डवों को विजय कराने में सम्पूर्ण जीवन लगे ही रहे। उनकी सहायता करते रहे और कौरवों की सहायता नहीं की। तो फिर उनमें भी समानता की भावना कहाँ थी ? मैत्री भावना भी नहीं थी। तो कहने का अभिप्राय यह है कि द्वेष की भावना से प्रतिकार की भावना उत्पन्न होती हैं।

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' की भावना तो उनमें भी (श्रीकृष्ण में) नहीं दीखती, क्योंकि वे भी कौरवों से द्वेष तथा पाण्डवों से स्नेह करते थे। अभिप्राय यह है कि लिखने, कहने और उपदेश देने की बात कुछ और होती है तथा उस बात को अपने जीवन में घटाने की कुछ और होती है। जो व्यक्ति उपदेश को अपने जीवन में घटा लेता है वही महान् आत्मा गिना जाता है। वर्तमान युग में गीता के उपदेश को थोड़ी मात्रा में घटाने वाले महात्मा गाँधी जी हुए थे। यही कारण है कि आज लोग उनको आदर की दृष्टि से देखते हैं। इतना ही नहीं, गीता में 'निर्ममो निरहंकार'—जब पाण्डवों पर बड़ी आपत्ति आई तो वे (श्रीकृष्ण) रथ से उतरकर अपना सुदर्शन चक्र लेकर रणक्षेत्र में युद्ध के लिए उद्यत हो गये। उनके जीवन में भी यह बात घटित नहीं होती है। जब राजसूय यज्ञ हो रहा था तब शिशुपाल ने कुछ कटुवचन श्रीकृष्ण को कह दिया, तो वे वहाँ भी उससे युद्ध करने के लिए उद्यत हो गये, तो फिर 'तुल्य निन्दा स्तुति' जो कहा है वह कहाँ सार्थक हुआ ? जबकि शिशुपाल उनका सम्बन्धी था और अपने सम्बन्धी के साथ उन्होंने युद्ध किया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह केवल उपदेश की बातें हैं, स्वयं वैसा जीवन बनाते नहीं हैं।

परन्तु योगी का जीवन तो अवश्य ही ऐसा होना चाहिए। जो उपदेशक हैं और यदि उनका जीवन उनके उपदेशों के अनुसार नहीं बनता तो वे उस प्रकार के हैं जिस प्रकार की यह टेप है। जैसे—टेप में शब्द भरा जा रहा है परन्तु यह शब्द

इस टेप के लिए निष्प्रयोजन ही है अर्थात् टेप को इन शब्दों से कोई तात्पर्य नहीं है। ठीक इसी प्रकार उनके अन्दर केवल शब्द ही भरे हुए हैं परन्तु अपने जीवन में चरितार्थ नहीं किया। किन्तु महान् तो वही बनते हैं जिन्होंने अपने जीवन में उपदेशों को चरितार्थ किया हो।

अब यहाँ देखिए, हमारे जीवन में क्या कमी है। सम्पूर्ण जीवन हम लोगों को उपदेश सुनते तथा गीता का नित्य पाठ करते हो गए, परन्तु वह पाठ ऐसा ही होता है जैसे कि टेप रिकार्डर पाठ करता है। अभी तक तो हम लोगों का अन्तःकरण इन टेपों के समान बना हुआ है। इनमें केवल शब्द भरे जा रहे हैं। परन्तु शब्द जीवन में घटने में नहीं आ रहे हैं। उपदेश तो एक दिन का भी पर्याप्त है, यदि सम्पूर्ण जीवन में उसका अनुकरण करते रहें और नहीं तो यदि उपदेश को जीवन में चरितार्थ नहीं किया तो सम्पूर्ण जीवन के उपदेश भी व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। अब तक जितने भी उपदेश सुने हैं, वह सब व्यर्थ ही सिद्ध हो रहे हैं क्योंकि हमारे मन के अन्दर अहंकार की प्रबल भावना छिपी हुई है और साथ में ममता भी है। हम तो अपने सुख-स्वार्थ के लिए दूसरों को क्षति-कष्ट पहुँचाने में तत्पर रहते हैं। यदि हम लोग सुख चाहते हैं तो फिर हमारा यह कर्तव्य होना चाहिए कि दूसरों को भी सुखी बनाएँ।

अभिप्राय यह है कि सुने हुए उपदेशों को अपने जीवन में चरितार्थ करें; क्योंकि जो अपने जीवन में चरितार्थ किया करते हैं उन्हीं को संसार, समाज के लोग गुरु, नेता, पथ-प्रदर्शक मानते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं। कहा भी है : 'उपदेष्टि तत्वात् तत् सिद्धि न इतरथा अन्ध परम्परा'—अर्थात् जिस देश में अच्छे-अच्छे उपदेष्टा होते हैं वहाँ उत्तम संतान, उत्तम व्यक्ति तथा महान आत्माएँ जन्म लेती हैं। अतः सर्वप्रथम अपने आपको बनाना चाहिए तदुपरांत दूसरे को बना सकते हैं। जैसे—माता-पिता तथा गुरु अपने धर्मों का आचरण किया करते हैं तो उनकी संतान भी वैसा ही आचरण किया करती है। इसका स्पष्टीकरण निम्न श्लोक से हो जाएगा : 'ययदाचरति श्रेष्ठ तत देवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥' अर्थात् जो-जो आचरण माता-पिता और गुरुजन आदि किया करते हैं वैसा ही आचरण उनके पुत्र-पुत्री और शिष्य किया करते हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह बातें मेरे अपने जीवन में भी नहीं घटती हैं, जो मैं आपको सुनाकर आपके जीवन में घटाने का इच्छुक हूँ। मैं यहाँ (पहलगाँव) आकर पचासों क्या सैकड़ों बार उपदेश किया करता हूँ, परन्तु श्रोतागण या अभ्यासी जैसे खाली आते हैं वैसे ही खाली चले जाते हैं। जैसे कि किसी ने कहा है : 'पंचों का सिर मत्थे पर मेरा पनांला उत्ते ही रहना है।' आशय यह है कि सुनो थोड़ा और चरितार्थ अधिक करो। चरितार्थ करने के लिए तो कहा है, जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ, "श्लोको ही एको वरम् परम् अर्थ

तत्वप्रकाशी बहुशास्त्र कोटि जन रचनाय'—अर्थात् अपने में चरितार्थ करने के लिए एक मन्त्र, एक श्लोक ही पर्याप्त होता है। अनेक शास्त्र आदि पढ़ना-लिखना तो दूसरों के मनोरंजनार्थ है, जैसे मैं नित्य आप सबको नवीन बात सुनाता हूँ। यह भी तो आप सबके लिए मनोरंजन ही बना हुआ है। जीवन में चरितार्थ करने की ही आवश्यकता है। अन्यथा जैसे खेल-कूद या बाजीगरों का तमाशा देखते हैं, वैसे ही यह उपदेश भी हो जाता है। केवल एक कान से सुनते हैं और दूसरे से निकाल देते हैं, अन्दर तो ठहरते नहीं हैं। यदि कभी संस्कार रूप में ठहर भी जाते होंगे तो उन पर आचरण नहीं कर पाते। इसका कारण भी यह है कि जीवन में कुछ विषमताएँ या लोक-व्यवहार ही कुछ ऐसे हैं जो अपने धर्मों-कर्मों और आश्रमों के नियमों से विमुख कर देते हैं। कभी ऐसी स्थिति ही नहीं बन पाती जो इनका पालन ठीक से कर सकें।

मानव के अपने जैसे विचार होते हैं या जैसे विचारों की प्रधानता उसके अन्तःकरण में होती है उसी के आधार पर वह अग्रसर होता है, वही विचार उसको हर समय प्रेरित किया करते हैं। जिस ओर मानव की आसक्ति अधिक होती है उसी ओर वह प्रायः आकर्षित होता है और वैसा ही कर्म भी करता है, चाहे उसे कोई कितना भी समझाये। जैसे—बहुत-से बच्चे कुमार्गगामी हो जाते हैं। माता-पिता उन्हें सुधारने के लिए उन पर प्रयत्न करते हैं परन्तु वे सुधर नहीं पाते हैं। शिक्षक, अध्यापक भी विद्यालय में बच्चों को सुपथगामी बनाने की बड़ी चेष्टा करते हैं परन्तु फिर भी वे वैसा बन नहीं पाते। अब प्रश्न उठता है कि वे क्यों नहीं बन पाते ? इसी प्रश्न से पुनर्जन्म और प्रारब्ध की बात सिद्ध होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रारब्ध के कर्म-भोग इतने बलवान हैं जो माता-पिता और गुरुजनों के उपदेश का प्रभाव उनके मन पर थोड़ा भी नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार के मन और अन्तःकरण आप सबके भी हैं। आप सब भी पचासों वर्ष से उपदेश सुनते आ रहे हैं, फिर भी कोई परिवर्तन नहीं दीखता। अतः उपदेश थोड़ा सुना जाय और उसे चरितार्थ विशेष किया जाय। जब तक चरितार्थ नहीं होगा तब तक जीवन में मोड़ नहीं आएगा। हम जैसा चाहते हैं वैसा नहीं होगा क्योंकि प्रारब्ध के भोग इतने प्रबल हैं कि उपदेश सुनकर के भी उन्हें चरितार्थ नहीं करने देते। वास्तव में प्रारब्ध के कर्म कितने बलवान् हैं जो इन उपदेशों में बताए गए धर्मों-कर्मों को करने के लिए अवसर ही नहीं देते। तो अब क्या होगा ? यही न कि प्रारब्ध की प्रधानता बनी रहेगी। इससे भी पुनर्जन्म की बात सिद्ध होती है। परन्तु इसमें भी कुछ भिन्नता देखी गयी है। उदाहरणार्थ—एक बार प्रारब्ध एवं बुद्धि का परस्पर सम्वाद हुआ। प्रारब्ध ने बुद्धि से कहा—"ठीक है, तुम मुझसे बड़ी हो किन्तु कैसे ? अपना कुछ चमत्कार दिखाओ तब तो हम मानेंगे।"

प्रारब्ध नें कहा—"अच्छा।" इतना कहकर प्रारब्ध वहाँ से चली गयी और एक बहुत सुन्दर हीरे-जवाहरात का एक जोड़ी जूता बनाया। एक जंगल में एक गड़रिया बकरी चरा रहा था। दोपहर का समय हो चुका था। उसी स्थान पर एक विशाल वृक्ष था। गड़रिया थककर उस पेड़ की छाया में विश्राम कर रहा था। उसकी बकरियाँ भी एक ओर पेड़ की छाया में बैठी हुई थीं। इतने ही में प्रारब्ध हीरे-जवाहरात से बनी हुई जूती लेकर उसके समीप पहुँची और गड़रिया को सोये हुए देखकर उसके पाँव के समीप जूते रखकर चली गयी। कुछ ही क्षणों के पश्चात् गड़रिये की नींद खुली तो वह सामने जूते को देखकर आश्चर्य में पड़ गया। बेचारे गड़रिये के पास जूता नहीं था। उसने सोचा कि चलो अब इसे पहनकर बकरी चराऊँगा। अब वह अत्यधिक प्रसन्न था। वह हीरे-जवाहरात के जूते पहनकर बकरी चराने चल दिया।

अब बुद्धि प्रारब्ध से कहती है—"हे मूर्खः प्रारब्ध ! तूने यह क्या किया ? तुमने इस नालायक को लाखों रुपये के जूते दे दिये और यह इन्हें पहनकर बकरी चरा रहा है। यदि मैं (बुद्धि) इसके साथ होती तो यह किसी जौहरी के पास जाकर विक्रय कर देता और सुख से अपना जीवन यापन करता।" तो इसका आशय यह है कि गड़रिया के पास बुद्धि का अभाव था। यह दृष्टान्त आप लोगों पर भी घटित होता है क्योंकि उस गड़रिया की भाँति आप सब में भी बुद्धि का अभाव है। यदि बुद्धि रहती तो इतने बहुमूल्य उपदेश, विज्ञान, ज्ञान-ध्यान की बातें सुनते वर्षों बीत गये हैं, परन्तु जीवन में कोई चरितार्थ नहीं हुआ।

अब प्रारब्धने बुद्धि से कहा—"अच्छा, अब तुमअपना चमत्कार दिखाओ।" तब बुद्धि ने क्या किया कि एक उत्तम व्यापारी का भेष धारण कर लिया और उस गड़रिये के निकट आयी। बुद्धि ने गड़रिये से कहा—"मेरे भाई, आप यह जूतों का जोड़ा बेचोगे ?" गड़रिया ने कहा—"हाँ, बेच दूंगा।"

बुद्धि ने कहा—"इसका मूल्य कितना लोगे ?" बुद्धि की बात सुनकर बेचारा गड़रिया सोच में पड़ गया। अन्त में उसने निर्णय किया कि मुझे खाने-पीने में बड़ी कठिनाई होती है। उसने कहा—"आप मुझे दो सेर सत्तू दे दें, मैं उसे घोलकर पी लिया करूँगा।" बुद्धि मन ही मन बड़ी प्रसन्न हुई। उसने दो सेर के स्थान पर ५ सेर सत्तू दे दिया और जूता लेकर चल दी। बेचारा गड़रिया भी सत्त पाकर आनन्द से झूम उठा, प्रसन्नता से नाच उठा।

बुद्धि जूता लेकर राजा के दरबार में पहुँची और राजा से बोली—"राजन् ! यह जूता बहुत मूल्यवान है। मैं इसे आपके लिए ही बनाकर लायी हूँ। कृपया आप इसे स्वीकार करें।" राजा जूते का सुन्दर जोड़ा देखकर अति प्रसन्न हुआ। राजा ने जौहरियों तथा स्वर्णकारों को बुलाया और जूते का मूल्य आँकने को कहा—जौहरी तो जूते को देखकर आश्चर्य में पड़ गया क्योंकि ऐसा जूता आज तक न

उसने देखा था और न बनाया ही था। अन्त में उसने जूते का मूल्य १२ करोड़ रुपये निर्धारित किया। राजा ने १२ करोड़ रुपये अपने कोष से निकालकर बुद्धि रूपी जौहरी को दिया। बुद्धि रुपये लेकर पुनः प्रारब्ध के समीप आयी और कहा—"देखो प्रारब्ध, मैं उस जूते का मूल्य १२ करोड़ रुपये ले आई।"

उधर रानी ने जब राजा के पास जूता देखा तो बड़ी प्रसन्न हुई। उसने राजा से कहा—"राजन्! आप तो अपने लिए इतने मूल्यवान् जूता खरीद लाये, परन्तु मेरे लिए तो कुछ भी नहीं खरीदा।" तब रानी की बात सुनकर राजा ने जौहरी से पूछा—"क्यों भाई, तू और ऐसे जूतों का जोड़ा लाकर मुझे देगा?" राजा की बात सुनकर जौहरी सोच में पड़ गया कि यदि मैं जूता लाने से मना कर दूँ तो हो सकता है राजा यह समझकर कि मैं जूता कहीं से चोरी करके ले आया था अतः कहीं जेल में न डाल दें। उसने कहा—"जी हाँ, और भी जूता ला दूँगा आपके मन-पसन्द का।"

राजा ने कहा—"अच्छा, तो हमारी रानी के लिए भी एक जोड़ा जूता बनाकर ला देना।" "अच्छा महाराज"—इतना कहकर जौहरी (बुद्धि) चल दी। बुद्धि पुनः प्रारब्ध के पास पहुँची और कहा—"प्रारब्ध! तुम अपना और कुछ चमत्कार दिखाओ, क्योंकि इसमें तो तुम हार गये और मैं १२ करोड़ रुपये ले आई।" प्रारब्ध ने पुनः एक जूता उसी के सदृश बनाया और गड़रिये के निकट लेकर चला। गड़रिया नित्य की भाँति उसी वृक्ष की छाया में लेटा हुआ था। प्रारब्ध पुनः जूते को गड़रिये के पास रखकर चला गया। जब गड़रिये की नींद खुली तो सामने जूते देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और पहले की भाँति जूता पहनकर बकरी चराने लगा।

बुद्धि पुनः जौहरी का भेष धारण करके ५ किलो छोले (चने) का सत्तू लेकर गयी और गड़रिये से जूता खरीद लिया क्योंकि गड़रिये को और कोई चीज़ की आवश्यकता नहीं थी और न उसके पास उतनी बुद्धि ही थी। अब बुद्धि जूता लेकर पुनः राजा के पास गयी। राजा ने फिर १२ करोड़ रुपये में जूता खरीद लिया। बुद्धि रुपया लेकर जब जाने लगी तो राजा ने कहा—"भाई, जिस राज्य में तुम रहते हो वहाँ का राजा तो बड़ा धनवान् होगा?" बुद्धि ने कहा—"जी हाँ।" "क्या उस राजा का कोई राजकुमार भी है?" राजा ने पूछा। "जी हाँ, एक राजकुमार है, वह बड़ा सुन्दर, सुशील, नम्र एवं विद्वान् है।" राजा जौहरी (बुद्धि) की बात सुनकर अति प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"मेरी भी एक राजकुमारी है और मैं चाहता हूँ कि उसी राजकुमार से ही अपनी राजकुमारी का विवाह कर दूँ।"

बुद्धि रूपी जौहरी ने कहा—"अति उत्तम है महाराज! मैं भी यही चाहता था। मैं समाचार ले जाता हूँ और अपने राजा से पूछता हूँ। मुझे पूर्ण आशा है

कि वे मेरी बात को अवश्य मान लेंगे।" इतना कहकर जौहरी (बुद्धि) वहाँ से चल पड़ा। रास्ते में बुद्धि ने विचारा कि क्यों न उस गड़रिया को ही वस्त्र, आभूषण से श्रृंगार कर राजकुमार बना दूँ और उसका विवाह राजकुमारी से करवा दूँ। बुद्धि उस गड़रिये के पास गयी और बोली—"मैं तुम्हारा विवाह करवा दूँ ?"

बुद्धि की बात सुनकर गड़रिये ने कहा—"महाराज, मुझसे विवाह कौन करेगा ? मैं दरिद्र हूँ। बकरी चराने वाला हूँ।" बुद्धि ने कहा—"तुम इसकी चिन्ता न करो, विवाह कराना मेरा काम है। परन्तु एक शर्त तुमसे यह है कि तुम विवाह के अवसर पर मौन रहना। किसी से बातचीत न करना। मुझसे केवल संकेत से बात करना।" इस प्रकार बुद्धि ने समझा-बुझाकर गड़रिये को तैयार किया और राजा को विवाह की तैयारी करने को कह दिया। राजा भी विवाह की तैयारी बड़ी धूमधाम से करने लगा। इधर बुद्धि ने गड़रिये को सुन्दर वस्त्र, हीरे-मोती-रत्नों से जड़े हुए पहनाये तथा आभूषणों से श्रृंगार कर हाथी पर चढ़ा शोभा-यात्रा ढोल, नगाड़े, बाजे के साथ चली। जब शोभा-यात्रा राजा के नगर में धूमधाम के साथ पहुँची तो राजा के मन्त्री आदि भी शोभा-यात्रा की अगवानी करने के लिए हाथी, घोड़े, ढोल, नगाड़े, सेना, नृत्य इत्यादि को लेकर चले। जब गड़रिये ने मन्त्री के साथ आती हुई भीड़ को देखा तो वह डर गया और जो बात बुद्धि ने बताई थी वह भूल गया। गड़रिये ने सोचा कि मेरी बकरी इनके खेतों में चली गयी होगी जिसके कारण ये सब मुझे पकड़ने आ रहे हैं। उसने जौहरी (बुद्धि) से चिल्लाकर घबड़ाते हुए शब्दों में कहा—"श्रीमान् जी ! मेरी बकरियाँ इनके (राजा के) खेत में चली गयी हैं और उपज को बरबाद कर दिया है जिसके कारण ये मुझे पकड़ने आ रहे हैं, मुझे जाने दो, मुझे जाने दो, मैं जा रहा हूँ बकरी लाने।"

गड़रिये की बात सुनकर व्यापारी (बुद्धि) ने म्यान से तलवार खींच ली और बोला—"अरे मूर्ख ! मैंने तुझे बोलने से मना किया था, फिर तू क्यों बोला ? अभी से चुप रह नहीं तो देख यह तलवार, इससे तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर दूंगा। जो कुछ भी कहना है वह संकेत से कह दिया कर।"

गड़रिये की बात सुनकर राजा के मंत्री आदि जो मिलने आये थे वे पूछने लगे—"राजकुमार क्या कह रहे हैं ?"

तब सौदागर ने कहा—"राजकुमार कह रहे हैं कि राजा के जो मन्त्री आदि मिलने आये हैं उनको दस-दस सहस्र रुपये पुरस्कार दो।" मन्त्री ने सोचा, यह तो बड़ा धनी राजकुमार है। व्यापारी ने सबको दस-दस सहस्र रुपये दे दिये। राजा के समीप जाकर राजकुमार की बड़ी प्रशंसा की—"महाराज, यह बड़ा धनी राजकुमार है। बड़ा सुन्दर, दयालु, नम्र और विद्वान् है। हम सबको दस-दस सहस्र रुपये पुरस्कार में दिये हैं।"

राजा मन्त्री आदि की बात सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। अब उसने राजमहल

के भीतर स्वयंवर रचाया। राजमहल पुष्प, ध्वजा-पताका, मणि-माणिक्य, हीरे-मोती आदि से सुसज्जित था। भिन्न-भिन्न पुष्पों की सुगन्धि से सम्पूर्ण राजमहल सुगन्धित था। राजकुमार के बैठने के लिए हीरे-मोती से बना हुआ सिंहासन सुसज्जित था। राजकुमार (गड़रिया) को उस पर पदासीन कराया गया। बेचारा गड़रिया तो सोच में पड़ा हुआ था क्योंकि आज वह आश्चर्ययुक्त घटना देख रहा था जो कभी नहीं देखी थी। उसे लग रहा था कि वह किसी देवलोक या गन्धर्व लोक में पहुँच गया हो। वह मन ही मन भयभीत भी था परन्तु व्यापारी की तलवार ने उसे विवश कर दिया था। उसे लग रहा था कि कब यहाँ से भाग जाये और अपनी बकरियों के पास चला जाये और उस वृक्ष की छाया में आनन्द से सोये। वह मन ही मन यह सब सोच रहा था। इतने में ही राजकुमारी वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित, सोलहों शृंगार से युक्त, कर में जयमाला लिये हुए, घूँघट में मुँह छिपाये हुए आई। राजकुमारी का अनोखा एवं अद्भुत शृंगार देखकर (गड़रिया) राजकुमार पुनः भयभीत हो गया और व्यापारी की बात पुनः भूल गया। वह आश्चर्य से चिल्लाया—"श्रीमान् ! (व्यापारी) देखिये, देखिये, यह चुड़ैल मुझे खाने के लिए आ रही है। बचाओ—बचाओ मुझे, इससे बचाओ !" इतना कहकर वह सिंहासन से उठकर भागने लगा और कोठे से छलांग लगाकर मर गया। अब प्रारब्ध से बुद्धि ने कहा—"देखो, मैं तो इसे राजकुमार बनाकर राजकुमारी से विवाह कराने वाला था, परन्तु अपनी मूर्खतावश अर्थात् बुद्धि के अभाव से वह गड़रिया कोठे से कूदकर मर गया।" तो कहने का तात्पर्य यह है कि प्रारब्ध की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता है।

अनादि काल से हम लोगों के अन्तःकरण में असंख्य जन्मों के संस्कार या प्रारब्ध के कर्म पड़े हुए हैं। अब यदि हम और कर्म नहीं भी करेंगे और उन संचित कर्मों का ही भोग करते चले जाएँ तब भी उनका भुगतान नहीं होगा। अतः बुद्धि के द्वारा प्रारब्ध कर्मों को रोका जा सकता है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि इसे आज ही फल देना है। आज के बदले कल, परसों, तरसों भी दे सकता है, क्योंकि इसके साथ और भी तो पीछे के प्रारब्ध कर्म पड़े हैं जिन्होंने अभी फल नहीं दिया है। अब वे पड़े हुए हैं तो वर्तमान के प्रारब्ध कर्मों को भी बुद्धि के द्वारा रोका जा सकता है और नये कर्म किये जा सकते हैं। अतः संसार में बुद्धि (विज्ञान) की प्रधानता है।

जो तत्त्वज्ञानी या मुमुक्षु पुरुष होते हैं, क्या उनको ब्रह्मज्ञान हो जाने पर मुक्ति हो जाती है ? संसार में विज्ञान की प्रधानता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रारब्ध की अपेक्षा बुद्धि को या विज्ञान को विशेष महत्त्व दिया गया है। विज्ञान के द्वारा ही आत्मा-परमात्मा का भी ज्ञान होना चाहिए। तत्त्वज्ञान के द्वारा ही उनका बोध या साक्षात्कार होना चाहिए। तत्त्वज्ञान तभी सफल समझा

जायेगा जबकि उसके द्वारा आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार हो जाये। उदाहरण के लिए—अब मैं कहता हूँ कि मुझे आत्मा-परमात्मा के विषय में और कुछ जानने की जिज्ञासा नहीं है। जितना अभी तक समझा हूँ उतने से ही मैं तृप्त हूँ तो आप कहेंगे कि आप भी तो हमारे समान ही खाते-पीते, सोते-जागते, चलते-फिरते हैं, किन्तु वह बात तो आपके अन्दर नहीं घटती है जो गीता में कहा है। फिर तो यह ज्ञान से शून्य बातें हुईं। समाधान सांख्य और योग का सिद्धान्त है कि तत्त्वज्ञान की अपेक्षा वैराग्य की प्रधानता है। वैराग्य के द्वारा मोक्ष होता है। वास्तव में ज्ञान के द्वारा तो हम किसी वस्तु की यथार्थता को समझ जायेंगे, परन्तु उस वस्तु से हमें वैराग्य नहीं है तो फिर बन्धन का हेतु बनी रहेगी। वैराग्य सब ओर से मानव को निवृत्त करता है। वैराग्य प्रवृत्ति को रोकने में समर्थ होता है। ज्ञान तो आप सबको भी बहुत है और मुझे भी बहुत है, क्योंकि मुझे भी ८० वर्ष पढ़ते-लिखते हो गये और आपको भी ५०-६० वर्ष हो गये, ज्ञान की कोई कमी नहीं है। अब आवश्यकता है वैराग्य की, क्योंकि विना वैराग्य के मोक्ष असम्भव है। चाहे मानव कितना भी ज्ञानी बन जाये परन्तु विना वैराग्य के वह ज्ञान निरर्थक ही सिद्ध हो जायेगा। मैं भी मोक्ष-प्राप्ति में वैराग्य को ही मुख्य मानता हूँ। आज का प्रसंग अब यहीं समाप्त करता हूँ।

व्याख्यान-७०

वृत्तिनिरोधपूर्वक आत्मदर्शन की विभिन्न साधनाएँ।

ओ३म्—अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमभि वाजान्॥
ऋग्वेद १०-५३-८॥

आज की साधना में साधकों की चार श्रेणियाँ होंगी। पहली श्रेणी वाले साधक प्राण के द्वारा आत्मा और परमात्मा का अनुसन्धान करें। दूसरी श्रेणी वाले ज्योति के द्वारा परमात्मा का अनुसन्धान करें। तीसरी श्रेणी वाले शब्द के द्वारा और चौथी श्रेणी वाले साधक मन्त्र के द्वारा परमात्मा का अनुसन्धान करें। इन चार साधनों के द्वारा आप सब को आत्मदर्शन तथा ब्रह्मसाक्षात्कार करना है। अतः साधना में प्रवृत्त होकर बड़ी सूक्ष्मता से उनका अनुसन्धान करें। अनुसन्धान के काल में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होंगी और बाधाएँ भी आयेंगी, परन्तु साधना में शिथिलता नहीं आने देना।

वास्तव में देखा जाये तो यह प्राण ही हमारे जीवन का आधार बना हुआ है जिसे अनेकों ने भगवान् का स्थान दिया है। प्राण भी आकाश की तरह व्याप्त है। यदि इससे अधिक स्पष्टीकरण चाहते हैं तो इस आकाश को ही आप भगवान् समझ लें, क्योंकि जो कार्य हम भगवान् के द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं वही कार्य इस आकाश से भी सिद्ध हो रहा है। संसार के समस्त कार्य और हमारे जीवन का लोक-व्यवहार इस आकाश से ही सिद्ध हो रहा है। आकाश ही हमारी गति का हेतु बना हुआ है अन्यथा हमारा चलना-फिरना इत्यादि कर्म ठप्प हो जाएँगे। जो शब्द के द्वारा परमात्मा का अनुसन्धान कर रहे हैं वे तो तत्काल इस आकाश को ही भगवान् मान लें। जब इस आकाश से भिन्न कोई और सत्ता शक्ति दृष्टि में आ जाये तब उसका पर्याप्त अध्ययन करें। आकाश भी बहुत अध्ययन करने-कराने का विषय है। सर्वसाधारण को तो आकाश का सही अर्थ भी ज्ञात नहीं है। अतः अभ्यासकाल में इसके गुणों, धर्मों का ही चिन्तन करें और इसी को कुछ देर के लिए परमात्मा समझ लें। यदि इससे भिन्न और कोई सत्ता दृष्टिगोचर हो तो फिर उसी को भगवान् समझ लें। यह पोल (आकाश) तो

आपकी समझ आ ही रहा है। प्रत्यक्ष होते हुए भी यह हम सबके लिए परोक्ष बना हुआ है। अब इस प्रत्यक्ष और परोक्ष आकाश को समझने का प्रयत्न करें।

अब रही प्राण विज्ञान की बात। यह जो श्वास-प्रश्वास चल रहा है, यदि इसे बन्द भी कर दिया जाए तो भी भीतर के सूक्ष्म प्राण कार्य करते रहेंगे। यह गमनागमन रूप कार्य का प्रभाव एक प्रकार से उदान प्राण का ही है। यदि कोई ऐसा साधन समझ में आ जाये जैसा कि मेढ़क, सर्प, बिच्छू, कीट, पतंग आदि भूमि के भीतर रहकर भी जीवित रहते हैं; यदि कोई ऐसा साधन मिल जाए कि स्थूल प्राण के बिना भी मानव जीवित रह सके; तो यह भी बड़े महत्त्व की बात होगी।

मान लीजिए कि भगवान् का आपने दर्शन कर लिया और उससे मिल भी लिए, तो आपका देखना और मिलना वैसा ही होगा जैसा कि इस आकाश को आप देख रहे या उससे मिल रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् के विषय में भी है। अब रही कर्ता आदि की बात। जैसा कि आप सब कहते हैं कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं, ठीक है कुछ देर के लिए मैंने आप सबकी बात को मान लिया। परन्तु आप इस बात पर थोड़ा विचार करके तो देखिए कि यह कहाँ तक सत्य है। यदि भगवान् सब कुछ कर रहा है तो आप भी तो बहुत कुछ कर रहे हैं। उन्हें तो जो करना था वह करके आपको दे दिया है। अब तो आपको अपने लिए स्वयं उपार्जन करना होगा। उदाहरणार्थ—भूख लगेगी तो रोटी स्वयं बनाकर खानी होगी। यह कार्य तो भगवान् आकर नहीं कर देंगे। इसी तरह हम सब अज्ञानतावश भगवान् के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं। जब हम कर्म करते हैं तो उसका फल भी मिलता है, क्योंकि बिना कर्म के कार्य नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि कर्म ही भगवान् है। इसके बिना हमारी सन्तुष्टि नहीं होती है। और न हमें भोगों की उपलब्धि ही होती है। कर्म से भिन्न और कोई सत्ता और कोई चीज दृष्टिगोचर हो तो उसी को आप भगवान् समझ लें। परन्तु वह भी तो ऐसा ही होगा जैसा कि हमारे जीवन का आधार कर्म बना हुआ है, सब प्रकार की तृप्तियों का आधार बना हुआ है। उसको भी वैसा ही समझना होगा। भगवान् के प्रति केवल आपको अपने जीवन में संतोष ही करना होगा। मुझे तो भगवान् के प्रति संतोष हो गया है और आपको भी मेरे ही समान संतोष करना होगा। मैंने तो भगवान् को जान लिया, समझ लिया, फिर भी अपने जीवन से प्रेम है, इसकी इच्छा बनी हुई है। इसका अभाव या विनाश करने की इच्छा नहीं होती है। जब जीवन प्रिय है तो इसके साथ कुछ न कुछ आसक्ति भी है। यद्यपि मुझे यह विदित है कि एक दिन इस शरीर को नाश होना है। अब तो मेरी आयु भी ९३ वर्ष से अधिक हो गई है। इतना लम्बा जीवन हो गया। युवावस्था के बल, शक्ति, पराक्रम भी समाप्त हो गए हैं, तो अब कौन-सी वस्तु साथ लेकर हम इस

संसार से जाएंगे ? क्या यहाँ से निराश होकर जाना पड़ेगा ? क्या निराशा ही इतनी तपस्या, साधना आदि का फल है ? निराशा तो एक महान् दुःखी, रोगी को भी हो जाती है। तो क्या यह निराशा तत्त्वज्ञान या मोक्ष का हेतु हो जाएगी ? भगवान् के विषय में इतना ज्ञान होने पर भी जीवन प्रिय लगता है, अभी भी जीवन कुछ सुखद प्रतीत होता है। शरीर रोगी होता है तो रोग-निवारण के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि समस्त व्यवहार पहले के सदृश ही विद्यमान हैं। युवावस्था में भी क्षुधा ,पिपासा, भोजन ,निद्रा आदि अच्छी लगता था और अब भी अच्छा लग रहा है। मरण अच्छा नहीं लगता। अभी भी उससे भय बना हुआ है। मैं तो आज ६०-७० वर्ष पहले जहाँ स्थित था वहीं आज भी हूँ। मुझमें अभी तक कोई विशेषता नहीं दीखती। मरणोपरान्त जिन संस्कारों को साथ ले जाना है, वे स्वर्ग को ले चले या मोक्ष को यह एक विकट समस्या है। कौन जानता है कि आपको मोक्ष मिलेगा ही ? हो सकता है भगवान् वहाँ भी उल्टा लटका देवें। इसका क्या प्रमाण है कि सब उसकी गोद में ही वहाँ जाकर बैठे होंगे ? हजारों ऋषि, मुनि, पैगम्बर आदि यहाँ से गए, किन्तु किसी ने भी आकर वहाँ की चर्चा नहीं की। अतः मोक्ष के लिए ये हमारी कल्पनाएँ ही हैं, अनुमान ही हैं।

जब प्रत्यक्ष में भी कभी-कभी भ्रान्ति हो जाती है तो अनुमान और शब्द प्रमाण की बात तो कुछ और ही है। आज तक इस संसार में कोई भी ऋषि-मुनि पूर्ण ज्ञानी नहीं हो सके तो फिर शब्द प्रमाण भी सत्य कैसे होगा ? यद्यपि— 'लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धिः' ऐसा कहा है अर्थात् प्रमाणों के द्वारा पदार्थों की सिद्धि होती है। परन्तु मेरी दृष्टि में तो आजकल कोई भी सर्वज्ञ एवं पूर्ण ज्ञानी नहीं है जिसकी बातों को मैं प्रमाण मान लूँ। आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व मेरे जैसे बहुत से विद्वान चले गए और मैं भी अब इस अवस्था का हो गया हूँ। मेरा शब्द प्रमाण भी भ्रान्तिमूलक हो सकता है और जो पूर्व कह गए हैं उनका भी भ्रम-मूलक हो सकता है। जो दर्शन पूर्व के आचार्य लिखकर चले गए हैं उनमें भी मुझे बहुत-सी गलतियाँ परिलक्षित होती हैं। पहले जिस शब्द को मैं प्रमाण मानता था वही शब्द अब मेरे लिए मिथ्या सिद्ध होने लगे। ठीक इसी प्रकार भविष्य में कोई मुझसे अधिक विद्वान या योगी होगा तो वह भी मेरे सिद्धान्त को गलत सिद्ध कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि ये जितने भी प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम हैं वे सब अन्त में मिथ्या ही साबित होते हैं।

अब रही शरीर, इन्द्रिय और मन के विषय की बात। इन सबको निरोध करते-करते इतने वर्ष बीत गए हैं परन्तु वह निरोध करता चला जाऊँ तो भी न जाने कितने जन्म लग जाएँगे। जब मैं छोटी अवस्था का था तो उस समय संस्कार कम थे, अब ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती चली जा रही है त्यों-त्यों संस्कार भी बढ़ते चले

जा रहे हैं। आप सब जिसे ज्ञान-विज्ञान और कर्म समझ रहे हैं, किन्तु मेरे लिए तो ये सब क्लेश का हेतु ही प्रतीत हो रहे हैं। जैसे कि बाल्यावस्था में सब कर्म, क्लेश बन्धन का हेतु प्रतीत होते थे। बाल्यावस्था में भी संस्कारों का अभाव नहीं था और न अभी भी अभाव हो रहा है। अतः अब मैं समस्त दिशाओं से उदासीनता की ओर जा रहा हूँ। मुझे यह विदित हैं कि वैराग्य किसे कहते हैं। सभी ओर से उदासीन हो जाना है यही तो वैराग्य होगा। किसी भी वस्तु की प्रशंसा या निन्दा न करना, न किसी भी चीज का महत्त्व न बताना यही तो वैराग्य कहलाता है। प्रत्येक बात एवं पदार्थ को तुच्छ या हेय समझकर उससे आसक्ति न करना। परन्तु शरीर से तो राग बना ही रहता है, फिर सब बातें ज्यों की त्यों बनी रह जाती हैं। सर्वथा वैराग्य सिद्ध नहीं हो रहा है।

हाँ ! तो मैं अपने विषय में चर्चा कर रहा था, अपने मन के विषय में कह रहा था कि जो मेरे साथ वर्तमान में हो रहा है। एक गृहस्थी को अपने परिवार या मकान की जिम्मेदारी का बोझ रहता है और मैं कई मकानों या परिवारों की जिम्मेदारी लिए बैठा हूँ। गृहस्थी केवल अपनी सन्तानों की सेवा करता है और मैं आप सबकी सेवा करता हूँ। यह भी मेरे लिए बहुत बड़ा सौभाग्य है और मुझे इसमें प्रसन्नता है। मुझे इस प्रकार के कर्मों से अनुराग है तभी तो इनमें प्रवृत्त रहता हूँ। यदि इसमें मुझे अनुराग या अपना स्वार्थ न हो तो फिर क्यों ऐसा कर्म करता ? कहने का अभिप्राय यह है कि स्वार्थ रूप में राग का सर्वथा अभाव या विनाश नहीं होता है। राग ही प्रत्येक कर्म में प्रवृत्ति का हेतु होता है। अपने आप मियाँ मिट्ठू बनकर बैठ जाएँ, यह बात दूसरी है, परन्तु जब इस पर गहराई से विचार किया जाए तो विदित होता है कि प्रत्येक कर्म का जनक राग ही है। हाँ, इतना तो अवश्य है कि जैसी निद्रा की अवस्था में राग-द्वेष आदि का निरोध हो जाता है वैसे ही कुछ काल के लिए अभ्यास आदि के द्वारा निरोध किया जा सकता है। परन्तु वहाँ निद्रा में भी सुख-दुःख की प्रतीति होती है। अतः निद्रा को भी वृत्ति माना है। निद्रा से उठने के पश्चात् मानव सुख-दुःख का अनुमान करता है। मेरी दृष्टि में तो कोई भी ऐसी अवस्था नहीं आती जहाँ कि राग का सर्वथा अभाव हो जाता हो। यदि परमात्मा का चिन्तन करता हूँ तो वहाँ भी राग की अनुभूति होती है। सुख को सुख ही समझता हूँ और दुःख को दुःख ही समझता हूँ। यदि कोई शरीर में छुरा मारे तो वेदना होती है, क्योंकि शरीर के साथ अनुराग है।

अब रही वैराग्य की बात। वैराग्य कभी दृढ़ नहीं होता। यदि मैं आप से वैराग्य करता हूँ तो किसी दूसरे से राग हो जाता है। राग कहीं न कहीं छिपा हुआ रहता ही है। मान लिया कि आप को सबसे वैराग्य होकर निवृत्ति हो गयी, परन्तु अपने शरीर के साथ तो राग बना ही रहेगा। एक से वैराग्य होगा तो दूसरे

से राग होगा। जैसे एक राजा राज्य का शासक बन गया और फिर वह राज्य को छोड़कर मकान में जाकर बैठ गया तो पहले उसको अपने राज्य से राग था और अब उसको अपने मकान से राग हो गया अथवा किसी वृक्ष के नीचे जाकर बैठ जाता है परन्तु वहाँ भी शरीर के साथ अनुराग हो जायेगा। उपरोक्त बातों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि ये स्वाभाविक धर्म ही चल रहे हैं। जैसे-जैसे विचार तथा संस्कार माता-पिता, गुरुजन आदि डाल देते हैं उन्हीं के आधार पर हम अपना सुख-दुःख निर्माण करते चले जाते हैं और इनकी अनादिता माननी पड़ जाती है। यदि अनादिता न भी मानी जाये केवल एक ही जन्म जैसा कि ईसाई, मुसलमान मानते हैं ऐसा मान लिया जाय, तब भी तो मेरे एक जन्म के ही इतने संस्कार एकत्रित हो चुके हैं, कि उनका सर्वथा अभाव नहीं होगा। यदि चार का निरोध करता हूँ तो दस और उभर जाते हैं, दस का निरोध करता हूँ तो बीस उभर जाते हैं। ये भी तो प्रवृत्ति का हेतु बनते हैं। प्रवृत्ति का अभाव ही नहीं होता। मेरी तो अभी तक कोई भी ऐसी अवस्था नहीं आयी जहाँ कि सर्वथा वृत्ति का निरोध हो जाता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में भी वृत्ति का अभाव नहीं होता है। यहाँ तक कि समाधि की अवस्था में भी स्मृति रहती है। भले ही वह स्मृति आत्मा या परमात्मा की ही क्यों न हो? परन्तु वृत्ति तो है। वृत्ति का अभाव तो नहीं है। न जाने योगदर्शनकार पतंजलि जी ने कैसे कह दिया—'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'—'तदा द्रष्टु स्वरूपे अवस्था नम्'—हाँ, इतना तो सबको विदित है कि मरने के पश्चात् वृत्तियों का अभाव उसी प्रकार होता है जैसा कि निद्रा की अवस्था में। निद्रा में भी तो एक प्रकार से इन्द्रियों का निरोध हो जाता है और जब निद्रा समाप्त हो जाती है तो पुनः वही स्वभाव, वही विचार, वही कर्म जो सोने से पूर्व किये थे, करने लगते हैं। तो इस प्रकार के क्षणिक निरोध से क्या होगा? सोकर उठने के पश्चात् या समाधि से व्युत्थान होने के पश्चात् पुनः वही क्रम, वही प्रवृत्ति, इन्द्रियों के वैसे ही भोग, मन और बुद्धि में राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ आदि का चिन्तन करने लगते हैं, तो फिर निरोध कहाँ हुआ? ठीक इसी प्रकार यदि मोक्ष भी होगा तो फिर उससे क्या लाभ? उपरोक्त बातों पर विचार करने से यही प्रतीत होता है कि ये सब इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म हैं और हम इन्हें (इन्द्रियों को) शक्ति, से बलात्कार से रोकने का प्रयत्न करते हैं और वे दूसरी ओर फूट निकलती हैं। यदि विज्ञान की दृष्टि से देखें तब तो सब कुछ मिथ्या ही दृष्टिगोचर होगा। जब तक समस्त संसार को मिथ्या सिद्ध नहीं करेंगे तब तक ज्ञान और वैराग्य की बात कैसे होगी? राग तो सभी पदार्थों से पहले के समान ही बना रहा। राग का विरोधी तो वैराग्य ही होगा और वैराग्य के द्वारा सबको मिथ्या ही सिद्ध करता है।

उदाहरणार्थ—लोग कहते हैं कि किसी भी वस्तु से राग नहीं करना चाहिए,

परन्तु शरीर से तो राग बना ही रहता है। इसके लिए दैनिक स्नान करना, खाना-पीना, सोना, जागना इत्यादि इन कर्मों के साथ तो राग बना ही रहता है। फिर सर्वथा वैराग्य कहाँ सिद्ध होता है? दर्शनकारों ने कहा है—"परिणाम ताप संस्कार दुःखै गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" ॥—योग० २-१५॥ अर्थात् विवेकियों, ज्ञानियों के लिए अन्त में सब दुःख ही दुःख प्रतीत होता है। परन्तु इस प्रकार का परम वैराग्य जीवन में देखने में नहीं आता है जहाँ कि इन्द्रियों और अन्तःकरण के धर्म उत्पन्न न होते हों। योग-दर्शनकार महर्षि पतंजलि जी ने तो प्रसुप्त और तनु की बात कह दी है। मान लिया जाये कि कुछ काल के लिए संस्कारों को तनु कर दिया, परन्तु कालान्तर में वे संस्कार पुनः जागृत हो जाते हैं। यह जो जन्म-मरण का प्रवाह है इसका कभी अभाव नहीं होता है। अनादि काल के असंख्य संस्कार पड़े हुए हैं और इस जन्म के भी असंख्य संस्कार पड़े हुए हैं। अब यदि इन संस्कारों को एक-एक करके छिन्न-भिन्न करने से निरोध हो जायेगा, किन्तु शरीर के रहते हुए सर्वथा निरोध होना असम्भव ही है। मरणोपरान्त जब वृत्तियाँ ही नहीं होंगी तो सुख-दुःख की बात ही कहाँ से होगी? वृत्तियाँ अन्तःकरण के धर्म हैं और जब अन्तःकरण ही नहीं होगा तो फिर निरोध की बात क्या होगी? अतः वर्तमान में वृत्तियों का सर्वथा अभाव हो जाय यह बात सिद्ध नहीं होगी।

आज आप सब अपने अभ्यास में वृत्तियों का ही निरोध करने का प्रयत्न करें, समाधि की अवस्था में जाकर भी देखें कि कितनी वृत्तियों का निरोध हो गया और कितनी जागृत हुईं। जो जागृत हुई हैं उनको कैसे निरोध किया जा सकता है? यह जो निरोध वाली वृत्ति की बात है वह कहाँ तक यथार्थ है, इसे आप अपने ध्यान या समाधि की अवस्था में अनुभव करें।

व्याख्यान-७१

स्वाभाविक ज्ञान-बल तथा क्रिया का विवेचन ।

ओ३म्—कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयी नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥
यजुर्वेद ४०-२ ॥

इस मन्त्र में कर्म की प्रशंसा की गई है और ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि मानव सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीये ।

आज का प्रसंग प्राण, कर्म इसके सम्बन्ध का है । जिस काल में सृष्टि का सृजन होने जा रहा था उस काल में कर्म और प्राण दोनों वर्तमान थे । वास्तव में जब दो वस्तुओं का संयोग होता है तब कर्म की उत्पत्ति होती है । वह कर्म एक प्रकार से कार्यात्मक होता है । यदि कर्म उत्पन्न नहीं होगा तो संयोग भी नहीं होगा । दो पदार्थों का संयोग कराने में कर्म की प्रधानता होती है । आदि सृष्टि में जिस समय साम्यावस्था की स्थिति होती है, उस समय सत्त्व, रज और तम गुण मिश्रित होकर सम भाव को प्राप्त हो जाते हैं । वहाँ जो सूक्ष्म रूप से रज होता है, वह कृपा का हेतु होता है । क्योंकि 'क्रियाशीलम् रजः' कहा है । क्रिया भी एक प्रकार का कर्म ही है । वहाँ प्राण के रूप में उसको कहा गया है । अर्थात् प्राण वहाँ सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहता है । अतः ये तीनों नित्य से बन जाते हैं । प्राण तो क्रियात्मक और रजात्मक है ही । किन्तु रज के साथ सत्त्व और तम का भी सम्बन्ध है । ज्ञान-कर्म का परस्पर सम्बन्ध रहता है । जहाँ ज्ञान नहीं होगा वहाँ कर्म भी नहीं होगा । कर्म उसमें होगा जिसमें चलन रूप क्रिया उत्पन्न होती हो । कर्म को लेकर रजोगुण क्रियाशील होकर अन्ततः यही विकास भाव को प्राप्त हो जाता है । जब इस सूक्ष्म अवस्था को समाधि का विषय बनाते हैं तब वहाँ महत्तत्त्व या प्रकृति ज्ञान रूप में भासने लगती है । वहाँ अन्य ज्ञान रूप चेतन की आवश्यकता नहीं रहती । इसलिए यहाँ आकर तत्त्वदर्शी लोग भ्रान्त से हो जाते हैं । यदि सत्त्व ही ज्ञान रूप माना जाय तो यह भी प्रकृति का एक गुण विशेष है, रज कियात्मक है । ज्ञान और कर्म कुछ काल के लिए ठहरते हैं और फिर विकास भाव को प्राप्त होते हैं । तम का ठहराव कहाँ है ? क्योंकि जब कोई वस्तु चलेगी तो चलन के पश्चात्

श्रान्ति तो होगी ही। जैसे कि जब हम दौड़ लगाते हैं, तो अन्त में थककर श्रान्त हो जाते हैं और विश्राम करते हैं। विश्राम करने के पश्चात् पुनः चलने के योग्य बन जाते हैं। यह ठहराव ही तमोगुण की स्थिति या उसका धर्म है। इसी प्रकार ये तीन गुण प्रकृति में माने गए हैं। प्रकृति में जो गति है, वह उसका धर्म विशेष या अवस्था विशेष है।

परन्तु उस प्रकृति में भी गति देने वाला कोई निमित्त होना चाहिए। अतः इस चेतन सर्वव्यापक को निमित्त मानना पड़ता है। एकदेशीय तो निमित्त नहीं बन पाता है, क्योंकि वहाँ प्रकृति सर्वदेशीय ही बनी हुई है। अतएव ऐसा कोई सर्वदेशीय निमित्त ही मानना होगा। उस चेतन सत्ता का सन्निधान और व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। सर्वप्रथम जितना भाग उसके साथ संयुक्त होता है, प्रकृति के उस देश की या भाग की ज्ञानरूप संज्ञा हो जाती है। क्योंकि चेतना स्वयं ही ज्ञान रूप है। उसमें जब प्रकृति घुली-मिली तब उतना भाग ज्ञान रूप हो गया। इसका यह मिलना एक प्रकार से नित्य ही है। इसका मिलन अनित्य नहीं है। यदि अनित्य मिलन मानेंगे तो इन दोनों को मिलाने वाली तीसरी कोई और ही शक्ति माननी पड़ेगी। अतएव प्रकृति और ब्रह्म का मिलन नित्य है। जिस देश में प्रकृति का संयोग होता है उसकी ज्ञान रूप संज्ञा हो जाती है। और फिर उस ज्ञान में से ही कर्म की उत्पत्ति होती है, क्योंकि ज्ञान और कर्म सदा साथ रहते हैं। जहाँ कर्म होगा वहाँ ज्ञान भी होगा। हमारे भीतर भी जो कर्म होते हैं वह ज्ञान-पूर्वक ही होते हैं। क्योंकि वहाँ भी चेतन का सम्बन्ध है और प्रकृति में भी चेतन का सम्बन्ध है। फलतः वहाँ भी ज्ञानपूर्वक कर्म होते हैं। इन बातों से यही सिद्ध हुआ है कि ज्ञान और कर्म दोनों साथ रहते हैं तथा इनका नित्य सम्बन्ध है।

इसी के विषय में उपनिषद में कहा है—"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" श्वेता० ६-८। अर्थात् उसके सदृश अन्य कोई वस्तु नहीं है। आगे फिर कहते हैं—'परास्य शक्तिर्विविधैवश्रूयते'—परा का अर्थ यहाँ प्रकृति है और 'विविधैवश्रूयते—' नाना प्रकार से उसको सुना, पढ़ा, देखा और समझा जाता है। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' यहाँ ज्ञान, बल और क्रिया को बहुत से आचार्यों ने परमात्मा का ही गुण मान लिया है और बहुत से आचार्यों ने प्रकृति का गुण माना है। क्योंकि यहाँ परा शब्द आता है। यहाँ पर जो प्रकृति है उसके ही ये गुण ज्ञान, बल, क्रिया हैं।

अब यहाँ आकर कुछ भ्रान्ति हो जाती है कि ये गुण ज्ञान, बल, क्रिया परमात्मा के हैं अथवा प्रकृति के हैं? यदि हम ये गुण परमात्मा में स्वाभाविक ही मान लेते हैं तो स्वभाव को प्रकट करने के लिए भी और तीसरी शक्ति माननी पड़ती है। जिसका जो गुण स्वाभाविक होता है वह फिर प्रकट होने के

लिए किसी अन्य की अपेक्षा रखता है। उदाहरणार्थ—अग्नि में दाह्य, प्रकाश आदि स्वाभाविक धर्म हैं। परन्तु उन स्वाभाविक धर्मों को प्रकट करने के लिए किसी तीसरे निमित्त की अपेक्षा रहती है। तो फिर परमात्मा के लिए भी निमित्त-विशेष की अपेक्षा करनी होगी। इससे तो यही सिद्ध होता है कि 'परा अस्य शक्ति विविधैव श्रूयते'—वह परमात्मा की शक्ति मानी है, यह तो सत्य है। क्योंकि दोनों (सत्य और ब्रह्म) का सम्बन्ध है। जैसे—यहाँ मेरी शक्ति है ऐसा तो कह देता हूँ यद्यपि मेरा शिष्य, मेरा पुत्र मेरे गुरु इस प्रकार भिन्न व्यवहार के साथ भी अपनापन का व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार परमात्मा और पराशक्ति इन दोनों का नित्य सम्बन्ध है। परन्तु यहाँ परमात्मा के ऊपर आरोप कर दिया गया है। फिर तो चेतन में भी परिणाम मानना पड़ेगा। यद्यपि आचार्यों ने इनको गुण विशेष कह दिया है। परिणाम न मानकर स्वाभाविक गुण मान लिया है।

अब यदि स्वाभाविक गुण मान लेते हैं तो फिर वही आपत्ति उठती है कि स्वभाव को प्रकट करने वाली और कोई तीसरी शक्ति होनी चाहिए। यथा अन्न और भूमि दोनों वर्तमान हैं। यद्यपि भूमि में अन्न पैदा करने की शक्ति है परन्तु इन दोनों का संयोग करने वाली कोई और तीसरी शक्ति होती है। परन्तु यहाँ तो दोनों भूमि और अन्न एकदेशीय हैं। अतः यहाँ संयोग करने की बात बनती है किन्तु वहाँ तो दोनों प्रकृति और ब्रह्म सर्वदेशीय हैं अतः वहाँ संयोग कराने के लिए तीसरी अन्य सत्ता की आवश्यकता नहीं होती है। इससे सिद्ध होता है कि वे ज्ञान, बल, क्रिया परमात्मा के गुण या धर्म विशेष नहीं हैं। परमात्मा तो एक प्रकार से निरवयव होकर स्थित है और प्रकृति वहाँ सावयव है। सावयव में ही परिणाम कर्म या गुण विशेष उत्पन्न होंगे निरवयव में नहीं। आप उसे निष्क्रिय भी कहते हैं और क्रियावान् भी कहते हैं। परन्तु ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी धर्म हैं। अतः ये दोनों किसी एक पदार्थ में नहीं रह सकते। सर्वव्यापक में और कोई व्यापक होने वाली अन्य सत्ता नहीं है और न उसमें (परमात्मा में) कर्म उत्पत्ति की बात ही बनती है। परमात्मा में किसी प्रकार धर्म, कर्म अथवा गुण विशेष उत्पन्न नहीं होता। ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन ये पाँच कर्म परमात्मा में नहीं घटते। अतः उस परमात्मा में कर्म और गुण की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। यदि ये गुण और कर्म परमात्मा में मान लेते हैं तो परमात्मा भी प्रकृति के सदृश विकारवान् हो जाएगा। यह तो हुई परमात्मा की बात।

ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर के विषय में भी है। जिस काल में चित्त की उत्पत्ति होती है उस काल में सात प्रकार के प्राणों का सम्बन्ध परमात्मा के साथ रहता है। जब समष्टि प्राण व्यष्टि भाव को प्राप्त होता है, तब उसका सम्बन्ध जीवात्मा और चित्त के साथ होता है। एक तो समष्टि महत्तत्व और प्राण है

जिससे चित्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान की प्रधानता है। रजःप्रधान महत्तत्त्व से समष्टि बुद्धि की उत्पत्ति होती है। अतः बुद्धि में ज्ञान और कर्म की प्रधानता चित्त की अपेक्षा अधिक होती है। बुद्धि में ज्ञान और कर्म दोनों रहते हैं। क्योंकि वहाँ विकास है। ज्ञान का विकास कर्म के द्वारा होता है और कर्म का विकास ज्ञान के द्वारा होता है। यद्यपि चित्त भी ज्ञान और कर्म प्रधान ही है, क्योंकि वहाँ अहंकार का सम्बन्ध है। आत्मा के साथ ज्ञान रूप से चित्त का सम्बन्ध रहता है और कर्म रूप से अहंकार के साथ रहता है। सूक्ष्म शरीर में बुद्धि का ज्ञान रूप से और मन का धर्म रूप से सम्बन्ध रहता है। अतः दोनों शरीरों को भिन्न माना है। और तभी अन्तःकरण चतुष्टय बनता है। कर्म की उत्पत्ति रजोगुण से होती है। यहाँ एक प्रकार से रजोगुण ही परिवर्तित होकर जो पहले सूक्ष्म रूप से साम्यावस्था में विद्यमान था, इन कार्यात्मक पदार्थों में भी चलता है। वहाँ इसका कर्म-व्यापार प्राण रूप में नित्य ही बना हुआ है। जैसे-जैसे इस प्रकृति का विकास होता रहता है वैसे-वैसे ही प्राण का भी विकास होता रहा और अन्त में फिर वह वायु के रूप में आकर स्थित हो गया। इन भूतों पृथ्वी, जल, अग्नि को भी गतिशील करने वाला वायु ही है। हमारे शरीर में जो प्राण है, इसको गतिशील करना ही इसका कार्य विशेष है।

स्थूल शरीर में रहने वाले १० वायु के भेद सत्त्व, रज, तम रूप से ३० प्रकार के हो जाते हैं। सात प्रकार के प्राणों का सम्बन्ध जहाँ तक परमात्मा से रहता है, वहाँ तक तो ब्राह्मी सृष्टि हो जाती है। उसके पश्चात् जैवी सृष्टि प्रारम्भ होती है। समष्टि चित्त, बुद्धि और अहंकार इन तीनों में प्राण शक्ति वर्तमान है। वैसे ही समष्टि महत्तत्त्व के सत्त्व, रज, तम में भी प्राण वर्तमान है। एक प्राण प्रकृति की साम्यावस्था में भी वर्तमान रहता है। इन सात प्राणों का संबंध भी परमात्मा के साथ वर्तमान है। यथा—"सत् इमे लोका एषुविचरन्ति प्राण। प्राणाद्धि एव इमानि भूतानिजायन्ते।" 'सत् इमे लोका'—अर्थात् एक प्रकार से प्राण के सात लोक हैं। जब ये व्यष्टि भाव को प्राप्त होने लगते हैं तब ब्राह्मी सृष्टि में जैवी सृष्टि आरम्भ होती है। जब समष्टि चित्त, बुद्धि और अहंकार विकीर्ण भाव को प्राप्त होते हैं तो इनमें अनेकत्व धर्म आ जाता है। पूर्व एक प्रकृति थी और वह त्रित्व भाव में रहती है। जीवात्मा से पूर्व उसमें भी सात प्रकार की अवस्थायें इस जगत् में रहती हैं। फिर ये विकीर्ण भाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म रूप में परिवर्तित होती हैं और यहीं से ही जगत् की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। महत्तत्त्व से जब सर्वप्रथम चित्त की उत्पत्ति होती है तो उसमें भी चेतन सत्ता पूर्व से ही वर्तमान रहती है।

अब रही जीव की बात। अब यह जीव बीच में कहाँ से आ गया? बहुत से आचार्यों ने तो यहाँ जीव को अणु मान लिया है और अनेक आचार्यों ने तो शरीर

के देश में जो चेतन है उसकी संज्ञा जीवात्मा दे दी है। सृष्टि जब चित्त की अवस्था आती है तो चेतन आकाश की तरह व्यापक रूप में पहले से ही था। परिवर्तन तो चेतन सत्ता में नहीं होता है। हाँ, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी में तो परिवर्तन होता है। इसी प्रकार आकाश में भी भेद कर दिया है। जैसे कि शरीर के दस स्थानों में आकाश को विभाजित कर दिया है, वैसे ही दस स्थानों में प्राण, तेज, जल और पृथ्वी भी रहती है। अतः ५० प्रकार के स्थानों में पाँच कोशों से यह स्थूल शरीर का निर्माण हुआ। ठीक इसी प्रकार चेतन सत्ता में भी शरीर के व्यवहार से भेद कर देते हैं। जब यह चेतन सत्ता चित्तके प्रदेश में रहती है, तब इसकी जीवात्मा संज्ञा हो जाती है। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ कि आचार्यों के इस विषय में मतभेद हैं। किसी ने जीवात्मा को नित्य कहा है तो किसी ने जीवत्व भाव को प्राप्त हुआ कहा है। क्योंकि 'जीव' प्राण धारणे धातु से जीवात्मा संज्ञा हुई है। अर्थात् जीव ने चित्त में प्राण धारण किया है। चित्तके साथ जब चेतन का सम्बन्ध हुआ तो उस सम्बन्ध से जो क्रिया की उत्पत्ति हुई उस क्रिया को ज्ञान रूप चेतन ने धारण कर लिया। परमात्मा ने जो रजः रूप या प्राण रूप क्रिया कारण रूप प्रकृति के जो पहले ही वर्तमान थे, उस क्रिया रूप या कारण रूप को मानो धारण कर लिया। अतएव भगवान को वहाँ कर्ता कह दिया है। जीवात्मा को भी कर्ता कह दिया है परन्तु यह एक प्रकार से समझने और समझाने का ढंग है। यह एक प्रकार से आरोप लगा दिया गया है, वरना उनमें कर्तापन की बात नहीं बनती है। इस शरीर में आत्मा का सम्बन्ध तीनों शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म और कारण के साथ तो है ही और प्राणों के साथ भी है। एक तो यह स्थूल शरीर है। इसमें जो आकाश-मण्डल का वायु भूत है यह प्राण भाव को प्राप्त हुआ। अर्थात् जितना बड़ा लम्बा-चौड़ा यह शरीर है उतना ही लम्बा-चौड़ा यह प्राण है। एक प्रकार से इस शरीर में प्राण की व्याप्ति है, जो वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी को भी व्याप्त करता है।

अब यदि आत्मा को भी इस शरीर के बराबर ही मान लें तो फिर शरीर के किसी भी प्रदेश में आत्मा को ढूंढ सकते हैं, जान सकते हैं और प्रत्यक्ष कर सकते हैं। और यदि आत्मा को अणु मानते हैं तो उसको चिपके रहने के लिए फिर कोई स्थान मानना पड़ेगा। अब यहाँ जो शंका अणु मानने में होती है, वही शंका महान् मानने में भी होती है।

न्याय-वैशेषिककारों ने जो अणु का वर्णन किया है कि ६० परमाणु संघात भाव को प्राप्त होकर एक अणु बनाता है, शायद इसीलिए इन आचार्यों ने अणु आत्मा में विभु परमात्मा की व्याप्ति मानी है। परन्तु व्याप्ति तभी बनेगी जब आत्मा सावयव होगा। इन आचार्यों ने आत्मा को सावयव ही माना है, क्योंकि सावयव पदार्थों में ही परमात्मा की व्याप्ति बनेगी निरवयव पदार्थ में व्याप्ति बनती ही नहीं है। अब यदि आत्मा को निरवयव मान लेते हैं तो निरवयव

अनेक नहीं हो सकते, निरवयव जब भी होगा तो एक ही होगा। आत्मा को अणु मानने पर न्याय-वैशेषिककारों के कथनानुसार ६० परमाणुओं को संघात करने वाला अन्य कोई होना चाहिए। सदैव सावयव पदार्थों का ही संघात होता है। जहाँ कार्य-कारण भाव हुआ करता है, वहाँ ही सावयव की बात आया करती है। निरवयता में कार्य-कारण भाव नहीं बनता। निरवयव तो एक व्यापक चेतन सत्ता परमात्मा ही सिद्ध होता है। शेष संसार के सभी पदार्थ सावयव सिद्ध होते हैं। उसमें व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध भी बनता है।

व्याख्यान-७२

बन्धन-मोक्ष स्वाभाविक है या निमित्त से है ?

ओ३म्—स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ऋग्वेद १-८६-६ ॥

इस मन्त्र में अपने कल्याण के लिए भगवान् से प्रार्थना की गयी है। हमारा विषय चल रहा था कि प्राण के द्वारा आत्मा की खोज किस प्रकार की जाती है। यद्यपि आत्मानुसंधान के विषय में अनेकों साधन पूर्व बता ही चुका हूँ। अब आत्मा-परमात्मा के विषय में कैसे संतोष या निश्चय किया जाय कि आत्मा परमात्मा है ? हम सबकी बात तो दूर है, चिकित्सक लोग भी आत्मा-परमात्मा के अनुसंधान में लगे हुए हैं। वे भी शरीर को शल्य चिकित्सा या चीर-फाड़ के द्वारा अनुसंधान कर रहे हैं, परन्तु बेचारे वे भी इस विषय में असफल ही रहे हैं। आप लोग भी बहुत वर्षों से इसकी खोज में लगे हुए हैं, परन्तु आप सबको भी उसके विषय में कोई निश्चय नहीं हो रहा है। अतः आप सब एक यही निश्चय करके बैठ जाएँ कि 'मैं हूँ'। यद्यपि अपने स्वरूप का भी ज्ञान नहीं है, फिर भी यह सम्पूर्ण शरीर, अंग-प्रत्यंग आदि तो हैं। किन्तु ये तो उत्पत्ति और विनाशवाले हैं और मुझे सदा अपने आपकी एक ही रूप में प्रतीति होती है कि 'मैं सुखी हूँ' अथवा 'मैं दुःखी हूँ'। परन्तु यह 'मैं' तो अहंकार है, इसका कभी भी निरोध नहीं करता हूँ। अतः 'मैं' क्या हूँ यह बात भी अभी तक स्पष्ट नहीं हुई। जब हम अपने शरीर के भीतर प्राण या दिव्य ज्योतियों को देखते हैं, तो यह भी अपने स्वरूप से भिन्न ही प्रतीत होती हैं। जब कहीं अंधकार होता है, तो मनुष्य दीपक आदि के द्वारा किसी वस्तु या पदार्थ का अन्वेषण कर लेता है। इसी प्रकार अपने स्वरूप को भी जानने के लिए किसी दीपक की आवश्यकता होती है जो कि इस पाँच-छहः फुट के शरीर में आपको अपने स्वरूप का ज्ञान करा दे। परन्तु यह भी एक आश्चर्यजनक बात है कि किसी बाह्य दीपक के द्वारा अपने स्वरूप को जानें।

वास्तव में देखा जाये तो वह दीपक भी अपने भीतर ही वर्तमान है। अब आप कहेंगे कि वह दीपक कहाँ है ? तो सुनिए, आप अपने प्राण को देखते चले

जाएँ। प्राण के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। देश के भेद से प्राण के भी भेद हो गए हैं। स्थानों के भेद हो जाने से एक ही प्राण भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न कार्य करता है। जैसे एक ही विद्युत अग्नि भिन्न-भिन्न कार्य करती है—कहीं पंखे, कहीं यन्त्र, कहीं यान, कहीं मोटर इत्यादि चलाती है। अब यहाँ एक ही विद्युत के स्थान भेद हो जाने से उसके कार्य में भी भिन्नता आ गयी। इसी प्रकार हमारे शरीर में भी एक ही अग्नि के स्थान-भेद से उसमें भेद हो गए हैं। उसी प्रकार प्राण भी हमारे शरीर में एक ही है परन्तु स्थान-भेद के कारण उसके कार्य-व्यापार में भेद हो गए हैं। जैसे—एक ही वायु आँख में निमिषोन्मेष का कार्य-करती है, नासिका में श्वसन-कार्य करती है, कण्ठ में गमनागमन का कार्य करती है अर्थात् एक ही प्राण के भिन्न-भिन्न कार्य देखने में आते हैं। इनमें भी अपने स्वरूप की बात बनती नहीं है।

जैसे आँख अपने पर सुर्मे को नहीं देखती, इसे भी देखने के लिए दर्पण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आपको भी अपने स्वरूप को देखने के लिए किसी दर्पण की आवश्यकता होती है और वह दर्पण आपके भीतर है जिसे बुद्धि या चित्त कहते हैं। यदि दर्पण मैला-कुचैला हो तो भी बिम्ब को स्पष्ट नहीं दिखाएगा, इसी प्रकार जब बुद्धि या चित्त पर अज्ञान-अविद्या का आवरण रहेगा तब तक वह अपने स्वरूप को दिखाने में असमर्थ ही रहेगा। अतः सर्वप्रथम अभ्यास, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा आप अपनी बुद्धि को इतना तीक्ष्ण एवं निर्मल बना लें कि वह आपको अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करा दे। बुद्धि की निर्मलता एवं तीक्ष्णता अभ्यास के द्वारा ही सम्भव है। एक ही विषय पर पुनः-पुनः चिन्तन, मनन और निदिध्यासन कीजिए और उस विषय से विचलित होकर आपका विचार अन्यत्र न जाने पाये। जैसे आज ज्योति को आपने अपने अभ्यास का विषय बनाया है, तो ज्योतियों का ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन कीजिए; या मन्त्र को ले लिया है तो उसी का चिन्तन-मनन करें। जब अभ्यास के द्वारा आपकी बुद्धि में स्थिरता आ जाएगी तो एक अवस्था ऐसी आ जाएगी जो स्वयं ही वह आपके स्वरूप को निर्णय करा देगी।

शब्द प्रमाण के द्वारा भी आत्मा का निश्चय हो सकता है। यदि आपको प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आत्मा का यथार्थ निर्णय नहीं हो पा रहा है तो शब्द प्रमाण के द्वारा चलिए। हमारे जो प्राचीन ऋषि, मुनि, पैगम्बर, विद्वान्, गुरुजन हुए हैं, उनके वाक्यों को प्रमाण मानकर ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए कि आत्मा है और इस बात पर संतोष भी करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का भी वही फल होगा जो शब्द प्रमाण का फल है। प्रत्यक्ष प्रमाण में यही होगा कि आप जब भी आत्मा को देखेंगे तो उसमें कोई परिवर्तन या अन्तर नहीं दिखाई देगा। सतत एक ही समान दृष्टिगोचर होगा। उदाहरणार्थ, यह जो मकान है इसे मैं पिछले

कई वर्षों से देखता आ रहा हूँ और प्रति मास, दिन, घंटा देखता हूँ, परन्तु यह ज्यों का त्यों उसी रूप में स्थिर है। तो इसी प्रकार शब्द प्रमाण के द्वारा भी आत्मा का निश्चय किया जा सकता है।

विद्वान् लोगों का यही कथन है कि शरीर तथा आत्मा का सम्बन्ध है और यह शरीर अनित्य, नाशवान् है, आत्मा अजर और अमर है। तो क्या इस निश्चय से हमारा मोक्ष हो जाएगा ? क्योंकि आप लोग भी मुक्ति की बड़ी अभिलाषा को लेकर बैठे हैं। सर्वप्रथम हमें इस बात पर विचार करना है कि हमारे बन्धन का हेतु क्या है ? किसने हमें बन्धन में डाल रखा है ? जब हम इस विषय पर गहराई से विचार करते हैं तो यह मकान भी मुझे बन्धन का हेतु प्रतीत होता है, क्योंकि प्रतिदिन इसको स्वच्छ रखना पड़ता है। परिवार भी बन्धन का हेतु प्रतीत होता है, क्योंकि आप सबके विषय में भी मुझे चिन्ता बनी रहती है जिसके कारण आप सब भी मुझे बन्धन का हेतु प्रतीत होते हैं। किन्तु इस प्रकार के बन्धनों का भी सर्वथा अभाव देखने में नहीं आता है। यदि मेरी बात आप सबको सत्य प्रतीत नहीं होती है तो आप बड़े-बड़े वीतरागियों के पास जाकर कुछ काल रहकर देखें। उनके भीतर भी आपको कर्म, व्यापार, चेष्टा आदि देखने में आएँगी। शान्त-एकान्त स्थान में जो वीतरागी रहते हैं उनमें भी क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जागृति, मल-मूत्र-विसर्जन आदि स्वाभाविक धर्म रहते हैं। इन स्वाभाविक कर्मों का सर्वथा अभाव कदापि नहीं होता। इसी प्रकार आपके भी दिन-रात के कार्य हैं। आप भी अपने कार्य को योगियों के समान स्वाभाविक कर्म के सदृश ही समझ लें। जैसे अनादिकाल से संस्कार चलते आ रहे हैं और हम जो कर्म कर रहे हैं उनके संस्कार भी चलते रहेंगे। जब तक यह शरीर है तब तक कर्मों का अभाव नहीं होगा। अतः खाना, पीना, क्षुधा, पिपासा, सेवा, धर्मोपार्जन इत्यादि को समभाव से समझते हुए करें तो फिर यही आपके लिए ज्ञान और वैराग्य का हेतु हो जाएगा, क्योंकि कर्म ही बन्धन का हेतु है। धन, सम्पत्ति, संतति, गृह, सेवा आदि को ही बन्धन का हेतु मानते हैं। योगी एकान्त में रहकर अपने शरीर की सेवा करता है तो आप अपने परिवार की सेवा करते हैं, परन्तु दोनों की बात एक ही है। अतः समभाव लाने की आवश्यकता है। यदि सबमें समानता आ जाए तो फिर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहेगी। फिर आत्मा कहीं शरीर के एक कोने में बैठा रहे अथवा परमात्मा कहीं हिमालय आदि पर्वतों या आकाश में बैठा रहे, फिर आपको इनसे कोई तात्पर्य नहीं रहेगा, क्योंकि ज्ञान के उदय होने के पश्चात् आप इसी जीवन में मुक्त हो जाएंगे, फिर अगले जन्म की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।

गुरु हमें बन्धन से मुक्त करा देंगे, यह धारणा सर्वथा भ्रममूलक है। परमात्मा हमें मुक्त कर देगा, यह विचारधारा भी असत्य है। मैं एक गुरु के पास एक मास रहा था। उन्होंने एक मास में ही मुझे हठयोग और समाधि में पारंगत कर दिया

था। दूसरे गुरु के पास एक दिन और एक रात रहा था, उन्होंने भी मुझे समस्त विज्ञान एक ही दिन में चलचित्र के सदृश दिखा दिया था। अब केवल उतना ही सीखकर मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया था, ऐसी बात नहीं है। ठीक है, उन्होंने मेरा पथ-प्रदर्शन किया, परन्तु पुरुषार्थ तो स्वयं ही को करना पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने आपको बाँधता है और स्वयं ही मुक्त भी होता है। मेरे गुरु ने तो मुझे बन्धन से नहीं छुड़ा दिया था। दीर्घकाल तक चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के द्वारा सत्यासत्य का निर्णय तथा प्रत्येक पदार्थ को विज्ञान की कसौटी पर परखकर इतने वर्ष व्यतीत हो गए। यद्यपि इतने विज्ञान को समझने-परखने के पश्चात् भी मैं यह गर्व के साथ नहीं कह सकता हूँ कि मैं पूर्ण ज्ञानी या विज्ञानी हो गया हूँ। पारंगत होने की बात भी नहीं है क्योंकि इस छोटे से शरीर में या छोटी-सी बुद्धि में कितना ज्ञान समा सकता है? इतना विशाल ब्रह्माण्ड पड़ा हुआ है, अभी तो मैं बहुत से विज्ञानों में अनभिज्ञ हूँ। नित्य प्रति सीखता ही रहता हूँ। अतः ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से भी मानव को अधूरा ही रहना पड़ेगा।

अब रही तृप्ति की बात, सर्वथा मानव की तृप्ति हो गयी हो यह बात भी कुछ असत्य-सी प्रतीत होती है। किसी कार्य में सफलता मिलने पर किसी को एक घंटा तो किसी को दस घंटे के लिए तृप्ति हो जाती है अथवा खाने-पीने से कुछ काल के लिए संसार के भोग्य पदार्थों से तृप्ति हो जाती है। तदनन्तर वह तृप्ति पुनः अतृप्ति में परिणत हो जाती है और पुनः उसी पदार्थ को खाने या भोगने की तृष्णा जाग उठती है। यह क्रम मानव के जीवन में निरन्तर चलता ही रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थों से मानव की तृप्ति नहीं होती है। यदि १०० रुपये पास हों तो दो सौ की चिन्ता बनी रहती है, दो सौ हों तो और अधिक प्राप्त करने की इच्छा बनी रहती है। जहाँ तक हो सकता है अधिकाधिक संग्रह करने की ही चिन्ता बनी रहती है। किसी को पूर्ण तृप्ति हो गयी हो ऐसी बात आज तक इस जगत् में देखने को नहीं मिलती है। इन्द्रियों के भोगों की भी सर्वथा तृप्ति नहीं होती है। अतृप्त रहना इनका स्वभाव ही है और इनके स्वभाव पर पूर्ण नियन्त्रण पाना असम्भव ही है। इनके धर्मों का सर्वथा विरोध नहीं हो सकता है—'प्रकृतिम् यान्ति भूतानि निग्रह किम् करिस्यति'—यहाँ तो यही बात सिद्ध होती है कि इस संसार से चाहे आज चला जाऊँ अथवा हजार वर्षों के पश्चात् जाऊँ, कितनी भी साधना करता रहूँ, परन्तु इन्द्रियों के स्वाभाविक धर्म का निरोध नहीं होगा। भले ही किंचित् काल के लिए अवरुद्ध किया जा सकता है, परन्तु पुनः किसी कर्म के लिए इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इन तृप्तियों से भी जगत् से अधूरा ही जाना पड़ेगा।

अब रही विज्ञान की बात, मेरी दृष्टि से तो प्रतीत होता है कि विज्ञान से भी अधूरा जाना पड़ेगा। मेरे जो संस्कार या विचार युवावस्था में बने हुए थे वे

अब भी विद्यमान हैं भले ही उनको कुछ काल के लिए जबर्दस्ती रोक लिया जाए। जैसे कि कोई जल के प्रवाह को किसी वस्तु आदि से रोक देता है किन्तु जहाँ भी उस जल को थोड़ा अवसर मिलेगा, वह तुरन्त उस बाँध को तोड़कर निकल जाएगा। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरण में जो कर्मों का स्वाभाविक स्रोत बना हुआ है यह स्रोत अनादि काल से चला आ रहा है। सृष्टि के आरम्भ से अन्तःकरण में संस्कारों का प्रवाह हमारे जीवन और शरीर के साथ ऐसा सम्बन्ध बना हुआ है कि उसका अन्त सृष्टि की प्रलय में ही जाकर होगा। जहाँ से इन कर्मों का प्रादुर्भाव हुआ था फिर उसी प्रकृति में जाकर लीन होगा। बीच में इस स्रोत को रोका नहीं जा सकता है और न वैराग्य से रुकता है न ज्ञान से ही। मैं अभी भी दर्शनों का मनन करता रहता हूँ और बहुत बातें कहता रहता हूँ। प्राचीन, अर्वाचीन दार्शनिक भी कह गए हैं—'प्रवृत्त्यात्मक स्रोत का निरुद्ध करना ही चाहिए' परन्तु स्रोत रुकता नहीं है। यदि एक तरफ बाँधते हैं तो दूसरी ओर बह निकलता है। यदि विचारों के द्वारा कुछ इन्द्रियों को भोगों से रोकता हूँ तो अन्य इन्द्रियाँ जाग्रत होकर भोग में प्रवृत्त हो जाती हैं। यदि एक-दो की बात होती तो रोका भी जा सकता था, किन्तु यहाँ तो दस इन्द्रियाँ हैं। पैर को गमनागमन करना ही है। हाथ को हिल-डुलकर कार्य करना ही है, आँख रूप को दिखाती ही हैं और बुद्धि निर्णय कराती ही रहती है। तो किसी कर्म का अभाव देखने में नहीं आता है। यह तो स्वाभाविक ही प्रभाव है। इसको रोकने के निमित्त ऋषियों, मुनियों, ज्ञानियों, शास्त्रों और वेदों ने बड़े प्रयत्न किए परन्तु सब असफल ही हुए। इन सब बातों से यही विदित होता हैं कि इस प्रकार जीवन पर्यन्त निरन्तर चलते रहेंगे। यदि यह भी निश्चय करके प्रकृति पर छोड़ दिया जाए तो उसको भी आप मुक्ति समझ लें अथवा जो समझ लें। आपको एक निश्चय करना होगा कि ये स्वभाव से चल रहे हैं। शरीर उत्पन्न हुआ था और कुछ काल के पश्चात् इसका विनाश भी होना ही है। जो संस्कार आये थे वे भोग देकर चले गए अर्थात् समाप्त हो गए। जगत् का यही क्रम है।

आजकल रेशम के कीड़ों को पालने का समय है। शहतूत के वृक्षों पर लगे हुए घने तथा कोमल पत्तों को काटकर उन कीड़ों को खिलाया जाता है। रेशम के कीड़े उन पत्तों को खाकर लेस जैसा तार निकालकर अपने ऊपर ही लपेटते रहते हैं। यदि आप चाहें कि उस धागे को वैसा ही उतार लें तो उतारना असम्भव होगा। अतः पानी में उबाल कर उस धागे को निकाला जाता है। जब उबलते पानी में कीड़े को डाला जाता है तब कीड़े मर जाते हैं। तो कहने का तात्पर्य यह है कि रेशम का कीड़ा स्वयं ही अपने बन्धन का निर्माण करता है। जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ कि धागे निकालकर अपने ऊपर लपेटता है और उसके परिणामस्वरूप उसे मृत्यु का ग्रास बनना पड़ता है। ठीक यही गति

हमारी भी होती है। हम भी अपने बन्धन को संस्कारों के आधार पर स्वयं ही निर्माण करते हैं। जैसे-जैसे कर्म करते हैं वैसे-वैसे बन्धन भी बनते जाते हैं। बिना कर्म के भी हम रह नहीं सकते हैं। जैसा कि गीता में एक श्लोक आया है—'न जातुक्षण पाय तिष्ठति कर्म कृत'—अर्थात् मानव बिना कर्म किए एक क्षण भी नहीं रह सकता है। इन कर्मों के द्वारा ही हम रेशम के कीड़ों की भाँति बँध जाते हैं और स्वयं ही इससे मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। अब बताइए कि इसमें गुरु, माता-पिता और भगवान की क्या आवश्यकता है ? यदि वास्तव में देखा जाए तो न संसार में बन्धन है, न मोक्ष है। यदि आप बन्धन मानते हैं तब तो मोक्ष भी है और यदि बन्धन नहीं मानते हैं तो मोक्ष भी नहीं है। बन्धन के विपरीत ही तो मोक्ष है। यदि यह बात आपको स्पष्ट हो जाएगी कि जिसको आप वन्धन मानते हैं वह बलात् कर्मों के आधार पर बँधा हुआ है। ये कर्म-संस्कार सदा चित्त में ही रहते हैं। इनका क्षय या विनाश नहीं होता है। स्वयं मनुष्य जन्म धारण करके माता के गर्भ में कर्म करता चला जाता है और स्वयं को वाँधता चला जाता है। यदि इन कर्मों को बन्धन समझा जाए तब तो बन्धन है और बन्धन न समझा जाए तो बन्धन नाम की कोई वस्तु नहीं है। ये दो बातें समझने की हैं। शरीर तो कर्म करने के लिए ही मिला है और क्षुधा, पिपासा आदि इसका स्वाभाविक धर्म ही है। बिना कर्म के यह ठहर नहीं सकता। हठपूर्वक अपने आप विचार आते रहते हैं या दूसरों से जो विचार मिलता है उसके आधार पर कर्म करते जाते हैं। अतः कर्म करते चले जाइए और उस कर्म को बन्धन का हेतु नहीं समझिए। भगवान् भी तो आपकी दृष्टि में कर्म कर रहा है। उदाहरणार्थ—पृथ्वी, सूर्य और समस्त ब्रह्माण्ड को चला रहा है, फिर भी वह आकर हमसे यह नहीं कहता कि मैं बँधा हुआ हूँ और मुझे इससे मुक्त करा दो। तो कहने का अभिप्राय यह है कि आप भी भगवान् के समान अपने कर्म को करते चले जायें, उन कर्मों को अपने बन्धन का हेतु न समझें।

हाँ, तो अब आपको अभ्यास प्रारम्भ करना है तो आज के अभ्यास में आप सब क्या करेंगे ? पंचभूतों से आपका शरीर निर्मित हुआ है। तो सर्वप्रथम आप सब ये देखें कि इसमें पृथ्वी का अंश कौन-सा है ? यह किसके आश्रित है ? पृथ्वी के भाग तो इसमें स्थूल हड्डियाँ, मांस आदि हैं। यह पृथ्वी का भाग संघात भाव को प्राप्त होकर इस शरीर में किसके आश्रय ठहरा हुआ है ? जब आप उसकी खोज करेंगे तो विदित होगा कि यह जल द्वारा संघात हुआ है। जल के भाग ने पृथ्वी के भाग को जोड़कर ठोस बना दिया है। अन्यथा पृथ्वी परमाणुओं या अणुओं के रूप में विखरी हुई रहती। अब यहाँ दो वस्तुएँ हो गयी हैं—एक पृथ्वी और दूसरा जल। जल का भाग इस शरीर में रक्त, रस, मूत्र, रज, वीर्य, मेद, मज्जा आदि के रूप में है, जो पृथ्वी के परमाणुओं या भाग को जोड़ती हैं। परन्तु इनसे संतुष्टि

नहीं होगी। शरीर में जो उष्णता है, उसका कार्य यह है कि हम जो भोजन करते हैं उसे पकाना और फिर वह भोजन परिपाक भाव को प्राप्त होकर शरीर का भाग बनता है। इसी से रस, रुधिर, मूत्र, रज, वीर्य आदि बनते हैं। तो इनमें एक तीसरी और वस्तु माननी होगी। आपको पृथ्वी तत्त्व में भी भगवान् की प्रतीति नहीं हुई इसके लिए तो जल ही भगवान् बन गया, क्योंकि जल ने संघात किया और दोनों मिल गए; परन्तु यहाँ भी आत्मा-परमात्मा की बात समझ में नहीं आयी। जल के पश्चात् उष्णता के द्वारा अन्न आदि पाक धर्म को प्राप्त होकर पृथ्वी, अस्थि, मांस आदि के रूप में परिवर्तित हो गई और जल, मूत्र, रुधिर आदि के रूप में परिवर्तित हो गया। यहाँ भी हमारे विज्ञान की समाप्ति नहीं हुई। फिर भी हम देखते हैं कि शरीर में श्वास-प्रश्वास चल रहा है जो जीवन का आधार बना हुआ है। इसी के आधार पर शरीर कार्यरत है। यहाँ भी आत्मा-परमात्मा की कोई प्रतीति नहीं होती है। जब हम और इससे आगे पहुँचते हैं तो देखते हैं कि ये चारों (जल, पृथ्वी, वायु और अग्नि) मिलकर भी गमन नहीं कर सकते जब तक कि इसमें आकाश नहीं होगा। तो फिर ये चारों मिलकर आकाश के आश्रय रहेंगे। आप आकाश को प्रत्यक्ष देख रहे हैं। इस आकाश के सदृश ही आप आत्मा या परमात्मा को समझ लीजिए। जब आप यहाँ आकाश तक पहुँच जायेंगे तब कहीं जाकर ब्रह्म और स्वयं की तुलना कर सकेंगे। अब भगवान् रूप आकाश और यह भौतिक आकाश में क्या अन्तर है, इसकी खोज अब आप आगे कर सकेंगे। यही है विज्ञान का क्रम जिसके आधार पर आपको आज साधना करनी है, और आत्मा-परमात्मा की खोज करनी है। आज आप सब इसी विज्ञान के द्वारा अपनी साधना प्रारम्भ करें।

व्याख्यान-७३

ब्रह्मरन्ध्र की ज्योतियों द्वारा पदार्थों के दर्शन ।

ओ३म्—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
यजुर्वेद ३४-१ ।।

आज का प्रसंग ब्रह्मरन्ध्र की दिव्यज्योतियों के विषय में है । हम साधना-काल में ज्योति को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। पतञ्जलि महर्षि ने भी ज्योतियों को ही अधिक महत्त्व दिया है—"विशोका वा ज्योतिष्मती" योग १-३६ ।। ऐसा कहा है । इसके पश्चात् एक सूत्र और है "तज्जयात्प्रज्ञालोकः" योग-३-५ ।। इस सूत्र में भी आलोक शब्द आया है। "तत्र ऋतम्भरा प्रज्ञा" योग-१-४८ ।। अर्थात् यह ज्योति सत्यज्ञान को कराने वाली होती है । वास्तव में यह चेतन के समीपवर्ती ही होती है। विशोका ज्योतिष्मती का निवास भ्रू-मध्य में होता है और प्रज्ञालोक मस्तिष्क में होती है । ऋतम्भरा ब्रह्मरन्ध्र में होती है । इन तीनों के तीन भिन्न-भिन्न स्थान हैं । ऋतम्भरा में भी आलोक की आवश्यकता रहती है ।

भास्वर, ओजस् और चाक्षुष यह तीन ज्योतियाँ भौतिक मानी जाती हैं। जैसे नेत्र खुले हुए हैं, अभ्यासी किसी भी पदार्थ का चिन्तन कर रहा हो, उस समय ज्योति का प्रकाश बना रहता है। जब अभ्यासी नेत्र बन्द करता है तो वही प्रकाश अन्दर चक्कर काटने लगता है क्योंकि देखने की जो शक्ति थी वह बाहर नहीं निकली । आँखें बन्द रहने के कारण वह ज्योति सामने चक्कर काटती प्रतीत होती है । इसे ही चाक्षुष प्रकाश या चाक्षुष ज्योति के नाम से संबोधित किया जाता है। जब तिरछा-सा प्रकाश ब्रह्मरन्ध्र में सामने आता है, तब वह सम्पूर्ण ब्रह्मरन्ध्र को प्रकाशित-सा कर देता है ।

भास्वर ज्योति का सम्बन्ध मन और इन्द्रियों से रहता है । इनके क्षेत्र में इस प्रकाश का विशेष महत्त्व होता है । इसके ऊपरी क्षेत्र में ओजस् ज्योति रहती है। मन भी भास्वर है अतः इसको भी 'ज्योतिषां' ज्योति कहा है । मन प्रकाशमान है और भास्वर ज्योति से ही विशेष प्रकाशित होता है । अग्नि का सात्त्विक भाव ब्रह्मरन्ध्र में रहता है । सत्त्व का प्रकाश मध्यम-सा व कोमल-सा होता है ।

और यह आह्लाद के लिए होता है। यह शौर्य, बल, चमक को लिए हुए होता है। इनमें भी अन्तर होता है। जब आप ब्रह्मरन्ध्र का अध्ययन करेंगे तब आप को इन बातों का ज्ञान होगा। आजकल मेरा मन, मेरी बुद्धि इस विज्ञान में ही रमण करती रहती है, क्योंकि कहा है—"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" अर्थात् इस शरीर में समस्त विश्व का अंश है।

सर्वप्रथम हमारा सम्बन्ध अपने शरीर से ही है और परमात्मा का सम्बन्ध इस ब्रह्माण्ड से है। यदि यह विज्ञान आकलन में आ जाता है तो फिर विश्व का और परमात्मा का विज्ञान समझने में विलम्ब नहीं होगा क्योंकि विश्व या ब्रह्माण्ड का विज्ञान इसके साथ ही मिला-जुला है। तेज भी आकाश-मण्डल में व्याप्त है। जल भी समस्त विश्व के कण-कण में व्याप्त है। इसी प्रकार पृथ्वी भी परमाणु रूप से आकाश-मण्डल में व्याप्त रहती है। द्वयणुक, त्रयणुक, चतुश्रेणुक आदि गमनागमन करते हैं। जितने भी भूत हैं उनके समस्त परमाणु इस शरीर में ओत-प्रोत हैं। इनका गमनागमन रूप व्यापार या धर्म शरीर के साथ रहता है। हमारा शरीर केवल खाद्य, पेय पदार्थों से ही जीवित नहीं है। इन भौतिक त्रसरेणु, चतुश्रेणु का भी सम्बन्ध हमारे शरीर के साथ बना रहता है। और शरीर से भी त्रसरेणु, चतुश्रेणु निकलकर आकाश-मण्डल में जाते हैं। स्वेद के रूप में, गंध के रूप में, उष्णता के रूप में निकलकर आकाश-मण्डल में व्याप्त होते रहते हैं। आप अन्नादि खाते हैं अतः इसी आहार का आपको ज्ञान है, किन्तु उस आहार का आपको पूर्ण ज्ञान नहीं है। यदि विज्ञान की दृष्टि से देखेंगे तो आपको विदित होगा कि बाहर के आहार का पंचभूतों के साथ में गमनागमन बना रहता है।

ब्रह्मरन्ध्र में बुद्धि की ज्योति का सम्बन्ध सूर्य के साथ समझना चाहिए, क्योंकि बुद्धि की उत्पत्ति रजःप्रधान महत्तत्व से होती है। रजस् का स्वाभाविक धर्म पीत-वर्ण अथवा स्वर्ण-वर्ण के सदृश होता है। सूर्य के प्रकाश में भी कुछ अन्तर हो जाता है। जैसे अब हम यहाँ बैठे हैं। इस मकान के बाहर और भीतर भी सूर्य का प्रकाश है। जब हम सूर्य को सामने देखने लगते हैं, तब उसका प्रकाश और तेज अधिक तीव्र दीखता है। इसी प्रकार बुद्धि के प्रकाशों का और उसके रूपों का भी भीतर परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक और परिवर्तनशील है। यहाँ जो "ज्योतिषां ज्योति"—कहा गया है, इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर्य की अपेक्षा भगवान अधिक प्रकाशवान् है। इसका भावार्थ यह है कि सूर्य का आधार है, नियन्ता है, संचालक है और प्रेरक है। उसी चेतन सत्ता के आश्रय पर आश्रित है जब ज्योतियों की भाँति उसकी उपमा दे दी जाती है। "चन्द्रमा मन सो जातः"—ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई है, अतः केवल चन्द्रमा के समान इसका रूप माना है।

बहुत-से आचार्यों ने विश्व को भगवान् का शरीर माना है। यह तो अपनी-

अपनी समझ और बुद्धि-विकास की बात है। विश्व रूपी परमात्मा के शरीर में यह कल्पना की गई है कि प्रकृति-परमात्मा का कारण शरीर है। जब प्रकृति महत्तत्व के रूप में परिणत होती है तब साम्यावस्था में शरीर, शरीरी भाव का कोई भोग नहीं बनता है, और यदि परमात्मा का भी भोग माना जाय तो भी बात बनती नहीं है। साम्यावस्था में किसी प्रकार का विकार विशेष या कार्य विशेष नहीं होता। सत्त्व, रज, तम समान भाव होकर सूक्ष्मावस्था में रहते हैं। इनका जो परिणाम विभेद या विकार है वह भोग के लिए प्रारम्भ होता है। महत्तत्व को ज्ञान-प्रधान ही मानते हैं। प्रकृति का सर्वप्रथम परिणाम विशेष ज्ञान के रूप में ही हुआ है। कई आचार्यों ने परमात्मा में ज्ञान रूप गुण माना है। किन्तु हम ज्ञान को परमात्मा का गुण नहीं मानते हैं। हाँ, वह ज्ञान रूप है ऐसा मानते हैं। गति को हम परमात्मा का गुण नहीं मानते हैं; क्योंकि वह स्वयं गति का हेतु और निमित्त कारण है, सर्वत्र उसकी शक्ति या स्वरूप व्याप्त है। वह प्रकृति को धक्का देने में समर्थ है। प्रकृति उसके भीतर स्वयं नाचने लगती है। आपने चुम्बक पत्थर देखा होगा, उसके समक्ष रखी हुई सुई दूर से ही नाचने लगती है। अब आप इसमें चुम्बक पत्थर की विशेषता समझें या सुई की समझें इसका निर्णय हम नहीं कर सकते। इसी प्रकार आप कुछ क्षण के लिए परमात्मा को भी चुम्बक पत्थर ही समझ लें। भगवान् की शक्ति को उससे भिन्न मानें या अभिन्न, इस विषय में भी आचार्यों के बहुत मतभेद हैं क्योंकि बुद्धि तो छोटी है और विषय बड़ा गहन है। तो फिर कैसे निर्णय कर सकती है? जैसे—एक हाथी है और उस हाथी को अन्धों के बीच ले जाया जाय और उनसे हाथी का स्वरूप कैसा है पूछा जाय, तो वे बेचारे हाथी के स्वरूप का कैसे वर्णन करेंगे; क्योंकि उनके पास नेत्र का अभाव है। अब वे नेत्र के अभाव में स्पर्श से काम लेंगे। स्पर्श के द्वारा उन्हें जो अनुभव होगा उसी को हाथी का स्वरूप बतायेंगे। ठीक इसी प्रकार इस विश्व का ज्ञान भी अनन्त है और जो अन्वेषक या दार्शनिक हैं वे अन्धों के सदृश हैं। जैसे कि एक अन्धे ने हाथी की सूंड को स्पर्श किया तो उसने कहा कि हाथी वृक्ष के समान है। जिसने कान को स्पर्श किया उसने कहा कि हाथी छाज के समान है। यही बात इस ब्रह्माण्ड और ईश्वर के साथ भी है।

किसी आचार्य ने आत्मा को अल्पज्ञ कहा है। किन्तु हम अल्पज्ञ का अर्थ यद्किञ्चित् या अल्पज्ञान कहेंगे। जिन्होंने अल्पज्ञ कहा है उन्होंने आत्मा को अणु माना है। अणु में अणु ही तो ज्ञान होगा। 'अल्प' थोड़े को कहते हैं 'ज्ञ' ज्ञान को कहते हैं। 'ज्ञ' अवबोधने धातु से ज्ञान शब्द सिद्ध होता है। तो यहाँ अल्पज्ञ का अर्थ हुआ थोड़ा ज्ञान। भगवान् बहुत विशाल एवं महान् है। अतः उसमें बहुत बड़ा ज्ञान समाया हुआ है। अतएव उसके विषय में हम थोड़ा ही समझ पाते हैं, किन्तु इस थोड़े ज्ञान का बहुत अभिमान करते हैं। जब मैं अपने विज्ञान की तुलना अन्य

विद्वानों या दार्शनिकों के साथ करता हूँ तो मुझ में भी अभिमान की मात्रा बढ़-सी जाती है कि मैं उनसे अच्छा समझा हूँ। यद्यपि पतञ्जलि हर्षि भी बहुत विद्वान् थे और उन्हीं से मुझे प्रेरणा भी मिली है। उनके प्रति मेरे हृदय में अनन्य भक्ति है। परन्तु मुझ में कुछ ऐसी तार्किक बुद्धि जाग्रत हो चुकी है और निर्णयात्मक बुद्धि की वृद्धि हो गयी है कि पतञ्जलि के विज्ञान में भी बहुत-से दोष दृष्टिगोचर होते हैं। उनके बहुत-से सूत्रों में दोष या भ्रान्तियाँ दिखायी देती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वथा अभिमान का अभाव नहीं होता है। जब तक जीवन है तब तक साथ रहेगा। "ममेदम् और अहमस्मि" यह तो मरण-पर्यन्त बना ही रहेगा। जब अन्यों से तुलना करते हैं तो अहंता का अभाव देखने में नहीं आता। यह तो स्वाभाविक-सा बन गया है। मनुष्य में अहंता-ममता की वृत्ति स्वाभाविक सी बनी है। ममता का अभिप्राय हमारा शरीर से है। यहाँ पर जो मैं की भावना होती है वह भी तो अभिमान ही है। अच्छी वस्तु, अच्छी बात मुझे प्रिय लगती है और इससे 'ममेदम्' की भावना जाती ही नहीं है। न जाने लोग कैसे कह देते हैं कि अभिमान का विनाश हो जाता है। मुझे तो इनकी बात समझ में नहीं आती है। यह अभिमान नष्ट होने वाली वस्तु ही नहीं है। हाँ, तनु तो बनाया जा सकता है। प्रसुप्त तो किसी काल में जाकर बनेगा, परन्तु अभ्यास के द्वारा तनु अवश्य हो जायेगा। साधना काल में विच्छिन्न होता रहता है। जैसे कि हम लोग विच्छिन्न करने में लगे हुए हैं। हमारे जीवन के जितने उदार कर्म हैं उनके संस्कार को हम ध्यान के द्वारा विच्छिन्न करते रहते हैं। जो विरोधी संस्कार हैं उनको हम दुःख का हेतु समझते हैं। वास्तव में यह हमारी अज्ञानता ही है। विरोधी कोई संस्कार नहीं है अपेक्षाकृत विरोधी कहे जा सकते हैं, परन्तु विरोधी संस्कार को मैं पहले अच्छा समझता था और अब उन्हीं को बुरा समझता हूँ। मैं भी तो ऐसे ही मूर्खों के समुदाय में रहा हूँ। कई वर्षों तक तो ऐसी भावना बनी रही कि बिना यज्ञादि कर्म किये भोजन नहीं करता था। मनुष्य ने अपनी प्रसन्नता और शरीर-रक्षा के लिए ऐसी-ऐसी धारणायें बनायी हुई हैं। अतः इसको भी बड़ा महत्त्व दे दिया है। इसके विषय में बहुत बड़ा मीमांसा दर्शन लिख दिया है और कह दिया है कि यज्ञ से ही तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी।

परमात्मा के शरीर की बात चल रही थी। उसके शरीर की कल्पना की और प्रकृति तृत्त्व भाव को प्राप्त हुई तो त्रिगुणात्मक महत्तत्व से बुद्धि की उत्पत्ति हुई। इस महत्तत्व को ही बुद्धि का उपादान कारण माना है, फिर तम् अहंकार रूपी हुआ। इस शरीर में भी सत्त्व-प्रधान अहंकार से मन की उत्पत्ति मानी गयी है। जिस समय सूक्ष्म शरीर की रचना हो रही थी उस काल में अहंकार तीन प्रकार का था। सत्त्व-प्रधान अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। ज्ञानेन्द्रियों और मन में थोड़ा-सा अन्तर रह गया है। ज्ञानेन्द्रियाँ रूप को दिखाती हैं, शब्द को

सुनाती हैं, स्पर्श की प्रतीति होती है। मन इन्द्रियों का भाई जैसा है। परन्तु यह ज्येष्ठ भाई है क्योंकि यह पहले उत्पन्न हुआ है। इसलिए यह उनका सहकारी होकर उनकी शक्ति बढ़ा देता है। इसका धर्म जोड़ना और हटाना है। यदि कोई संदेशा इन्द्रियों को मिल जाता है तो उसको यह बुद्धि के पास पहुँचा देता है। यह एक प्रकार से चपरासी का काम करता है। जैसे—चपरासी पत्रियाँ ले आता और ले जाता है, किन्तु जानता कुछ नहीं है। इसका धर्म संकल्प और विकल्प है। संकल्प का अर्थ है पकड़ लेना और विकल्प का अर्थ है उसको पहुँचा देना। मन की एक और विशेषता है कि वह इन्द्रियों के साथ लग जाता है या जुड़ जाता है। जिसके साथ लग जाता है उसको सबल तथा शक्तिशाली बना देता है। मन के सहारे इन्द्रियाँ दूर की वस्तुओं को देखती हैं और दूर-दूर के शब्दों को सुनती हैं। और भीतर के पदार्थों को भी दिखाती हैं। यदि आप किसी पदार्थ को निर्भ्रान्त रूप से देखना चाहते हैं तो इन तीन मुद्राओं के द्वारा ठीक वैसा ही प्रत्यक्ष दर्शन कर सकेंगे और वह वैसा ही वहाँ दृष्टिगोचर होगा।

ज्योति के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार के विषय में हम कई उपदेश दे चुके हैं। अब आगे पुनः उसी पर विचार-विमर्श किया जायेगा और भिन्न-भिन्न साधन भी बताए जायेंगे कि किस प्रकार ज्योतियों को आधार बनाकर उसको देख सकते हैं। हम भगवान् को नेत्रों से प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं। जैसे कि मैं आप सबको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।

व्याख्यान-७४

मन बुद्धि की ज्योतियों से आत्म-प्रत्यक्ष।

ओ३म्—त्वंहिनः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधाते सुम्नमीमहे ।। अथर्ववेद २०-१०८-२ ।।

इस जगत् में दो प्रकार का विज्ञान देखने में आता है। एक तो इन्द्रियजन्य जिसे सभी इन्द्रियाँ दिखाती हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय होता है उसी विषय को वह प्रत्यक्ष कराती है। जैसे—स्पर्शेन्द्रिय प्रत्येक पदार्थ के स्पर्श का ज्ञान कराती है। यदि कोई व्यक्ति आँखें वन्द करके भी किसी पदार्थ को स्पर्श करता है तो उसे स्पर्श के द्वारा भी ज्ञान हो जाता है कि यह लकड़ी, लोहा, तरल अथवा ठोस है, शीत अथवा उष्ण है इत्यादि बातों का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार कर्णेन्द्रिय भी है। जिन पदार्थों का वर्णन शब्द के द्वारा करते हैं उसका ज्ञान शब्द के द्वारा ही हो जाता है। नेत्रेन्द्रिय जगत् के सभी रूपवान् पदार्थों का प्रत्यक्ष करा देती है। उन पदार्थों के रूपों को वता देती है। रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। जगत् में जितने भी पदार्थ हैं सबका अपना भिन्न-भिन्न स्वरूप है। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय है। समस्त रसयुक्त पदार्थों का ज्ञान करा देती है। मुख्यतः छः प्रकार के रस वैद्य लोग वताते हैं, परन्तु वे भी अनेक प्रकार के बन जाते हैं। जैसे—मीठा है, उसके अनेक प्रकार हो जाते हैं और खट्टे में भी अनेक प्रकार के रस हो जाते हैं। जैसे—इमली, नीम्वू, आम, संतरा इत्यादि। इनके रसों में भिन्नता है। इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय है। घ्राणेन्द्रिय के द्वारा समस्त पदार्थों के गन्धों का ज्ञान होता है। इसके द्वारा भी पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। गन्ध भी अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—गुलाव, केवड़ा, चमेली इत्यादि। इनके गन्धों में भी भिन्नता होती है। इस प्रकार कर्मेन्द्रियों के बहुत कार्य हो जाते हैं। यह सब इन्द्रियजन्य ज्ञान हैं।

दूसरा ज्ञान है बुद्धिजन्य। इसमें बुद्धि द्वारा पदार्थों का निर्णय किया जाता है। जैसे—आत्मा है इसको इन्द्रियाँ नहीं बता सकतीं। यदि यह इन्द्रिय का विषय होता तब तो आप सबने देख लिया होता, परख लिया होता, जान लिया होता। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। इसी प्रकार जगत् के उपादान कारण प्रकृति हो या परमाणु आदि ही हों, परन्तु इनका भी

प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता है। इनको आँखें बताने में असमर्थ हैं किन्तु जब कोई पदार्थ है तो उसका स्वरूप भी कुछ न कुछ होना चाहिए और उसका ज्ञान भी होना चाहिए। "लक्षण प्रमाणाभ्यां वस्तु सिद्धि"—अर्थात् लक्षण और प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है। आत्मा-परमात्मा और प्रकृति की तो बात ही छोड़ दीजिए, किन्तु जो हमारे शरीर के भीतर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं ये भी दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। ये सब जितने भी सूक्ष्म पदार्थ हैं इन सबका ज्ञान बुद्धि के द्वारा ही सम्भव है अर्थात् यह सब बुद्धि के विषय हैं।

कोई मूर्ति को ही भगवान् मान बैठे हैं, कोई मन्दिर तो कोई मस्जिद में, कोई चर्च तो कोई गुरुद्वारे में, अर्थात् जिसकी जैसी इच्छा हुई अपनी इच्छानुसार भगवान् को मान बैठे हैं। परन्तु ये सब बातें तो इन्द्रियजन्य हैं। बुद्धि की वात नहीं है। अतः तत्त्वदर्शियों ने आत्मा और परमात्मा को बुद्धिजन्य माना है। बुद्धि के द्वारा ही आत्म और ब्रह्मज्ञान सम्भव हो सकता है। आशय यह है कि जो पदार्थ इन्द्रियगम्य नहीं हैं, वे पदार्थ बुद्धिगम्य बन जाते हैं।

पिछले कई दिनों से शरीरस्थ प्राण को माध्यम बनाकर परमात्मा का साक्षात्कार करने की विधि बताई गई थी। क्योंकि केवल श्वास ही प्राण नहीं है। यदि कुछ काल के लिए नाक को बन्द करके श्वास को रोक दिया जाए तो भी भीतर प्राण कार्य करता रहता है।

हाँ, प्राण के द्वारा आत्मा-परमात्मा को साक्षात्कार करने की बात चल रही थी, परन्तु प्राण के द्वारा भी तभी प्रत्यक्ष होगा जब उसके साथ बुद्धि का सम्बन्ध होगा। जैसे—आँख के साथ बुद्धि का सम्बन्ध है तभी तो किसी रूपवान् पदार्थ को देखकर निर्णय करते हैं कि वह रूप ऐसा है। इसी प्रकार प्राण के साथ जब बुद्धि का सम्बन्ध होगा तब ही आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार होगा।

जब हम प्राण को माध्यम बनाते हैं तो आँख को भी माध्यम बना सकते हैं। जैसे प्राण जड़ है वैसे ही आँख भी जड़ है। यदि हाथ के साथ बुद्धि का सम्बन्ध न हो तो हाथ भी स्पर्श को नहीं बतला सकता। सामान्यतया ज्ञान के लिए आँख ठीक है, वह स्वरूप को बता देगी। परन्तु जब हम उस रूप को विभेद करेंगे तो वह विवेचनात्मक धर्म आँख का नहीं होगा वरन् बुद्धि का होगा। यद्यपि बुद्धि भी जड़ है तथापि बुद्धि में ज्ञान सन्निहित रहता है। आँख भी पदार्थों को दिखाती है। परन्तु जिन-जिन पदार्थों को आँख नहीं दिखा सकती उनके स्वरूपों का ज्ञान बुद्धि ही कराती है जैसे—आँख करण है वैसे ही बुद्धि भी एक प्रकार का करण है। दर्शन का या ज्ञान का जो विषय है उनके द्वारा—"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् व्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" (न्याय० १-१-४) कहा है। अर्थात् बुद्धि और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। वह अव्यभिचारी या भ्रान्तिआत्मक ज्ञान नहीं है वह तो यथार्थ ज्ञान है। जैसे—

कपड़े सूख रहे हैं और दूर से उनको बकरी या अन्य कुछ समझ लें, या बकरी को वस्त्र समझ लें, ऐसी भ्रान्ति न हो। अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों और बुद्धि का सन्निकर्ष बनाते हैं वैसे ही परमात्मा के साथ भी तो बना सकते हैं क्योंकि परमात्मा भी तो एक पदार्थ ही है।

आपको मैंने पिछले उपदेशों में तीन प्रकार की मुद्राएँ बताई थीं। शक्ति-संचालिनी, शाम्भवी और उन्मनी मुद्रा। कई दिनों तक मैं इन मुद्राओं के द्वारा अभ्यास भी कराता रहा था। अब पुनः इन मुद्राओं के द्वारा अपने भीतर आत्मा-परमात्मा का अन्वेषण करें। आप परमात्मा को रूपवान् समझते हैं इसलिए कि परमात्मा भी एक पदार्थ ही है और जो पदार्थ होता है उसका कोई न कोई रूप अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि उसके रूप से अन्य किसी रूप की तुलना नहीं की जा सकती परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि परमात्मा का कोई रूप ही नहीं है। भगवान् के लिए "ज्योतिषाम् ज्योति" कहा गया है। जब उसे ज्योतियों की भी ज्योति कहा गया है उसके लिए ज्योति की उपमा दी गई है, तो फिर उसे ज्योति के रूप में देखा जा सकता है, समझा जा सकता है। मैंने इन्द्रिय, मन और बुद्धि को भी ज्योति रूप में ही बताया था क्योंकि ऐसा कहा है— "प्रकाश कारणानी इन्द्रियाणी" अर्थात् इन्द्रिय प्रकाशात्मक हैं और प्रत्येक वस्तु की प्रकाशक हैं।

हम प्रकाश के द्वारा आत्मा-परमात्मा को प्रत्यक्ष करना चाहते हैं। जैसे आपकी आँखें खुली हुई हैं और बाह्य पदार्थों को दिखा रही हैं। वैसे ही इस दृष्टि को भीतर मोड़कर मस्तिष्क, हृदय या मूलाधाराभिमुख कर लें। मैंने आपको यह भी बताया था कि ज्योति के लिए तीन मुख्य केन्द्र हैं, मूलाधार, हृदय और मस्तिष्क। इन स्थानों में ज्योति शीघ्र प्रकट हो जाती है। जैसे—एक लोहे, एक तांबे और एक शीशे की प्लेट हैं। जो शीशे की प्लेट है वह शीघ्र ही वस्तु को दिखा देगी, किन्तु लोहे आदि की प्लेटें नहीं दिखायेंगी। ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर के भीतर तीन प्लेटें लगी हुई हैं जिनमें पारदर्शिता हैं। यों तो इन्द्रियों में भी साधना के द्वारा पारदर्शिता आ जाती है। जब योगी की बुद्धि उज्ज्वल और सूक्ष्म हो जाती है और संयम बढ़ जाता है तब वह दूर देश की वस्तु को देखकर उसके रूप आदि को बता देता है कि उसका अमुक रूप है, अमुक आकार-प्रकार है। इन्द्रियाँ भी साधना और दीर्घाभ्यास के द्वारा दिव्य बन जाती हैं। जब योगी को अभ्यास में विशेष प्रगति होती है तब वह दूर देश के शब्दों का श्रवण तथा पदार्थों का दर्शन, स्पर्शन आदि कर लेता है। ये एक प्रकार से इन्द्रियजन्य सिद्धियाँ कहलाती हैं।

योगी को अधिकाधिक अभ्यास करने की इच्छा होनी चाहिए। केवल दैनिक दो घण्टे अभ्यास में आँख मूंदकर बैठ जाने से भगवान् को देखा जाना सम्भव नहीं है। दिन के २४ घंटों में से २२ घंटे तो हम सब सांसारिक कार्यों में व्यतीत करते

हैं। जिसके लिए घर-बार तथा सब कार्यों को छोड़कर यहाँ आये हैं उसके लिए दो ही घंटे व्यतीत करते हैं तो फिर कैसे भगवान् का दर्शन होगा ? अतः कम से कम दिन का एक चौथाई भाग तो अवश्य ही उसके लिए व्यतीत करना चाहिए तब तो कुछ प्राप्ति होगी अन्यथा असम्भव है ।

यहाँ मैं आपको अपने विषय में थोड़ा विदित करा देना चाहता हूँ कि आज से कुछ वर्ष पूर्व मेरा जीवन कैसा था ? जब मैं युवावस्था का था तो रात्रि के १ बजे उठ जाता और शौच, स्नान आदि से निवृत्त होकर अभ्यास के लिए बैठ जाता था। १८-१८ घण्टे तक अभ्यास के लिए बैठता था। उस समय तो मेरा कोई गुरु भी नहीं था और न कोई समझाने वाला या पथप्रदर्शक ही था। जब आप भी श्रद्धा, भक्ति तथा दृढ़विश्वास के साथ अभ्यास में बैठेंगे तो फिर आपको प्रतीत होगा कि आपके भीतर से कैसी प्रतिभा जागृत होती है और मस्तिष्क का विकास होता है। बुद्धि सूक्ष्मदर्शिका बन जायेगी।

मैं कह रहा था मुद्राओं के विषय में। यह जो नेत्र की दृष्टि है इसको उन्मनी, शाम्भवी या शक्तिसंचालिनी मुद्रा के द्वार भीतर की ओर मोड़ दें। जैसे यह ज्योति बाहर की वस्तुओं को दिखाती है ऐसे ही भीतर के पदार्थों को भी दिखायेगी। यदि आप किसी पदार्थ को निर्भ्रान्त रूप से देखना चाहते हैं तो इन तीन मुद्राओं के द्वारा ठीक वैसा ही प्रत्यक्ष-दर्शन कर सकेंगे और वह वैसा ही वहाँ दृष्टि में आने लगेंगी।

ज्योति के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार के विषय में हम कई उपदेश दे चुके हैं। अब आगे पुनः उस पर विचार-विमर्श किया जायेगा और भिन्न-भिन्न साधन भी बताये जायेंगे कि किस प्रकार ज्योतियों को आधार बनाकर उसको देख सकते हैं। हम भगवान् को नेत्रों से प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं जैसे कि मैं आप सबको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। ज्योतियों के विषय में आगे और प्रकाश डाला जायेगा।

आज आपको अभ्यास में क्या करना है थोड़ी इस विषय पर चर्चा करूंगा। आज के अभ्यास में या तो आप श्वास-प्रश्वास की गति को पकड़ लें अथवा सूक्ष्म श्वास ऊपर ले जायें और फिर सूक्ष्म गति से नीचे तक ले जायें और उस श्वास-प्रश्वास की गति को शरीर के देशों के साथ स्पर्श करते हुए चले जायें, परन्तु साथ में बुद्धि को भी रखिये। जैसे कि आँख के साथ बुद्धि का प्रयोग करते हैं। नेत्र नाना प्रकार के रूप को दिखाते हैं और बुद्धि उस रूप की विवेचना करती है। इसी प्रकार श्वास-प्रश्वास की सूक्ष्म गति के साथ बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर लगाये रखें। उस काल में बुद्धि के द्वारा विवेचन करें कि कैसे श्वास स्पर्श करता हुआ ऊपर की ओर मस्तिष्क तथा ब्रह्मरन्ध्र में जाता है और फिर कैसे नीचे की ओर कण्ठ, फुफ्फुस, हृदय, नाभि तक स्पर्श करता हुआ आता है। पहले मोटे-मोटे भागों को स्पर्श करता हुआ सा प्रतीत होगा इसके पश्चात् फिर प्राण का स्वरूप दृष्टि में

आने लगेगा। इसका स्वरूप कैसा है ? इसमें कौन-सी शक्ति है, जो स्पर्श करके दिखा रही है ? यह शक्ति अपनी है या किसी अन्य की है ? इस प्राण के द्वारा भी चेतना का स्पर्श हो सकता है या नहीं ? क्योंकि चेतना प्राण में घुली-मिली हुई सी है और बिना प्राण के जीवन नहीं रह सकता है। अतः सिद्ध होता है कि प्राण के गर्भ में चेतन सत्ता व्याप्त है।

अब आप शान्त भाव से बैठकर समाधि में उपरोक्त कहे विज्ञानों को अन्वेषण करने का प्रयत्न करें तथा आत्मा-परमात्मा को साक्षात्कार करें। आज का विषय इतने पर ही समाप्त करता हूँ।

व्याख्यान-७५

ब्रह्मरन्ध्र में ज्योतियों के द्वारा शरीर में विभु आत्मा का दर्शन।

ओ३म्—भो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ अथर्ववेद १०-८-१॥

कई वर्ष आप लोगों को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए साधना करते हो गये हैं। कुछ देर के लिए इस शरीर में आत्मा को अणु न समझकर विभु समझना चाहिए। जैसे—आप परमात्मा को विभु मानते आ रहे हो, उसकी चेतना भी आत्मा के समान ही है, क्योंकि अभी हम अपने से भिन्न परमात्मा को कहते हैं। यदि हमारा थोड़ा-सा अधिकार है तो इस शरीर पर ही है। ब्रह्म को तो रहने दो अभी वह ब्रह्माण्ड को ही चलाता रहे। सारा संसार उसके आश्रय पर चलता रहता है। समय पर सब अपने-अपने कार्य कर रहे हैं।

परन्तु जिस शरीर में आप अभिमानी होकर बैठे हुए हो, इसमें भी चेतना को विभु ही समझ लेना चाहिए। अणु मानकर खोज करोगे तो कुछ कठिन-सी बात हो जायेगी। वैसे तो 'अणोरणीयान' भी इसको कह दिया है। जब हम सूक्ष्मता के नाते से इसको जानना चाहते हैं तो वह अणु से भी अणु है। छोटे का अभिप्राय यहाँ सूक्ष्म से है। 'अणोरणीयान' का अभिप्राय यहाँ सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। शरीर के अन्दर इतना सूक्ष्म कोई पदार्थ नहीं है जितना आत्मा है। इतनी सूक्ष्म वस्तु में आपका अभिमान बना हुआ है कि 'मैं' हूँ। इस 'मैं' का कई दिन से नहीं पूरे दो मास से वर्णन कर रहा हूँ।

पञ्चभूतों को लेकर और उनके विषयों को माध्यम बनाकर साक्षात्कार करने की साधना बतलायी गयी है। एक प्रकार से आत्मा और परमात्मा का कचूमर-सा निकाल दिया है। आपके समक्ष मैं तो दैनिक उसी का गीत गा रहा हूँ। सारा जीवन भगवान् का गीत गाते हुए मेरा भी कचूमर-सा निकल गया। कूंड़ी के अन्दर रगड़ने के लिए कोई चटनी डाली हुई हो या मसाला डाला हो, उसका कचूमर-सा निकल जाता है। ऐसे ही आत्मा-परमात्मा के विषय में भी उपदेश देते-देते मेरा तो कचूमर ही निकल गया है। पंजाबी में एक कहावत है—'खोदा पहाड़ निकला चूहा और वह भी मरा हुआ'।

पहले मैं जिस प्रकार पढ़ी-पढ़ाई, सुनी-सुनाई बातों से भगवान् में बहुत ऊँचे-ऊँचे कर्त्तृत्व धर्म माना करता था अब उन कर्त्तृत्व धर्मों से भी हट सा गया हूँ, निरोध सा करने लगा हूँ। यदि उसमें कर्त्तृत्व धर्म मान लिया जाये तो हमारे अन्दर भी कर्त्तृत्व धर्म है। हम भी कर्त्तृत्व धर्म से इस शरीर में बँधे हुए हैं और उसमें भी कर्त्तृत्व धर्म को माना जाय तो उसे भी बँधा हुआ मानना पड़ेगा, बँधा हुआ तो प्रत्यक्ष ही है।

जैसे हम शरीर में बँधे हुए हैं वैसे ही वह ब्रह्माण्ड में बँधा हुआ है। यदि आप अपने आपको इस शरीर से अलग मान लेवें और अपने अन्दर भी कर्त्तृत्व धर्म का अभिमान समाप्त कर लेवें तो मुक्त ही समझो।

अपने अन्दर कर्त्तृत्व धर्म जो है वही अज्ञान है। अगर यह कर्त्तृत्व धर्म मेरा वास्तविक अपना ही स्वरूप है और इसमें ही गुणों का परिणाम है, तब तो कई जीवन में भी मुक्ति की आशा नहीं रखनी चाहिए। फिर इसके लिए मोक्ष नाम की कोई वस्तु ही नहीं होती। मैं तो अब दूसरों पर न घटाता हुआ अपने ऊपर सब बातों को घटाता हूँ। किसी ओर से छुटकारा ही नहीं देख रहा हूँ। किसी इन्द्रिय से छुटकारा ही नहीं मिल रहा है।

चार प्रकार का अन्तःकरण है इनसे भी मुक्ति लाभ नहीं हो रहा है और यह इतना बड़ा शरीर को लेकर बैठा हुआ हूँ इससे भी छुटकारा नहीं देख रहा हूँ, इसको भी बन्धन, दुःख और क्लेश का हेतु समझ रहा हूँ। इन्द्रियाँ, अतःकरण आदि सब कुछ दुःख का ही हेतु प्रतीत हो रहे हैं। अब मेरी उम्र ९० वर्ष हो गयी है, अब तक इस दुःख से छुटकारा नहीं हुआ तो और ५-१० वर्षों में कैसे दूर हो जायेगा जब ९० वर्षों में दूर नहीं कर सका ?

अतः इसके अन्दर ऐसी कोई सत्ता है जहाँ अहंता की भावना बनी हुई है, मेरा शरीर या मैं हूँ, 'ममेदम्' आदि की भावना इसमें बनी हुई है। विचारना यह है कि ये जो मैं, मेरा की भावना है क्या वह स्वाभाविक है, या इसके अन्दर कृत्रिम रूप से आई हुई है या इसके ऊपर बलात् थोपी जा रही है ? ध्यान-काल में इन्हीं रहस्यों को भी समझना तथा साक्षात्कार करना चाहिए।

प्रत्येक भूत का जो कार्य हमारे शरीर में है या तो उस भूत के कार्य को लेकर उन कार्यों में परमात्मा की व्याप्ति को देखने का प्रयास करो। जैसे कल, परसों प्राण का प्रसंग चल रहा था कि प्राण हमारे शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहता है। यद्यपि शरीर में इसके गमनागमन की प्रतीति होती है, वैसे ही आत्मा की भी इसमें व्याप्ति है।

इसी प्रकार तेज है, वह भी हमारे शरीर में व्याप्त है। उसके विषय में कल मैं ब्रह्मरंध्र में वर्णन कर रहा था। एक प्रकार से ४५ प्रकार की ज्योतियाँ इस मस्तिष्क में वर्तमान हैं क्योंकि यह मन, इन्द्रिय आदि जो हैं यह भी सब प्रकाशात्मक

हैं। दर्शनकारों ने "प्रकाश कारणानी इन्द्रियाणि" माना है। अन्तःकरण भी प्रकाशमान ही है, और सात्त्विक, राजस, तामस भेद से प्रत्येक पदार्थ तीन गुणों से बना हुआ है क्योंकि हमने तो उनके आदि कारण को लेना है।

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन पदार्थों के संघात से या अवस्थाओं से मूल प्रकृति है, या प्रकृति का जो सर्वप्रथम परिणाम-विशेष, उत्त्पत्ति-विशेष, विकास-विशेष प्रारम्भ होता है वह इन तीन गुणों के रूप में तीन अवस्थाओं के रूप में होता है। इनका गुण रूप नाम पहले रख दिया है। गुण का अर्थ है जैसे यह पुष्प रूप है उसका अर्थ है गन्ध। गन्ध उसके एक-एक अंश में व्याप्त है। यदि देखा जाय तो उस पुष्प का सूक्ष्म रूप वह गंध ही है। जिसको हम यहाँ गंध कह रहे हैं, वास्तव में वह गुण नहीं है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो वह पदार्थ ही है और उस गंध का स्थूल रूप वह पुष्प बना हुआ है। इसी प्रकार जो वह अन्तिम प्रकृति है वह भी इन गुणों का सूक्ष्म रूप ही है। गंध का स्थूल रूप पुष्प बन गया। ऐसे स्थूल रूप यह तीन अवस्थाएँ बनी हुई हैं। इनको गुण कह दिया। पुष्प के गुण को भी तो गंध कहते हैं। यहाँ एक प्रकार से गंध का पुष्प से भेद भी है और अभेद भी है। पुष्प वहाँ पड़ा है, गंध उसकी यहाँ भी सूँघने में आ रही है, पुष्प की गंध यहाँ तक व्याप्त होकर चली है।

इसी प्रकार इस भेद से प्रकृति के तीन रूप हैं सात्त्विक, राजस और तामस। यहाँ सात्त्विक का अर्थ ज्ञान ले लिया है। राजस का अर्थ गति या क्रिया ले लिया है, और तामस का अर्थ बल या स्थिति से लिया है। ये तीन गुण मिलकर ही पदार्थों का आरम्भक होते हैं। उनमें ज्ञान, कर्म और बल स्थिति है, बल को ही स्थिति कह दिया है।

हमारे मस्तिष्क के अन्दर विविध ज्योतियाँ हैं। नेत्र भी एक प्रकार से ज्योति है। बुद्धि भी ज्योति या प्रकाशस्वरूप है। यह भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से हुई है। जब अग्नि हमारे शरीर में सहकारी उपादान कारण के रूप में प्रविष्ट हुई तो शरीर के दस स्थानों में प्रधान रूप से स्थित है।

पाँच सहकारी उपादान कारण रूप पंचभूतों से ही हमारा शरीर बना हुआ है। उनमें अग्नि भी एक सहकारी उपादान कारण है। शरीर के भी हमने स्थान भेद कर लिए हैं, क्योंकि शरीर के अंगों से भिन्न-भिन्न रूप से गति और क्रिया हो रही है। मस्तिष्क कुछ और काम करता है, फुफ्फुस कुछ और काम करते हैं। हृदय और काम करता है। यद्यपि अग्नि एक ही है परन्तु स्थान भेद से उसके कार्य भी पृथक्-पृथक् हो गये हैं। इसी प्रकार प्राण एक ही है परन्तु शरीर-भेद से प्राण के भी भेद हो गये हैं। प्राण भिन्न-भिन्न कार्य करने लगा है। जैसे मूत्र के स्थान में मूत्र का प्रक्षेपण करने लगा, गुदा के स्थान में मल का प्रक्षेपण करने लगा, यही वाणी के स्थान पर शब्दों का प्रक्षेपण करने लगा। इस प्रकार प्राण ही सबको गतिशील

करता है।

इस प्रकार अग्नि है जो सबको एक प्रकार से पकाने का काम करती है। प्राण की तरह इसी प्रकार का धर्म अग्नि में भी है। उसमें पाक और रूप को दिखाना ही प्रधान धर्म है। यह जितने भी पदार्थ हैं हमारी आँखों से देखने में आ रहे हैं, यह सब अग्नि का कार्य है इसलिए आँख इनको दिखा पाती है और अग्नि का रूप दिखाने में नेत्र प्रधान केन्द्र हैं।

अब तीन प्रकार की अग्नि मस्तिष्क में है, जो सत्त्व प्रधान है, एक तो चाक्षुष रूप में है, दूसरी भास्वर रूप में और तीसरी ओजस् रूप में है। कर्मेन्द्रियों को भी प्रेरणा ब्रह्मरन्ध्र से ही मिलती है। इनका सूक्षम रूप ऊपर मस्तिष्क में वर्तमान है। हाथ- पैर, मल-मूत्र आदि इन सबको प्रेरणा देने का सङ्कल्प हमारे मस्तिष्क में ही होता है। अतः इन कर्मेन्द्रियों के केन्द्र भी इस मस्तिष्क में वर्तमान हैं। वहीं से प्रेरणा, क्रिया या गति प्रारम्भ होती है। इस प्रकार से कर्मेन्द्रियाँ भी प्रकाश-कारिणी हैं। यह तीन भौतिक अग्नि भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से ६ प्रकार की हो जाती है और प्रायः हमारे देखने में भी आती है। इसमें परिणाम होते रहते हैं। जव शरीर में सत्त्वगुण प्रधान होता है तब सात्त्विक अग्नि कार्य करती है। क्रोधादि में यही अग्नि रजः प्रधान बन जाती है। रात्रि को निद्रा की अवस्था में तम प्रधान हो जाती है।

पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियाँ भी प्रकाशात्मक हैं क्योंकि ये रजः प्रधान हैं। रज गुण का वर्ण कुछ पीला या स्वर्ण रंग का होता है। जब तक इन तीनों गुणों का हम रूप नहीं मानेंगे तब तक दूसरे पदार्थ में भी रूप को नहीं देख सकेंगे, क्योंकि सबका उपादान कारण तो यही हैं।

मन की सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन ज्योतियाँ हैं। बुद्धि की तीन, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की तीस और चाक्षुष, भास्वर तथा ओजस् की नौ। सब मिलकर ४५ प्रकार की ज्योतियाँ इस ब्रह्मरन्ध्र में वर्तमान हैं।

अब रही आत्मा की ज्योति की बात। क्योंकि जब कोई पदार्थ है तो उसका रूप भी मानना पड़ेगा। परन्तु उसके लिए कहा है कि अपना कोई रूप न रहते हुए भी "रूपम् रूपम् प्रतिरूपोवभूव" ऐसा कहा है। जैसे इस आकाश का कोई रूप नहीं है। इसमें भी वही बात बनेगी। आकाश जब वायु के साथ मिलता है तो वायु के रूप वाला बन जाता है। जब यह अग्नि से मिलता है तो अग्नि का रूप बन जाता है। अग्नि में भी व्याप्त होकर चलता है तो उसी के रूप को धारण कर लेता है, तद्रूप बन जाता है। इस आकाश का कोई रूप तुम नहीं देखते हो, आत्मा में भी यही बात है।

मस्तिष्क के अन्दर अब तक ४५ प्रकार के पदार्थों के रूपों को वतलाया है। आत्मा को ४५ रूपों में तो कम से कम मान लो। क्योंकि इतने रूपों वाले पदार्थों

में उन्हीं-उन्हीं के रूपों के अनुसार आत्मा का दर्शन होगा। इतने रूपों वाला आत्मा यदि तुम्हें समझ में आ जाये तो समझ लो। वह यदि कोई स्थूल वस्तु होती तो मैं तुम्हें पकड़ा ही देता कि लो यह 'आत्मा' है। परन्तु बात ऐसी तो नहीं है। अतः मैं तो आप को समझा ही सकता हूँ, या तुम्हारे मन को वहाँ लगने की प्रेरणा दे सकता हूँ। देखना न देखना आप का काम है। मैं आप के मन को आत्मा-परमात्मा के साथ जोड़ दूंगा, पर उसको तुम्हें अपनी बुद्धि से ही तो निर्णय करना होगा। उपदेश देते-देते मेरा भी कचूमर-सा निकल गया। कहाँ से मैं नित्य नया विज्ञान लाऊँ ? नित्य विज्ञान की भी सीमा होती है। फिर भी नित्य ही मैं तुम्हें नयी-नयी बातें सुनाने का प्रयत्न करता हूँ। विज्ञान तो इतना ही है कि आप अपने मन को समझा लें। मैंने भी समझा लिया है। मैंने आकाश के समान भगवान् को समझ लिया और इसकी तुम चाहे जितनी भी व्याख्या करते चले जाओ, उसमें कुछ परिवर्तन नहीं आयेगा।

आकाश भी गति का हेतु बनता है। चेतना भी गति का हेतु होता है। यदि आकाश न हो तो हाथ का चलना नहीं होगा। आकाश न हो तो प्राण का चलना नहीं होगा। किसी का भी गमन नहीं होगा। गमन का कारण चेतन समझ लो। मैं भी तो चेतन को हमेशा गति का हेतु कहता हूँ। क्योंकि ज्ञानादि धर्म केवल बुद्धि और चित्त में होते हैं। यहाँ ज्ञान का विकास होता है। गति को भी गुण नहीं कहूँगा रूप ही समझो। अगर ज्ञान भी कहा जाय तो वह भी उसका स्वरूप ही समझूँगा गुण नहीं। ज्ञान और गति को यदि पृथक्-पृथक् माना जाय तो अवस्थान्तर परिणाम मानना पड़ेगा। वैसे तो गति और ज्ञान दोनों प्रकृति में भी हैं। जो भगवान् से लेना चाहते हो वह तुम्हें प्रकृति ही दे देगी। ज्ञान दे दिया सत्त्व ने, गति दे दी रज ने, बल या स्थिति दे दी तम ने। इससे तुम्हारे काम सिद्ध हो जायेंगे। भगवान् से तुम्हें क्या लेना है ? यदि लेना भी है तो तुम इनको पृष्ठ भाग में समझो। जैसे यह आकाश चार भूतों के पृष्ठभाग में खड़ा है, ऐसा ही चेतन को समझ लो। अपने मन को क्या समझाना ? इतनी सी बात समझने वाली है। इसको सर्वत्र देखते चले जाओ, हो गया ब्रह्मज्ञान।

अब पहले आप अभ्यास में ४५ प्रकार की ज्योतियों को अपने मस्तिष्क के अंदर देखने का प्रयत्न करो फिर आत्मा की बात सोच लेना।

व्याख्यान-७६

ब्रह्मरन्ध्र में इन्द्रिय, मन, बुद्धि की दिव्य ज्योतियों द्वारा आत्म-दर्शन।

ओ३म्—अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम्॥
यजुर्वेद ४०-१६॥

इस मंत्र में पहला वाक्य है—'अग्ने नय सुपथा' हे अग्नि देवता! परमात्मा के लिए यह सम्बोधन है और जिन दिव्य ज्योतियों को मैं ब्रह्मरन्ध्र में वर्णन कर रहा हूँ उनके लिए भी है, क्योंकि यह ज्योति भी सुपथा, आध्यात्मिक मार्ग पर ले चलने में समर्थ होती है। ब्रह्मरन्ध्र की ज्योतियाँ हमारे अन्दर दिव्य आलोक उत्पन्न करती हैं। जिस प्रकार अमावस्या की अँधेरी रात में किसी प्रकार का प्रकाश मिल जाये तो वह हर्ष का, प्रसन्नता का, आह्लाद का हेतु होता है, उसी प्रकार अंधकार से आच्छादित हुए मस्तिष्क में प्रकाश करने वाली ज्योति या अग्नि हमारी प्रसन्नता का हेतु हुआ करती है। उसी अग्नि का या ज्योतियों का अब तक हम वर्णन करते आये हैं।

आँखों में चाक्षुष अग्नि रहती है। जब आँख बाहर के भौतिक पदार्थों को दिखाती रहती है, वह भौतिक अग्नि कहलाती है। जब उसको अन्दर की ओर मोड़ दिया जाता है तो वह आध्यात्मिक ज्योति या दिव्य ज्योति के नाम से पुकारी जाती है। आप शंका उठायेंगे कि इसमें क्या हेतु आप के पास है? वास्तव में सिर का पृष्ठभाग जिसे लघु मस्तिष्क कहते हैं, यह शिखा के नीचे भाग में रहता है। सबसे ऊपर का भाग बृहद् मस्तिष्क है। हमारी दसों इन्द्रियाँ और इनकी सब नाड़ियों का प्रवाह जाकर पहले लघु मस्तिष्क में एकत्रित होता है। वहाँ अव्यक्त से इन्द्रियों के केन्द्र वर्तमान हैं। जैसे मैं शब्द बोल रहा हूँ, यह कण्ठ, तालु आदि से आकर होठों में पहुँचकर कैसा सुन्दर शब्द बन जाता है। वह जब तक कण्ठ में रहेगा तब तक घें, घें ही बना रहेगा, वहाँ सुन्दर स्पष्ट शब्द नहीं बनेगा।

इन्द्रियों के केन्द्र या स्थान अव्यक्त रूप से लघु मस्तिष्क में हैं, जहाँ बच्चे का कोमल तालु होता है सिर में इसके नीचे का भाग ब्रह्मरन्ध्र का भाग कहलाता है, जो चक्र जैसी प्लेटों के रूप में है। उस अस्थि के नीचे मांस की पेशियों का तरल

भाग है। जो लोग सूक्ष्म शरीर नहीं मानते हैं वे इस भौतिक शरीर में ही बुद्धि, मन आदि के केन्द्र मानते हैं।

अध्यात्मवादियों का सिद्धान्त है कि यह भौतिक शरीर तो है ही, परन्तु जब तक इसमें सूक्ष्म शरीर नहीं होगा इसका कोई कार्य नहीं हो सकेगा। इस मस्तिष्क के भाग में सूक्ष्म शरीर का वास रहता है। मन और बुद्धि सूक्ष्म शरीर के भाग हैं, जिनको हम लोग कहा करते हैं कि मरण के पश्चात् धर्माधर्म संस्कारों को लेकर आकाश-मण्डल में गमन करते हैं। यहाँ दो प्रकार के संस्कार होते हैं—एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। स्थूल संस्कार इन्द्रियजन्य होते हैं। वे बुद्धि में स्थूल रूप से रहते हैं। वह उनका स्मरण नहीं करती है। सूक्ष्म संस्कारों का आगार हृदय है। रात्रि को स्वप्न आदि में उनका स्मरण करता रहता है। समाधि की गहन-सी अवस्था में ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। निद्रा की अवस्था में सुख-दुख का भान होता है। सुख-दुखात्मक संस्कार हृदय में होते हैं। जाग्रत अवस्था में भी जब योगी की समाधि की अवस्था आ जाती है तो मस्तिष्क और हृदय में विज्ञान उदय होने लगता है। लघु मस्तिष्क में ज्ञान अव्यक्त सा होता है। इन का विस्तार या स्थूल रूप बृहद मस्तिष्क में होता है। बीच में तरल से भाग के साथ में ही मन और बुद्धि के केन्द्र हैं। इसके चारों ओर इन्द्रियों के केन्द्र हैं। इच्छाजन्य विघात जव उत्पन्न होता है तब उन इन्द्रियों में कार्य प्रारम्भ हो जाता है। जैसे मैं आप को देखना चाहता हूँ। देखने की इच्छा या सङ्कल्प वहाँ बुद्धि में उत्पन्न होता है। और बुद्धि के पश्चात् मन उस संकल्प को प्रतिबिम्बित करता है या ग्रहण करता है। उसका इन्द्रियों पर धक्का या दवाव सा पड़ता है। वह रूप इन्द्रियों पर प्रतिबिम्बित कर ज्ञानवाहक और गतिवाहक सूत्र नेत्रों के पीछे की ओर जो विस्तृत हैं, उनके द्वारा आँखों की जो पटल है, दर्पण सा है इन पर रूप को फेंकते हैं। इस दर्पण पर बाहर का भी प्रतिबिम्ब पड़ता है। अन्दर जाने पर उस रूप की प्रतीति होती है। मृत और जीवित शरीर में यही अन्तर होता है कि मृत शरीर में सूक्ष्म शरीर का अभाव हो जाता है। शेष आँख, नाक, कान ऐसे ही पड़े रहते हैं। यह सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से निष्क्रमण या संयोग सम्बन्ध विच्छेद होने से ऐसा होता है, परन्तु जीवित शरीर में वना रहता है इसलिए सभी कार्य होते रहते हैं।

सूक्ष्म शरीर में दो विशेषताएँ हैं। एक तो यह स्थूल शरीर को भोग प्रदान करता है और दूसरी, अपने भोग का भी सम्पादन करता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर का भोग इस स्थूल शरीर में भी होता है और स्थूल शरीर का अभाव होने पर भी सूक्ष्म जगत् से सूक्ष्म भोग उसको होता रहता है। जैसे हम खाद्य पदार्थ खाते हैं। यह स्थूल भाग परिणाम भाव को प्राप्त होकर, रस आदि के रूप में बनकर सम्पूर्ण शरीर में विभक्त होता है। यह रस आदि स्थूल का परिणाम है। इसका और एक परिणाम होता है। यह परमाणुओं के रूप में बनकर पंचस्र णु, चतुस्र णु, त्रिस्रेणु आदि बनकर

तन्मात्रा के रूप में परिणत होकर सूक्ष्म शरीर का भी पोषक होता है। यहाँ पुष्प पड़ा है, इसके अन्दर गंध है, यहाँ स्थूल रूप से वह गंध नासिका में पहुँचकर वह परिणाम भाव को प्राप्त होने लगती है। ज्ञानवाहक, गतिवाहक, तंतुओं में परिणाम भाव को प्राप्त होकर तन्मात्रा के रूप में उनमें प्रवेश करके चलती है। अन्दर की सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय पर उसका प्रभाव पड़ता है। सूक्ष्म घ्राणेन्द्रिय पर उसका प्रभाव पड़ने से मन सावधान रहता है, उसके प्रभाव से प्रतिबिम्बित हो जाता है। बुद्धि में निर्णय होकर वह बाहर फेंक देती है। वह ज्ञान करा देती है कि यह उक्त पुष्प की इस प्रकार की गंध है। दैनिक प्रतिक्षण इन सबके परिणाम होते रहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म भाव को प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीर का पोषण करते हैं। जब मरण होकर स्थूल शरीर में से यह बाहर निकल जाता है, तो चलते हुए भी रस, गंध, रूप आदि के परमाणुओं को आकाश-मण्डल में खींचता हुआ, सेवन करता हुआ जीवित रहता है।

स्थूल अग्निभूत का सर्वप्रथम वास या अवस्थिति आँख में है। वैसे तो सम्पूर्ण शरीर में ही व्याप्त है। यदि विज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो एक ही अग्नि है। वही भिन्न-भिन्न रूप से शरीर में कार्य कर रही है। जैसे एक ही अग्नि है, आँखों में रहकर रूप को दिखाती है, पेट में रहकर खाए-पीए आहार को पचाती है। आखों में, वृक्कों में मल-मूत्रों में उष्णता के रूप में रहती है। वस्तुतः यह अग्नि की विशेषता है या इस शरीर के स्थानों की ही विशेषता है, यह समझने की बात है। वास्तव में यह भिन्नता शरीर के अन्दर जो ग्रंथियाँ हैं उनकी विशेषता से है। योगी जब इन पंचभूतों का विज्ञान करता है तो शरीर में प्रवेश करता है। जहाँ चाक्षुष नाम की अग्नि पहले नेत्र गोलकों से निकलकर बाहर कार्य करती रहती है, समस्त स्थूल पदार्थों को दिखाती है। आँख बन्द कर लेने पर शरीर के अन्दर के पदार्थों को दिखाने लगती है। इस पर अभ्यास करते रहोगे तो स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा। यह प्रकाश अन्दर सम्पूर्ण शरीर में बहने सा लगता है। जैसे किसी के ऊपर एक जलता बल्ब रख दिया हो तो सम्पूर्ण शरीर उससे प्रकाशित सा हो जाता है। यह ज्योति अब शरीर के अन्दर बहने लगती है, तो इसका नाम दिव्य ज्योति रख दिया जाता है।

यह सर्वप्रथम ज्योति है, क्योंकि नेत्र के द्वारा ही रूप की प्रतीति होती है। वास्तव में उसकी स्थिति इस मस्तिष्क में ही है। सात्त्विक, राजस और तामस भेद से इसके तीन विभाग हो गये हैं। सत्त्व प्रधान चाक्षुष ज्योति स्थूल शरीर को भी दिखाने में समर्थ हो जाती है। यदि प्रयत्न किया जाये तो आत्म-दर्शन के योग्य भी हो जाती है।

इस आँख के साथ जब तक बुद्धि का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक आँखें रूप को तो दिखायेंगी, कि यह है, परन्तु विभेद को नहीं बता सकेंगी कि यह किसका रूप

है। बुद्धि इस प्रकाश के साथ घुलमिल कर परमात्मा के साथ सम्बन्ध बना देती है। ज्योति भी मिली हुई होती है और बुद्धि भी मिली हुई होती हैं। मैं किसी को मिलने के लिए बच्चों को साथ लेकर जाऊँ तो उनके बच्चे भी देखकर आयेंगे। इसी प्रकार बुद्धि के साथ इस स्थूल नेत्र की ज्योति को साथ में लेकर आत्मा के साथ परमात्मा के साथ मिला देती है, लगा देती है। यदि बुद्धि का सम्बन्ध वहाँ नहीं होगा तो ज्योति वहाँ जाये तो भी उसको पता नहीं लगेगा। बुद्धि में यह योग्यता हो जाये तो हाथ के द्वारा भी आत्मा का साक्षात्कार कर देगी। जब आत्मा शरीर में व्याप्त है तो बुद्धि को हाथ के साथ लगा दो नेत्र के साथ लगा दो, कान के साथ लगा दो वे सब आत्मसाक्षात्कार करा देंगे। जब बुद्धि सूक्ष्म बन जाती है या ऋतम्भरा बन जाती है तो इसको शरीर के किसी भी पदार्थ के साथ लगाकर आत्मा को प्रत्यक्ष कर सकते हैं। हर प्रकार से, प्रत्येक पदार्थ से चेतना का प्रत्यक्ष करा देती है। उपनिषद्कारों ने कहा है कि "न तत्र चक्षु गच्छति न वाक गच्छति" ठीक है, यह उस समय के लिए ठीक है। जब तक बुद्धि ऋतम्भरा नहीं होती, बुद्धि पर अधिकार नहीं होता, योग्यता नहीं होती, सूक्ष्म नहीं होती, तब तक चेतना का पता नहीं लगता। एक बार किसी साधन के साथ आत्मा के विषय में ज्ञान हो जाय तो फिर, चाहे चित्त के द्वारा ज्ञान में आ जाए अथवा बुद्धि के द्वारा दर्शन हो जाय, एक ही बात होगी। परन्तु एक बार देख लेना चाहिए। फिर कुछ काल के अभ्यास से तुम्हारी बुद्धि में ऐसी योग्यता, ऐसा अधिकार हो जाता है कि तुम उस बुद्धि को किसी के साथ जोड़ दो, एक क्षण में जाकर आत्मसाक्षात्कार करा देगी।

कल के प्रवचन में चाक्षुष ज्योति की सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं के द्वारा हमारा क्या काम करती है और हम क्या-क्या इससे काम ले सकते हैं, इसके विषय में वर्णन करूँगा।

व्याख्यान-७७

हमारे शरीर में जीवन का आधार अग्निभूत भी है।

ओ३म्—अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ।। ऋग्वेद१-१-३ ।।

इस मंत्र में अग्नि की महिमा का वर्णन किया गया है। इसके दो अर्थ किए गए हैं। एक परमात्मा और दूसरा भौतिक अग्नि। रई कहते हैं प्राण को। प्राण का पोषण अग्नि करती है। इन दोनों के लिए नमस्कार है, क्योंकि यह हमारा भरण, पालन, पोषण करने वाले हैं, उसी अग्नि का वर्णन चल रहा है जो हमारे शरीर के अन्दर जीवन का आधार है। इसको हम सदा संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। इसकी सर्वत्र व्याप्ति भी मिलती है। संसार के जितने दृश्यमान पदार्थ हैं सर्वत्र अग्नि देखने में आती है। विज्ञान वादियों ने थोड़ा-सा रसायन निर्माण कर सलाइयों में भर दिये हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जहाँ टक्कर होती है वहीं अग्नि उत्पन्न हो जाती है। पृथ्वी के गर्व में अग्नि के भण्डार जल रहे हैं। उसी शक्ति से यह आकाश को उठाये फिरती है, वाष्प आदि तो अग्नि के ही परिणाम विशेष हैं।

इस अग्नि की इतनी महिमा है कि यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं। इसको हम अपने शरीर में धारण करने के लिए अनेक औषधियाँ लेते हैं, जिनमें अग्नि की प्रधानता होती है। खाद्य पदार्थ, मसाले, मेवे आदि हैं, इन सबमें अग्नि की प्रधानता रहती है। इनके खाने से हमारे अन्दर उष्णता या तेज उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है उसी प्रकार हमारे शरीर के भी कण-कण में व्याप्त है।

स्थान भेद से इसके भेद हो जाते हैं और परिणाम भेद से इसके अपने भेद होते हैं। शरीर के स्थानों का भी प्रभाव पड़ता है और अपने भी इसके स्वाभाविक परिणाम होते रहते हैं। इसमें जीर्णता, नवीनता आदि उत्पन्न होती है। पृथ्वी में भी होते हैं। यह जो भवन हम आज नया देखते हैं, दस-बीस साल के बाद देखते हैं तो जीर्ण हुआ मिलता है, पुराना हुआ मिलता है। आकाश, वायु, जल सबमें पुरातनता आ

जाती है। तभी तो यह जीर्ण-शीर्ण होकर जिस समय प्रलय काल होगा अपने आप ही विध्वंस को प्राप्त हो जाता है। जैसे कोई भवन या महल खड़ा हुआ है, ५००-१००० वर्ष के पश्चात् स्वयं ही खण्डहर बन जाता है। जीर्णता स्वाभाविक ही इनमें आती है। जहाँ परिणाम-क्रम हुआ करता है वहाँ नवीनता और जीर्णता आया करती है। हमारे शरीर में भी परिणाम-क्रम है इसमें भी नित्य प्रति जीर्णता आती रहती है। जब से बालक का जन्म होता है नवीनता प्रारम्भ होती है। प्रौढ़ावस्था के साथ-साथ फिर जीर्णता भी आती रहती है। दोनों क्रम साथ चलते हैं। एक क्षण में नवीनता दूसरे में जीर्णता आती चली जाती है। यदि दो धर्म न हों तो संसार में कभी किसी पदार्थ में परिवर्तन नहीं होता।

आत्मा में इस प्रकार की जीर्णता, पुरातनता नहीं है। हमारे शरीर में चेतन सत्ता नित्य है इसमें परिणाम-क्रम नहीं है। शरीर में परिणाम-क्रम है। विश्व या संसार में भी अन्तर देखते हैं। परन्तु इसके गर्भ में जो चेतन सत्ता अन्तर्यामी रूप में इसका नियंत्रण कर रही है, इसके गतिशील बनाये हुए है, उनमें कोई पुरातनता नहीं देखते हैं। यह सदा एक जैसा है। चेतन सत्ता एक ऐसी चीज है जो नित्य और निर्विकार है।

पंच भूतों में अग्निभूत जब हमारे शरीर में प्रवेश करती है तब इसकी आध्यात्मिक संज्ञा होती है। हमारे शरीर में इसका दैनिक वृद्धि और ह्रास होता रहता है। हमारे शरीर में से उष्णता निकलती रहती है। किसी पदार्थ के साथ लगाओ तो उसमें भी उष्णता प्रवेश कर जाती है। प्रतिक्षण शरीर में से अग्नि भी निकलती रहती है। श्वास के रूप में वायु भी वाहर निकलती रहती है। स्वेद, मूत्र आदि के रूप में जल भी बाहर निकलता रहता है। मल के रूप में पृथ्वी भी वाहर निकलती रहती है। प्रत्येक भूत अपनी-अपनी जाति का आहार सेवन करता रहता है। प्राण है, बाहर के भौतिक वायु इसका उपादान कारण है। अपने उपादान कारणों से कार्यों का सम्बन्ध सदा बना रहता है। उपादान कारण बाहर के भौतिक पंचभूत हैं। उपादान कारण अपने कार्य के साथ सूक्ष्म रूप से सदा वर्तमान रहा करता है। पंचभूतों का सम्बन्ध सूक्ष्म रूपेण हमारे शरीर से प्रत्येक क्षण बना रहता है। जैसे पार्थिव परमाणु, जलीय परमाणु भी हमारे शरीर में प्रवेश करते रहते हैं। वाहर से इस शरीर में आकर इन पंचभूतों की आध्यात्मिक संज्ञा हो जाती है। बाहर रहकर भौतिक संज्ञा रहती है। यहाँ इस प्रकार के आत्मा का सम्बन्ध इनके साथ में है जहाँ विलक्षण प्रकार की चेतना-सी बनी रहती है। बाहर के भौतिक पदार्थों के साथ भी चेतन का सम्बन्ध है परन्तु उसमें भिन्न प्रकार की विलक्षणता रहती है। जैसे पृथ्वी के गर्भ में आप प्रवेश करो तो वहाँ भी जल, वायु, अग्नि आदि के द्वारा पाकज कर्म आदि हो रहे हैं। वहाँ वाष्प आदि के रूप में अग्नि वर्तमान रहती है। वायु जल के साथ मिलती है तो शीतल हो जाती है और गर्म पदार्थ

के साथ मिलती है तो उष्ण हो जाती है क्योंकि इन दोनों में यह व्याप्त हो जाती है। इसकी व्याप्ति आकार प्रकार तद् रूप बन जाती है इसी प्रकार यह जो हमारे शरीर के साथ इनका संघात हुआ है इसमें अग्नि तत्त्व भी प्रधान है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। उसकी अध्यात्म संज्ञा हो गयी है। जब हम इन नेत्रों से बाहर देखते हैं तब तो यह भौतिक पदार्थों को दिखाने लगती है। ध्यानमग्न होने पर अन्दर के पदार्थों को दिखाने लगती है।

हमारा शरीर तो है भौतिक ही, परन्तु इसमें आध्यात्मिकता-सी, चेतनता-सी आ गयी है। चेतना तो इस भवन में भी व्याप्त है। क्योंकि इसमें एक प्रकार से परिणाम-क्रम है। चेतन के सम्बन्ध के बिना परिणाम-क्रम नहीं होता है। उसके सम्बन्ध से ही गति होती है। पुरातनता और नवीनता रूप चलन को यह गति उत्पन्न करती है। चेतन में वह विशेषता है। वह स्वयं तो गीतिशील नहीं होता परन्तु दूसरे को गतिशील कर देता है। चुम्बक स्वयं खड़ा रहता है, सुई को या लोहे को गतिशील कर देता है। ऐसे ही चेतन जड़ को गतिशोल कर देता है। हमारे अन्दर जो चेतन है, एक विलक्षण प्रकार का है। भूमि में भी सर्वव्यापक चेतन है। वहाँ भी इस प्रकार के कर्म हो रहे हैं, वहाँ भी पाक रूप कर्म होता है। शरीर में भी पाक रूप कर्म होता है।

अग्नि के दस प्रकार के धर्म हैं—रूप को उत्पन्न करना, पाक करना, ऊर्ध्व गमन करना आदि इसी के धर्म हैं। यह अग्नि हमारे जीवन की पोषक रहती है। नित्य हम इसका सेवन करते रहते हैं। यह निकलती रहती है। इसका गमनागमन शरीर के साथ रहता है इससे जीवन स्थिर रहता है।

हम वर्णन कर रहे थे आध्यात्मिक चाक्षुष अग्नि का। दो दिनों से मैं सत्त्व-प्रधान चाक्षुष अग्नि की अवस्थाओं का वर्णन करता रहा हूँ। आज रज:प्रधान चाक्षुष अग्नि की अवस्थाओं का वर्णन करूँगा। रज:प्रधान चाक्षुष अग्नि कैसे उत्पन्न होती है? किस प्रकार इसमें कार्य उत्पन्न हो जाते हैं? जैसे कोई व्यक्ति आया, बिना प्रयोजन से पत्थर मार दिया या कुछ गल्ती की तो एक दम आँखों में, शरीर में अग्नि रजोगुण भाव को प्राप्त होकर उत्तेजित हो गयी। यह अग्नि शरीर को भी संतप्त कर देती है और नेत्रों को भी। सत्त्व में और रज में इतना अन्तर है कि सत्त्व अग्नि से आँखों में स्नेह और प्रेम झरता है, मृदुता, लावण्यता, वात्सल्यता उत्पन्न हुआ करती है और आँखों में स्निग्धता आ जाया करती है। एक प्रकार से दूसरों को प्रभावित कर दिया करती है। रज:प्रधान भी प्रभावित करती है, परन्तु उसमें लावण्यता, स्नेह तथा प्रेम नहीं होता है। उसमें क्रूरता होती है, वह दमन करती है और विनाश भी करती है।

सत्त्वप्रधान अग्नि पोषणता की ओर स्नेह, प्रेम, वात्सल्य आदि की ओर ले जाती है। रज:प्रधान अग्नि विनाश की ओर ले जाती है। जब और अधिक विकराल

रूप धारण करती है। तो महान विनाशकारी होती है। युद्ध के समय रज:प्रधान अग्नि हो जाती है। क्रोध में आकर शरीर संतप्त होकर उछलने लगता है। प्राण भी इसके कारण से संतप्त होता है। आँखों से रुधिर सा प्रवाहित होने लगता है। क्रोध विकराल रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार यह अग्नि का प्रभाव है जो हमारे लिए सुख और दुःख का हेतु बनती है। रज:प्रधान कभी-कभी सुख का भी हेतु होती है। जैसे कोई वनैला पशु आकर आक्रमण करता है तो उस समय यह रक्षा करती है। कोई दुरात्मा देश पर आक्रमण करता है तो उस समय विकराल रूप को धारण कर उसको विनाश करने में समर्थ होती है।

सत्त्वप्रधान अग्नि विनाश की ओर नहीं ले जाती वरन् स्थिरता की ओर ले जाती है। स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, कोमलता आदि इस प्रकार के धर्मों को यह उत्पन्न करती है। दीर्घ काल तक इसके धर्म स्थिर रहते हैं। इस क्रोधात्मक अग्नि का जितना वेग होता है उतनी शीघ्र समाप्ति भी हो जाती है।

हमारे मस्तिष्क के अन्दर जब आध्यात्मिक रज:प्रधान चाक्षुष अग्नि उत्पन्न होती है तो ध्यान की स्थिति में एक दिव्य सा महान् प्रकाश सूर्य की तरह चमकने लगता है और अनेक बार इस चाक्षुष अग्नि के प्रधान होने पर योगी या अभ्यासी को चकाचौंध कर देती है। इसकी तीव्र दृष्टि से शरीर के अन्दर समस्त पदार्थों को देखने में समर्थ हो जाता है। इसकी शक्ति अधिक बढ़ जाने से विशेष रूप से क्रियाशील, गतिशील हो जाती है। मन, बुद्धि भी चकाचौंध होकर अपने निर्णय और व्यापार को छोड़ देते हैं, वे भी कम्पायमान से हो जाते हैं। इस प्रकार के बल और शक्ति रजोगुण की अवस्था में उत्पन्न होते हैं।

सत्त्वप्रधान अग्नि का प्रभाव शरीर के अन्दर कई-कई दिन तक चलता रहता है और इसी प्रकार सत्त्वप्रधान प्राण जब बना रहता है इसका भी कई-कई दिन तक निरन्तर प्रभाव चलता रहता है।

गुणों का अपने आप भी कर्मों के आधार पर या संस्कारों के आधार पर परिवर्तन होता रहता है। सत्त्वप्रधान आध्यात्मिक चाक्षुष अग्नि शरीर में उदय होती है। तब ज्ञान प्रधान होता है और कर्म गौण होता है। जब तक कर्म साथ में नहीं रहेगा तब तक अकेला ज्ञान भी कुछ करने को तत्पर नहीं होता। ज्ञान और कर्म का समन्वय सम्बन्ध-सा रहता है। एक प्रकार से कर्म का अंतिम परिणाम ही ज्ञान है, ज्ञान का अन्तिम परिणाम मोटे रूप में जाकर ही कर्म है। इसलिए ज्ञान से कर्म का प्रादुर्भाव होता है और कर्म से ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है। यह अवस्था बनी रहती है।

जब बहुत समय तक सत्त्वप्रधान अग्नि बनी रहती है, तब तक निरन्तर अभ्यास में ज्ञान और विवेक की प्रधानता बनी रहती है और कर्म गौण रहा करता है।

जब रज:प्रधान आध्यात्मिक ज्योति की प्रधानता बनी रहती है तब विवेक-ज्ञान कम रहता है, कर्म की प्रधानता रहती है क्योंकि कर्म का धर्म ही 'उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुन्चन प्रसारण गमनम् इति कर्माणि' है। जब कर्म की प्रधानता रहती है तब उत्तेजना, उछल-कूद आदि इस में अधिक बनी रहती है और विवेक कम काम करता है। युद्ध में क्रोधादि में विवेक दव जाता है, हरण हो जाता है। जहाँ विवेक होता है वहाँ इस प्रकार क्रोधादि शान्त हो जाते हैं। यह एक दूसरे का पोषक भी है, अर्थात् वह उत्तेजक भी है और जनक भी है। योगी को इस प्रकार यत्न करते रहना चाहिए कि ऐसे पदार्थों का सेवन करें जिससे उत्तेजना आदि की न्यूनता आ जाये। जैसे शराबादि है इससे हमारे शरीर की अग्नि स्वाभाविक ही रज:प्रधान होकर उत्तेजित हो जाती है। आवेश में आकर व्यक्ति विपरीत कर्म करने लगता है। सात्त्विक आहार सेवन करता है तो शान्त भाव, आध्यात्मिकता स्वाभाविक सी बनी रहती है। इन खाद्य, पेय पदार्थों से भी हमारे शरीर की अग्नि में सत्त्व, रज, तम की मात्रा में वृद्धि और विकास होता रहता है।

हम पुराने आचार्यों, पतञ्जलि आदि के परम्परावादी हैं। उनके अष्टांग योग में यम—नियम रूपी धर्म में यथार्थ ज्ञान को देने वाला होता है। मैं बचपन में भी यम और नियम का पालन करता था। अब ९० वर्ष की अवस्था में आया हूँ, अब भी पालन कर रहा हूँ। इस प्रकार के जो धर्म हैं ये अध्यात्मवाद की ओर ले जाते हैं। अत: योगियों को सदा सात्त्विक आहारों और सात्त्विक पदार्थों का सेवन करना चाहिए जिससे सत्त्वप्रधान अग्नि उत्पन्न हो, जो हमारे अध्यात्म मार्ग में सहायक हों, ज्ञान और मोक्ष के जनक हों।

आध्यात्मिक चाक्षुष अग्नि से इन्द्रियों का पोषण होता है। इन्द्रियाँ इससे पुष्ट होती हैं। भास्वर नाम की ज्योति मन का आहार है, मन उससे पुष्ट होता है, तृप्त होता है और शक्तिशाली बनता है। ओजस् नामक अग्नि का आहार बुद्धि करती है। बुद्धि में बल, शक्ति, पराक्रम आदि उस अग्नि के द्वारा होता है। इसलिए ये तीन प्रकार की अग्नि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का पोषण करती हैं। भास्वर अग्नि मन और इन्द्रियाँ दोनों का आहार है क्योंकि मन उभयात्मक है, ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी इसका सम्बन्ध रहता है और कर्मेन्द्रियों के साथ भी सम्बन्ध रहता है। ध्यान की स्थिति में आपको इन अग्नियों की बात ज्ञान में आ जाती है। इन्द्रियां, मन बुद्धि का भी ज्ञान समझ में आ जाता है और इनकी गति-विधि, इनका नियोजन, प्रेरणा, स्वरूप, आकारादि भी समझ में आ जाते हैं तो समझो तुम्हारा योग सिद्ध हो जाने वाला है। आत्मा के बहुत समीप पहुँच जाओगे। इस संसार से उठकर एक स्वर्गीय आध्यात्मिक स्वर्गलोक में ही नहीं पहुँच जाते हो वरन् ब्रह्मलोक में ही पहुँच जाते हो। तुम्हारा योग सिद्ध हो जाता है। उसका फल क्या होगा ? आत्मा भी यही है, परमात्मा भी यही है, एक क्षण में समाधि में तुम्हें

प्रत्यक्ष हो जायेंगे। वह समाधि की एक ऐसी अवस्था होगी जिसमें आनन्ददायक, आह्लादपूर्ण, शान्ति से परिपूर्ण बोध होने लगेगा। एक अनोखी सी अनिर्वचनीय अवस्था में पहुँच जाओगे जिसमें आनन्द की वर्षा तुम्हें इस मस्तिष्क में होने लगेगी। इस ब्रह्मरन्ध्र में तीन प्रकार की दिव्य ज्योतियों, इन्द्रियों, मन और बुद्धि इनके व्यापार को ही आज अभ्यास का विषय बनाना।

व्याख्यान-७८

स्वर्ग लोक की बात।

ओ३म्—स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः॥ यजुर्वेद ४०-८॥

यह यजुर्वेद का मंत्र है। इसमें पिछला वाक्य आता है—'यथातथ्यतो अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'—वह भगवान् कर्मफल का निर्णय करता है, विभाग करता है, कर्म का फल प्रदान करता है, ऐसा अर्थ विद्वान् लोग करते हैं। जीवन से हमारा सम्बन्ध है, हम दीर्घायु जीवन भी चाहते हैं और इस जीवन में हम मोक्ष आदि भी प्राप्त करना चाहते हैं। इस जीवन को सुखी भी बनाने का प्रयत्न करते हैं। पुनर्जन्म नाम को कोई वस्तु है भी या नहीं। कुछ आचार्यों का तो विचार यह है, कि जैसे अभी यजुर्वेद का वाक्य मैंने सुनाया 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः'—भगवान् कर्मफल प्रदान करता है। यहाँ न्यायालयों में न्यायाधीश, जिस प्रकार न्याय करता है ऐसे ही भगवान् भी करता है। पुनर्जन्म के विषय में भी यही बात है कि एक मनुष्य ने कर्म करते-करते सुन्दर भवन बनाया, बड़े उद्यान, उपवन बनाये, बड़ा धन, ऐश्वर्य उपार्जित किया, फिर विवाह कर बैठ गया। दैवयोग से वाहन में बैठकर कहीं जा रहा था, अचानक दुर्घटना हो गयी! वह इधर ही मृत्यु को प्राप्त हो गया। वह न तो राजभवन का सुख भोग पाया, न पत्नी का सुख भोग पाया और न धन-ऐश्वर्य का सुख भोग पाया, उसका क्या बनेगा? इसके विषय में कहते हैं कि भगवान् अगले जन्म में उस भोग को दे देगा। ईसाई, मुसलमान भाई तो पुनर्जन्म की बात मानते नहीं हैं, परन्तु हम लोग मानते हैं। भगवान् के अधीन कर्मों के विधान मानते हैं।

मैंने भी कर्म के विषय में बहुत विचार किया और अभी तक विचारता रहता हूँ। कर्मों के फल के विभाग के लिए मेरे विचार में भगवान् की आवश्यकता नहीं है। वह और दूसरे काम भले ही करता रहे परन्तु कर्मफल के विभाग के लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। जैसे पुरुषार्थ के द्वारा कर्म करता है उसका फल

प्रत्यक्ष ही उसके सामने आ जाता है। इन्हीं प्रयत्न या पुरुषार्थ के द्वारा कर्म का फल उसको मिलता है। इसमें न तो न्यायाधीश की आवश्यकता है और न भगवान् के कर्मफल विभाग करने की आवश्यकता है। कर्मों का फल अपने आप ही मिलता रहता है।

बहुत से कर्म ऐसे भी हैं जो कई कारणों से फल देने में विक्षेप भी उत्पन्न कर देते हैं। विक्षेपों का योग दर्शन वाले अर्थ करते हैं—'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:' (योग १-३२)—विक्षेपों के निवारण के लिए एक तत्त्व का अभ्यास इन्होंने बताया है। विघ्नों को दूर करने के लिए लोक में भी कई साधन या उपाय होते हैं। इसलिए ऐसे कार्यों के लिए भगवान् की आवश्यकता नहीं है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि भगवान् नहीं है। मैं कहता हूँ भगवान् तो अवश्य है परन्तु इस प्रकार के कर्मों के फल को विभाग करने के लिए परमात्मा के न्याय की आवश्यकता नहीं है।

अब रही पुनर्जन्म की बात, उसके कर्मों का क्या बनेगा, जो बिना भोग के चला गया ? यदि हम परमात्मा को न्यायकर्त्ता या कर्मफल प्रदाता मान लेते हैं थोड़ी देर के लिए, प्रौढ़ी बात से, कि भगवान् ही कर्मफल-दाता है, वह उसको दूसरे जन्म में दे देगा। क्योंकि भवन बनाया, पत्नी को लाया, इनमें से किसी का फल उसको नहीं मिला, न ही भोग पाया। उसको भगवान् फिर दे देगा। यदि भगवान् कर्म-फ़ल भी देता है, मोक्ष भी देता है, जन्म भी वही देता है, तो फिर हमारी सब प्रकार की सफलताएँ समाप्त हो जायेंगी। हमारा अस्तित्व कुछ नहीं रहेगा। हम मिट्टी के माधो बनकर रह जायेंगे। पाप-पुण्य का भागी भी भगवान् ही बनेगा ; क्योंकि उसने हमें जन्म दिया, उसी ने हमें मारना है, उसी ने स्वर्ग देना है, उसी ने नरक देना है, फिर हमारे सभी प्रकार के कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं।

अब रही कर्मों के फल की बात। हिन्दू लोग तो यह कहते हैं कि जिस समय इस शरीर का मरण होता है उसी समय कर्मों का विभाग या फलानुसार पुनर्जन्म हो जाता है। मुसलमान भाई कहते हैं कि अब नहीं होता, कयामत के समय कब्रों में से मुर्दों को जीवित कर देगा। हम कहते हैं कि क्या अब वह न्याय नहीं कर सकता ? क्या उसकी शक्ति अब न्याय करने की नहीं रही ? और क्या वह कयामत में ही जाकर कब्र में से निकालेगा ? अभी क्यों न निकाल देवे। फिर उसको मरने भी क्यों देवे ? उसमें सब शक्तियाँ हैं, उस व्यक्ति को मरने भी न दें जो उत्पन्न हुआ है, वह अगर मर भी गया तो उस भगवान् में इतनी शक्ति है कि आज, कल या परसों ही उसका दूसरा जन्म दे सकता है। समस्त शक्तियाँ तो उसके अन्दर हैं ही। कयामत के समय ही अर्थात् प्रलयकाल के समय में ही क्यों निर्णय करने लगा ? वह आज निर्णय क्यों नहीं करता है ? हिन्दू लोग या दूसरे लोग तो यह प्रश्न उठाते हैं कि जब तुम जन्नत या स्वर्ग को मानते ही हो, कयामत के समय स्वर्ग और नरक का निर्णय कराते हो, भगवान् से या खुदा से अभी क्यों

नहीं निर्णय करा देते ? जिसका आज ही मरण हुआ है उसको इतने समय तक कब्र में रखने की क्या आवश्यकता है ? उस समय तक यह सम्भवतः गल-सड़ जाती होगी। अभी जो आज मरा है उसे इसी समय ही जीवित कर दिया करें; इसको मरने ही न देवें, इसको ही अजर-अमर बना देवें।

इनके विचारों से तो ऐसा लगता है कि सूक्ष्म शरीर नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। हिन्दू लोग या दूसरे बौद्ध, जैनादि सूक्ष्म शरीर की बातें करते हैं कि सूक्ष्म शरीर ही धर्माधर्म संस्कारों को लेकर चलता है। कर्म और संस्कारों को तो एक प्रकार से ईसाई और मुसलमान भी मानते हैं; क्योंकि कर्म और संस्कार न हों तो कयामत के समय कब्रों से निकाल कर उनके कर्मों का निर्णय उस काल में न होता। इसलिए कर्मफल को तो यह भी मानते हैं और उनका फल भी दिलाना चाहते हैं; परन्तु अन्तर इतना ही है कि हिन्दू आज मरण के समय में ही दिला देते हैं, यह दीर्घकाल तक कब्रों में सुलाए रखते हैं और दीर्घकाल पर्यन्त निर्णय कराते हैं। हिन्दुओं के यहाँ शीघ्र निर्णय होता है। निर्णय दोनों ही करा देते हैं।

परमात्मा या खुदा जब न्याय करता है, उसके विषय में कहते हैं कि जो उसके आगे जीवन-भर हाथ जोड़ता है, उसकी विनती, प्रार्थनाएँ करता रहता है, उसको तो वह क्षमा कर देता है और जो उसको कभी नमस्कार भी नहीं करता, विनती भी नहीं करता, उस पर वह रुष्ट भी हो जाता है और प्रार्थना करने से प्रसन्न होता है। गालो या ऐसे कर्म करने से वह रुष्ट होता है तो फिर उसमें और हमारे में क्या अन्तर होगा ? हम भी अनेक प्रकार की गलतियाँ करते हैं। भगवान् भी ऐसी गलतियाँ करता है। गुण और अवगुण हमारे अन्दर वर्तमान हैं। अगर उसके न्याय की बात मानोगे तो उसके अन्दर गुण और अवगुण मानने पड़ेंगे। हम गुण और अवगुण हमारे में होने से अपने आपको बँधा हुआ मानते हैं और संसार के अन्दर सुख और दुःख भोगते रहते हैं। परमात्मा के अन्दर भी यदि इस प्रकार के गुण-अवगुण हैं, वह हाथ जोड़ने वालों को क्षमा कर देता है और गाली देने वालों को नरक में भेजता है या दण्ड देता है, तो परमात्मा के अन्दर भी राग और द्वेष हमारे समान ही मानना पड़ेगा। इससे सिद्ध होता है कि जैसे हम हैं, वैसे ही परमात्मा भी है।

दूसरी बात और है कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी कहते हैं कि स्वर्ग लोक नाम का स्थान अलग है, और वह जन्नत, हैवन या स्वर्ग कोई दूर का स्थान है। दूर का स्थान होता तो अब जो राकेटों से लोक-लोकान्तर में जाने लगे हैं, चन्द्रमा पर चले गए, मंगल पर भी जाने की बात कर रहे हैं, इनके द्वारा स्वर्ग में भी तो जा सकते हैं।

फिर वहाँ भी एक शंका होती है कि जब तुम खुदा को सर्वव्यापक मानते हो, सर्वत्र हाज़र-नाज़र मानते हो, तो क्या उस देश-विशेष में ही परमात्मा अधिक

रहता है ? यहाँ कश्मीर के पहलगाँव में वह नहीं रहता है ? इस प्रकार जब परमात्मा को जाकर ही मिलना है स्वर्ग में या हैवन में, तब उसकी व्यापकता समाप्त हो जायेगी। वह किसी देश-विशेष में बहुत अच्छे सिंहासन बनाकर राजा-महाराजाओं की भाँति जाकर वहाँ बैठा हुआ है और तुम्हें वहाँ पहुँचना होगा। सुख-शान्ति भोग-सामग्री आदि वहाँ तुम्हें मिलेगी वह तो यहाँ भी मिलते हैं।

जहाँ इस प्रकार की भोग-सामग्री होती है वहाँ भी हमें परमात्मा के अधीन रहना पड़ेगा। उन स्वर्ग लोक के भोगों को भोगने के लिए यदि हम कश्मीर में रहते हैं, यहाँ भी राज्य या भगवान् के अधीन होकर रहना होगा। पराधीनता वहाँ स्वर्ग में भी बनी हुई है और यहाँ भी बनी हुई है। भोग वहाँ भी मिलते हैं और यहाँ भी मिल सकते हैं। एक व्यक्ति की इच्छा के अनुसार हम समस्त पदार्थ इकट्ठे करते चले जायेंगे, हम चाहे जितना ही धन व्यय हो, जो-जो माँगेगा सब पदार्थ उसके लिए एकत्रित करते चले जायेंगे। जो-जो स्वर्ग में एकत्र मिलते हैं वे सब यहीं निर्माण कर देंगे। इस प्रकार यहाँ भी स्वर्ग बनाया जा सकता है। किसी देश-विशेष में जाकर ही इस प्रकार के भोग भोगने की आवश्यकता क्या है ? जब कि भगवान् सब स्थान पर एक समान ही व्यापक है। अमेरिका, इंगलैण्ड, यूरोप आदि देशों में भारत की अपेक्षा सुखों के साधन कुछ विशेष हैं। परन्तु वहाँ के लोग असंख्य सुखों के साधन होने पर भी दुखी हैं। हमने धनियों, करोड़पतियों और अरबपतियों के भी निकट रह कर देखा, उनको भी गरीबों के समान व्यथित और दुखी ही देखा। अतः जब तक शरीर और अन्तःकरण के भोग माने जायेंगे वहाँ सुख और दुख दोनों ही माने जायेंगे। अतः स्वर्ग-विशेष कोई ऐसा स्थान हो जहाँ सुख ही सुख हो और शरीर इन्द्रियादि के भोग भी हों, दुख न हो, यह बात असम्भव है। ऐसा कोई स्थान देखने में नहीं आता। जहाँ दृष्टि डालते हैं, जहाँ लार्ड मोहम्मद, क्राइस्ट, कृष्णादि जाकर निवास कर रहे हों और वहाँ केवल सुख ही भोग रहे हों और हम लोग यहाँ दुख ही भोग रहे हों ऐसा कोई लोक देखने में नहीं आता है।

अब तो बहुत साधन ऐसे बन गये हैं, वायुयान तथा राकेट से वहाँ भी जा सकते हैं। हिन्दू लोग चन्द्रमा के इतने गीत गाते थे कि वहाँ स्वर्ग है, पहले मुक्त होकर उस लोक में जाते हैं, फिर सूर्यलोक में जाते हैं। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता वहाँ जाकर देख आये हैं, वहाँ तो कुछ भी नहीं है और दूसरे लोक भी ऐसे ही हों इसका क्या पता ?

परमात्मा के विषय में पता नहीं क्यों लोगों की ऐसी गलत मनमानी धारणाएँ-सी बनी हुई हैं। लोग बुद्धि से अधिक विचार नहीं करते हैं, लकीर के फकीर बने रहते हैं। 'अन्धेननीयमानाः यथान्धा'—जैसे अन्धों के पीछे अन्धे चलते हैं और अन्धा आगे खड्डे में गिरता है तो वे भी खड्डे में गिरेंगे। अतः बुद्धि से काम लेना चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई कोई भी सम्प्रदाय कुछ कहता रहे, स्वतंत्र रूप

में परमात्मा के विषय में अपने आप विचार करना चाहिए, अध्ययन करना चाहिए। किसी का आश्रय लेकर अध्ययन न करो। स्वतंत्र रूप से, सूक्ष्म बुद्धि से परमात्मा के विषय में चिन्तन करो, खोज करो, विचार करो, वास्तव में परमात्मा कैसा है।

परमात्मा व्यापक है, जब आप यहाँ ध्यान-समाधि में बैठते हो, वह तुम्हारे अन्तःकरण, चित्त, मन में भी व्यापक है। यदि तुम इसके साथ सम्पर्क बना लो तो यहाँ भी तो तुम्हारी मोक्ष जैसी अवस्था बन जायेगी। दैनिक ध्यान की या समाधि की स्थिति में भगवान् के साथ ४-६ घण्टे तुम्हारा सम्पर्क हो जायेगा तो वह मोक्ष जैसी सुख-शान्ति की अवस्था बनी रहेगी।

जब तुम स्वर्ग या हैवन में जाओगे, वहाँ भी तो भगवान् के सामने हाथ जोड़कर बैठे रहना होगा, कभी-कभी थक भी जाओगे, उसको देखते-देखते वहाँ भी तंग आ जाओगे। यहाँ एक ही पदार्थ खाने से तंग आ जाते हो, एक ही वस्त्र पहनने से तंग हो जाते हो। भिन्न-भिन्न वस्तुएँ सुखों के लिए चाहिए तो वहाँ भी हर समय भगवान् के साथ चिपके हुए, लगे हुए तंग आ जाओगे। वहाँ भी सुख और दुःख मानना पड़ेगा। जब वहाँ स्वर्ग में सुख-दुःख की बात बनी हुई है तो वह यहाँ भी बनी हुई है। फिर इतनी दूर जाने के लिए, इतने कष्ट उठाने के लिए क्या आवश्यकता है? तुम यहीं बैठें रहो और मरने के पश्चात् कोई जन्म होना होगा तो हो जायेगा। उसमें भी तुम ऐसे ही साधना करना। यदि नहीं होगी तो न सही, स्वर्ग में तो जाओगे नहीं।

जितने चले गए हैं वे कुछ कहने के लिए भी नहीं आये। अब तुम क्या कहने आओगे, बतलाने आओगे कि नरक में भेजा या स्वर्ग में। भगवान् के विषय में हमारी अज्ञता से अनेक प्रकार की धारणायें बनी हुई हैं। सम्पूर्ण जीवन पाप कर्म करते रहेंगे, एक घण्टा संध्या में बैठकर क्षमा भी माँगेंगे। बड़ा ही विचित्र है वह भगवान् जिनके पाप कर्मों का फल आधे घण्टे की संध्या-उपासना से सुखी बना देगा। कर्म का फल तो और ही है। जैसे कर्म करोगे फल तो वैसे ही मिलना है। पापात्मा के कर्मों का तो फल वैसा ही मिलना है जैसे यहाँ पर भी नियम, कानून आदि बनाये हैं। नियमों के अनुसार न चलें तो पुलिस वाले पकड़ ले जाते हैं। वहाँ भी बड़े-बड़े नियम बने हैं। छोटी सरकार यहाँ है, फिर बड़ी सरकार के वहाँ जाना पड़ेगा। वहाँ भी सारी बातें उपस्थित हैं। फिर ऐसे देश-विशेष में जाने की क्या आवश्यकता है?

समाधि की अवस्था में ६ घण्टे यहाँ भी स्वर्ग बन जाता है और दूसरे स्थान मर कर जाने पर भी मुक्ति की बात, इतनी दूर का क्यों चिन्तन करते हो? "वर्तमानेनतु कालेनु वर्तयन्ति विलक्षणाः"—जो बुद्धिमान हैं वे वर्तमान की चिन्ता करते हैं, वर्तमान को अच्छा बनाते हैं, पवित्र बनाते हैं। भूतकाल की चिन्ता

नहीं करते और भविष्यत् काल की भी चिन्ता नहीं करते हैं ।

आप भी वर्तमान जीवन को ऐसा बनाओ जिससे कि शान्त भाव से समाधि की अवस्था में बैठ जाओ । उस समय निर्विकार-सी अवस्था आ जाती है । यही समझ लो कि भगवान् के साथ ही सम्बन्ध हो गया है । एक समाधि की स्थिति उत्पन्न हो गयी । परमात्मा को व्यापक तो समझते हो भले तुम प्रत्यक्ष नहीं देखते । यह तो मानते हो जैसे आकाश को तुम प्रत्यक्ष नहीं देखते परन्तु मानते हो ऐसे ही भगवान् को मानो भले न देखो, वह तो तुम्हें देखता होगा ।

जन्म और मरण उसके अधीन है यह बात समझ में नहीं आती । जन्म तो माता-पिता दे देते हैं और जो जन्मा है उसे मरना भी है । उत्पन्न जो हुआ है उसका विनाश भी होना है । दिनोंदिन परिणाम-क्रम देखते हैं । इस प्रकार के निर्णय भगवान् को करने की आवश्यकता नहीं है । फिर रही कर्मफल की बात कि वह स्वर्ग या नरक में भेजता है । इसमें भी उसके हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है । जैसे विध्यात्मक कर्म हम करते चले जायेंगे, जो कि श्रेष्ठ कर्म हैं या जो पुण्य कर्म हैं, महात्माओं ने, आचार्यों ने, गुरुजनों ने विधान बना दिए हैं । राज्य सरकार भी नगर के लिए, गाँव के लिए विधान बनाती है ।

विध्यात्मक श्रेष्ठ, पुण्य कर्मों को करते चले जाओ, उनका फल तुमको अच्छा ही मिलता चला जायेगा । चोरी, डाका, हिंसा, व्यभिचार, बुरे कर्म सब निषेधात्मक कर्म हैं, इनका फल भी बुरा ही मिलता चला जाता है । जो जैसे विध्यात्मक और निषेधात्मक कर्म हैं वैसे ही फल मिलता चला जायेगा । इसमें भी भगवान् के न्याय की आवश्यकता नहीं है । जब हम जीवित काल में अच्छे और पुण्य कर्म करते चले जायेंगे तो न्याय के लिए भगवान् क्यों आयेगा ? मैं यह नहीं कहता कि भगवान् नहीं हैं । परन्तु उसके काम और हैं । जैसे सामने यहाँ इतना बड़ा पहाड़ है, हम समस्त कश्मीरी लोग मिलकर भी ऐसा नहीं बना सकते । यदि उसको तुम बनाने की बात मानते हो तो इतने बड़े ब्रह्माण्ड को तो हम नहीं बना सकते । परन्तु जो हम बना सकते हैं, जो कर सकते हैं, उसमें भगवान् क्यों हस्तक्षेप करें ?

अतः यह मानना पड़ेगा कि कार्यों में मानव भी स्वतंत्र कर्त्ता है । तुम भगवान् को कर्त्ता तो मानते हो और भोक्ता नहीं मानते हो । अपने आपको कर्त्ता भी मानते हो, भोक्ता भी मानते हो । यह कौन-सी तुम्हारी बुद्धि की बात है ? जो कर्म करेगा वह भोगेगा भी । जिसको परोपकार का काम कहते हैं या निष्काम कर्म कहते हैं, वास्तव में निष्काम, परोपकार आदि कर्म कहने की बातें हैं । बिना कामना के और बिना स्वार्थ के तो संसार में कोई कर्म ही नहीं होता । जब भगवान् को स्वार्थ ही नहीं है तो वह कर्त्ता क्यों होगा ? वह हमारा कर्मफल-दाता क्यों होगा ? वह हमें मारने वाला, जीवित करने वाला क्यों होगा ? अतः जिसको कर्त्ता मानोगे उसको भोक्ता भी मानना पड़ेगा । मैं तो यही समझता हूँ, भगवान् न कर्त्ता है न भोक्ता है ।

फिर आप शंका करोगे कि संसार का सृजन कैसे होगा ? संसार कैसे बन गया ? मैं कहता हूं सन्निधान मात्र से संसार बन गया, संयोग मात्र से बना है। चेतन और जड़ का संयोग है। चेतन परमात्मा है, जड़ प्रकृति है। इनका सदा सम्बन्ध रहता है। जैसे एक चुम्बक पत्थर पड़ा है, दूर सूई या लोहा पड़ा है। यदि वही यह चिपका रहे तो दोनों का नित्य संयोग लोहे का चुम्बक का बना रहेगा। कोई व्यक्ति लाकर इसको नियत स्थान पर रख देता है तो फिर वह खिंच करके उधर ही जायेगा।

इस प्रकृति का एक प्रकार से चेतन के साथ नित्य संयोग है। हम प्रकृति के परिणाम-क्रम को नित्य देखते हैं, परिणति देखते हैं इसलिए हम अनुमान कर लेते हैं, समझ लेते हैं कि परिणति तो प्रकृति में हो रही है। अनजान लोगों ने भगवान् में भी परिणति मान ली है। जब सन्निधान मात्र से, संयोग मात्र से स्वयं ही प्रकृति गतिशील हो सकती है तो भगवान् को कर्त्ता बनाने की क्या आवश्यकता है ? प्रकृति के सब देशों में वह चेतन सत्ता वर्तमान है। यदि एक देश में होती तो फिर उसमें कर्म उत्पन्न हो सकता है। उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण यह सब कर्म के लक्षण हैं।

परमात्मा सर्वत्र व्यापक है अतः कर्म नाम का कोई विषय भगवान् में होता ही नहीं। गुण नाम का, परिवर्तन नाम का कोई विषय होता उसमें ही नहीं। अतः कर्त्तृत्व धर्म भी उसमें नहीं होता। कर्त्तृत्व धर्म उसमें उत्पन्न मानोगे तो हमारी तरह वह भी विकारी और अपराधी होगा। तुम उसको कर्त्ता तो मानते हो और मुक्त भी कहते हो, यह बात हमारी बुद्धि में नहीं आती। भूतकाल के महापुरुषों ने जब देखा कि भगवान् वर्तमान में चोरों का, डाकुओं का, पापियों का कोई न्याय नहीं करता, अतः अपने न्याय करने प्रारम्भ कर दिये। अपना राज्य बना दिया। पुलिस बना दी, सेना रख ली। मनुष्य समस्त व्यवस्था स्वयं ही करने लगा, अब भगवान् की व्यवस्था की इसमें आवश्यकता नहीं रही। कर्मफल भी हम अपने आप ही ले लेते हैं, उसको फल प्रदान करने की आवश्यकता नहीं है।

रही बन्धन और मोक्ष की बात। बन्धन के कर्म हम अपने आप करते चले जाते हैं और उनसे बन्ध बना रहता है। जब विध्यात्मक कर्मों को करते चले जाते हैं तब इसको हम मोक्ष मान लेते हैं, परन्तु यहाँ आकर मैं एक बात और समझा हूँ कि पाप और पुण्य यह मनुष्य ने संसार के लोगों के लिए एक प्रकार की व्यवस्था-सी बना दी है। धर्म-अधर्म भी मनुष्य ही बनाता है। भगवान् की इसमें कोई बात नहीं है। जिन बातों को मैं धर्म माने बैठा हूँ, आज मेरे विचारों में परिवर्तन हो जाता है। जैसे भगवान् के लिए बहुत लड़ता रहा, मरता रहा, बड़ी-बड़ी तपस्यायें कीं, ठण्डे नल में बैठकर, हिम में बैठकर, हिमालय में बैठकर, अग्नि में तप करके साधना करता रहा, अब उन बातों के विषय में विरोधी-सा

बना हूँ। पहले मैंने अपने आप उन बातों को अपनाया। पुण्य की व्यवस्था भी मनुष्य ही बनाता है। भगवान् न कोई पाप बनाता, न पुण्य बनाता है। न कोई फल देता, न कोई विधान बनाता है, न हमें जन्म देता है, न मारता है, न भगवान् पुनर्जन्म का हेतु बनता है। आज के विचारों से मैंने सिद्ध किया है कि पुनर्जन्म की बात भगवान् की नहीं है।

यदि इच्छापूर्वक मैं जन्म ले लूँ, पर इच्छा भी तो हमारी बड़ी प्रधान है। कल इसके विषय में कहूँगा कि क्या इच्छा भी पुनर्जन्म का हेतु हो सकती है। भगवान् का तो निषेध कर दिया। भगवान् पुनर्जन्म का हेतु नहीं है। मैंने पुनर्जन्म का निषेध या खण्डन नहीं किया है, क्योंकि सभी पुनर्जन्म को मानते हैं। ईसाई भी कयामत में न्याय मानते हैं, स्वर्ग या नरक में भेजते है। पुनर्जन्म को मैं भी मानता हूँ, परन्तु मानने में अन्तर है। पुनर्जन्म को देने वाला भगवान् है इस बात का मैंने निषेध किया है।

इसी को आप समाधि का विषय बना लो। आज इस पर मनन करो। विचार करो कि क्या सत्य है और क्या असत्य है। क्योंकि तुम्हारी भी अपनी बुद्धि है। तुम अपनी बुद्धि से आज की समाधि में निर्णय करो। जो आज कहा गया है इसी को समाधि का विषय बना लो।

व्याख्यान-७९

मोक्ष के पथ पर कोई विरला तत्त्वज्ञानी ही चल पाता है।

ओ३म्—परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्रह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

मुण्डक उप० १-२-१२॥

यह उपनिषद् का मंत्र है, इसका भावार्थ यह है कि 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्रह्मणो निर्वेदम् आयान्नास्ति कृता कृतेन'—यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द दिया है जो ब्रह्म-ज्ञान की जिज्ञासा रखने वाला हो, उसको यहाँ ब्राह्मण नाम से प्रतिपादन किया गया है। 'निर्वेदम् आयान्नास्ति कृता कृतेन' निर्वेद कहते हैं वैराग्य को, इस लोक में संसार के भोगों से चित्त में वैराग्य हो गया है जिसको, जो संसार के भोगों से उदासीन हो गया है, सब प्रकार के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य से उसकी निवृत्ति हो गई है, ऐसा व्यक्ति 'तद् विज्ञानार्थम् गुरुमेवाभि गच्छेत्' ऐसे महान आत्मा गुरु के पास जाये जो तत्त्वदर्शी हो, आत्मज्ञानी हो, ब्रह्मज्ञानी हो। 'समित पाणिम् श्रोत्रियम् ब्रह्म-निष्ठम्', पाणि कहते हैं हाथ को, समित कहते हैं समिधा को या सामग्री को जो गुरुजनों के लिए भेंट रूप में ले जाते हैं। विनीत भाव से, नम्रभाव से समित पाणि होकर 'गुरुमेवाभि गच्छेत्' गुरु के पास जाये। वह कैसा गुरु हो? 'श्रेत्रियम् ब्रह्म-निष्ठम्' पूर्ण विद्वान् हो, वेद-शास्त्रादि अन्य ग्रंथों का ज्ञाता हो, ब्रह्मनिष्ठ हो, ब्रह्म या भगवान् को जानता हो। तुम्हारे ऊपर यह मंत्र घट रहा है।

एक और मंत्र में कहा है—"उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशितादुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥ कठ० १-३-१४॥ हे अज्ञानी मनुष्यो! उत्तिष्ठ—उठ जाओ! जाग्रत—अविद्या आदि अंधकार से निकल जाओ, या उठ जाओ! सावधान होकर, जाग्रत होकर उठकर 'प्राप्य वरान्निबोधत' आत्म-ज्ञान, ब्रह्मज्ञान रूपी वर है, उसको प्राप्त करो। 'क्षुरस्य धारा निशिता'—जैसे तीक्ष्ण छुरा होता है या तीक्ष्ण धारवाली खड्ग होती है, इसकी तीक्ष्ण धार पर चलना

तो सरल है परन्तु इस अध्यात्म मार्ग पर चलना तो अति दुष्कर है, क्योंकि प्राय: संसार के कार्य-व्यवहार, भोग-विलासादि सब प्रकार की सामग्रियाँ सबको लोकप्रिय हैं। विद्वान लोग इस मार्ग को बहुत जटिल, कठिन और दुस्तर बताते हैं। अत: प्राय: सब लटके ही रहते हैं कोई विरला महान आत्मा ही पार हुआ करता है, इस संसार के झंझटों से, बन्धनों से छूट सकते हैं या इस संसार रूपी समुद्र को पार किया करते हैं।

आपके सामने विज्ञान का विषय सर्वप्रथम यह शरीर है, क्योंकि इससे ही हमारा प्रधान रूप से संबंध है। भगवान् का सम्बन्ध होते हुए भी हमको पता नहीं लगता। वह हमारे लिए एक प्रकार से न होने के समान है। जिस बात को, जिस वस्तु को जानते ही नहीं और उसके साथ हम सम्बन्ध बना बैठें तो कोई विशेष लाभ का हेतु नहीं होगा। आप का सम्बन्ध इस शरीर के साथ है। इस संसार में रहकर भोग और अपवर्ग दोनों को साधा जा सकता है। इस शरीर और इन्द्रियों के भोग और इनके द्वारा अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति ही मानव-देह का उद्देश्य है। इस शरीर का अध्ययन करने के लिए नित्य प्रति आप साधना में बैठते हैं।

इसका अध्ययन क्या है ? कोई अधिक, बड़ा बड़ा, लम्बा नहीं है और लम्बा इतना है, यदि पुनर्जन्म की बात कहें तो पता नहीं कितने जन्मों से आप लोग इसके लिए साधना करते आ रहे हैं। इसको जानने के लिए पुन:-पुन: शरीर धारण करते हैं। माता का गर्भ जिसे नरक कहा गया है उसके समान और कोई दु:ख नहीं है। गर्भवास का दु:ख संसार में सबसे अधिक माना गया है। इसे बुद्धिमान लोग, तत्त्व ज्ञानी लोग ही समझ पाते हैं। साधारण व्यक्ति नहीं समझ पाते हैं। परन्तु गर्भवास ९-१० महीने का जो दु:ख है संसार में इसके समान और कोई नहीं है। उस दु:ख को निवारण करने के लिए वहाँ कोई साधन और कोई उपाय भी नहीं होते। फिर बाहर आकर इस शरीर के लिए साधन एकत्रित करने में लगे रहते हैं कि हमें सुख प्राप्त हो, परन्तु सर्वथा सुख नाम की कोई वस्तु, कोई पदार्थ आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ। सभी लोग संसार से अधूरे ही जाते हैं।

यह सुख भी भ्रान्तियात्मक है। जिनको सुख समझकर पदार्थों के लिए, भोगों के लिए हम यत्न करते हैं, उनका परिणाम भी दु:ख और क्लेश का हेतु ही देखने में आता है। सुख की इच्छा से मनुष्य सदा ऐश्वर्यों को कमाने में लगा रहता है; परन्तु चोर, डाकू आते हैं, पिस्तौल लेकर खड़े हो जाते हैं, जो कुछ है लूट ले जाते हैं। अत: धन भी सुख का हेतु नहीं है। सुख मानकर पति-पत्नी विवाह करते हैं, पति मरे या पत्नी चली जाय, तो उसके लिए महान क्लेश का हेतु बनता है। विवाह आदि भी सुख का हेतु नहीं होते।

गृहस्थाश्रम में पुत्र-पुत्रियों के सुख माने जाते हैं। परन्तु यूरोप, अमेरिका आदि देशों के लोग तो इन बातों से मुक्त हैं। उनके बच्चे १०वीं कक्षा उत्तीर्ण करने के

पश्चात् फिर अपने आप ही चलते रहते हैं, किसी के बन्धन में नहीं फंसते। अपने आप ही अलग हो जाते हैं। किसी को अलग करने की आवश्यकता नहीं होती। हमारे भारत के बच्चे तो सम्पूर्ण जीवन माँ-बाप से चिपके ही रहते हैं, खाते-पीते रहते हैं, माँ-बाप को लूटते रहते हैं। यूरोप, अमेरिका आदि में इतनी तो मुक्ति हो जाती है। संतान अयोग्य निकल आये, कुमार्गगामी हो जाये, वह भी दु:ख, क्लेश का हेतु होती है। यूरोप, अमेरिका में भी देखते हैं, यदि बच्चे-बच्चियाँ चाहे अलग भी हो गये हों, यदि अति दुराचारी, मदाश्रयी, मांस-भोजी हो जाते हैं, तो उनसे भी दु:ख मानते हैं। अन्ततः उनको भी जन्म दिया है, गर्भ में रखा है, १५ वर्ष तक पालन-पोषण सब कुछ किया है, कोई इतने जीवनमुक्त तो नहीं हो गये कि समस्त राग समाप्त हो गया हो। उनके बच्चे भी अगर कुमार्गगामी हो जाते हैं तो वे भी दु:ख का अनुभव करते हैं।

जब विचार और ज्ञान की दृष्टि से देखा जाता है तो आप किसी भी पदार्थ को ले लो, किसी भी कार्य को ले लो, उसका अंतिम फल दु:ख ही दृष्टिगोचर होता है। "परिणाम तापसंस्कारदु:खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु:खमेव सर्वं विवेकिन:"— क्योंकि परिणामी है, ताप, संताप, दु:ख देने वाले होते हैं, इसलिए दु:ख रूप हैं। अतः जितने भी लोक-व्यवहार हैं सब क्लेश और दु:ख का हेतु होते हैं। इनसे मुक्ति इस शरीर के रहते तो होने की सम्भावना नहीं है। अतः हमारे लिए अज्ञानियों को बहकाने के लिए आचार्यों ने कहा कि मरने के बाद मुक्ति होती है। यदि ऐसी कोई मुक्ति हमें मिलेगी तो भाई, हमें तो पता नहीं। हमारे पूर्व गुरुजन भी मर गये, दूसरे ज्ञानी, ध्यानी भी सब के पैगम्बर चले गये हैं। वहाँ मुक्ति में क्या सुख भोग रहे हैं, कभी आकर हमें बताया भी नहीं। हमारे कान में कह जाते कि मैं वहाँ स्वर्ग में रहता हूँ चलो तुम्हें भी ले चलूँ, बहुत सुख-आराम है वहाँ। ऐसा कोई कहने नहीं आये, उनका केवल हमारा अनुमान ही है। इस शरीर के रहते हुए मोक्ष नाम की कोई वस्तु ज्ञान में आती नहीं है और मरने के बाद आती होगी तो उसको कह नहीं सकते हैं। अनेक यत्न करने पर भी, दीर्घ साधनाएँ करने पर भी, शरीर के रहते हुए दु:खों की निवृत्ति देखने में नहीं आती।

संसार में अपेक्षाकृत सुख देखने में आता है। एक व्यक्ति की अपेक्षा दूसरा सुखी है, उसकी अपेक्षा तीसरा और अधिक सुखी है। सुख और दु:ख की श्रेणियाँ हैं, जैसे ज्ञान की श्रेणियाँ हैं, पढ़ने की श्रेणियाँ हैं। अनेक व्यक्तियों के सम्पर्क में रहकर देखा जाता है, वे कोई अपनी वेदनाओं को प्रकट नहीं करते, दु:ख की बात नहीं कहते और जो दु:ख की डोंडी पीटते रहते हैं, ढिंढोरा पीटते रहते हैं, उनकी अपेक्षा तो वे सुखी दिखाई देते हैं।

युवावस्था में मैं अमृतसर में नहर रहा करता था। झण्डू नाम के एक महात्मा एक वृक्ष के नीचे रहा करते थे। उनको लगभग ३६ वर्ष रहते हुए वहाँ हो गये थे। वे किसी का अन्न नहीं खाते थे, दान नहीं लेते थे। वे ग्राम के थे।

साधारण पढ़े-लिखे थे। मजदूरी करने के लिए दैनिक मण्डी में जाया करते थे। एक घण्टा वहाँ जाकर खड़ा हो जाया करते थे। वहाँ उसका नाम मण्डी वालों को भी प्रतीत हो गया था कि यह बहुत अच्छा महात्मा है। कभी बिना कार्य के भी उनको मजदूरी दे दिया करते थे। वह महात्मा तुरन्त काम करके डेढ़ आना कमा लेता था। कमाई हुई मजदूरी में से ४ पैसे का आटा ले आता था, दो पैसे किसी को दान दे देता था। आटा में थोड़ा-सा नमक होता था। एक दियासलाई रखते थे और लकड़ी एकत्रित करके रोटी पका लेता था और नहर का पानी पी लेता था। कितनी कठिन तपस्या थी! संग्रह करना वे जानते नहीं थे। उनके पैर पर एक फोड़ा हो गया था और उस में कीड़े पड़ गये थे। चलने से उन कीड़ों को कष्ट न हो इसलिए उठकर कहीं जाते नहीं थे, वे इतने अहिंसावादी थे। मैंने कहा—"बाबा! मैं आपको आटा ला देता हूँ, मेरे पास पैसे हैं, ये भी ले लो।" वह कहता था—"क्यों ले लूं मैं तेरे से? क्या मेरे हाथ टूटे हैं क्या?" मैंने कहा—"आपके पैर में घाव है।" कहने लगा—"ठीक हो जायेगा। यह भी कर्म भोग है, इसको भी तो भोगना चाहिए। मैं बुलाकर तो लाया नहीं यह भोग, अपने आप ही आया है।" ८-१० दिन लगे होंगे कहीं उठकर नहीं जाते थे। ८ दिन उसने न मजदूरी की और न खाना खाया। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए, परमात्मा की भक्ति के लिए कितनी कठिन साधना किया करते थे!

दूसरा और एक महात्मा था। उसने एक पेड़ के ऊपर लकड़ी बिछाई हुई थी। उस पर १२-१८ घण्टों तक बैठा रहता था। लंगोटी के अतिरिक्त उसके पास कोई कपड़ा नहीं था। वहाँ एक भक्त अमृतसर का था, वह रोज कुत्तों को रोटी खिलाने जाया करता था। वह महात्मा भी कुत्तों की पंक्ति में खड़ा हो जाया करता था। वह भक्त उस महात्मा को भी दो रोटी दे दिया करता था। कई वर्ष वह इतनी कठिन तपस्या करता रहा उस पेड़ के ऊपर बैठकर, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए। कितनी कठिन-कठिन साधनाएँ करते हैं! इस आत्म-ज्ञान में और ब्रह्मज्ञान में महत्त्व है तभी तो संसार के लोग पागल हुए हैं। आप भी उन पागलों की श्रेणी में हैं और मैं भी हूँ। हम सब पागल हुए हैं, उसके पीछे लगे हुए हैं। कोई विरला ही महान् आत्मा इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करता है। 'मनुष्याणाम् सहस्त्रेणु कश्चिद्यतति सिद्धये'। सहस्रों, लाखों मनुष्यों में कोई विरला ही महान् आत्मा उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हुआ करता है।

इस छोटे-से शरीर में मूलाधार, हृदय और मस्तिष्क ये तीन विज्ञान के केन्द्र माने जाते हैं। मूलाधार और हृदय प्रत्येक व्यक्ति को देखने में नहीं आता। परन्तु इस मस्तिष्क में ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण तो देखने में आते हैं या कार्य-व्यवहार में आते हैं। बाहर तो कान, नाक, आँख आदि ऐसे हैं यह तो मोटी-मोटी इंद्रियाँ हैं। परन्तु इनके अंदर भी और विज्ञान के केन्द्र हैं जहाँ यह विज्ञान होता है।

यहाँ दस इन्द्रियाँ हैं। अनेक आचार्य लोग अन्तःकरण को एक ही मानते हैं। बुद्धि के अन्दर चित्त, मन, अहंकार का समावेश कर देते हैं; इससे ही सब कर्म करने लगतें हैं। अनेक आचार्य तीन प्रकार का अन्तःकरण मानते हैं। बुद्धि को चित्त में समावेश कर देते हैं। चित्त, अहंकार और मन तीन प्रकार का अन्तःकरण मानते हैं। अनेक आचार्य चार प्रकार का अन्तःकरण मानते हैं। वे मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त को मानते हैं। दस इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण इस शरीर में वर्तमान हैं और एक अव्यक्त-सा आत्मा है। अगर और भी लेना हो तो एक इस शरीर का उपादान कारण प्रकृति भी है, जिससे यह शरीर बना हुआ है। इन पदार्थों का समुदाय तुम्हारे इस शरीर में वर्तमान है। तुम इस मस्तिष्क को ही समझो, क्योंकि ज्ञान, ध्यान आदि की बातें इसमें ही सब कुछ होती हैं। सम्पूर्ण जीवन इसका अध्ययन करते-करते हो गया। इसका दर्शन, इसका विज्ञान, इसका नियंत्रण ही बुद्धि में नहीं आता। यह हमारा मस्तिष्क भी बे-लगाम घोड़े की तरह बना हुआ है। अपनी इच्छानुसार हमारा मन जिस गड्ढे में, जिस गर्त में, जिस कुविचार में, चाहे जहाँ भी ले जाय वहीं हम चले जाते हैं, इसके वशीभूत से बने रहते हैं।

आज आप अभ्यास में मस्तिष्क को अपनी समाधि का विज्ञान का केन्द्र बनायें। इसका अध्ययन करें, इसको समझें, इन्द्रिय और मन का निरोध करें और आत्मा के साक्षात्कार करने का प्रयत्न करें।

व्याख्यान-८०

आत्मा और परमात्मा का साक्षात्कार कैसे किया जाय !

ओ३म्—आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् ।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ अथर्ववेद १०-८-६॥

प्रसंग चल रहा था कि आत्मा का या परमात्मा का साक्षात्कार कैसे किया जाय ? उसका साधन क्या है ? ये दोनों ही हमारे इतने समीप हैं कि सम्भवतः और कोई पदार्थ इतना समीप नहीं है। यह वाक्य भी मैं भ्रांति से कह रहा हूँ कि आत्मा मेरे समीप है। स्वयं को, अपने आपको भी भिन्न रूप से प्रतिपादन कर रहा हूं। इसका नाम अविद्या और अज्ञान है। अपने स्वरूप को प्रकट करने के लिए जैसे कि आँख, नाक, मुँह आदि हैं, परन्तु आँखें अपने आपको स्वयं नहीं देखतीं जब तक कि कोई अन्य साधन उपलब्ध न हो। आँख को देखने के लिए दर्पण रूपी साधन की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अपने स्वरूप को देखने के लिए किसी साधन की या माध्यम की आवश्यकता होती है, जैसे आँखें स्वयं को नहीं देखतीं, ऐसे ही हम अपने स्वरूप को स्वयं नहीं देखते। जैसे मुख देखने के लिए दर्पण (शीशा) सामने आयेगा तो यह पलकें हैं, यह नाक है, यह मुँह है, इस प्रकार नेत्रादि को देख सकते हैं। इसी प्रकार अपने स्वरूप को भी, अपने आपको भी देखने या जानने के लिए चित्त रूपी दर्पण की आवश्यकता है।

एक और हमें सनक-सा चढ़ा हुआ है भगवान् के प्रति कि भगवान् को जानना है, भगवान् को देखना है, उसको मिलना है। क्यों उसको मिलना है, क्या आवश्यकता है उसको मिलने की ? इसकी शङ्का उत्पन्न होती है कि उसको प्राप्त करके तुम्हें क्या मिलेगा ? पहले ऋषि, मुनि, पैगम्बर सम्पूर्ण जीवन उसकी उपासना तथा भक्ति करते रहे और चले भी गए, उनको क्या मिला ? यह हमको कुछ पता नहीं है। केवल हमारा उनके प्रति अनुमान ही है। उनके प्रत्यक्ष को देखकर भविष्य का अनुमान करते हैं कि वे स्वर्ग या मोक्ष में चले गये हैं।

वास्तव में देखा जाय तो स्वर्ग और नरक इस शरीर में रहते हुए यहीं वर्तमान हैं। यदि हमारा मन शान्त रहता है, स्थिर रहता है, हमारे अधिकार में रहता है,

इन्द्रियाँ हमारे अनुकूलता में रहें तो समझो कि यही स्वर्ग है और तभी ये सब शाश्वत सुख का साधन बनती हैं। यदि ऐसी स्थिति कोई यहाँ है जिसका कि शास्त्रों में वर्णन किया है कि मोक्ष में शान्ति और आनन्द का साम्राज्य है, तो यही है। मोक्ष के विषय में सबने बहुत आकाश-पुष्प दिखाये हैं। मैंने भी अपने ग्रंथों में मोक्ष का बड़ा वर्णन कर आकाश-पुष्प दिखाये हैं। परन्तु मरने के बाद क्या गति होगी इसका अनुमान प्रत्यक्ष को देखकर लगाया जा सकता है। वहाँ का आँखों देखा हुआ हाल मैं नहीं कह रहा हूँ या कोई और आचार्य नहीं कहते, केवल वर्तमान को देखकर प्रत्यक्ष का अनुमान करते हैं कि मरने के बाद मोक्ष में हमारी इस प्रकार की गति होगी। वरन् इतने ऋषि, मुनि, पैगम्बर मोक्ष में चले गये हैं। परन्तु किसी ने आकर तुम्हें नहीं बताया कि मोक्ष कैसा है और वहाँ क्या होता है।

हमारे जीवन की स्थिति ऐसी होनी चाहिए, हमारा जीवन ऐसा होना चाहिए जिससे हम भविष्य का भी अनुमान लगा लेवें कि मरने के बाद हमें मोक्ष प्राप्त होगा अथवा नहीं। ऐसी स्थिति पहले जीवन में बनानी चाहिए। इस शरीर में, इस मन में सब बातें मोक्ष जैसी आ जानी चाहिए। मोक्ष में सुख होगा, पूर्ण शान्ति होगी, पूर्ण आनन्द होगा, पर उस मोक्षानन्द के भोगने के लिए भी तो कोई वहाँ साधन या शरीर होना चाहिए। इस स्थूल शरीर को तो इसी लोक में छोड़कर जाओगे। मन, बुद्धि, चित्त के द्वारा वहाँ मोक्ष-सुख की प्राप्ति करोगे न। करण तो इस लोक में भी इस शरीर के भीतर वर्तमान है। इसे समाधि की स्थिति में क्यों नहीं प्राप्त करते हो, जहाँ सब प्रकार के दुखों का अभाव हो जाय। ऐसी स्थिति तो आप इस शरीर में भी ध्यान-समाधि की स्थिति में ला सकते हो। उसको देखकर आप अनुमान कर सकते हो कि मरने के बाद ऐसी गति होगी।

ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन, हिन्दू जितने भी सम्प्रदाय हैं सभी इस शरीर के छूटने या मरने के बाद ही मोक्ष की बातें करते हैं। मोक्ष की बात मरने के बाद ही क्यों करें ? इस शरीर की विद्यमानता में ही मोक्ष की बात क्यों न करें ? सूक्ष्म और कारण शरीर वहाँ जाकर मोक्ष का आनन्द भोगते हैं, तो यह कारण और सूक्ष्म शरीर इस लोक में भी हमारे भीतर हैं। परमात्मा भी हमारे भीतर वर्तमान है। समस्त सम्प्रदाय भगवान् को व्यापक मानते हैं। जब भगवान् व्यापक है तो यहाँ भी वर्तमान है। सूक्ष्म और कारण शरीर सब स्थूल शरीर में स्थित हैं। वर्तमान में इस शरीर के रहते हुए क्यों न उस भगवान् का सुख और आनन्द भोगा जाय ? क्यों न स्वर्ग या मोक्ष को ही यहाँ लाया जाय ? इस कमरे में, इस शरीर में, ध्यान की अवस्था में क्यों न भगवान् को यहीं देखा जाय ? इसी स्थूल शरीर के रहते हुए भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

जब आप लोग भी इस स्थूल शरीर में आत्मा, बुद्धि आदि को मानते हो, इनके द्वारा उसके दर्शन की बात करते हो, परन्तु मरने के बाद ही मोक्ष की बात सब क्यों

करते हैं ? इससे ज्ञात होता है कि हमें ये सब लोग भ्रम में डालते रहे हैं। हमें आकाश-पुष्प मरने के बाद दिखाते हैं। मैं तो इस विषय में प्रत्यक्षवादी हूँ।

यदि स्वर्ग नाम का कोई स्थान है, भगवान् नाम की कोई वस्तु है, वह इसी शरीर में, इसी अवस्था में हमको प्राप्त होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान हुआ करता है। जब परमात्मा और मोक्ष का यहाँ प्रत्यक्ष हम नहीं कर सकते, तो मरने के पश्चात् का क्या अनुमान कर सकते हैं ? अनुमान भी नहीं होगा। अत: समाधि की अवस्था में जब आप आत्मा और परमात्मा का आनन्द अनुभव कर सकते हो तो भविष्य की बात क्यों करें ? प्रत्यक्ष की बात क्यों न करें ? प्रत्यक्ष रूप में जब आत्मा या परमात्मा को, स्वर्ग और मोक्ष के सुख को देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, भोगा जा सकता है तो इस शरीर के रहते हुए ही वात क्यों नहीं करते ? मरने के पश्चात् की बात क्यों करते हैं ?

वर्तमान के जितने ग्रंथ हैं बाइबिल, कुरान, वेद, शास्त्र तथा आचार्य, विद्वान सब मोक्ष के विषय में जो आकाश-पुष्प दिखा गये हैं, उन आकाश-पुष्पों का प्रत्यक्ष इस शरीर के रहते करना चाहिए। इस शरीर के रहते हुए उस मोक्ष के आनन्द को भोगा जा सकता है। इसके लिए कोई दूसरा शरीर तो उत्पन्न नहीं होना है। दूसरे शरीर या जन्म को ईसाई और मुसलमान लोग तो मानते ही नहीं। इस शरीर के पश्चात् दूसरे लोक में अन्य शरीर प्राप्त होगा इसे वे नहीं मानते। मोक्ष में जाने के विषय में दो विचारधाराएँ हैं। कुछ लोग तो कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ही मोक्ष में जायेगा और कुछ लोगों का कथन है कि स्थूल शरीर यहीं मर कर समाप्त हो जायेगा। उसके भीतर का सूक्ष्म या कारण शरीर मोक्ष में जाता है। स्थूल की बात नहीं बनती तो सूक्ष्म से ही भगवान् को देख लो। ऊपर भगवान् किसी दूर देश में रहता है तो उसकी सर्वव्यापकता समाप्त हो जायेगी।

इन दोनों शरीरों के द्वारा भगवान् की बात मान लो। सब सम्प्रदाय मानतें ही हैं कि परमात्मा सर्वत्र है जैसे बाहर का आकाश है, केवल पदार्थों का ही भेद होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण यह तीनों शरीर अब वर्तमान हैं तो इस जीवन के रहते हुए भी भगवान् को प्राप्त कर सकते हो, देख सकते हो, जान सकते हो, समझ सकते हो। ये सब लोग मृत्यु के पश्चात् ही मोक्ष मिलने की और भगवान् के मिलने की बातें क्यों करते हैं ? मैं तो कहता हूँ कि इस जीवन के रहते हुए, इस शरीर के रहते हुए भगवान् और मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे समाधि की अवस्था में मोक्ष के समान ही अवस्था होती है। मरने के बाद मोक्ष होगा यह अनुमान की बात है।

अब रही परोक्ष की बात। अगर हमारा वर्तमान का जीवन मुक्तात्माओं जैसा है, ज्ञानियों जैसा है, योगियों जैसा है, तत्त्वदर्शियों जैसा है, तो मरणोपरान्त भी लगभग वैसा ही रहेगा। जैसा जीवन आपका कल, परसों को था वैसा ही जीवन अथवा उसके साथ मिलता-जुलता वैसे ही कर्मानुसार आज भी तुम्हारा जीवन है।

जब कल-परसों का जीवन मिलता-जुलता है वैसे ही तुम्हारा ज्ञान-विज्ञान भी मिलता-जुलता ही है।

इस स्थूल शरीर के अतिरिक्त इसके भीतर और दो सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर भी वर्तमान हैं। समाधि की अवस्था में स्थूल शरीर को यहीं बिठाये रहो, सूक्ष्म को भगवान् के साथ चिपका दो या कारण शरीर के द्वारा अनुभूति हो सकती है तो कारण शरीर को ही भगवान् के साथ चिपकाओ। भगवान् भी वर्तमान है, तीनों शरीर भी वर्तमान हैं, तो यहीं भगवान् के साथ अपने शरीर को मिला लो। उसके आनन्द को प्रत्यक्ष कर लो।

यहीं देख लो, यहीं जान लो। यहाँ यदि वह देखने में आता है, समझ में आता है, तो भगवान् के साथ ही चिपके रहोगे, जुड़े रहोगे। अगर अब देखने में नहीं आता तो मरने के बाद भी कोई आशा न रखो। वर्तमान की अवस्था जो तुम्हारी है इसी से अनुमान कर लो। यदि मोक्ष नाम की कोई अवस्था है तो उसको इसी जीवन में प्राप्त कर लेना चाहिए, अनुभव कर लेना चाहिए, क्योंकि परमात्मा भी इस लोक में यहीं वर्तमान है और सूक्ष्म-कारण शरीर तथा मन-बुद्धि आदि सब यहाँ उपस्थित हैं। दूसरे लोक में जाकर मोक्ष के आनन्द का अनुभव करोगे। वह समस्त साधन तुम्हारे पास वर्तमान हैं। फिर परोक्ष की क्यों बात करते हो? यहाँ पर ही परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। अपने मन, इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त कर परमात्मा के साथ नियोजित करना चाहिए। उसके साथ मिलकर शान्ति, आनन्द का अनुभव करना चाहिए। यदि ऐसी स्थिति आ जाती है तो कल ही तुम्हारा मरण हो जाय तो मरणोपरान्त सीधा ही मोक्ष में चले जाओगे। अत: मोक्ष यहीं निर्माण करना है, यहीं तैयार करना है, यहीं बनाना है।

पंजाबी भाषा में एक कहावत है "कुच्छड़ कूड़ी ते शहर ढिंढोरा"—अर्थात् बगल में बच्ची को उठाया हुआ है और ढिंढोरा पीट रहा है कि मेरी बच्ची गुम हो गयी है। ऐसी ही स्थिति तुम्हारी सब अभ्यासियों की बनी हुई है। आज के अभ्यास में तुम्हें अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना है क्योंकि मेरा शरीर रोगी हो गया, बीमार हो गया, मेरा मन नहीं लगता, मेरा चित्त नहीं मानता, मेरी बुद्धि नहीं मानती, इस प्रकार हर समय मेरेपन का व्यवहार करते हो। अपने से भी भिन्न मन को भी कहते हो, बुद्धि को भी कहते हो, शरीर, प्राण, हाथ, पैर आदि सबको भी भिन्न प्रतिपादन करते हो। तुम अपने आप क्या हो? कौन हो? उसको आज आप लोग अपनी समाधि में बैठकर ढूंढ़ना, खोज करना है। जिसके हाथ में दिव्य ज्योति रूपी टार्च हो, उसके सहारे आत्मा या परमात्मा तक पहुँचना भी सम्भव होगा। पहले आप अपने शरीर में ही उस आत्मा या परमात्मा को ढूंढ़ना। यह रूपात्मक विज्ञान कहलायेगा। यदि टार्च न मिली और अँधेरा हो तो क्या करोगे? जैसे अन्धा स्पर्श के द्वारा दुनिया के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है, धीरे-धीरे उसी

प्रकार आप स्पर्श के द्वारा या प्राण के द्वारा आत्मा या परमात्मा का अनुभव करने का यत्न करना या परमात्मा को ढूंढ़ना। यह स्पर्शात्मक विज्ञान कहलायेगा।

तीसरा मार्ग या साधन है शब्द। जैसे शब्दों के द्वारा मैं तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ, समझा रहा हूँ, आत्मा-परमात्मा को समझा रहा हूं, उसके लक्षणों को, स्थान को एवं रूप का वर्णन कर रहा हूं, उसके नाना प्रकार के कार्यों का वर्णन कर रहा हूं, जैसे-जैसे शब्दों का उपदेश दिया है कि आत्मा ऐसा है, परमात्मा ऐसा है, इसके आधार पर परमात्मा को तुम खोज सकते हो, जान सकते हो, समझ सकते हो। यह शब्दात्मक विज्ञान कहलायेगा।

इन तीन साधनों में जिसको जो प्रिय है, अनुकूल है, उसके द्वारा अपने स्वरूप की खोज करना—कहाँ मैं हूँ? कैसा मेरा स्वरूप है? क्या आकार है? गोल है या लम्बा है, काला है या पीला है? कैसा हूं, कहाँ हूं, किस जगह हूँ? प्रकाश वाला हूँ या स्पर्श वाला हूँ या शब्द वाला हूँ? इन बातों को आप अपनी समाधि में खोज करना, देखना, समझना। परमात्मा को जाने दो, वह दूर भी हो सकता है, लेकिन अपनी आत्मा तो सबसे समीप है। इसलिए आज की साधना में अपने स्वरूप को ढूंढ़ने का, खोजने का यत्न करना।

व्याख्यान-८१

चेतन आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान।

ओ३म्—उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

ऋग्वेद १-५०-१०॥

मैं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए परमात्मा की अपेक्षा अपने स्वरूप के, अपने आत्मा के ज्ञान पर विशेष बल देता हूँ। यदि हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाय, तो इस जगत् का जो नियन्ता है, उसका भी हमें पता लग जाता है। किन्तु इसमें हमें भ्रांति सी पड़ी हुई है, क्योंकि इसके (आत्मा के) ऊपर समस्त विषयों का आरोप करते हैं। यह चाहे इसका स्वभाव है या आरोप है, परन्तु तुम्हें अपने स्वरूप का अन्दर प्रत्यक्ष होना चाहिए कि उसका स्वरूप कैसा है। जब कोई पदार्थ है तो उसका कुछ-न-कुछ रूप अवश्य मानना पड़ेगा। यदि अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तो फिर दूसरे के ज्ञान का क्या आवश्यक रह जाता है? वैसे तो आचार्यों ने कहा है—"यस्य विज्ञाते सर्वं विज्ञातम् भवति"—इसका ज्ञान हो जाने पर सब का ज्ञान हो जाता है। परन्तु हमें वे कहेंगे कि इस शरीराभिमानी आत्मा के ज्ञान होने पर भी सब कुछ ज्ञान हो जाता है। "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे"—जो इस शरीर में है वही इस ब्रह्माण्ड में है। जैसे ब्रह्माण्ड का नियन्ता कोई और बड़ा चेतन है वैसे ही छोटे शरीर रूप ब्रह्माण्ड का नियन्ता आत्मा है तो दोनों आत्माओं की तुलना-सी करते हैं। बहुत-सी बातों में आचार्यों ने चेतनत्वेन जैसे यह चेतन है वैसे भगवान् भी चेतन है, तो एक चेतन का ज्ञान हो जाने पर दूसरे चेतन का भी ज्ञान हो जाता है। क्योंकि चेतनता दोनों में समान है, दोनों में एक जातीयता आ जाती है। जहाँ बहुसंख्या हुआ करती है वहाँ जातित्व हुआ करता है। वैसे वेद में भी जातीयता मानते हैं, जहाँ बाहुल्यता होती है, बहुसंख्या होती है वहाँ जातित्व हो जाता है।

भगवान् भी आत्मा की जाति वाला सिद्ध हो जाता है। जैसे आत्मा चेतन है वैसे ही परमात्मा भी है। तो फिर जब इसका स्वरूप समझ में आ जाता है, इसके निकट ही तो वह व्यापक रूप से है। व्यापकता तो तुम मानते हो न। तो कम-से-कम इसके निकट तक तो वह आत्मा पहुँचा हुआ होगा। दोनों के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। यदि अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तो फिर परमात्मा और इसके बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक तो चित्त व्यवधान बना रहता है। जब ज्ञान हो जाता है तब व्यवधान नहीं रहता, भेद नहीं रहता, अन्तर नहीं रहता है। अतः आप सबको यत्न करना चाहिए अपने

स्वरूप का ज्ञान पहले प्राप्त करें। इसके विषय में कोई कर्म करना होगा। किसी को यदि मकान का निर्माण करना है, तो उसके लिए वैसे ही साधन चाहिए। जैसे लेखक चिट्ठी लिखता है तो उसे कलम की आवश्यकता होगी। कर्म करने के लिए, व्यापार करने के लिए किसी करण की आवश्यकता होती है। यहाँ भी किसी साधन के द्वारा, किसी करण के द्वारा अपने स्वरूप को भी जानना होगा। नित्य हम दृष्टान्त देते हैं कि जैसे अपने रूप को देखना चाहते हो तो दर्पण की अपेक्षा होगी। मुख अपने आप देख नहीं सकता। दर्पण की अपेक्षा रखता है। उसी चित्त रूपी दर्पण की आपको अपेक्षा करनी पड़ेगी। वैसे तो आत्मा भी चित्त के अति समीप है क्योंकि अति समीपवर्ती वस्तु भी शीघ्र दर्शन का विषय नहीं बनती है और अति दूरस्थ वस्तु भी नहीं बनती है, जिसमें व्यवधान पड़ा हो वह भी दर्शन का हेतु नहीं बनती।

यहाँ ये तीनों बातें बनती हैं, आत्मा हमारे अति समीप है अतः शीघ्र दर्शन का विषय नहीं बनता और हमारे दूर भी है क्योंकि हमें उसका ज्ञान नहीं है। अपने आपको न जानने के कारण हम अपने आप से अति दूर बने हुए हैं। हमारे इस शरीर या अन्य शरीर का इस पर व्यवधान भी पड़ा हुआ है। इन व्यवधानों को जानने के लिए हम उदाहरण के रूप में यह कहते हैं कि जब इस आश्रम में आप पहुंचेंगे तो पहले ये कुटियायें आपके समक्ष आयेंगी पश्चात् इस सत्संग भवन में आओगे।

आत्मा के समीप पहुँचने के लिए हमने यहाँ ४-५ साधन बताये हैं। ज्योति के द्वारा, प्राण के द्वारा, शब्द के द्वारा और संकल्प-विकल्पों का अभाव करना—ये चार साधन बताये हैं। इन साधनों की यहाँ चार श्रेणियाँ बनायी गयी हैं। एक व्यक्ति को प्रथम साधन अच्छा लगता है, तो दूसरे को दूसरा साधन, तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा या अन्य साधन अच्छा लगता है।

संकल्प-विकल्पों के अभाव वालों के लिए भी हमने बता दिया है कि जब तुम्हारे संकल्प-विकल्प शान्त हो जाते हैं तब शान्ति का साम्राज्य तुम्हारे मन के भीतर आ जायेगा। पुनः उसके बाद आनन्द का अनुभव होने लगेगा। जिस देश में, जिस स्थान में शान्ति और आनन्द उत्पन्न हो रहे हैं उसको आप ही कहेंगे कि यहाँ शान्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव हो रहा है। उस शान्ति के देश में, उस आनन्द के देश में चेतना की खोज करनी होगी, आत्मा उसमें मिलेगा। उस आनन्द के भीतर ही चेतना के स्वरूप को देखना चाहिए। चाहे उसमें सर्वव्यापक, चेतन तुम मानते हो या एक देश में रहने वाला मानते हो, यह भी विधि सरल है। परन्तु दूसरों के ज्ञान को देखकर लालायित नहीं होना चाहिए। कभी-कभी ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि मैं तो शान्ति और आनंद में ही पड़ा रहा, इसको तो सूक्ष्म शरीर का भी ज्ञान हो गया, कारण शरीर का भी पता लग गया, मन, बुद्धि का भी पता लग

गया है, मुझे तों कुछ भी पता नहीं लगा। इस निरोध रूप साधन के द्वारा मानो आप वायुयान में बैठकर सीधे भगवान् के देश में जाकर उतर जाओगे। यह एक प्रकार से वायुयान से जाने वाला मार्ग है। अतः संकल्प-विकल्पों का अभाव करते हुए शान्ति और आनन्द से भी भगवान् के समीप पहुँचा जा सकता है।

अब यह जो दूसरा साधन हम बता रहे हैं यह बुद्धि को प्रखर बनाने के लिए, बुद्धि को सूक्ष्म बनाने के लिए है। वहाँ तो केवल विश्वास की बात बनती है। संकल्प-विकल्पों के अभाव में और यहाँ विश्वास की बात कुछ नहीं है। यहाँ "यस्तर्केण अनुसंधत्ते सः धर्मम् वेदा"—अर्थात् तर्क के द्वारा, तर्क की कसौटी पर जो विज्ञान सिद्ध हो रहा है वह ठीक विज्ञान है। कल्पना किया हुआ या वैसे ही मान लेना ज्ञान ठीक नहीं होगा। तर्क की कसौटी पर आपको सब विज्ञानों को कसना होगा। यह जो विज्ञान का क्रम है जैसे स्थूल शरीर का विज्ञान है, पहली, दूसरी, तीसरी श्रेणी के क्रम से श्रेणियाँ विद्यालय में भी तो लगती हैं। यह भी वैसे ही विज्ञान की श्रेणियाँ हैं। जो विज्ञान के क्रम से चेतन के समीप पहुँचना चाहते हैं, जैसे पहले स्थूल शरीर का विज्ञान हो गया, फिर सूक्ष्म शरीर का भी विज्ञान हो गया, फिर कारण शरीर का भी विज्ञान हो गया, कारण शरीर के अंतिम छोर पर चेतना का आवास आपको मिलेगा। यह तो विज्ञान का क्रम है।

इसमें आप दूसरों को भी प्रभावित कर सकेंगे, समझा सकेंगे और यह जो केवल संकल्प-विकल्प का अभाव करके बैठना है यह तो जो सब कुछ पा चुके हों, जिनको पढ़ने-लिखने की आवश्यकता नहीं है, वे इस विधि को अपनायेंगे तो उनको सफलता शीघ्र ही मिल जायेगी। जिनको विज्ञान की जिज्ञासा है उनको इस क्रम से चलना पड़ेगा—स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म या कारण—इस रूप में।

"यद् खम् तद् ब्रह्म"—परमात्मा की उपमा इस आकाश के साथ देते हैं। पोल को आकाश कहते हैं। अब इस पोल को आप आँख से भी देखते हो, हाथ से स्पर्श करके भी अनुभूति होती है। जब कोई वस्तु है, उसका स्पर्श से भी अनुभव होगा। अब आँख का विषय रूप आकाश बन गया, स्पर्श का विषय भा बन गया और शब्द का विषय भी बनता है क्योंकि आकाश के भीतर शब्द पैदा होता है। गंध के द्वारा भी आकाश का ज्ञान होता है। दूर में वहाँ कोई पुष्प है, वायु उसकी गंध को उड़ाकर यहाँ तक लाती है, तो गंध के द्वारा भी आकाश का अनुभव होता है। और यह रस का भी विषय होगा। जैसे सामने नमकीन, मीठा, खट्टा आ जाता है उस रस का स्वाद भी प्रत्येक का भिन्न होता है। मीठा पास में रखा हुआ हो तो मुँह में पानी आने लगेगा। अत: यह रस का भी विषय बन गया। इस प्रकार से यह आकाश पाँचों का विषय बन गया।

जब आकाश का कोई आकार नहीं है फिर भी इसको प्रत्यक्ष देखते हो तो इसी प्रकार परमात्मा भी आकाश के सदृश है। आप उसको आँख से भी देख सकते हो,

स्पर्श भी कर सकते हो, उसको सूंघ भी सकते हो, चख भी सकते हो। जब वह कोई पदार्थ है तो समस्त इन्द्रियों का विषय बन सकता है। यद्यपि आचार्यों ने परमात्मा को इन्द्रियों का विषय नहीं माना है, इन्द्रियों का विषय वे न मानें, परन्तु हम यह कहते हैं कि इन्द्रियों का विषय प्रत्यक्ष कहलाता है और एक प्रकार से यदि बुद्धि का और मन का सम्बन्ध इसके साथ में न हो तो इन्द्रियाँ भी नहीं बतातीं। इन्द्रियों का माध्यम बुद्धि बनाती है। बुद्धि इन्द्रियों से कर्म कराते हुए इनसे कर्म का अनुभव करती है तो इसी प्रकार परमात्मा भी तुम्हारी बुद्धि का विषय इन्द्रियों द्वारा बन जायेगा।

जैसे हमने ज्योति की बात कही है, प्रकाश को लेकर परमात्मा को ढूंढ़ते हैं, आकाश को लेकर प्रकाश को ढूंढ़ते हैं। समस्त व्यापार प्रकाश ही बतलाता है। इसी प्रकार प्रकाश या ज्योति के द्वारा भी आत्मा या परमात्मा तक पहुँच सकते हो। भले ही वहाँ परमात्मा पोल रूप से दिखाई दे। पर बुद्धि तुम्हें इतनी सूक्ष्म बनानी पड़ेगी कि जैसे यह आकाश भी पोल रूप से तुम्हें दिखाई दे रहा है। ऐसे पोल रूप से भगवान् भी तुम्हारी दृष्टि का विषय बनेगा, पर बनेगा एक प्रकार से बुद्धि के द्वारा ही। यह आँख जो आकाश को दिखा रही है जबकि इसके साथ बुद्धि लगी हुई है तभी तो आँख दिखाती है। यदि बुद्धि का सम्बन्ध आँख के साथ न हो तो आँखें तो पागल की भी खुली रहती हैं पर वहाँ बुद्धि काम नहीं करती जिसके कारण वह देखते हुए भी नहीं देखता। अतः बुद्धि का सम्बन्ध सब स्थानों पर आवश्यक है। बुद्धि प्रत्येक पदार्थ के द्वारा चेतन को विषय बना लेती है। प्रत्येक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करा लेती है। जैसे रूप जो नेत्रों का विषय है, रूप बुद्धि का भी है, सूक्ष्म नेत्र का भी है और स्थूल नेत्र का भी है। जिनके नेत्र नहीं होते क्या उनको परमात्मा का ज्ञान नहीं होता? उनको प्राण ज्ञान करायेगा, बुद्धि बतायेगी, शब्द ज्ञान करा देगा। इसीलिए इसकी खोज के लिए किसी को ज्योति का साधन बताया है, किसी को प्राण का साधन बताया है। ये सब वहाँ तक पहुँचने के साधन हैं, या माध्यम बताये हैं उस स्थान पर पहुँचने के लिए, देखने के लिए, जानने के लिए। कमरे में कोई वस्तु रखी हुई है, हाथ में टार्च नहीं है, अँधेरा है तो उसको स्पर्श के द्वारा खोज लेते हैं या वहाँ किसी प्रकार के शब्द या ध्वनि की उत्पत्ति करके देख लेते हैं। कोई वस्तु ध्वनि से यह अमुक वस्तु है अथवा यह बर्तन की, गड़वी की या गिलास की ध्वनि है। सभी पदार्थों की ध्वनियाँ पृथक्-पृथक् होती हैं, तो शब्द से भी वहाँ तक पहुँचते हैं।

हमारे शरीर के बीच में आत्मा को या परमात्मा को आप समझ लें। हमें समझने के लिए हृदय जो है। हृदय उस स्थान को कहते हैं जिसके गर्भ में चेतन सत्ता वर्तमान है। अब हृदय के बीच में है तो हम उसके निकट जाना चाहते हैं तो डाक्टर पहले त्वचा को काटेगा, शल्य-क्रिया कर से चर्म को फाड़ेगा, क्योंकि भीतर

पहुँचना है उसके। फिर माँस की पेशी को काटेगा, फिर हृदय को काटेगा क्योंकि उसके भी गर्भ में चेतना है। वह शल्य-क्रिया के द्वारा वहाँ आत्मा के पास पहुँचेगा और आप बिना शल्य-क्रिया के ही चेतना को देखना चाहते हो।

वहाँ बिना शल्य-क्रिया के पहुँचने का उपाय यह है कि यदि तुम इस दीवार से देखना चाहते हो तो सारी दीवारें चारों ओर लकड़ी की हों, काँच की दीवार न हो, बाहर का प्रकाश इस कमरे के भीतर न पहुँच पाये। तुम्हारा सारा शरीर बिना काँच का कमरा है और इसमें लगे हुए हैं, एक हृदय में चित्त रूपी दर्पण, दूसरा दर्पण मस्तिष्क में बुद्धि। यह दो दर्पण तुम्हें चेतना को दिखाने में समर्थ होंगे। जैसे इस दर्पण के ऊपर सूर्य का आभास या प्रतिबिम्ब पड़कर अन्दर प्रकाश आता है वैसे ही चित्त रूपी और बुद्धि रूपी दर्पण में तुम उस आत्मा को, उसके आभास को उसके प्रतिबिम्ब को देख सकोगे। चाहे ज्योति को लेकर अन्दर चलें, चाहे प्रकाश तुम्हारे हृदय में पैदा हुआ हो या मस्तिष्क में हो अथवा मूलाधार में हो। तीन स्थानों में ज्योति का प्रादुर्भाव होता है।

दूसरे जो प्राण को लेकर चलने वाले हैं। यह जो तुम्हारा श्वास-प्रश्वास चल रहा है इसको शनैः-शनैः मन्द करके हृदय तक और मस्तिष्क तक उसका गमनागमन बनाओ। सूक्ष्म बनाकर उसके निकट पहुँचकर उससे चेतना का अनुसंधान करो। उसमें व्याप्ति-सी आपको प्रतीत होगी।

तीसरा साधन शब्द भी है। शब्द को इसकी हाथ की नाड़ी (पल्स) को पकड़ कर यह जो धड़कन चल रही है वह हृदय से मस्तिष्क तक भी जाती है। उस धड़कन के साथ ओ३म्, राम ऐसे कोई परमात्मा का नाम जोड़ना चाहते हो तो तुम्हारी इच्छा है। वह शब्द या नाम भी धड़कन के साथ मिलकर आपको वहाँ पहुँचा देगा। शब्द के द्वारा भी वहाँ चेतना को प्रबुद्ध करेगा। नहीं तो धड़कन के साथ ही अपनी भावना को पैदा करो, अपनी भावना के द्वारा भी वहाँ पहुँच सकते हो। जैसे, मैं अभ्यास में बैठता हूँ, और अपने मनोबल से तुम्हारे मन को स्तब्ध करने का प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि इतने वर्षों की साधना से मुझे ज्ञात हो गया है कि मन का स्थान कहाँ है? उसका आकार, प्रकार, रूप कैसा है? मैं अभ्यास के समय में उसको स्तब्ध करने का यत्न करता हूँ। शरीरों को नहीं छेड़ता मन में यह जो कम्पन-से होते रहते हैं, मस्तिष्क में मन, बुद्धि से इनको पकड़ता हूँ। बस और कुछ नहीं जिससे ये इधर-उधर और चिंतन न करें। तुम्हारा मन उसी देश का चिन्तन करे, वहाँ की बात को ही बताये यही प्रयत्न करता हूँ। इसमें तुम्हारी समझ में यदि कोई बात आ गयी है तो शब्द के द्वारा अथवा भावना के द्वारा भी उस चेतना को समझा जा सकता है। भावना का अर्थ वहाँ ध्यान होता है, तो तुम कोई लक्ष्य बना लो तो भावना के द्वारा भी ध्यान हो जाता है। यह शब्द के द्वारा अभ्यास है।

चौथा जो साधन बताया था सब विचारों का अभाव करते चले जाओ, वह शान्ति और आनन्द का साधन बनेगा। वहाँ भी दो साधन, करण शान्ति और आनन्द के हैं। वहाँ निष्ठा, प्रतिष्ठा बनानी होगी। शान्ति का वातावरण बनाना होगा। बुद्धि और चित्त के अन्दर फिर वह देखना है कि शान्त वातावरण में कोई हिलोरें मारती हुई चीज बहती हुई, तरंगित होती हुई क्या कोई जाग रही है? बुद्धि के मण्डल में भी जब ज्योति को लेकर अभ्यास करोगे तो वहाँ बुद्धि में भी ऐसा कम्पन, थरथराहट-सी होती प्रतीत होने लगेगी। तुम स्थूल शरीर को भूलकर उस थरथराहट में चेतना को देखो। इसी प्रकार प्राण की भी थरथराहट, कम्पन-सा होता रहता है। यह जो व्यान-प्राण है, श्वास-प्रश्वास को ले जाता है नाड़ी के साथ धड़कन, किन्तु व्यान की गति मन्द-मन्द वहाँ भी बनी रह कर थरथराहट के रूप में चलती रहती है। प्राण भी चेतना को थरथराहट के रूप में जैसे वायु आकाश में गमन करती है, थरथराहट-सी करती है, तेज को या आकाश को भी। ऐसे ही तुम्हारे जो थरथराहट है वह चेतना पकड़ लेगी या स्पर्श करके बता देगी।

ऐसे शब्द की मन्द-मन्द थरथराहट भावनात्मक वह भी चेतना का स्पर्श कर लेगी, पकड़ लेगी। यह साधन है तुम्हारे लिए। और यह जो 'ध्यानं निर्विषयं मनः'—संकल्प-विकल्प का अभाव करके बैठे हैं, इन्होंने शान्ति को माध्यम बनाया। शान्ति का प्रवाह, शान्ति में तरंगें एक ही प्रकार की हैं। जहाँ जिस पदार्थ में गति होगी वहाँ तरंगें अवश्य होंगी। तरंगें ही एक देश से दूसरे देश को ले जाती हैं। बिना तरंग के गति नहीं होती। यह जितनी ज्योति या प्रकाश में तरंगें हैं, प्राण में भी तरंगें हैं, शब्द में भी तरंगें हैं—'ध्यानं निर्विषयं मनः'—में जो अभ्यास कर रहे हैं, वहाँ भी शान्ति और आनन्द की तरंगों का अनुभव करें।

यदि तरंगें तुम्हारी समझ में आ जाती हैं, बस परमात्मा निकट ही है, तरंगों में बहता हुआ मिल जायेगा, आत्मा भी मिल जायेगा।

व्याख्यान-८२

कर्म और कर्मफल की मीमांसा।

ओ३म्—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

ईशोपनिषद् मंत्र २॥

इस मंत्र में सौ वर्ष तक मनुष्य के लिए कर्म करने का विधान बताया है, और कहते हैं कि ऐसे कर्म करें जिनमें लिपायमान न हों या कर्मों के फलों में आसक्ति न हो। वेद कुछ भी कह सकता है उसको कोई रोकता थोड़े ही है। परन्तु मेरे अपने जीवन में तो यह देखने में आया है कि बिना आसक्ति के कोई कर्म होता ही नहीं। और यह जो ढिंढोरा पीटते रहते हैं कि निष्काम कर्म करना चाहिए, तो निष्काम कर्म भी संसार में कोई नहीं हैं, सब सकाम ही होते हैं। बिना इच्छा के संसार में कोई कर्म नहीं होता। यदि एक संन्यासी, जिसको कहते हैं यह निष्काम कर्म करता है, प्रजा उसके उपदेशों को सुनकर, ज्ञान सीखकर प्रसन्न होती है, परन्तु उनकी प्रसन्नता में उसको भी प्रसन्नता होती है, आह्लाद होता है, हर्ष होता है, फिर निष्काम कहाँ हुआ ? यदि निष्काम कर्म कहा जाय तो इस पंखे का कह देंगे या वायु का कह देंगे। वायु में भी कोई कर्म हो रहा है। सूर्य का भी हम कह देंगे, सूर्य भी गतिशील है, चढ़ता है, उतरता है, प्रकाश देता है। इनके कर्म जो हैं ये तो निष्काम कहे जा सकते हैं। मनुष्य का कर्म कभी निष्काम होता ही नहीं है, सब सकाम ही होते हैं।

हाँ, कामनाओं में, इच्छाओं में अन्तर होता है। यदि लोकोपकार की कामना से कर्म करता है, तो यह भी कामना ही है। संसार के सुख में सुखी होता है, दुःख में दुःखी होता है, यह भी कामना है। भगवान् को कर्म करते तो देखा नहीं है, यदि उसके भी कोई कर्म होते होंगे या होते हैं तो सम्भव है उसको भी आप निष्काम कह देंगे, क्योंकि उसकी कामना हमारी दृष्टि में देखने में नहीं आती। सुनाने में सब सुनाते हैं कि भगवान् भी करता है, परन्तु उसकी कामना, जैसे हमारी कामना सुनकर तुम्हारे मनों में आ जाती है, कानों में आ जाती है, शरीर में आ जाती है, भगवान् की ऐसी कोई आती नहीं है। यदि वह कर्त्ता है तो आप कह सकते हैं, कि उसके कर्म निष्काम हैं।

परन्तु यह जो पाँच-छः फुट का पुतला शरीर है इसका कर्म कभी निष्काम हो ही नहीं सकता। आसक्ति से रहित कर्म हो नहीं सकता है।

अब रही आत्मा के विषय की बात। हमारे शरीर में भी कर्म हो रहा है और

इस ब्रह्माण्ड में भी कर्म हो रहा है। ब्रह्माण्ड में जैसी हमारी यह पृथ्वी गतिशील है इसमें भी कर्म हो रहा है। सूर्य को चढ़ते-उतरते हम देखते हैं उसमें भी कर्म हो रहा है। कोई ऐसी अव्यक्त शक्ति माननी पड़ेगी जो उसके भीतर रहकर उसको गतिशील किए हुए है।

हमेशा कर्म की उत्पत्ति सदा संयोग से होती है। जब दो पदार्थों का संयोग होता है, तो वहाँ कर्म पैदा होता है। जहाँ संयोग नहीं वहाँ कर्म भी उत्पन्न नहीं होगा। हमारे शरीर में कर्म होता है तो मन आदि का शरीर के साथ संयोग है, आत्मा का संयोग है। प्रकृति में पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों में गति होती है, वहाँ भी किसी अव्यक्त शक्ति का, किसी चेतन का संयोग मानना पड़ेगा। दो पदार्थों के संयोग से उसमें कर्म की उत्पत्ति होती है। अब देखना यह है कि मेरे शरीर में कर्म उत्पन्न हो रहा है, और इस सृष्टि में कर्म हो रहा है। शंका इसमें यह होती है कि यह जो कर्म मेरे शरीर में है, यह आत्मा का कर्म है या शरीर का कर्म है? परमात्मा की सृष्टि के विषय में भी शंका पैदा होती है कि यह जो इसमें गति रूप कर्म सूर्य के भीतर है, यह परमात्मा का है या सूर्य का है? सदा कर्म वहाँ उत्पन्न होगा जिसमें विकार रूप धर्म पैदा होगा, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गमन होगा, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आना होगा, जहाँ परिणाम कर्म उत्पन्न होगा, जहाँ अन्तर आयेगा वहाँ कर्म वर्तमान रहता है।

वैशेषिककार कणाद ने कर्म का लक्षण किया है—"उत्क्षेपण अवक्षेपण आकुञ्चन प्रसारणं, गमनम् इति कर्माणि।" (वैशेषिक १-१-७।।) उत्क्षेपण—ऊपर उठना, अवक्षेपण—नीचे गिरना, आकुञ्चन—सिकुड़ना, प्रसारण—फैलाना, गमनम्—गमन करना। अब ये पाँच बातें हम परमात्मा में मानें या प्रकृति में? यदि परमात्मा कर्म करता है तो उसमें भी उठना, बैठना, सिकुड़ना, फैलना, गमन करना ये पाँच बातें, पाँच विकार मानने पड़ेंगे। प्रकृति कर्म करती है इसमें तो परिणाम-क्रम अन्तर हम देखते हैं। यह मकान कभी नया बना था, कई साल हुए। अब इसमें जीर्णता आती जा रही है। पचास-सौ वर्ष के बाद और जीर्ण खण्डहर होकर भूमि के साथ हो जायेगा। इस प्रकार का परिणाम-क्रम इन चीजों में जो दृश्यमान है वह इन पदार्थों में देखते हैं।

पाँच भूत प्रकृति का ही विकार है। भूमि आदि का उपादान कारण कोई होना चाहिए, इसी प्रकार अग्नि का भी कोई उपादान कारण होना चाहिए। उपादान कारण उसे कहते हैं जिससे जो वस्तु उत्पन्न हो। जिस पदार्थ के कार्य के प्रति जो कारण होता है उसको उपादान कारण कहा जाता है। जैसे इस मकान के प्रति मिट्टी उपादान कारण है। भूमि से ही धातु, लोहा आदि से सब वस्तुएं निकलती हैं और सीमेन्ट आदि बन गये हैं। अब यह जो कर्म के पाँच प्रकार के लक्षण बताये हैं, यह प्रकृति में भी देखने में आ रहे हैं, इन सब पदार्थों और भूमि में भी देखने में

आ रहे हैं। इन सब पदार्थों में यह भी गतिशील हैं, इनमें भी परिणाम हो रहा है। एक देश से दूसरे देश में गमन करते हैं। क्या परमात्मा भी ऐसे ही गमन करता है? यदि गमन करता है तो उसमें जो संकोच और विकास है, तब उसमें भी कर्म मानना पड़ेगा और वह भी अन्तर होने वाला, परिणाम होने वाला मानना पड़ेगा। प्रकृति में तो मोटे रूप से देखने में आ रहा है, समझ में आ रहा है। उसमें तो परिणाम, रूपान्तर है, वह संसार को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार कर्म की बात हमारे भीतर भी है।

अब यहाँ शंका होती है कि यह जो कर्म है हाथ आदि को उठाना वाणी का बोलना, इसका उपादान कारण क्या है? जैसे मैं शब्द बोल रहा हूँ, इसका उपादान कारण है जिह्वा। जिह्वा से शब्द उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार और भी जो पदार्थ हैं, जैसे हमारे शरीर के भीतर प्राण है, इसका उपादान कारण वायु को मानना पड़ेगा, हमारे शरीर में तेज है इसका उपादान कारण भौतिक अग्नि को मानना पड़ेगा। हमारे शरीर के भीतर जल का भी भाग है, रुधिर, स्वेद आदि हैं। इनका उपादान कारण जल को मानना पड़ेगा। अस्थियाँ आदि ये जो मोटे पदार्थ हैं इनका उपादान कारण पृथ्वी को मानना पड़ेगा। पाँच भूतों से यह देह बना है और यह पाँच भूतों का सार ही है। अन्न, जलादि और इनका सार रज-वीर्य के रूप में परिणत होता है और वह संतान का या हमारे शरीर का हेतु बनता है। इस शरीर में भी उपादान कारण इन भूतों को मानना पड़ेगा।

मैं तो यह कह रहा था कि इसमें जितनी चेष्टाएँ हो रही हैं, कर्म आदि हो रहा है, चौबीस घण्टे अहर्निष प्रत्येक क्षण शरीर में कुछ-न-कुछ कर्म वर्तमान रहता है। कर्म का अभाव देखने में नहीं आता जब तक कि आत्मा का इसके साथ संबंध है। जब मरण काल में इस संयोग का विच्छेद होता है तब शरीर मृत पड़ जायेगा। अब यहाँ समझने वाली या जानने वाली बात यह है कि यह जो इसमें कार्य हो रहे हैं, यह आत्मा ही कर रहा है या कि यह शरीर में हो रहे हैं।

कणाद के उस कर्म के लक्षण को हम यहाँ भी घटाना चाहते हैं। आत्मा में घटाना चाहते हैं जैसे उत्क्षेपण—आत्मा शरीर के साथ उठ जायेगा। शरीर उछाल मारेगा तो आत्मा भी इसके साथ उठेगा। अवक्षेपण—कोठे से या ऊपर से छलाँग मारोगे तो आत्मा भी शरीर के साथ ही नीचे गिरेगा। आकुंचन—शरीर में यदि आकुंचन होता हो, प्रसारण या फैलना होता हो, तब यह कर्म भी इसमें घट जायेगा। परन्तु आत्मा में सिकुड़ने और फैलने की बात कुछ समझ में नहीं आती है, क्योंकि इसमें सिकुड़ना, फैलना आदि धर्म नहीं घटते हैं। शरीर के साथ गमन भी हम मानेंगे क्योंकि उठकर शरीर के साथ चलता है। ऊपर उठेगा, नीचे गिरेगा और चलेगा भी। ये तीनों तो घट भी जायेंगे, परन्तु आकुंचन और प्रसारण की जो दो बातें हैं ये आत्मा में घटते हुए मेरी समझ में नहीं आतीं। यदि इसमें आकुंचन—सिकुड़ना मानते

हैं और फैलना मानते हैं तब उसको विकारवान् मानना पड़ेगा और उत्पन्न होने वाला मानना पड़ेगा। ये जो धर्म हैं चित्त के हैं। चित्त में आकुञ्चन और प्रसारण होते हैं। आत्मा में आकुञ्चन और प्रसारण नहीं होता; क्योंकि चित्त उत्पत्ति वाला है, विकारवान् है, वृत्तियों वाला है, इसमें ते ये बातें घट जायेंगी, परन्तु आत्मा में नहीं घटेंगी। चाहे तुम आत्मा को अणु से अणु अर्थात् सूक्ष्म से भी सूक्ष्म मान लो, चाहे विभु मान लो। दोनों प्रकार का मानने से भी संकोच और विकास रूप धर्म नहीं आयेगा। यदि ये धर्म मानोगे तब तो आत्मा को उत्पन्न होने वाला मानना पड़ेगा। फिर इसका उपादान किसको मानोगे? शायद आप कहोगे कि उसका उपादान कारण चेतन ईश्वर है। वही आत्मा का उपादान हो सकता है। बहुत से आचार्यों ने ईश्वर को ही उपादान कारण मान भी लिया है। यदि उपादान कारण उसको मानोगे तो उसको भी विकारवान् मानना होगा। जैसे प्रकृति से चित्त उत्पन्न होकर आया है ऐसे ही आत्मा को भी परमात्मा से उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा, क्योंकि उसमें संकोच और विकास धर्म मान लिए हैं। यदि उसमें यह संकोच और विकास न मानें तब वह एकरस या निर्विकार सिद्ध होता है, उसमें कोई विकार नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि यह जो कर्म इस शरीर में हो रहे हैं ये आत्मा के कर्म नहीं हैं। संयोग से सन्निधान मात्र से होता है जैसे कि यह टेप चालू कर दिया है, चेतन के सन्निधान से या संयोग से इसमें कर्म और व्यापार प्रारम्भ हो गया। जड़ होते हुए भी जड़ पदार्थ में चेतन के संयोग से क्रिया, गति, व्यापार, परिणाम-क्रम पैदा हो जाता है। चेतन को चाहे तुम अणु मानो, चाहे विभु मानो, चाहे सर्वव्यापक मानो, उसको एकरस, निर्विकार मानना पड़ेगा। हम जो भूले हुए हैं बचपन से, पता नहीं कितने जन्म और भूले रहेंगे। यह एक प्रकार से हमारी अविद्या या भ्रांति है। कर्म-व्यापार समस्त चित्त में हो रहे हैं। यह जो पाँच प्रकार के लक्षण बतलाये हैं ये चित्त में हो रहे हैं। परन्तु हम आरोप आत्मा पर ही कर देते हैं। कहते हैं 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', इस अहंकार को लेकर हम अपने आपको मैं सुखी-दुःखी आदि का प्रयोग करते हैं। यह भी एक प्रकार की अविद्या या भ्रांति कहलायेगी। इसी प्रकार परमात्मा पर भी हम बहुत-सी बातों का दोषारोपण करते रहते हैं। समस्त कर्म हम ही करते हैं। कोई चीज बिना प्रयत्न के उपलब्ध होगी तो हम मान लेते हैं कि भगवान् की दया है, बस वही देने वाला है, भगवान ही सब कुछ करता है, देता है, लेता है। डाकू जब चोरी करने चलता है तो भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे भगवान्! यदि मेरा डाका आज सफल हो गया तो तुझे प्रसाद बाँटूंगा। अमृतसर में मैं नहर पर रहता था। मेरे पास एक चोर आया, कहने लगा—हे भगवन्! हे गुरुदेव! यदि मेरी चोरी और डाका सफल हो गया तो मैं आपके लिए सौ रुपया और एक थान वस्त्र का प्रसाद

चढ़ाऊँगा, और भगवान् के लिए पाँच सौ रुपये चढ़ाऊँगा। वहाँ अफीम के ठेके पर डाका मारा और उसकी डकैती सफल हो गयी। अब यह भगवान् ऐसा मिट्टी का माधो बना हुआ है हम सबके लिए, जिधर इच्छा लुढ़का, लो जो इच्छा उसको कह लो, वैसे ही तुम्हारी समस्त बात मान लेता है। जैसे मोम के नाक को जिधर इच्छा हो मोड़ लो ऐसा भगवान् आप लोगों का बना हुआ है, जो इच्छा हो उसे मना लो। अच्छी बातें भी मना लो और बुरी बातें भी मना लो। वह बुरी बातों को भी मान लेता है, चोरों की भी मानता है, जुआरियों की भी मानता है। बड़े आश्चर्य की बात, कैसा है वह तुम्हारा भगवान! धर्मात्मा, महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान्! तू ही सब करने वाला है।

इस विषय में मैं आप लोगों के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। एक बार एक मूर्ख मण्डल बैठा हुआ था। एक विद्वान कहने लगा, तुम्हारे में जो सबसे अधिक मूर्ख होगा उसे बहुत पुरस्कार दिया जायगा। सब मूर्ख मिलकर अपनी-अपनी मूर्खता का परिचय देने लगे कि मैंने ऐसी-ऐसी मूर्खता की है। एक मूर्ख ने कहा कि "एक पण्डित मेरे पास आया। मैं पढ़ा-लिखा नहीं था, पैसा मेरे पास बहुत था। पण्डित ने कहा, 'यजमान! आपका विवाह अभी तक नहीं हुआ है, अतः मैं प्रबन्ध कर आया हूँ। आपकी कुड़माई मैं करा दूंगा।' मैंने कहा, 'अच्छा भाई करा दो।' पण्डित ने कहा, 'आठ सौ रुपये उसके लिए व्यय होंगे।' पण्डित आठ सौ रुपये लेकर चला गया। जब कुछ दिन बीत चुके तब पण्डित ने आकर उससे कहा, 'यजमान! आपकी कुड़माई हो चुकी है'—इतना कहकर पुनः चला गया। कुछ दिनों के पश्चात् पण्डित पुनः आया और कहा, 'यजमान! अब आपके विवाह की तैयारी हो रही है और उस पर दस हजार रुपये व्यय होंगे।' मैंने दस हजार रुपये निकाल कर दे दिए। पण्डित दस हजार रुपये लेकर चलता बना। खा-पीकर समाप्त करके कुछ दिन के पश्चात् आया। कहने लगा, 'यमराज! आपकी शादी भी हो गयी है।' मैं बड़ा प्रसन्न हुआ कि विवाह हो गया। कुछ दिन बीतने के बाद पण्डित पुनः आया और कहा, 'यजमान! आपके गृह में एक पुत्र भी उत्पन्न हो गया है और उसके लिए कुछ धन, पैसा आदि चाहिए, उपहार, वस्त्र आदि भी चाहिएँ। उसके लिए दो हजार रुपये चाहिए।' और दो हजार रुपये ले लिया। जब इतना कुछ हो गया तो मैंने पण्डित से कहा, 'कुड़माई भी हो गयी, विवाह भी हो गया, मेरे घर में बेटा भी हो गया, परन्तु आज तक मैंने अपनी पत्नी को ही नहीं देखा।' पण्डित कहने लगा, 'चलो यजमान! पत्नी को भी दिखा देता हूँ।' मुझे लेकर गली में चला। एक गृह में एक देवी रोटी बना रही थी। उसके पास एक बच्चा खेल रहा था। यह सब पण्डित ने देखा, और मुझे कहने लगा, 'देखो वह तुम्हारा बच्चा खेल रहा है और वह पत्नी बैठी हुई है। अब आप अन्दर जाओ, मेरा काम हो गया।' वह चला गया। मैंने अन्दर जाकर देखा एक देवी रोटी बना रही है। देवी ने सोचा कि बिना कहे-

पूछे आया है, सम्भवतः मेरे पति का कोई दोस्त होगा, उसको ढूँढ़ने आया होगा। देवी ने मुझे बैठने के लिए कुर्सी दी और मैं बैठ गया। कुछ देर के उपरान्त उस देवी का पति भी आ गया। उसने देखा कि एक अपरिचित व्यक्ति उसके घर में बैठा है। 'यह कौन है?' उसने पूछा, 'तू कौन है?' मैंने भी कहा, 'तू कौन है?' वह जूता निकाल कर मेरे सिर पर मारने लगा। मेरी खूब पिटाई की। अब बताओ मेरे से बड़ा मूर्ख कौन हो सकता है? मैं सिर पीट-पीट कर रोता रहा।"

ऐसे ही तुम्हारा भगवान् बना हुआ है। सब कुछ तुम्हारा भगवान् कर जाता है। विवाह भी कर जाता है, बच्चे भी भगवान् ही उत्पन्न कर जाता है, तुम कुछ नहीं करते हो और फिर सम्पूर्ण ज़ीवन बैठकर उसको कहते रहते हो— हे भगवान्! तुम पतित-पावन हो। और कभी सिर पीट-पीटकर रोते भी रहते हो। भगवान् ऐसे कोई कर्म नहीं करता जैसे तुम उससे कराना चाहते हो। भगवान् के कर्म अटल हैं, अचल हैं, नियम से हैं। जैसे संपूर्ण सृष्टि के साथ संबंधित होकर इसको क्रियाशील बनाया है, उसकी क्रिया का अभाव कभी नहीं होता। उसके कर्म का अभाव तुम्हारे कहने से भी नहीं होता। चाहे तुम भगवान् को गाली दे दो। वह अप्रसन्न नहीं होता। तुम स्तुति करो, भगवान् को प्रसन्न होते हुए तुमने कभी नहीं देखा है। ये सब अपने मन की कल्पनायें हैं। सम्पूर्ण जीवन भगवान् को पुकारते-पुकारते हो गये हैं, कर्म-व्यापार, हमारे सब वैसे ही चल रहे हैं कोई अन्तर नहीं आया। गीता भी पढ़ी, स्तुति भी की, संध्या भी की, यदि भगवान् कोई सुनने वाला होता और हमारी बात मानने वाला होता तो कभी का मान गया होता। चोर भी वैसे ही प्रार्थना करते रहते हैं, डाकू भी सम्पूर्ण जीवन वैसे ही प्रार्थना करते रहते हैं। धर्मात्मा भी वैसे ही प्रार्थना करते रहते हैं।

अब बताओ वह भगवान् कैसा है? स्वयं इच्छा से लोगों ने उसकी मूर्तियाँ भी पत्थर की बना कर रख दी हैं। अब पत्थर का भी भगवान् बना लिया। यह तो ठीक है कि भगवान् अन्तर्यामी है, सर्वव्यापक रूप से तो सब जगह वर्तमान है, परन्तु जैसा आप कहते हो, जैसा उसको मानते हो, जैसा बनाना चाहते हो, जैसा समझे बैठे हो, वह असत्य है। मैं भगवान् का निषेध नहीं करता, क्योंकि बिना चेतन के संयोग के जड़ में कोई गति, क्रिया नहीं होती। बिना चेतन सर्वव्यापक ब्रह्म के सम्बन्ध के प्रकृति में कोई कर्म और व्यापार नहीं होगा। हमारे शरीर में जो कर्म और व्यापार हो रहा है वह मात्र चेतन के सन्निधान से है, मिला हुआ है। अब मिलना उसका कोई अपराध तो नहीं है क्योंकि वह प्रकृति से सूक्ष्म है। एक प्रकार से स्वभाव-सा है, इसकी नित्यता-सी है। इसी प्रकार आत्मा भी शरीर के साथ मिला हुआ है, इसमें वर्तमान है। जब वह छूट जाता है, पृथक् हो जाता है, तब इससे सम्बन्ध नहीं रहता। ये बातें समझने की, देखने की, जानने की, अनुभव में आने की हैं। परमात्मा भी अनुभव का ही विषय बनेगा। जैसे कभी संध्या, उपासना,

भजन, कीर्तन आदि में शान्ति-सी आ जाती है, आनन्द-सा आता है। उस आनन्द, शान्ति का रूप आप लोगों ने कभी देखा नहीं, परन्तु उसकी अनुभूति-सी होती है। इसी प्रकार किसी काल में जब बुद्धि सूक्ष्म हो जायेगी, तो तुम्हें आत्मा की भी अनुभूति हो जायेगी, परमात्मा की भी अनुभूति हो जायेगी। वह अनुभूति का विषय बनेगा। उससे तुम्हें संतुष्टि, तृप्ति और शान्ति प्राप्त हो जायेगी।

अब रही मोक्ष की बात। भगवान् के मिलने से, आत्मा के जानने से हमारी मुक्ति हो जायेगी। यह भी बहुत गलत बात है क्योंकि बन्धन का हेतु तो हमारा यह शरीर है या जिससे यह शरीर उत्पन्न हुआ है वह पंचभूत हैं या पंचभूत जिससे पैदा हुए हैं वह प्रकृति है, बन्धन का हेतु तो हमारे ये पदार्थ हैं। और संसार के धन, सम्पदा, ऐश्वर्य, आश्रम, गृह आदि भी बन्धन का हेतु बने हुए हैं। आत्मा या परमात्मा हमारे बन्धन का हेतु तो नहीं बने हुए हैं। इकट्ठे या संचय तो तुम आप करते जा रहे हो, विवाह तुम स्वयं इच्छा से करते हो। जैसे गृह मैंने अपनी इच्छा से बनाया, मैं उससे बँध गया हूँ, क्या भगवान् मुझे बाँधने आया था? भगवान् कहता था कि तुम यह कर्म करो? भगवान् कहता है कि तुम लोग विवाह करो, बच्चे उत्पन्न करो? कभी किसी को कहा है आकर? सब कुछ करते आप हैं और आरोप भगवान् पर करते हैं।

भाई! जीवन का यह इतना लम्बा समय भी तुम भगवान् के लिए ही दे दोगे तब भी समझोगे कुछ नहीं। बहुत-से आचार्य लोग कहते हैं, भगवान् का नाम ही पर्याप्त है, उससे तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी। अब उत्तम मिठाई तो रखी है कलकत्ते में, यहाँ बैठकर मिठाई का नाम लेकर हजारों बार भी पुकारो, कुछ नहीं बनेगा। एक जन्म क्या हजार जन्म भी पुकारते रहो, जब तक कलकत्ते में जाकर खा नहीं लोगे या वहाँ से नहीं मँगाओगे तब तक नहीं मिलती है। इसी प्रकार तुम भगवान् को पुकारते हो। वह दूर तो है नहीं, हर समय उसके नाम की रटना लगाते हो। हजार वर्ष रटते रहो, उससे क्या बनेगा? कोई उसकी सीमा-मर्यादा होनी चाहिए। नया-नया अभ्यासी या साधक आया है, पढ़ा-लिखा नहीं है, उसको गायत्री का जाप बताने से उसका मन उस मंत्र में टिकने लगेगा। यह तो मन को लगाने का साधन है। जैसे इस कर्म में मन लग गया, इसमें मन लग जाना यह भी एक साधन है। रोटी बनाना है यह भी एक साधन है। मन को लगाने के लिए और भी अनेक साधन हैं। यह भी एक वैसा ही साधन है गायत्री जाप में लगा रहेगा। इसमें आत्मा और परमात्मा के ज्ञान की बात बनती नहीं है। इनके ज्ञान की बात बनती है जब चित्त शान्त समाहित हो जाता है, तब सब विकारों से, इन्द्रियों के विषयों से और इनके संयोग से भी जब उपरति हो जाती है। जब केवल चित्त की शान्त स्थिति में योगी या अभ्यासी पहुँचता है तब जाकर वहाँ आत्मा या परमात्मा की अनुभूति होती है।

अभी जो बात चल रही थी वह कर्म के विषय में थी। अब रही पाप और

पुण्य की बात, अच्छे और बुरे की बात। कर्म के जो पाँच लक्षण किये थे इनमें अच्छे या बुरे की बात तो आती नहीं है। "उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमनम्"—इन कर्मों में पाप और पुण्य की तो बातन हीं है। कर्म तो एक समान ही है, एक जैसा ही है। पाप और पुण्य की भावना हमारी बुद्धि के भेद से बनी हुई है। यह मनुष्य समाज ही विधान बनाता है। परमात्मा भी किसी पाप और पुण्य का विधान नहीं करता है। विधि और निषेध का भी विधान भगवान् को मैंने बनाते हुए कभी नहीं देखा। यह मनुष्य और इनके ग्रंथ ही विधि और निषेध का विधान बनाते हैं। यह जो मानव ग्रंथ बनाता है, मैंने भी चार-पाँच ग्रंथ बना दिये, इनमें विधि निषेध आदि विधान की बातें दे दी हैं। यह मनुष्य करता और बनाता है, मनुष्य की यह कृति है। जितने भी यह ग्रंथ तुम्हारे देखने में आ रहे हैं, वेद से लेकर स्मृति, पुराण आदि पर्यन्त ग्रंथ हैं, यह मनुष्य की कृति हैं। भगवान् की कृति की इसमें कोई बात नहीं है। यह विज्ञान की परम्परा इस प्रकार कर्म के आधार पर चलती है, क्योंकि कर्म का सम्बन्ध मनुष्य से है।

इस प्रकार से मनुष्य समाज में यह कर्म चलता है। ऊपर उठना, नीचे गिरना, आकुञ्चन, प्रसारण आदि कर्म हो रहा है; परन्तु इस कर्म का सम्बन्ध जैसे हमने चोरी से जोड़ दिया। चोरी में भी उठना, चलना, सामान उठाना, गमनागमन आदि होते हैं। चोरी से समाज को या किसी व्यक्ति को हानि होती है, वह दुखी होता है, अतएव चोरी को पाप कर्म कह दिया है। यह मानव ने कहा है। समाज की मर्यादा को स्थिर रखने के लिए मनुष्य ने विधान बना दिया है कि देखो—किसी की वस्तु हरण करके लाओगे तो उससे वह दुःखी होगा। किसी को दुःख देना पाप है। चोरी न करना धर्म है। मेरे सामने चाहे स्वर्ण पड़ा हो, किसी की कोई वस्तु पड़ी रहे जिससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं उसको उठाना नहीं चाहिए। यूरोप आदि देशों में मैं देखता रहा, किसी से कोई वस्तु भूल जाय उसको कोई नहीं उठाता है, यदि कहीं उठा भी लेता है, तो अपने घर में नहीं ले जायेगा, पुलिस के हाथ में पकड़ा देता है। वह जिसकी वस्तु है, जो भूल गया है, उसको पहुँचा देता है। तात्पर्य यह है कि चोरी करना जिससे किसी को दुःख होता है, उसको पाप कहा है। यह मनुष्य ने ही कह दिया है, भगवान् ने नहीं कहा है। इसी प्रकार हिंसा करने से प्राणी को दुःख होता है, प्राणों का वियोग होता है, तड़पता है, उसको दुःख होता है, इसको पाप कह दिया है। किसी को न मारना, दुःख न देना, इसको पुण्य कह दिया है।

अब यह पाप और पुण्य की जो व्यवस्था है, इसके संस्कार हमारे अन्तःकरण में ऐसे जम जाते हैं कि हम सदा इन कर्मों को पाप और पुण्य ही समझते रहते हैं। जैसे हिंसा करना पाप है। अब तुम्हारा युद्ध होता है या मैं एक व्यक्ति को मार देता हूँ, तो मुझे मृत्यु-दण्ड मिलता है। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान का युद्ध हुआ,

हजारों व्यक्ति दोनों ओर के मारे गये, उसको धर्म कह दिया। यह धर्म और अधर्म जो है यह मनुष्य की कृति से है। मानव-समाज को स्थायी रखने के लिए, नियंत्रण में रखने के लिए, समाज का निर्माण करता है। परमात्मा की ओर से ऐसी कोई पाप-पुण्य की व्यवस्था आई नहीं है, जैसे मेरी हिंसा करे तो दुःख होता है, वेदना, पीड़ा होती है। उससे वेदना भी एक प्रकार से मिल जाती है। अतः समाज ने इसे पाप बताया है।

तीन प्रकार से फल भोगा जाता है—शरीर के द्वारा, मन के द्वारा और वाणी के द्वारा। अच्छे और बुरे कर्मों के फल तीनों प्रकार के हैं। हिंसा को बुरा कह दिया है, अहिंसा को अच्छा कह दिया है। इन दोनों प्रकार के पाप और पुण्य के कर्म का फल वाणी, शरीर और मन के द्वारा भोगा जाता है।

शरीर से पाप कर्म किये जाते हैं। उसका तो फल शरीर से भोगा जाता है। जैसे एक व्यक्ति अत्यन्त भोग-विलास में रहता है, उसके शरीर पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है, क्षीण हो जाता है, शरीर में बल, शक्ति, पराक्रम समाप्त हो जाता है या अनेक प्रकार के रोग अथवा हृदय, मस्तिष्क की अनेक व्याधियाँ हो जाती हैं। इस प्रकार हिंसा अथवा दुराचार आदि जो कर्म हैं इनका फल शरीर के द्वारा भोगा जाता है।

वाणी से जो पाप-कर्म किये जाएँ, जैसे किसी को कठोर वचन आदि बोलना है, उसका फल वाणी के द्वारा भोगना पड़ता है, वाणी दूषित-सी होती है। मन से जो पाप-कर्म किये जाते हैं उनका फल मन से भोगा जाता है, जैसे मन का चिंतित रहना, वेदना-सी बनी रहना, पीड़ा-सी बनी रहना, रात-दिन व्यथित-सा रहता है। ये सब अनेक प्रकार की व्याधियाँ हैं जो मन से उत्पन्न होती हैं, उनको मन के द्वारा भोगा जाता है।

इस प्रकार की यह जो व्यवस्था मैं कह रहा था, पाप और पुण्य की यह मनुष्य समाज बनाता है। कर्म जो है स्वयं पाप और पुण्य वाला नहीं है। हमारी जो भावना है या हमने जो विधि बना दी है वह पाप और पुण्य का हेतु बन जाती है। जैसे युद्ध में हजारों व्यक्तियों को मारा जाना उसको पुण्य कह दिया, किसी व्यक्ति ने मेरा अपराध किया, मैंने उसको मार दिया, तो मुझे सूली पर चढ़ा दिया। इसी प्रकार जितनी भी व्यवस्था बनाई है यह मनुष्य समाज बनाता है, भगवान् इसमें कुछ नहीं बनाता है।

जैसे-जैसे हम कर्म करते हैं उनका बीज या संस्कार हमारे अन्तःकरण पर अंकित होता जाता है। जैसे मुझे कोई कर्म करना है, धन कमाना है। पहले से दूसरों को देखता हूँ। बड़े ऐश्वर्य-वैभव देखता हूँ। चित्त में मेरे भीतर भी वैसा विचार होता है कि मेरे पास भी ऐसी धन-सम्पत्ति होनी चाहिए। उसके लिए पुरुषार्थ करने में संलग्न हो जाता हूँ। वह जो बीज रूप संस्कार था वह कार्य-क्षेत्र में आकर विक-

सित होता है उसके लिए देश, काल, निमित्त और सामग्री इन चार वस्तुओं को एकत्रित करने के लिए पुरुषार्थ करने लगता हूँ। संस्कार जो है कार्य-क्षेत्र में आकर फल का हेतु हो जाता है। इसमें परमात्मा की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा व्यवस्था तब करता है जब हम उसकी कठपुतली बन जाते हैं, हम कुछ नहीं करते।

प्रत्येक कर्म के साथ हम अहंकार की भावना को रखकर कर्म करते हैं। यदि यह अहंकार हट जाय बीच में से तब तो हम कह देंगे कि कुछ कराता है वह भगवान् ही कराता है। जब तक हमारे भीतर अहंकार बैठा है तब तक जो भी कर्म होता है उसके कर्म का फल स्वतः प्राप्त होता है। भगवान् कुछ नहीं करता, भगवान् का कोई हस्तक्षेप नहीं होता। जिसके साथ ममेदं की अहंकार की भावना है, यह मेरा है, मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, जाता हूँ, खाता हूँ, यह मेरेपन की या ममता की जहाँ लपेट है, सम्बन्ध है, जो कर्म किया जाता है, वह मनुष्य ही करता है, परमात्मा के इसको करने की कोई बात नहीं है। अतः परमात्मा हमसे कोई कर्म नहीं कराता है। हम स्वयं कर्म करते हैं।

यह समस्त विधान हमने बना दिया है, भगवान् के इतने गीत पुस्तकों में गाये हैं, परन्तु भगवान् ने अपने गीत गाने के लिए स्वयं नहीं कहा। हम अपने आप ही गाने लगते हैं, दूसरों की भी प्रशंसा करने लगते हैं। किन्तु कभी तुमने भगवान् को भी गीत गाते देखा है? अपनी प्रशंसा करते कभी देखा है? आप ही अपनी मनो-भावना से उस पर सब बातें करते रहते हैं कि भगवान् यह करता है, वह करता है। वह जो दृष्टांत दिया था उस मूर्ख का, उसकी कुड़माई भी हो गयी, विवाह भी हो गया, बच्चा भी हो गया, उसने पत्नी को ही नहीं देखा था, सिर पर जब जूते लगे फिर सिर पीट-पीट कर रोने लगा। ऐसे ही हम भगवान् के समक्ष सिर पीटते हैं। करते तो हम आप हैं और कहते हैं, भगवान् तूने आकर हमें छुड़ाना है। कभी देखा छुड़ाते तुम्हें? भाई! यह सब हमारे मन का या अन्तःकरण का ही विस्तार है। हमारा ही यह समस्त विश्व है, मनुष्य समाज का और भगवान् भी अन्तर्यामी रूप से इसी मनुष्य समाज में बसा हुआ है। जब तुम भगवान् को सर्वव्यापक मानते हो तो हमारे भीतर भी तो वह है। अतः भगवान् को विशेष इन बातों के कहने की अपेक्षा नहीं, अपने कर्मों का अपने आप सुधार करना चाहिए। यदि उनका विधान अपनी समझ में नहीं आता किसी विद्वान् के सम्पर्क में रहकर व्यवस्था लेनी चाहिए अपने कर्मों की, कि मेरे लिए क्या कर्त्तव्य है, क्या नहीं है। मुझे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए। भगवान् किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं देता है। यह भी गुरुजन, आचार्यजन, बड़े जो हैं, माता-पिता आदि जो वृद्धजन हैं, वे ही हमें व्यवस्था बताते हैं या गुरुजनों के लिए पुस्तक, ग्रंथ या शास्त्र व्यवस्था बताते हैं। भगवान् तो केवल यह है कि समस्त विश्व में व्याप्त होकर स्थित

हुआ है। लोक-लोकान्तर आदि जो कर्म कर रहे हैं ये उस चेतन सत्ता के आधार पर गतिशील हुए हैं। शायद आप यह कह दो कि हमारे भीतर भी भगवान् ही कर्म कर रहा है तो ठीक है। यदि भगवान् सब कर रहा है तो अपने अहंकार की पुट प्रत्येक कर्म पर क्यों लगाते हो ? अतः उसका भोग भी हमें ही करना पड़ता है। नहीं तो भगवान् ही कर्त्ता है और भगवान् ही भोक्ता है। यह जो बीच में अहंकार आ गया है क्योंकि अहंकार कर्म प्रधान है। कर्म का और ज्ञान का सदा संयोग सम्बन्ध रहता है। कर्म जो है ज्ञानपूर्वक होता है और ज्ञानपूर्वक रहता है। ज्ञान जो है कर्म के आधार पर रहता है। ज्ञान कर्म का जनक है और कर्म ज्ञान का जनक है, परस्पर एक-दूसरे में आश्रय-आश्रयी भाव सम्बन्ध रहता है। मनुष्य के भीतर यह विशेषता होती है। अब भगवान् भी सम्भवतया ज्ञानपूर्वक ही संसार की रचना करता होगा। परन्तु उसका ज्ञान तो हमें देखने में नहीं आ रहा है। हमारा जो ज्ञान और अज्ञान है, तुम्हारा जो ज्ञान और अज्ञान है वह हमारे देखने में आ जाता है। कई बार तो तुम भगवान् की भी त्रुटि निकाल देते हो जैसे यह पहाड़ ऐसे क्यों बना दिया ? क्या लाभ है, इसको तनिक उधर को कर देता। यह वायु इस समय क्यों चलती है, इससे क्या लाभ है, अपितु हमें व्यथित करती है ? परन्तु मनुष्य अपने आप ही सब कुछ करता है, उसका चल-चित्र के रूप में जैसे कैमरे के भीतर फोटो की छाया पड़ती है उसी प्रकार समस्त कर्मों की छाया का बीज रूप से तुम्हारे हृदय में संग्रह होता रहता है। यह कर्म मानव स्वाभाविक ही करता है। "न जातु कश्चित् कर्म कृत क्षणमपिन तिष्ठति"—ऐसा पाठ है कि मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। अतः ये जितने भी कर्म हो रहे हैं, व्यवहार हो रहा है, यह जो अहंता और ममता को लेकर हो रहा है, उसका फल तो हमें भोगना ही है। इस अहंकार का नाश नहीं होता। बहुत यत्न करने पर भी इसका अभाव नहीं होता। हमारा तो नहीं हुआ और आशा है कि जोवन-पर्यन्त होगा भी नहीं; क्योंकि यह तो अन्तःकरण का स्वभाव है। यदि अग्नि से तुम दाह और प्रकाश को दूर करदोगे तो उसको कौन अग्नि कहेगा ? वह तो बुझ गयी। जब तक यह अहंकार रहेगा, इसका स्वभाविक गुण अहं आदि, ममता आदि कर्म रहेंगे। योगियों को, ज्ञानियों को, आत्मदर्शियों को भी चाहे थोड़ा ही हो अहंकार होता है, क्योंकि अहंकार कर्म का हेतु बनता है। मैं कर्ता हूँ, मैं कर्म करना चाहता हूँ, यह अपने आप ही स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है। यह कर्म और ज्ञान जो धर्म है वह चित्त का है। चित्त ज्ञान-प्रधान है और अहंकार कर्म-प्रधान है। दोनों का सम्बन्ध है ज्ञान और कर्म का। सदा ज्ञान और कर्म मिलकर रहते हैं।

व्याख्यान-८३

"ब्राह्मी चेतन सत्ता सगुण है या निर्गुण तथा मोक्ष का वास्तविक स्वरूप"।

ओ३म्—आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्य शूर
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानडवानाशुः
सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य
यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्योवर्षतु
फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥

यजुर्वेद २२-२२॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

श्वेता० ६-८॥

संसार के अन्दर प्रायः जितने भी पदार्थ हैं, परिवर्तन होने वाले हैं, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने वाले हैं, उनमें गुणों का प्रादुर्भाव हुआ करता है। जैसे आपका एक नवजात शिशु है, एक वर्ष का है, पाँच वर्ष का हुआ। शरीर बढ़ता गया दस वर्ष का हो गया, बारह वर्ष का हो गया, कुमारावस्था हो गयी। यह क्रम बदलता रहा है, अवस्था परिवर्तित हो रही है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में चल रहा है। जहाँ चलन रूप क्रिया होती है, चलन रूप व्यापार होता है, चलन युक्त धर्म का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ गुण-गुणी भाव सम्बन्ध हुआ करता है। कुमारावस्था से युवावस्था आ गयी, वृद्धावस्था आ गयी, क्योंकि परिवर्तन होता जा रहा है। क्या इस प्रकार का परिवर्तन भगवान् में भी मानें? क्योंकि उसमें भी तो आप गुणों की बात कहते हैं, कि भगवान् के अन्दर भी गुण हैं और अनेक आचार्यों ने उसके गुणों का वर्णन भी अपने ग्रंथों में किया है। वेदों में भी उसके गुणों का बहुत जगह वर्णन किया गया है और उसके गुणों की महिमा गायी है। यदि भगवान् में गुण उत्पन्न होते हैं तब भगवान् भी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में चलेगा। जैसे एक व्यक्ति है, जब वह कार्यालय जाता है तब क्लर्क कहलाता है या बाबू कहलाता है। जब वह दुकान में जाकर नापकर कपड़ा बेचता है तब वह लाला कहलाता है। वही व्यक्ति जब खेत में जाकर कृषि कार्य करता है तो कृषक कहलाता है। इस प्रकार यहाँ एक व्यक्ति में कृषक का गुण आ गया, व्यापारी का गुण आ गया और बाबू का गुण आ गया। ऐसे गुण आ गये क्योंकि व्यक्ति भी परिवर्तनशील

है, व्यक्ति का शरीर तबदील होने वाला है। एक अवस्था से दूसरी अवस्था में चलता है। अब शंका होती है, तुम भगवान् के अन्दर गुणों की बात कहते हो। क्या भगवान् भी इस मनुष्य के समान परिणत होता है ? छोटा-बड़ा होता है ? क्या भगवान् में भी इस प्रकार के गुण हैं ? जब वह सृष्टि करता है तो उसको सृष्टिकर्त्ता कहते हो, जब सृष्टि का संहार होता है तो उसको संहारकर्त्ता कहते हो। हम अपने गुणों की प्रशंसा करते हैं। जैसे यह देवी अपने या दूसरों के गुणों का गायन करती है। तो क्या कभी आपने भगवान् को भी अपने गुणों का वर्णन करते हुए सुना है, देखा ? रोज उसके गीत गाते रहते हो, भजन-कीर्तन करते रहते हो, ध्यान में भी देखते होंगे, समाधि में भी कोई अनुभव करते होंगे। क्या भगवान् के अन्दर कोई इस प्रकार का परिवर्तन आपके मन के अन्दर, अन्तःकरण के अन्दर देखने में आया कि पहले भगवान् दूसरे प्रकार का था, उस समय न्यायाधीश के समान न्याय करता था, अव सृष्टि का सृजन कर रहा है, अब पालन-पोषण कर रहा है ? क्या कोई इस प्रकार परमात्मा की व्यवस्था अव तुम्हारे अन्तःकरण में उस की देखने में आती है या आप अपने आप ही उसके बारे में कल्पना कर लेते हो ? कल्पना तो आप कर रहे हो। जैसे यह देवी अभी तारीफ के पुल बाँध रही थी।

परन्तु मेरे अन्दर तो गुण और अवगुण की बात चलती है। पहले छोटा था, बालक था, अज्ञानी था। बहुत साल साधना-अभ्यास किया, कुछ ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ मेरा तो ज्ञान वढ़ता रहा। इस प्रकार मेरे अन्दर तो गुण-गुणी भाव सम्बन्ध हो सकता है। गुण-गुणी का भाव जैसे एक फूल के अन्दर जो सुगन्ध है यह उसका गुण कहलाता है। अब सुगंध उस फल को छोड़कर बाहर भी निकल जाती है। मेरा गुण भी मेरे से वाहर दूसरे रूप में निकल जाता है। यहाँ मेरे शरीर में तो यह बात वनती है, क्योंकि मैं शरीरधारी हूँ, खाता-पीता हूँ, चलता-फिरता हूँ, मल-मूत्र, निद्रा-जाग्रति आदि सारे व्यवहार मेरे अन्दर होते रहते हैं। मेरे अंदर गुण-गुणी भाव सम्बन्ध हो सकता है। मेरे अन्दर भी अनेक गुण हैं, उन गुणों के आधार पर मैं कर्म करता रहता हूँ। क्या कभी ध्यान समाधि के अन्दर या इस कीर्तन-भजन के अन्दर भगवान् के अन्दर भी इस प्रकार का कोई गुण उत्पन्न होता हुआ आपने देखा है ?

अब हम दृष्टान्त देते हैं—जैसे यह आकाश है, आकाश में तो गुण है क्योंकि आकाश को तो तुम व्यापक देखते हो। आकाश के भी कुछ गुण ऐसे हैं जिन गुणों को हम भगवान् में भी कहते हैं कि भगवान् में भी यह गुण है। जैसे यह आकाश है, यह वायु, अग्नि, जल पृथ्वी को व्याप्त करके रहता है। आकाश सूक्ष्म होने से चारों भूतों को व्याप्त करके रहता है। परन्तु इसमें भी आप कह देते हैं कि विश्व का आकाश सारे पदार्थों को व्याप्त करके ठहरा हुआ है। आकाश के तीन गुण मानते हैं। एक तो आकाश में गमन करना या चलने वाले को अवकाश देता है, पदार्थों की रचना करता है और संयोग करता है यह भी आकाश में देखते हैं,

आकाश में शब्द की उत्पत्ति होती है। आकाश को हम कहते हैं कि यह विभु है, परन्तु ब्रह्म को आकाश के समान मान लेवें तो क्या उसमें भी कोई शब्दों की उत्पत्ति होती है, या कोई पदार्थ की उत्पत्ति होती है ? जैसे आकाश ने शब्दों को उत्पन्न कर दिया, आकाश के अन्दर सब चलने-फिरने लगे। भगवान् के अन्दर हमारा आना-जाना प्रवेश तो हो सकता है क्योंकि मैं भगवान् का निषेध नहीं करता। चेतन सत्ता सर्वव्यापक है, परन्तु कैसी वह चेतन सत्ता है जो सारे विश्व के गर्भ के अन्दर आकाश के समान समाई हु हैई ? जैसे आकाश सारे विश्व के अन्दर व्याप्त है, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की अपेक्षा वह सूक्ष्म देखने में आता है।

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" उसके समान स्वाभाविक ही ज्ञान, बल, क्रिया कह दिया है। इसमें भगवान् के अन्दर तीन गुण माने हैं—ज्ञान, बल और क्रिया। यह गुण इसके स्वाभाविक गुण इसने कहा है परन्तु स्वाभाविक कहने पर भी इसमें कई प्रकार की शंकायें उत्पन्न होती हैं। जैसे हमारे अन्दर भी अनेक स्वाभाविक गुण हैं, निद्रा, भूख, प्यास, जागना, सोना, चलना-फिरना, यह धर्म हम स्वाभाविक लेकर आये हैं। परन्तु इन स्वाभाविक धर्मों को जाग्रत करने के लिए दूसरा कोई निमित्त होना चाहिए। जैसे एक नवजात शिशु है, वह अपने धर्म साथ लेकर आया है। इन स्वाभाविक धर्मों को जाग्रत करने के लिए भी किसी निमित्त विशेष की आवश्यकता होतीं है। इन स्वाभाविक धर्मों को जाग्रत करने के लिए पहले माता की आवश्यकता होती है। माता बच्चे के स्वाभाविक धर्मों का विकास करती है, अन्यथा बच्चे को अपने गुणों का, धर्मों का कुछ पता नहीं होता। यहाँ स्वभाव को हीं जाग्रत करने के लिए किसी निमित्त विशेष की आवश्यकता होती है और वह निमित्त विशेष कहीं जड़ भी हुआ करता है, कहीं चेतन भी हुआ करता है।

यदि हम भगवान् के अन्दर स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया मान लेते हैं, तो उसके ज्ञान, क्रिया और बल को जाग्रत करने के लिए प्रलय काल की अवस्था में जब यह सारा संसार विनाश भाव को प्राप्त हुआ होता है, केवलए क ही ब्राह्मी चेतन सत्ता ब्रह्म की होती है और एक ही जगत का उपादान कारण प्रकृति है। दो ही सत्ता उस समय वर्तमान रहती हैं। यदि यह जीव भी कहीं रहता हो, इसकी वह कोई चर्चा की बात समझ में नहीं आती है। यदि यह भिन्न रूप से वहाँ प्रलय काल की अवस्था में रहता भी हो, इसके विषय में मैं अभी कुछ नहीं कहूँगा।

मैं तो केवल भगवान् के गुणों की बात कहूँगा, जो स्वाभाविक ही उसके ज्ञान, बल और क्रिया कहते हैं। जैसे एक व्यापारी व्यापार करता है क्योंकि उसमें व्यापार करने की योग्यता है इसी प्रकार भगवान् में कर्म करने की यदि योग्यता है तब तो उसकी ज्ञान की बात बनती है, यदि योग्यता नहीं है तो कर्म नहीं कर सकेगा।

जब हम कर्म का लक्षण करते हैं कि भगवान् में इस प्रकार की योग्यता कर्म करने की है, बल है, शक्ति है और ज्ञान है, तीनों गुण उसके कहे गये हैं, यदि यह गुण भगवान् में स्वाभाविक हैं, इनको जगाने के लिए प्रकृति का संयोग तो है ही, कोई तीसरी और वस्तु होनी चाहिए भगवान् के गुणों को आदि सृष्टि में जागृत करने को। तीसरी वस्तु होती नहीं है। यदि तीसरी वस्तु प्रौढ़ीवाद से मान लेवें कि वहाँ जीवात्मा होता है। तीसरी चीज प्रलय काल की अवस्था में भगवान् के गुणों को जाग्रत करती है, तब वहाँ भी कुछ शंका उत्पन्न होती है कि गुणों का जैसे मेरे गुणों का माता बचपन में जागृत करती है। मेरा शरीर तो विकास होने वाला है, भगवान् का इस प्रकार का शरीर तो कोई है नहीं, यदि उसका भी शरीर मान लेवें इस संसार को, विश्व को, तब वह भी मेरी और आप की तरह होगा, क्योंकि हमारा और आपका भी शरीर है और हम शरीरधारी हैं और शरीर के द्वारा कर्म करते हैं और हमारे मन, बुद्धि आदि इसके करण हैं। यह शरीर, मन, बुद्धि आदि करण के द्वारा व्यापार करता है।

उपनिषद्कार कहते हैं कि 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'। करण कहते हैं जैसे हमारा मन, बुद्धि, इन्द्रिय, चित्त आदि हैं ये हमारे करण हैं। इनके द्वारा हम अपना व्यापार करते हैं। तब तो बदतो व्याघात दोष इस मंत्र में आता है। पहले तो कहते हैं 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।' भगवान् का कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, कोई चीज उससे उत्पन्न नहीं होती। वह किसी का उपादान कारण नहीं होता।

एक होता है उपादान कारण, एक होता है निमित्त कारण। उपादान कारण कहते हैं जैसे पृथ्वी से हमारा यह मकान बना। पृथ्वी या इसके पदार्थ इस मकान के उपादान कारण बने। क्या भगवान् किसी के प्रति उपादान कारण है? वहाँ जिससे इसमें ज्ञान, बल, क्रियाएँ जाग्रत की जायेंगी, वहाँ और कौन-सा पदार्थ है जो कि इसमें ज्ञान, बल, क्रिया को जागृत करेगा? क्या वहाँ जीवों की सत्ता को मान लेवें कि जीवों के प्रभाव से वहाँ उसमें ज्ञान, बल, क्रिया जाग्रत होंगी, स्वभाव में जाकर प्रलयकाल की अवस्था में ज्ञान, बल, क्रिया शान्त हो गयीं और अब जीव जाग्रत करेंगे? तो यह भी बात कुछ समझ में नहीं आती है। क्योंकि यदि जीवों के साथ हम प्रलयकाल की अवस्था में जैसे बहुत से आचार्यों ने प्रलयकाल की अवस्था में, मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा के साथ इन चार प्रकार के करणों का या चित्त, बुद्धि और अहंकार का भाव माना है। इनके द्वारा वहाँ मोक्ष का सुख भोगता है। उपनिषदादि में भी और अनेक आचार्यों ने भी मोक्ष की अवस्था में चित्त और बुद्धि का भाव माना है जिसके द्वारा परमात्मा के आनन्द का वह उपभोग करता है, प्रलय काल की अवस्था में। परन्तु मैं उनसे पूछता हूँ कि जब सृष्टि की सब प्रकार के प्रकृति की प्रलय हो गई है और वह कारण रूप में चली गयी है, वह

साम्यावस्था में चली गयी है, वहाँ मन, बुद्धि आदि कैसे रह सकेंगे ? इनका तो विनाश ही नहीं हुआ, यह तो अपने कारण में नहीं गये, कार्य रूप तो पहले ही वर्तमान है। यह प्रलय नहीं सिद्ध होगी। प्रलय तो तब सिद्ध होगी जब कि प्रकृति के जितने परिणामात्मक पदार्थ हैं वे सब अपने कारण में चले गए हों।

यह मकान बना है, गल-सड़कर पुराना होकर जिस भूमि से बन कर आया है उसी भूमि में जाकर विलीन हो जायेगा क्योंकि वहाँ कार्य-कारण भाव है। क्या वहाँ भी इस प्रकार का कार्य कारण भाव उसके अन्दर है ? जैसा कारण होता है वैसे ही उससे कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि भगवान् को हम उपादान कारण भी मान लेवें, भगवान् क्योंकि चेतन है इससे चेतनों की उत्पत्ति होगी। चेतन है, जीवात्मा जीवात्माओं की उत्पत्ति परमात्मा से माननी पड़ेगी। बहुत से आचार्यों ने ऐसा माना भी है कि यह जीवात्मा परमात्मा का ही एक अंश विशेष है, भाग विशेष है। परमात्मा को इनका उपादान कारण माना है। यदि हम उपादान कारण उसको मानते हैं तो जैसे कि भूमि परिणाम वाली है, मकानों के प्रति और पदार्थों के प्रति, पर्वतों के प्रति भूमि उपादान कारण है, भगवान् को भी ऐसा परिणामी उपादान कारण मानना पड़ेगा जीवों को उत्पन्न करने के लिए।

चेतन से चेतन की उत्पत्ति होगी, जड़ से जड़ की उत्पत्ति होगी। जैसे मनुष्य चेतन है, चेतनों से चेतनों की उत्पत्ति होती है। जैसे पत्थर है, पर्वत हैं, उससे पत्थरों की उत्पत्ति होती है। भूमि से ऐसे और पदार्थ उत्पन्न होंगे। इस प्रकार का जो भगवान् है वह उपादान कारण भी सिद्ध नहीं होता। कोई पदार्थ उससे बनता हो ऐसा भी भगवान् सिद्ध नहीं हो रहा है। तब भगवान् के विषय में और शंका उत्पन्न होती है कि जब उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता और गुण-गुणी भाव सम्बन्ध का उसमें आप निषेध कर रहे हैं, स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया परमात्मा में सिद्ध नहीं होते और कर्म भी भगवान् में सिद्ध नहीं होता। जैसे हम कर्म करते हैं व्यवहार करते हैं इस प्रकार भगवान् का व्यवहार भी सिद्ध नहीं होता। व्यवहार के लिए उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन यह कर्म का लक्षण वैशेषिककार कणाद ने किया है। यह पांचों ही विशेषतायें परमात्मा में नहीं घटतीं और प्रकृति में घटती हैं, हमारे शरीर में भी घटती हैं और समस्त पदार्थों में घटती हैं, जिन पदार्थों में चलन रूप क्रिया है, जो जितने दृश्यमान पदार्थ हैं इन सब में ये पाँचों विशेषताएँ घटती हैं। किसी में आप घटा लो जहाँ गति हो रही है, चलन, गमन, सिकुड़ना और फैलना, आकुंचन और प्रसारण यह पाँचों विशेषतायें और ऊपर उठकर जाना, नीचे आना, परमात्मा में यह पाँचों बातें देखने में नहीं आतीं। इस शरीर में तो देखने में आती हैं। हम में तो संकोच और विकास भी है, प्रकृति में भी संकोच, विकास है। पाँचों भूतों में, पृथ्वी में, जल में, अग्नि में, आकाश में, संकोच और विकास है, ऊपर उठना,

और नीचे गिरना भी है तथा चलन रूप क्रिया भी है। दृश्यमान पदार्थ जितने भी हैं यह पाँचों विशेषताएँ उनमें देखने में आती हैं। यहाँ तो कर्म की बात सिद्ध होती है। उसके अन्दर पाँचों विशेषताएँ देखने में नहीं आतीं, समझने में नहीं आतीं। उत्क्षेपण, ऊपर उठकर कहाँ जायेगा? भगवान् अगर ऊपर उठकर जायेगा तो उसकी व्यापकता नष्ट हो जायेगी। यदि नीचे आयेगा तो एकदेशी बन जायेगा। मेरे शरीर के समान या प्रकृति के समान उसमें सिकुड़ना रूप क्रिया होगी तो विकार हो जाएगा। फैलना रूप कर्म उसमें होगा तो विकार हो जायेगा। चलन रूप कर्म होगा तो एक देश से चलकर दूसरे देश में जाना रूप कर्म होगा। तब वह एक देशी बनकर हमारे और आपके समान रह जायेगा। हमारे अन्दर तो यह कर्म सिद्ध हो रहे हैं, परन्तु भगवान् के अन्दर इस प्रकार का कर्म सिद्ध नहीं हो रहा है। कर्तृत्व रूप धर्म भी इसमें सिद्ध नहीं हो रहा है क्योंकि कर्तापन आदि जो एक प्रकार का गुण है इस प्रकार के कर्म की परमात्मा के अन्दर न उत्पत्ति है, न स्वभाव से होते हैं।

उन्होंने कह तो दिया ज्ञान, बल, क्रिया परमात्मा के स्वाभाविक धर्म हैं, परन्तु आप लोगों ने शायद इसके भाव को समझा नहीं। ज्ञान, बल, क्रिया वास्तव में प्रकृति के धर्म हैं। सात्त्विक, राजस तामस तीन प्रकार के बल प्रकृति के हैं। ज्ञान सात्त्विक धर्म है, सात्त्विक गुण है। क्रिया रजोगुण का धर्म हैं क्योंकि चलन रूप क्रिया रजोगुण में है। तम स्थित, बल है, ठहर जाना है।

यह तीनों गुण प्रकृति में तो सिद्ध होते हैं, परमात्मा में ये तीनों विशेषताएँ सिद्ध नहीं होतीं। परमात्मा का और प्रकृति का नित्य सम्बन्ध है। जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति है, इसका सदा से सम्बन्ध चला आ रहा है। दो प्रकार का सम्बन्ध होता है एक नित्य सम्बन्ध होता है, दूसरा अनित्य सम्बन्ध होता है, एक नित्य संयोग होता है और एक अनित्य संयोग होता है। अनित्य संयोग क्या है? जैसे बच्चे का और माता-पिता का संयोग होता है। जैसे बच्चे को गोदी में लिया, यह अनित्य संयोग है। दूसरा संयोग शरीर के अन्दर मन, बुद्धि का जब तक शरीर है तब तक नित्य संयोग यहाँ है। इसी प्रकार प्रकृति के साथ भी भगवान् का नित्य संयोग सम्बन्ध है। एक शंका इसमें उत्पन्न होती है, यदि नित्य संयोग सम्बन्ध है तो प्रकृति में एक समान ही धर्म उत्पन्न होते रहने चाहिए। यह तो इसमें होते नहीं हैं। इसका संचालन आदि किस प्रकार से होता है?

जब तुम परमात्मा के अन्दर कर्तृत्व धर्म नहीं मानते, कर्तापन का गुण नहीं मानते, तो इस प्रकृति का और इस संसार के पदार्थों का संचालन कौन करता है? इन का नियोजन आदि एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध बनाना, जोड़ना, उत्पत्ति, विनाश आदि कैसे होता है? यह तो धर्म एकदेशी में होंगे, आप और हमारे होंगे। मकान बना देंगे, उजाड़ भी देंगे, तोड़ देंगे। क्या भगवान् भी इसी प्रकार करता है? यदि इसी प्रकार करता है तो वह भी हमारे समान एकदेशी बन ज़ायेगा।

परमात्मा की सर्वदेशीयता सिद्ध नहीं होती। इसमें यह सिद्ध होता है कि जो स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया प्रकृति के ही धर्म विशेष, गुण विशेष या स्वरूप विशेष हैं और इनका आरोप उस परमात्मा के ऊपर कर दिया है। जैसे किसी बच्चे के मुख का या किसी लड़की के मुख का या किसी का मुख अति सुन्दर हो तो चन्द्रमा की उपमा देते हैं, यह चन्द्र जैसा मुख है। चन्द्र कुछ और वस्तु है, मुख कुछ और वस्तु है, परन्तु बच्चे या बच्ची के मुख के साथ चन्द्र की उपमा दी गयी है।

इसी प्रकार यहाँ भी उपमा से हम परमात्मा को जैसे 'ज्योतिषाम् ज्योतिः' कह देते हैं। अब जहाँ ज्योतियों की उत्पत्ति होती है यहाँ भी एक प्रकार से गुण-गुणी भाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है। जहाँ ज्योतियाँ होती हैं, पीले वर्ण की ज्योति, लाल वर्ण की ज्योति, श्वेत वर्ण की ज्योतियाँ हैं, इनमें अन्तर होता रहता है। प्रकाशों में भी अन्तर होता रहता है। जैसे नक्षत्रों का प्रकाश, चन्द्रमा का प्रकाश, सूर्य का प्रकाश, विद्युत का प्रकाश, अग्नि का प्रकाश नाना प्रकार का प्रकाश है परन्तु भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार क्या परमात्मा में भी ज्योतियाँ आदि इस प्रकार परिवर्तन होते हैं। परमात्मा में किसी प्रकार की ज्योति का परिवर्तन नहीं होता। यहाँ 'ज्योतिषाम् ज्योतिः' जो कह दिया है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के अन्दर वह व्यापक रूप से वर्तमान रहता है।

हमेशा कर्म की उत्पत्ति एक देशी में हुआ करती है। परमात्मा की अपेक्षा प्रकृति भी एक देशी है। हमारे शरीर में तो पाँचों प्रकार के कर्म की उत्पत्ति हो सकती है। प्रकृति में भी पांच प्रकार के कर्म की उत्पत्ति हो सकती है, परन्तु परमात्मा में पाँच प्रकार के कर्म की बात बनती नहीं है फिर सृष्टि के सृजन की बात कैसे बनेगी? सृजन की बात तब बनती है जबकि परमात्मा एक देशी होता। परन्तु कोई भी एकदेशी सृष्टि-रचना नहीं कर सकता और परमात्मा एकदेशी नहीं बन सकता। सर्वत्र व्यापक परमात्मा के द्वारा सृष्टि की रचना में आपत्ति कैसे हो सकती है? तभी तो उसको हम कहते हैं भगवान् अब रचना करेगा, अभी प्रलय या विनाश कर दिया। जब भगवान् को आप सर्वत्र व्यापक कहते हो और कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ चेतन सत्ता परमात्मा की उपस्थिति न हो।

हमारे करणों की बात चलती है, हम एक देश में रहते हैं, मेरा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार भी एक देशी है। परमात्मा में तो इस प्रकार के करणों की आवश्यकता नहीं है। कर्म करने के लिए हम तो एक देश में रहते हैं, हमें तो आवश्यकता है।

जब परमात्मा सब देश में व्यापक है, जो कर्म भगवान् से आप कलकत्ते में कराना चाहते हो, इंगलैण्ड में कराना चाहते हो, अमेरिका में कराना चाहते हो, सूर्यलोक में कराना चाहते हो, चन्द्रलोक में कराना चाहते हो, परमात्मा वहाँ पहले से ही वर्तमान है। इसलिए वहाँ किसी करण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। कलकत्ते में किसी मन, बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती, न इंगलैण्ड में, न अमेरिका

में, न सूर्यलोक में, न चन्द्रलोक में। तभी तो कहा है "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते"। भगवान् का न कोई कार्य है न करण है। अब जिसका कार्य और करण नहीं है वहाँ कर्म की उत्पत्ति नहीं होगी। इसलिए भगवान् में किसी प्रकार के कर्म की उत्पत्ति नहीं। वह आकाश के समान है। आकाश में भी हमें कर्म देखने में नहीं आते।

आकाश की तुलना, उपमा भगवान् के साथ दी गयी है। आकाश के जो तीन गुण हैं रचना, अवकाश देना, चलन रूप क्रिया, भगवान् में भी यह गुण देखने में आते हैं। क्योंकि भगवान् में प्रकृति चलती है। भगवान् की सूक्ष्मता में व्यापकता में लोक-लोकान्तर पंचभूत चलते हैं इसलिए गमन रूप क्रिया प्रकति की है न कि परमात्मा की। परमात्मा में भी आकाश के समान यह विशेषता है। आकाश के अन्दर प्रकृति चलती है क्योंकि उसको अवकाश दे रहा है। भगवान् उससे भी महान् है, बड़ा है, सूक्ष्म है अतः वहाँ प्रकृति को अवकाश मिल रहा है सूक्ष्मता के नाते। आकाश को वायु में जाने के लिए, अग्नि में जाने के लिए अवकाश मिलता है, आकाश इतना सूक्ष्म है यह वायु में भी प्रवेश करता है, वायु भी उसको अवकाश देती है। अग्नि में भी, जल में भी, पृथ्वी में भी प्रवेश करके चलता है। भगवान् के अन्दर भी सर्वव्यापक होने से और सब से सूक्ष्म होने से वह अवकाश भी देता है। प्रकृति की व्यूह की रचना भी उसमें होती है और संयोग-वियोग भी वहां एक प्रकार से प्रकृति का उसमें उछल-कूद आदि उस चेतन सत्ता में बनी रहती है उसके सन्निधान से। जैसे वहां चुम्बक पत्थर पड़ा है, यहां सूई पड़ी है, सूई अपने आप ही उसकी ओर आर्कर्षित होकर गति करने लगती है। चेतन सत्ता के सन्निधान से संयोग से। नित्य संयोग नित्य सन्निधानसे यह प्रकृति सूई के समान नाचती है, उछल-कूद करती रहती है और अपने आप ही उसमें स्वाभाविक ही क्रिया बनी रहती है। यहां दो पदार्थों का दृष्टान्त दिया, चुम्बक और सूई, यह भी एक प्रकार से गलत ही है क्योंकि परमात्मा चुम्बक के समान एकदेशी नहीं है, आकर्षण करने की शक्ति तो है। परमात्मा सर्वव्यापकता के नाते से प्रकृति में स्वयं ही आकर्षण, संकोच आदि क्रिया उत्पन्न हो जाती है। जैसे जब तक मेरे अन्दर जीवात्मा की चेतन सत्ता है तव तक कूदना, दौड़ना, उछलना आदि सब कर्म होते रहते हैं। यदि यह हवा सी निकल जाती है, तो सेंकेंड में मृत्यु हो जाती है। आजकल तो हार्ट फेल हो जाते हैं। हमारे एक भक्त थे, परसों उनके पिता मुझे मिल कर गये। अच्छे-भले थे और जाने के कुछ घंटे बार कुछ सेकिंड़ों में परलोक वास हो गये। आजकल तो लोग कुछ कफन सा बाँध कर चलते हैं। पता नहीं कुछ घटना हो जाय, हार्ट फेल हो जाय, कुछ हो जाय। परन्तु वहां ऐसी बात नहीं परमात्मा के सन्निधान से, परमात्मा के नित्य संयोग से प्रकृति कर्मशील रहती है।

एक उदाहरण देता हूं। माता के गर्भ में बच्चा रहकर अपने आप पनपता रहता है, समस्त शक्तियां माता से उसको मिलती रहती हैं। उनका विकास होता

रहता है। दो चेतन सत्ता होती हैं, एक बालक की चेतन सत्ता होती है, एक माता की चेतन सत्ता होती है। यहां दो का अलग-अलग भेद है। शरीर के भेद से यहाँ भेद हो जाया करता है, परन्तु इस प्रकार प्रकृति के अन्दर चेतन सत्ता का कोई विभाग नहीं होता। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ प्रकृति हो और परमात्मा न हो। अतः परमात्मा में कर्तापन को मानने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ प्रकृति और परमात्मा का नित्य सम्बन्ध है वहाँ परमात्मा में गुण तथा कर्म अथवा ज्ञान-बल-क्रिया रूप धर्म को उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा के सन्निधान मात्र से प्रकृति में ही उत्पन्न हो जाते हैं और उसी के धर्म बन जाते हैं। जब उस देश में वैसे वर्तमान है वहाँ मैं गुणों को उत्पन्न करके बुद्धि या चित को उत्पन्न करके कर्म कराना चाहता हूँ जब वहाँ वैसे ही वर्तमान है फिर बुद्धि की, करणों की परमात्मा के लिए आवश्यकता नहीं। यहाँ भी जैसे इस देश में प्रकृति के अन्दर कर्म और व्यापार हो रहे हैं, लंदन, अमेरिका आदि देशों में भी वहाँ के भूमि में कर्म और व्यापार स्वाभाविक ही अपने आप ही ज्ञान, बल, क्रिया आदि जो प्रकृति के धर्म हैं वे अपने आप ही होते रहेंगे। संसार का सृजन आदि जैसे मेरे शरीर, बालक के शरीर चेतन सत्ता के संयोग सम्बन्ध से अपने आप विकास होता रहता है, बढ़ता रहता है इसी प्रकार परमात्मा के गर्भ में रह कर यह प्रकृति संकोच-विकास आदि गुणों को उत्पन्न करती रहती है। गुणों के रूप में संसार का सृजन आदि बना रहता है।

उत्पत्ति, विनाश या प्रलय क्यों यह अवस्थायें आती हैं?

जैसे हमारे अन्दर स्वाभाविक ही जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति यह तीन अवस्थायें आती हैं। यह बालक के अन्दर भी, हमारे अन्दर भी जब बूढ़े हो जायें तब भी आती हैं। स्वाभाविक ही आती हैं, इन पर अधिकार ही नहीं हो पाता है। मैं बहुत प्रयत्न कर रहा हूँ, पर जाग्रत में तो संस्कारों का कुछ निरोध हो जाता है, स्वप्न में नहीं होता। स्वप्न पर अधिकार भी नहीं बनता। स्वप्न के विचारों को, संस्कारों को तो व्यक्ति रोक ही नहीं सकता। जैसे यह स्वाभाविक ही है। स्वाभाविक तो यह जाग्रत अवस्था भी है। यदि मैं एक विचार को रोकता हूँ, जैसे दुकान का विचार आया उसको हटाया है, फिर उद्योग का आयेगा। उसे हटाया है फिर घर के विचार उत्पन्न हो जायेंगे। घर के विचारों को हटाया, अपने शरीर के विचार उत्पन्न होंगे। कुछ न कुछ विचार इनके अन्दर २४ घंटे बने ही रहते हैं। इस शरीर के अन्दर भी आत्मा का नित्य संयोग है। जब तक जीवन रहता है तब तक यह संयोग शरीर के अन्दर रहता है, प्रत्येक क्षण, २४ घंटे इसमें संस्कार बने ही रहते हैं, उनका कर्म और व्यापार होता ही रहता है।

वह कर्म और व्यापार कब बन्द होगा? जब शरीर का मरण होगा, तब संस्कार बन्द हो जायेंगे। इसी प्रकार परमात्मा का भी कर्म और व्यवहार इस प्रकृति के अन्दर परमात्मा के सन्निधान से जैसे हमारे शरीर में कर्म और व्यापार

होते रहते हैं, क्रिया करते रहते हैं, कार्यर कते रहते हैं, व्यवहार करते रहते हैं, जब तक आत्मा का सम्वन्ध है तब तक यह होते रहते हैं। इसी प्रकार जब तक सर्व-व्यापक परमात्मा का सम्पूर्ण विश्व के साथ सम्बन्ध है, इसमें कर्म और व्यापार होते रहेंगे और जाग्रत, स्वप्न, सुषप्ति भी बने रहेंगे, वह कैसे जैसे-जैसे सुषुप्ति होगी प्रलय काल की अवस्था में। यह जाग्रत और सुषुप्ति प्रधान हैं। यह जो स्वप्न की बात है यह तो एक प्रकार से जाग्रत के ही विचारों का स्मरण होता है। अर्ध-निद्रा में जब पूर्ण निद्रा नहीं आती है तब जो देखा, सुना आदि हमारे विचार हैं उनका ही चित्त या मन स्मरण करता है। वह कोई नया व्यापार, नई बात उत्पन्न नहीं करता, पूर्व-भूत काल में जो अनुभूत किये हुए हैं उन संस्कारों का स्मरण होता है चित्त में। वास्तव में अवस्था दो ही हैं—सुषुप्ति और जाग्रत की। वैसे तो एक अवस्था, समाधि की अवस्था साथ जोड़ दी है। परन्तु समाधि की अवस्था उत्पन्न की जाती है, स्वाभाविक हम लेकर नहीं आये हैं। जाग्रत और सुषुप्ति स्वभाव से लेकर आये हैं। प्रकृति के अन्दर भी जाग्रत, सुषुप्ति आदि स्वाभाविक ही है और वह अपने आप ही आती रहेगी। हमारे लाने से निद्रा नहीं आती क्योंकि निद्रा पर भी हमारा अधिकार नहीं हो पाता।

स्वभाव का निरोध नहीं होता, स्वभाव को जाग्रत किया जाता है, विकसित किया जाता है। जैसे हमारे ज्ञान के कर्म के स्वभाव होते हैं, संस्कार होते हैं, माता, पिता, गुरुजन उन संस्कारों का विकास करते हैं या उनको बढ़ाते हैं, फिर उनको निरोध करने की शिक्षा देते हैं। पहले तो कहते हैं, सब उपदेश देते हैं कि खूब धन, सम्पत्ति अर्जित करो, गृहस्थ करो, बाल-बच्चे उत्पन्न करो, सब कुछ ही ग्रहण करो। फिर कहते हैं सब कुछ त्याग करो। पहले ही क्यों ग्रहण करते हो, फिर पीछे छुटवाते फिरते हो ? इसलिए ग्रहण कराते हैं, संसार की परम्परा को चलाने के लिए। यदि न होता तो मैं भी कहाँ से आता और तुम को सुनाता ?

संसार की परम्परा चलाने के लिए पहले तो उपदेश देते हैं, फिर कहते हैं कि तुम वानप्रस्थी बन कर या संन्यासी बन कर जाओ उन संस्कारों का निरोध करो। पहले तो कीचड़ में पैर डलवाते हैं, फिर कहते हैं जाओ धोते फिरो। कहने का तात्पर्य यह है कि यह भी एक प्रकार से स्वाभाविक है। संस्कारों का निरोध नहीं हो सकता। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जितने हैं इनको स्वभाव से हम लेकर आये हैं। माता क्रोध नहीं सिखाती है। स्वाभाविक रूप से ही अन्दर रहता है, बच्चों को ऐसा मारो तो उसको भी क्रोध आता है। क्रोध को वह स्वभाव से लेकर आया होता है। भूख, प्यास को भी हम स्वभाव से लेकर आये हैं। जाग्रत आदि को भी स्वभाव से लेकर आया है। अहंकार की भावना को भी स्वभाव से लेकर आया है। द्वेष की भावना को भी स्वभाव से लेकर आया है। यह स्वाभाविक ही पशु पक्षियों में वर्तमान रहते हैं। उनको तो कोई नहीं सिखाता। उनके अन्दर भी काम, क्रोध,

लोभ, मोह, राग, द्वेष, आदि जितने भी प्राणी-मात्र हैं सब के अन्दर वर्तमान रहते हैं। आजकल के विद्वान दूसरे शरीर को नहीं मानते। जो पुनर्जन्म को मानने वाले हैं वे तो कहते हैं, इन संस्कारों का स्वभावों से लेकर सूक्ष्म शरीर चलता है फिर पुनर्जन्म की बात होती है।

परमात्मा के गुणों की बात चल रही थी। परमात्मा में कोई गुण सिद्ध नहीं हुआ। ज्ञान, बल, क्रिया भी परमात्मा में सिद्ध नहीं हुई और तुम्हारी सृष्टि की उत्पत्ति भी बन गयी। उसके गुण कह कर उसमें कार्य कराने की कोई आवश्यकता नहीं है। परमात्मा के गुण तो हँम ही कहते हैं, परमात्मा तो स्वयं आप नहीं बतलाता कि यह मेरे गुण हैं। परमात्मा के नाम भी तो हमने ही रखे हैं या हमारे गुरुजनों ने रखे हैं। परमात्मा स्वयं तो अपने नाम नहीं बताते। अपनी बुद्धि से परमात्मा के अनेक नाम हम रखते हैं। हम भगवान् का नामकरण संस्कार करते हैं। भगवान् ने अब तक किसी को अपना नाम नहीं बताया।

अब रही बात कि परमात्मा के सन्निधान से गुण न होते हुए भी संसार का सृजन होता है। गुणों को भी यदि उसमें मान लेते हैं फिर भी शंका उत्पन्न होती है। आप लोगों में एक भूल है। परमात्मा को आप कर्ता तो मानते हो और भोक्ता नहीं मानते हो। अपने आप को आप कर्ता भी मानते हो, भोक्ता भी मानते हो। जब तुम्हारा जीवात्मा भी परमात्मा के साथ समान है, जैसे परमात्मा चेतन है वैसे तुम्हारी आत्मा भी चेतन है। चेतन तो दोनों की समान है। जब उस चेतन को कर्ता तो मानते हो भोक्ता नहीं मानते हो वैसे ही अपने आप को भी कर्ता मानते हुए भोक्ता क्यों मानें? अपने आपको उसी के समान क्यों न मुक्त कह देते? जैसे भगवान् शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है ऐसे मैं भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव हूँ। जैसे भगवान् सृष्टि के अन्दर रह कर सृजन उत्पत्ति, विनाश आदि सृष्टि में होते रहते हैं। भगवान् फिर भी मुक्त ही बना रहता है, संसार का पालन, पोषण, रक्षण आदि भी चलता रहता है फिर भी भगवान् को मुक्त ही आप बनाये रखते हो, आप भी सृष्टि को उत्पन्न करते हुए अपने को मुक्त क्यों नहीं मानते हो? यह मानवी सृष्टि मानव ने उत्पन्न की हुई है। कहते हैं भगवान् ने बच्चा दिया, भगवान् ने धन दिया, दौलत दिया, भगवान् ही सब कुछ देता है। भगवान् की तो मेहरबानी हम तब समझते, आपको तो कार्यालय में जाना न पड़े उनको कारखाने में न जाना पड़े और नोटों के बण्डल ला-लाकर तुम्हारे घरों में दे जाता तब उसकी दया समझते हैं। जब आप कर्म करते हो, व्यापार करते हो, कारखाना चलाते हो, पदार्थों को आप उत्पादन करते हो। आप की बुद्धि, आपका शरीर, आपका धन, आपका मकान सब कुछ उसमें लग रहा है, भगवान् की उसमें क्या देन है। फिर कहते हैं भगवान् देने वाला है। भगवान् सब कुछ करने वाला है। यह तुम्हारे अपने मन की भावना है। भगवान् के पीछे इस प्रकार इतने पड़े रहते हो जीवन में तो

गुण घटाते नहीं। परमात्मा तुम से सब कुछ कर्म कराता रहता है, परन्तु पण्डित भी, विद्वान लोग भी सब्जबाग दिखाते रहते हैं। हम भी बहुत सब्जबाग दिखाते रहते हैं कि परमात्मा तुम्हारा यह करेगा, वह करेगा, तुम्हारा विवाह भी करेगा, बच्चे भी दे देगा, धन भी दे देगा। देना, लेना, तो तुम्हारे कर्मों ने है। जो कर्म करोगे फल तो उसका मिल रहा है और हम कहते रहते हैं सब तुम्हारा काम भगवान् कर देगा। भगवान् के करने की बात समझ में नहीं आती।

प्रकृति के कुछ ऐसे अटल से नियम हैं, परमात्मा की व्यापकता में प्रकृति स्वयं ही संसार का सृजन, उत्पत्ति, विनाश अपने आप ही क्रमपूर्वक करती है या प्रकृति में क्रमपूर्वक चलते रहते हैं। जैसे हमारे शरीर के अन्दर आत्मा के संयोग से निद्रा, जाग्रत, सोना, उठना आदि व्यवहार सब इसशरीर में होते रहते हैं। आत्मा इसमें भी असंग-सा होकर ठहरा हुआ है। इसी प्रकार वह परमात्मा सम्पूर्ण विश्व में असंग-सा होकर बिना किसी संग से रहता है। संग तो है एक प्रकार से यह प्रकृति, परन्तु इससे भी अलग-सा ही रहता है। जैसे मेरे पास विष की बोतल पड़ी है मुझे पता है मैं इसको खाऊंगा तो मर जाऊंगा। ऐसी बोतल चाहे पचासों मेरे पास पड़ी रहें, मैं विष का सेवन कभी नहीं करूंगा। इसके पीने की इच्छा कभी नहीं होगी। इसी प्रकार प्रकृति के विषय में भी ऐसी भावना बन जाय एक प्रकार से भगवान् तो प्रकृति का किसी प्रकार का भोग नहीं करता है क्योंकि कर्तापन की बात उसमें नहीं है, सृष्टि के सृजन और विनाश की भी बात उसके अन्दर नहीं है। स्वभाव से अपने आप चलता रहता है। हमारे जन्म, मरण मोक्ष की बातें जो बनाई हुई हैं यह हमारी बनाई हैं या हमारे ऋषि-मुनियों ने बनाई हुई हैं। वास्तव में यह देखा गया है कि वृत्तियों का सर्वथा निरोध नहीं होता। वृत्तियों का निरोध करने के लिए मैंने भी बहुत यत्न किया, उपाय किये, संस्कारों का कभी अभाव देखने में नहीं आता। समाधि की अवस्था में भी, ज्ञान की अवस्था में भी, जाग्रत में भी, स्वप्न में भी, सुषुप्ति मेंभी विचार उत्पन्न होते ही रहते हैं। निद्रा में भी सुख-दुःख की अनुभूति होती रहती है भले ही उसको प्रकट करने की शक्ति उस समय नहीं रहती हो।

हमारे शरीर में उत्पत्ति का, विनाश का, जाग्रत का, आत्मा का सम्बन्ध बना हुआ है। शरीर उत्पन्न हुआ है, वृद्ध हुआ, फिर मर गया, चला गया, फिर जन्म लेकर आ गया। इसी प्रकार प्रकृति व परमात्मा के सन्निधान से संयोग से अपने आप ही उत्पत्ति, विनाश, सृजन आदि इसमें सब कर्म और व्यापार होते रहते हैं और हम अज्ञानता से, मूर्खता से भगवान् के ऊपर प्रकृति के व्यापारों को थोपते रहते हैं, आरोप करते रहते हैं यह आरोप करने की बात है। जितने भी कर्म आप करते हैं आपका पुत्र धन, दौलत कमाता है, व्यापार करता है, परन्तु आप आरोप परमात्मा में करते हो कि परमात्मा ने दिया, परमात्मा ने मकान भी बना दिया, पुत्र भी दे दिया, धन-दौलत आदि सब कुछ परमात्मही। देता है। यह देना रूप

कर्म परमात्मा का नहीं है यह शरीर के धर्म हैं लेना, देना आदि। यह जो विनाश है, उत्पत्ति हैं, यह शरीर के धर्म हैं, प्रकृति के धर्म हैं, यह आत्मा और परमात्मा के धर्म नहीं हैं। यदि परमात्मा के धर्म मानोगे तो उसको भी प्रकृति के समान विकारवान मानना पड़ेगा। वह विकारी हो जायेगा। जैसे प्रकृति संसार का सृजन करती है, पांच भूतों का सृजन किया फिर शरीरों का सृजन किया, वनस्पति औषधि आदि और पदार्थों का सृजन किया ऐसे ही परमात्मा से भी चेतनों का सृजन मानना पड़ेगा। उधर चेतन से चेतनों की उत्पत्ति होगी। जड़ से जड़ की उत्पत्ति होगी, फिर इनमें और एक चेतन सत्ता अलग माननी पड़ेगी। जो इनके उत्पत्ति और विनाश से अलग होगी, एक और परमात्मा मानना पड़ेगा जो इस प्रकार का ही निष्क्रिय हो। निर्गुण की बात तो इतनी मैंने कह दी क्योंकि सर्वत्र वह व्यापक है, किसी गुण विशेष की उसमें आवश्यकता नहीं है।

यदि भगवन् को सगुण मानते हैं फिर वह पर्वत में रहने वाला, स्वर्ग लोक में रहने वाला, नरक में रहने वाला, किसी लोक लोकान्तरों में बैठा हुआ रहने वाला होना चाहिये। जैसे अनेक आचार्यों ने स्वर्ग में भगवान् का सिंहासन माना है। हमारे ईसाई, मुसलमान भाई मानते हैं, हिन्दू धर्म में भी जो पुराण को मानने वाले हैं, पुराणों में इस प्रकार का स्वर्ग का इन्द्र आदि का बहुत वर्णन आता है। इस प्रकार के जो वर्णन हैं, इस प्रकार की जो सृष्टि है यह मानवी सृष्टि है।

जब प्रकृति परिणाम भाव को प्राप्त होती है, इस संसार के अन्दर जब साम्यावस्था में सूक्ष्म आकाश के समान हुई होती है, जब इससे पहले किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है, दो वस्तुओं का जब संयोग होता है वहाँ प्रथम शब्द की उत्पत्ति होती है फिर इसमें गति होती है। शब्द चलेगा। सर्वप्रथम प्रकृति के अन्दर शब्द की उत्पत्ति होती है। परमात्मा के संयोग से, सन्निधान से जब सृष्टि का सृजन प्रारम्भ होता है, सर्वप्रथम शब्द की उत्पत्ति होती है क्योंकि संयोग शब्द को उत्पन्न करता है। संयोग से, गति या क्रिया भी उत्पन्न होती है। जैसे क्रिया हुई, चलन रूप हुआ, दोनों जुड़ गये। उसमें प्राण भी साथ उत्पन्न होता है। पहले शब्द उत्पन्न होता है फिर उसमें प्राण शक्ति उत्पन्न होती है। प्रकृति के अन्दर चलन रूप क्रिया गमन रूप क्रिया से कर्म प्रारम्भ होता है। वैसे तो एक प्रकार से प्रकृति के अन्दर नित्य ही कर्म रहता है, सूक्ष्म रूप से और स्थूल रूप से। प्रलय काल की अवस्था भी थोड़े-थोड़े कम्पन प्रकृति के अन्दर बने रहते हैं जैसे आकाश के अन्दर कम्पन बने रहते हैं। आकाश में छोटे-छोटे अनन्त शब्द उत्पन्न होते रहते हैं। यह समस्त शब्द, मेरा शब्द भी आकाश में ही उत्पन्न हो रहा है। आकाश ही आपको पहुँचा देता है क्योंकि आकाश पोल है, इस पोल में शब्द चल कर जाता है। शब्द में भी गति है और वायु या प्राण में भी गति है। सब से पहले शब्द की और प्राण की उत्पत्ति होती है। शब्द उत्पन्न हुआ, प्राण ने गति की। गति जो उत्पन्न

हुई इसने कहीं ठहरना भी है। जहां इसका ठहरना होता है वह बल या स्थिति या तम कहलाता है।

यह सत्त्व, रज और तम प्रकृति की तीन अवस्थायें हैं जो सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाली हैं। सबसे पहले प्रकृति के अन्दर भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है। परमात्मा और प्रकृति के संयोग से जीवात्मा और चित्त के संयोग से पहले इसमें भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है। जब हमारे आत्मा का इस चित्त के साथ, शरीर के साथ संयोग होता है वहाँ सब से पहले शब्द उत्पन्न होता है और प्राण रूप शक्ति बाद में उत्पन्न होती है। प्राण रूप शक्ति उत्पन्न होकर शरीर में गमनागमन रूप धर्म बनाती है। इसी प्रकार प्रकृति के अन्दर भी प्राण रूप शक्ति चेतन के सन्निधान से उत्पन्न होकर उसमें चलन रूप, कर्म रूप व्यापार उत्पन्न करती है। फिर प्रकृति विकास भाव को प्राप्त होकर संसार का सृजन करती है। यहां परमात्मा केवल निमित्त मात्र है कर्ता रूप से नहीं सन्निधान मात्र से। दो प्रकार का निमित्त होता है, एक कर्ता रूप निमित्त होता है, एक सन्निधान या संयोग रूप से या सम्बन्ध रूप से निमित्त होता है।

प्रकृति और परमात्मा का नित्य सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सदा रहेगा। निद्राकाल की अवस्था में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि अचेत होकर जड़-सी होकर पड़ी हुई, सोयी हुई सी होती हैं, उस समय श्वास प्रश्वास चलता रहता है, यह धड़कन आदि शब्द उत्पन्न होते रहते हैं। दो गुण, दो वृत्तियाँ या दो बातें निद्राकाल की अवस्था में वर्तमान रहती हैं।

इसी प्रकार प्रलय काल की अवस्था में प्रकृति में भी वहाँ छोटे-छोटे कम्पन बने रहते हैं। यदि वह कम्पन न हो, क्रिया न हो, निद्रा की अवस्था में प्राण काम न करे, तो हमको पूर्ण विश्राम नहीं मिलेगा। हम जड़वत् होकर ठहर जाते हैं। यह प्राण और शब्द एक प्रकार से नव स्फूर्तियुक्त बना देते हैं, इसी शरीर को निद्रा में रात्रि को यद्यपि समस्त कर्म-व्यापार बन्द होते हैं, हम नव स्फूर्तियुक्त होकर सुबह उठ कर कर्म करने योग्य बन जाते हैं। निद्रा एक प्रकार से विश्राम की अवस्था है। उससे शक्ति, पराक्रम आदि समस्त शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, बढ़ती हैं। इसी प्रकार प्रकृति देवी प्रलय काल की अवस्था में सूक्ष्मी भाव को प्राप्त होकर बल, शक्ति और पराक्रम तथा संसार के सृजन करने योग्य बन जाती है। सृजन रूप कार्य करने के लिए जैसे आप रात्रि को सोकर नये होकर उठकर आते हैं, कर्म और व्यापार करने लगते हैं, सम्पूर्ण दिन कर्म करते रहते हैं। जैसे यह हमारे कर्म और व्यापार जाग्रत की अवस्था में चलते रहते हैं। फिर जब हम थक जाते हैं, विश्राम करते हैं या निद्रा की अवस्था में जाते हैं।

हमारा शरीर उत्पन्न हुआ है, जीर्ण-शीर्ण होकर पुराना होकर इसने विनाश भाव को प्राप्त होना है। इसी प्रकार यह प्रकृति देवी उत्पन्न होकर ३२

अवस्थाओं मे आती है। इस प्रकार के परिवर्तन इस प्रकृति में होते हैं इस सृष्टि तक आने में—

१. महाकाश, २. दिशा, ३. काल, ४. महत् सत्त्व, ५. महत् रजः ६. महत् तमः, ७. चित्त, ८. बुद्धि, ९. सत्त्व अहंकार, १०. रजः अहंकार, ११. तमः अहंकार, १२. मन, १३. कर्णेन्दिय १४. स्पर्शेन्द्रिय, १५. नेत्रेन्द्रिय, १६. रसनेन्द्रिय, १७. घ्राणेन्द्रिय, १८. वागिन्द्रिय, १९. हस्तेन्द्रिय, २०. पादेन्द्रिय, २१. उपस्थेन्द्रिय, २२. गुदेन्द्रिय, २३. शब्द तन्मात्रा, २४. स्पर्श तन्मात्रा, २५. रूपतन्मात्रा, २६. रस तन्मात्रा, २७. गन्ध तन्मात्रा, २८. आकाश, २९. वायु, ३०. अग्नि, ३१. जल, ३२, पृथ्वी।

इस ३२ प्रकार के परिवर्तनों में भगवान् का सन्निधान संयोग इसके साथ बना रहता है। ३२ प्रकार की अवस्थाओं में हमारे शरीर के सृजन करने योग्य यह पृथ्वी बनती है।

यह प्रकृति भी सर्वव्यापक सी है। संसार के अन्दर कोई ऐसा देश, स्थान नहीं है जहाँ पंचभूत सूक्ष्म परमाणु एटम शक्तियाँ गमन न कर रही हों। आकाश मण्डल के अन्दर भी जल के परमाणु, अग्नि के परमाणु, वायु के परमाणु, आकाश के परमाणु, पृथ्वी के परमाणु अनन्त परमाणु विश्व में व्यापप्त होकर प्रत्येक क्षण गतिशील बने रहते हैं। अनन्त परमाणुओं से सम्पूर्ण विश्व भरा हुआ है। उन अनन्त परमाणुओं के अन्दर भी गति देने वाली वह चेतन सत्ता ही वर्तमान है। वह प्रकृति भी वर्तमान है। जैसे हमारे शरीर में इस प्राण को भी चेतन सत्ता गति-शील बनाये रखती है. गर्मी या उष्णता को भी एक देश से दूसरे देश में पहुँचाती रहती है। चेतन सत्ता के सन्निधान से ही इनमें परिवर्तन होता रहता है। इनमें विकास होता रहता है, उत्पत्ति विनाश इनके चलते रहते हैं। जल के अन्दर भी परिणाम बना रहता है। पृथ्वी के अन्दर भी परिणाम बना रहता है, एक-एक क्षण में भी रूपान्तरित होती रहती है। प्रकृति में भी रूपान्तर होता रहता है। पुरा-तनता प्रकृति में भी आई है, प्रकृति ने इन कार्यों का सृजन किया है।

संसार के अन्दर पहले समष्टि शब्द का प्रकृति ने सृजन किया या प्रकृति में उत्पन्न हुई, फिर समष्टि प्राण, उसके बाद समष्टि बल उत्पन्न हुआ क्योंकि बल ही सम्पूर्ण विश्व को धारण करेगा। बल में तम या शक्ति होती है यह स्थिति का हेतु होता है। यह तीन धर्म प्रकृति में होते हैं उसके बाद समष्टि आकाश, काल दिशा उत्पन्न होते हैं। प्रकृति को चलने के लिए, गमन करने के लिए यह आकाश ही अवकाश देता है। फिर किस ओर को चलना है यह दिशा बन जाती है। इतने समय में चल कर वहाँ जाना है, पहुँचना है, यह काल उत्पन्न होता है। इस प्रकार समष्टि महान् आकाश की यह शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

सब से पहले प्रकृति के अन्दर जो १२ प्रकार की अवस्थायें हैं इसको ब्राह्मी सृष्टि नाम से कहा है: १. प्रकृति, २. शब्द, ३. प्राण, ४. आकाश, ५. काल, ६. दिशा,

७. महत् सत्त्व, ८. महत् रज, ९. महत् तम, १०. समष्टि चित्त, ११. समष्टि बुद्धि, १२. समष्टि अहंकार। यह जो १२ अवस्थायें होती हैं यह सब गैस सी होती हैं, यह सूक्ष्म शक्तियाँ होती हैं। प्रकृति की परिणति होती हुई यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहती है। यहाँ आकर उनमें विकीर्ण भाव उत्पन्न होता है जो यह अणुओं के रूप में, परमाणुओं के रूप में परिवर्तन होता है।

यह परमाणु भी क्या है, प्रकृति के छोटे-छोटे अंशों के ६० संघात भाव को प्राप्त होकर एक परमाणु बनता है। ६० परमाणुओं का द्विगुण बन कर १२० परमाणु संघात भाव को प्राप्त होकर तब एक अणु बनता है। जिन आचार्यों ने जीवात्मा को अणु माना है, अणु भी एक प्रकार से परिणामात्मक मानना पड़ेगा। १२० परमाणु संघात भाव को प्राप्त होकर एक अणु बनता है। २८० अणु संघात भाव को प्राप्त होकर एक द्वेणुक बनता है। इस प्रकार इसका द्विगुण होकर त्रिस्रेणु फिर चतुस्रेणु फिर पंचस्रेणु बन कर पृथ्वी स्थूल रूप में मोटे भाग में आती है। इस प्रकार यह ब्राह्मी सृष्टि का क्रम आकर चलता है। यह जो चेतन सत्ता थी ऊपर परमात्मा की यह भी वैसे खड़ी थी और पृथ्वी तक भी वर्तमान रही, इसके ही अन्दर प्रकृति उतरती-उतरती पृथ्वी तक आकर ठहर गयी, फिर भूमि में आकर हमारे शरीरों का विकास किया।

पहले तो सृष्टि और प्रलय का १२ अरब वर्ष का ही सर्कल बताते थे २ की उत्पत्ति, ४ की स्थिति, २ का विनाश, ४ का लय। अब तो इसकी संख्या पर बहुत आगे पहुँच गये हैं हमारे विज्ञानी लोग। वे कहते हैं कि आकाश मण्डल के अन्दर ऐसे गोले देखने में आये हैं २६ अरब वर्ष हो गये हैं उस गैस के गोले को बने। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति हुई कोई आज तक का समय निर्धारित ही नहीं कर सका। कितना समय इसको बीत गया है। केवल हमारे अनुमान ही चलते रहते हैं, हमारे विचार ही चलते रहते हैं, किसी ने उसकी उत्पति होते हुए देखा नहीं परन्तु परिणाम-क्रम हम देखते हैं। अन्त में आकर कोई समय आयेगा जैसे चन्द्रमा शीतल बन गया है ऐसे हमारी पृथ्वी भी शायद शीतल बन जायेगी। जैसे यह जो गैस आदि निकालते जा रहे हैं, तेल निकालते जा रहे हैं, इसकी गर्मी समाप्त होती जायेगी, यह भी ठण्डी होकर इस प्रकार के औषधि, वनस्पति आदि की उत्पत्ति के योग्य नहीं रहेगी। इसके गर्भ में पेट्रोल आदि पदार्थ ही पृथ्वी को उठा रहे हैं। जैसे मोटर या हवाई जहाज आदि को पेट्रोल उठाता है, गैस उठाकर चलती है गमन कराती है, जब यह गैस ये शक्तियाँ आदि इसमें समाप्त हो जायेंगी तो यह पृथ्वी भी ठण्डी होकर चन्द्रमा के समान बन जायेगी। शायद इस पर भी सृष्टि का विनाश होने लगेगा।

अब तक इस प्रकार की पृथ्वी को खोज नहीं कर सके, वैज्ञानिकों ने जितने अनुसंधान किये हैं आज तक कोई ऐसा लोक या मण्डल नहीं देखा जहाँ मनुष्यों की

सृष्टि मिलती हो उत्पत्ति मिलती हो। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति परिणाम भाव को प्राप्त होकर जीर्ण-शीर्ण होकर अरबों वर्ष में फिर यह यहीं से विनाश भाव को प्राप्त होकर ऊपर को चलेगी। जैसे, यह मकान उत्पन्न होकर आया था, हजार दो हजार वर्ष में यह जीर्ण-शीर्ण होकर इसी भूमि में मिल जायेगा। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी, यह लोक-लोकान्तर भी जीर्ण-शीर्ण पुराने होकर समाप्त हो जायेंगे, क्योंकि पुरातन ही विनाश का हेतु होता है। जहाँ चलन रूप क्रिया होती है, गमन रूप क्रिया होती है वहां पुरानापन आया करता है।

इस ब्रह्माण्ड में भी, इस प्रकृति के कार्य और कारण में भी कभी पुरातनता आयेगी। क्योंकि इस में प्राण कार्य करता रहता है, शब्द इसमें कार्य करते रहते हैं, प्राण इसमें गति का हेतु बना रहता है। जीवन का संचार करता रहता है।

एक प्रकार से सर्वव्यापक चेतन सत्ता समस्त पदार्थों को जीवित-सा बनाये हुए है। पृथ्वी भी जीवित-सी बनी हुई है। पृथ्वी में चेतन सी प्रवेश किये हुए हैं। सर्वव्यापक चेतन सत्ता परमात्मा की इस भूमि के अन्दर न हो तो वहाँ धातुओं का पाक आदि धर्म नहीं हो सकते। पृथ्वी के गर्भ में अनेक पदार्थ जो पनप रहे हैं, पक रहे हैं, तैयार हो रहे हैं, इनका विकास नहीं होगा। इनकी उत्पत्ति नहीं होगी। यह पकेंगे नहीं, फलेंगे नहीं। अतः इस रूप में यहाँ इसका पाक रूप धर्म होता है। शनैः-शनैः कभी जीर्ण होकर विनाश भाव को प्राप्त हो जायेंगे। जैसे ऊपर से क्रमपूर्वक उत्पन्न होती हुई आयी थी ३२ प्रकार की अवस्थाओं में आकर ठहर जाती है।

जब अहंकारिक सृष्टि चली, व्यक्ति-व्यक्ति के मन, बुद्धि, अहंकार उत्पन्न हुए तब सूक्ष्म शरीरों का निर्माण हुआ था। जैसे हमारे इस स्थूल शरीर का निर्माण माता के गर्भ में होता है यह जब पंचभूतों से सृष्टि उत्पन्न होती है। आदि सृष्टि में माता-पिता नहीं होते उस वक्त भी तो शरीरों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, नहीं तो कहाँ से यह शरीर आते हैं? भूमि के गर्भ में ही उत्पत्ति माननी पड़ेगी। भूमि का गर्भ उस वक्त ऐसा स्निग्ध-सा होता है कोमल सा होता है जैसे जो पदार्थ माता के गर्भाशय में होता है बच्चा पनपने के लिये वहीं पदार्थ उस भूमि के अन्दर भी उस काल में होता है। जब सृष्टि चलती है उस काल में सूक्ष्म शरीरों का भूमि के गर्भ में प्रवेश हो जाता है। जैसे वर्षा ऋतु होती है, कीड़े-मकोड़े भूमि में पनपते रहते हैं, विकास भाव को प्राप्त होते रहते हैं। अनेक प्रकार के जीव-जन्तु वर्षा ऋतु में निकल कर चलने लगते हैं। भूमि के अन्दर वर्षाकाल में उष्णता आती है, गरम-सी होती है। इसी प्रकार जब सृष्टि का यह प्रारम्भ होता है प्रकृति के अन्दर से अनेक जीव-जन्तु निकल कर विकसित होते रहते हैं। पनपने लगते हैं। जो सूक्ष्म शरीर पहले उत्पन्न हो चुके थे वह सूक्ष्म शरीर साकर स्थूल शरीरों में प्रवेश करते हैं।

इस वक्त भी आकाश मण्डल में सूक्ष्म शरीर चलते रहते हैं। सूक्ष्म शरीरों ने ही जन्म धारण करना है। इस प्रकार के माता-पिताओं को खोजते रहते हैं,

ढूँढते रहते हैं। आकाश मण्डल में विचरते रहते हैं। जिन कर्मों को छोड़कर उनका मरण हुआ है उन कर्मों को उसी वातावरण, माता-पिता आदि को ढूँढते रहते हैं। धन-दौलत, संपत्ति-ऐश्वर्य जो छोड़कर गया है वैसा ही कार्य क्षेत्र ढूँढता रहता है। जैसे जो कर्म आप करते आ रहे हो परसों भी कार्यालय में गये थे, कल भी गये थे आज भी वहीं से आये हो और कल भी जाओगे। जैसे आपका कार्यालय का कर्म आदि में गमनागमन बना हुआ है इसी प्रकार मनुष्य का जीवन में कर्मों का गमनागमन बना हुआ है। जब हमारा मरण होता है हमारे ही आकार-प्रकार का, हमारे ही शक्ल-सूरत का एक पुतला या सूक्ष्म शरीर निकलकर आकाश मण्डल में विचरने लगता है। दीर्घकाल तक वह आकाश मण्डल में जहाँ उसका मरण हुआ हो वहाँ विचरता रहता है, खोजता रहता है, क्योंकि मोह-ममता आदि उसी परिवार, वातावरण के साथ बना रहता है। उसकी भावना उसको वहीं लपेटे हुए होती है, वहीं घुमाती रहती हैं। बहुत काल के बाद उसको वहाँ से जाना होता है, गमन होता है, संसार में विचरता रहता है, किस परिवार में जाऊँ, किस देश में जाऊँ किस स्थान में किस माता के गर्भ में जाऊँ यही खोज करता रहता है। यही भावना वहाँ बनी रहती है। जैसे कि हमारे अन्दर भी अनेक भावनायें विचारों की होती हैं। विचार और भावना ही उस ओर प्रेरित करके उस माता-पिता के या उस परिवार में जाने को नियोजित करती है। इस प्रकार यह पुनर्जन्म की परम्परा चलती है।

जब यह सृष्टि पुरानी हो जायेगी, पृथ्वी लोक-लोकान्तर आदि सब का लय हो जायेगा, सूक्ष्मी भाव को प्राप्त हो जायेंगे यह सूक्ष्म शरीर कम से कम २५-३० अरब वर्ष तक सूक्ष्म जगत् में परमाणुओं के जगत में रहता है। स्थूल संसार विनाश भाव को प्राप्त होकर अणु-परमाणु बन कर कम से कम २५ अरब वर्ष तक यह सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म शरीर विचरते रहेंगे। जैसे आजकल भी सूक्ष्म जगत् में आकाश मण्डल में सूक्ष्म शरीर विचरते रहते हैं। हमारी तो अवधि, शरीर की, जीवन की ५०-६०-८०-१००-२०० वर्ष तक की है। सूक्ष्म शरीरों की अवधि जब से सृष्टि उत्पन्न हुई है अब तक अरबों का ही अरबों सूक्ष्म शरीर विचरते हैं। सूक्ष्म शरीर की उत्पत्ति एक ही बार होती है। हमारी स्थूल शरीर की उत्पत्ति तो सृष्टि में अनेक बार होती हैं।

सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म जगत् में पंचतन्मात्राओं का उपभोग करता हुआ विचरता रहता है। सूक्ष्म गन्ध, सूक्ष्म रस आदि सेवन करते रहते हैं। यह यज्ञादि जो कर्म हो रहे हैं इनके सुगन्ध को देवता लोग आकर ग्रहण करते हुए, आकाश मण्डल में गमन करने वाले सूक्ष्म शरीराभिमानी जो है यहाँ भी कई मण्डराते रहते हैं, उनको भी गन्ध चाहिये। पृथ्वी का अन्तिम परिणाम गन्ध ही है। देवता लोग अच्छी गन्ध को चाहते हैं। यज्ञ आदि कर्म से, पुष्पों से और भी वनस्पति, औषधि

आदि से सुगंन्ध जो निकलता है, उन गन्धों को देवता लोग उपभोग करते हैं। क्योंकि देवता लोग भी वासनाओं के भूखे होते हैं।

वासना क्या वस्तु होती है गन्ध ही तो होती है ? सूक्ष्म रस ही तो होती है। जैसे सागर, नदी, आदि जलाशयों से परमाणु उड़-उड़कर आकाश मण्डल में मेघों के रूप में विचरते रहते हैं उसी प्रकार आकाश में गमन करते हुए सूक्ष्म शरीर आकाश में जो छोटे-छोटे परमाणु होते हैं उनको सेवक करके गन्ध के परमाणुओं को सेवन करके तृप्त होते रहते हैं। कम से कम २५ अरब वर्ष सूक्ष्म जगत् में विचरते रहते हैं। इस परमाणु-आत्मक सृष्टि की भी प्रलय हो जाती है फिर केवल एक व्यापक सी सतह रहती है।

जैसे आकाश व्यापक है, इस आकाश के ऊपर सूक्ष्म जगत् से भी ऊपर कारण जगत् रहता है। यह पृथ्वी लोक है जहाँ हम रह रहे हैं, इसके ऊपर एक अन्तरिक्ष लोक, इसके भी ऊपर द्यु लोक है जिस को देव-लोक कहते हैं। देव-लोक में यह कारण शरीराभिमानी केवल चित और अहंकार के द्वारा उस ब्रह्मानन्द का उपभोग करते हैं क्योंकि कारण जगत् में केवल चित्त और अहंकार दो ही करण-वर्तमान रहते हैं। उस जगत् को ब्रह्मलोक के नाम से प्रतिपादित किया गया है। यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् में भी ऊपर का जगत् होने से वहाँ सूक्ष्म इन्द्रियाँ, स्थूल इन्द्रियाँ कोई साथ में नहीं होती हैं। केवल चित्त और अहंकार के द्वारा वहाँ ब्रह्मानन्द का उपभोग करता है। उस ब्रह्मलोक में भी कम से कम २०-२५ अरब वर्ष रहना पड़ता है, वहाँ ब्रह्मानन्द के उपभोग की बात आती है क्योंकि वहाँ अन्तःकरण वर्तमान रहता है, अहंकार और चित्त वर्तमान रहता है। उस अवस्था में जाकर उस देश में जाकर उस स्थान में रह कर वह कोई लोक विशेष दूर नहीं है जैसे किसी कार्य के साथ कारण वर्तमान रहता है। यह मेरा वस्त्र बना हुआ है इसमें कपास और सूत्र वर्तमान है, भले ही यह वस्त्र का रूप बन गया है। वैसे ही प्रकृति देवी भी सूक्ष्म रूप से कारण जगत्, सूक्ष्म जगत् और इस स्थूल जगत् में वर्तमान रहती है, क्योंकि कारण जो होता है कार्य के साथ में रहा करता है। इस प्रकार हमारा गमन होता है। स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में अरबों वर्षों तक रहेंगे। फिर कारण शरीर में अरबों वर्ष रहेंगे। फिर वह कारण शरीर भी क्योंकि उत्पन्न होकर आया था, इसका विनाश होना है इसने भी जाना है। चित्त भी समाप्त होना है। अहंकार भी अपने कारण में प्रवेश करता है, "तदा द्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम्", उस वक्त जा करके इस जीवात्मा की अपनी स्वरूप में स्थिति होती है, उसका नाम होगा मोक्ष।

व्याख्यान-८४

भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञान का समन्वय।

ओ३म्—यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्।
वृहस्पतिर्मे तद्दधातु शंनो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥
यजुर्वेद ३६--२॥

विज्ञान दो प्रकार का है—भौतिक और आध्यात्मिक। जब योगी का आध्यात्मिक विज्ञान वहुत बढ़ जाता है तो वह प्रत्येक वस्तु को हेय और त्याज्य समझने लगता है। सर्वत्र त्याग की रुचि उसमें बनी रहती है। उसकी उपरामता चरम-सीमा तक पहुँच जाती है। किसी प्रकार का भोग और ऐश्वर्य उसको स्पर्श तक नहीं कर पाता। निराशा दो प्रकार से होती है। एक तृप्ति से दूसरी अभाव से। तृप्ति से जो निराशा होती है, वह उदासीनता की ओर से जाती है, और जो अभाव से निराशा होती है, वह दुःख का हेतु होती है।

अध्यात्म विज्ञान अन्त में संसार के उत्थान का हेतु होता है। उसी प्रकार जैसे भौतिक विज्ञान भी, जैसे-जैसे बढ़ता है, विनाश की ओर ही ले जाता है। आज के वैज्ञानिक अणुत्रम का विखण्डन कर एक-दूसरे को मारने के लिए नाना प्रकार के साधन और उपाय ढूँढ रहे हैं। इसका अन्तिम परिणाम विनाश ही होगा। मुक्ति या मोक्ष में सव कुछ भौतिक जगत् में नष्ट हो जाता है।

भौतिक विज्ञान हमें ऐसा ही प्रतीत होता है, यह भी अन्त में विनाश का हेतु होगा। सामान्य रूप से इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। रजोगुण की प्रधानता से लोक संग्रह की इच्छा प्रबल होती है। लोक संग्रह के लिए मानव नाना प्रकार के भोक्तव्य पदार्थों का उपार्जन करता है, एक प्रकार से चकाचौंध की सी स्थिति बन जाती है। अपने और दूसरों के लिए नाना प्रकार के साधनों का संग्रह करता है। यदि मैं व्यापार करता हूँ, किन्हीं पदार्थों के निर्माण के लिए उद्योग खोलता हूँ, भोग्य पदार्थों का उत्पादन करता हूँ, तो वह मेरे लिए धन का हेतु व दूसरों के लिए भोग का हेतु बनेगा। इससे प्रायः भोगतव्य पदार्थों की उन्नति होगी, भौतिक ऐश्वर्य में भी वृद्धि होती है। इसका परिणाम भौतिकवाद होता है, जो रजोगुण की प्रधानता में यह सब बातें वृद्धि को प्राप्त होती हैं। यदि भौतिक

विज्ञान के साथ अध्यात्म विज्ञान का संयोग न हो तो वह निश्चय ही विनाश की ओर ले जाता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक विज्ञान भी विकास करता चला जाता है, किन्तु योगी का विकास कब होता है जब मन की एकाग्रता, इन्द्रियों का संयम, सीमित पदार्थों का संग्रह, अनावश्यक पदार्थों के संग्रह का अभाव, शरीर, मन, वाणी पर सब प्रकार का अधिकार प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसके लिए नाना प्रकार के अभ्यास और साधन जुटाना, आध्यात्मिक विज्ञान का विकास है। यह विज्ञान एक प्रकार से शान्ति और निवृत्ति की ओर ले जाता है, क्योंकि निवृति में ही शान्ति की उपलब्धि होती है। जितना अधिक संग्रह होगा, जितना अधिक परिचय होगा, जितना अधिक लोक-व्यवहार होगा, उतना ही अधिक पापों का संग्रह होगा।

अध्यात्मवाद में पापों का संग्रह नहीं होता। पापों का अभाव होता है तथा बुरे कर्मों का अभाव होता है। इसके विपरीत भौतिक मार्ग में अर्थात् विज्ञान में भोगों का प्रावल्य होता है। भोगों की लालसा की वृद्धि होती है। इस कामना का कहीं अन्त ही नहीं होता, कहीं निवृति ही नहीं होती। एक स्थान का निर्माण किया, दूसरे का निर्माण किया, एक का ऋय किया, दूसरे का ऋय किया। एक उद्योग खोला तो दूसरे की योजना करने लगा। एक दुकान खोली, पुनः दूसरी खोली। एक कार्य समाप्त ही क्रिया था कि दूसरा पुनः प्रारम्भ कर दिया, पुनः तीसरा कार्य भी किया। इस प्रकार विस्तार होता चला जाता है, इसका अन्त कभी देखने में ही नहीं आता। लालसायें, तृष्णायें बढ़ती ही चली जाती हैं।

इसके विरुद्ध अध्यात्मवाद में लालसायें, तृष्णायें, कामनायें, वासनायें जीर्ण-शीर्ण होती चली जाती हैं। इन दोनों मार्गों में परस्पर महान् अन्तर और भेद है। भौतिक विज्ञान में इतना अन्तर है कि अध्यात्म विज्ञान में सौ की संख्या के भोक्तव्य पदार्थों को ले लो, जब वह अध्यात्म मार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है तो उन सौ भौक्तव्य पदार्थों को दुःख को हेतु समझकर उन भोग्य पदार्थों में से दो-दो चार-चार का ह्रास करना प्रारम्भ कर देता है। क्योंकि जितनी निवृत्ति होगी, उतनी शान्ति का अनुभव करता है। अधिक विस्तार, बन्धन और क्लेश का हेतु मानता है। यदि सौ भोक्तव्य पदार्थ हों तो नव्वे पर ले आयेगा और पुनः दस और अल्प कर देगा पुनः अस्सी पर आ जायेगा। इसी भाँति अल्प करते चला जायेगा। एक स्थिति इसके जीवन में ऐसी आयेगी कि वह जीवन-निर्वाह के मात्र सामान रखेगा। जब भूख लगी है तो जैसा मिल जाता है वैसा खा लेता है। तृष्णा लगती है जैसा जल मिला पान कर तृष्णा को शान्त कर लिया। यह सब स्वाभाविक क्रियायें हैं। अन्ततः स्वाभाविक क्रियाओं की निवृत्ति हेतु योगी का जीवन रह जाता है। प्राप्ति और संग्रह के सब विषय समाप्त हो जाते हैं। उपलब्धि की कामनाओं का अन्त हो जाता है, क्योंकि अब इसके गन्तव्य मार्ग की यही रूपरेखा है। त्याग

और वैराग्य से सुख, शान्ति, आनन्द और मोक्ष की उपलब्धि होती है।

भौतिक मार्ग इससे सर्वथा विपरीत है। इस मार्ग के पथिक के पास जो कुछ भी है उसको वह थोड़ा समझता है। अनेक पदार्थों के अभाव को अनुभव करता है। अतृप्ति बनी रहती है। कभी तृप्ति होती ही नहीं। किसी भी परिस्थिति में पूर्ण सुख का भी अनुभव नहीं करता। दस के स्थान पर बीस का संग्रह करता है। उनकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के उपाय और साधन जुटाता है। नाना प्रकार की उपलब्धियों के हेतु यत्न करता है। तो भी उसको तृप्ति का अनुभव नहीं होता है। जितने-जितने भोक्तव्य पदार्थों में वृद्धि होती जाती है, उतनी-उतनी लालसा तथा तृष्णा बढ़ती जाती है। वह नीचे से ऊपर की ओर चलता है और इसके विपरीत भौतिकवादी ऊपर से नीचे की ओर आता है। सैंकड़ों प्रकार के संग्रह करने पर भी इसके भोग्य पदार्थों की समाप्ति नहीं होती। तृप्ति नहीं होती। अतः आगे विस्तार करता रहता है। वह यही सोचता रहता है कि मैं सहस्रों की संख्या में, लाखों की संख्या में जगत् के समस्त ऐश्वर्यों को मैं अकेला ही भोगता रहूँ। इसकी अन्तिम स्थिति दुःख और क्लेश का हेतु होती है। यह देखा गया है कि जितने बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान्, सम्पतिशाली, राजे-महाराजे हुए हैं इन सबकी अन्तिम स्थिति बड़ी शोचनीय, दयनीय, वेदनीय और दुःखदायी देखने में आयी है। इसके विपरीत अध्यात्मवादियों का अन्तिम समय सुख, शान्ति, आनन्द और सब प्रकार की तृप्तियों से परिपूर्ण होता है और भौतिक विज्ञानवादियों का अन्त अनेक अतृप्तियों के साथ होता है।

भौतिक विज्ञान का दूसरा नाम है, प्रेय मार्ग और अध्यात्म विज्ञान का दूसरा नाम है, श्रेय मार्ग। इन दोनों मार्गों का संघर्ष सृष्टि के आदि से आज तक सदा चलता आ रहा है। भौतिक विज्ञानवादी, अध्यात्म विज्ञानवादियों को कुछ हेय और तुच्छ सा समझते हैं। अध्यात्म विज्ञानवादियों ने भी भौतिक विज्ञानवादियों को कुछ हेय और तुच्छ समझा है। इन दोनों का परस्पर संघर्ष चलता आ रहा है। अब निर्णय क्या होना चाहिए, क्या यह संघर्ष सदा चलता ही रहेगा ? नहीं, इस संघर्ष की समाप्ति का एक मार्ग निकल सकता है। भौतिक विज्ञानवादी अध्यात्मवाद को आंशिक रूपेण ग्रहण कर लेवें और इधर अध्यात्म विज्ञानवादी भौतिकवाद को इसी प्रकार ग्रहण कर लेवें। यदि इन दोनों का परस्पर सम्मिश्रण हो जाय तो, परस्पर एक-दूसरे से घृणा का भाव समाप्त हो जायेगा और संघर्ष भी जाता रहेगा। उपनिषद् काल की आध्यात्मिक गाथाओं से तत्कालीन इतिहास का पता चलता है। बहुत सुन्दर-सुन्दर व्याख्यान और आख्यान इसमें सहायक हैं। तत्कालीन नरेश और चक्रवर्ती सम्राट आध्यात्मिक क्षेत्र में बड़ी रुचि रखते थे। राजसभाओं में, ब्रह्म-विषयक और अध्यात्म सम्वाद हुआ करते थे, कैकय नरेश, महाराजा अश्वपति, राजा जनक, ज्ञान श्रुति, यम राजादि, सम्राट और नरेश सभी अध्यात्म-

परायण थे और ब्रह्म-जिज्ञासु थे। ब्रह्म ऋषियों में और विद्वत् सभाओं में ब्रह्म और आत्म चर्चायें हुआ करती थीं। शास्त्रार्थों के आयोजन हुआ करते थे। इनके प्रधानत्व प्रायः चक्रवर्तीय सम्राट करते थे। ब्रह्म ऋषियों का राज और समाज में बहुत मान-सम्मान था, उन्हें प्रभूत दक्षिणा प्रदान की जाती थी। ब्रह्मविद्या और अध्यात्म का बड़ा प्रचलन था। सम्पूर्ण वातावरण अध्यात्मवाद से ओत-प्रोत था। सर्व-साधारण का जीवन-चरित्र भी, साधारणतः त्यागमय और पुण्यमय था।

अध्यात्म विज्ञान के साथ-साथ भौतिक विज्ञान भी उस काल में उन्नत अवस्था में था। तत्कालीन राज्यों में अध्यात्म विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों उन्नत थे, दोनों का ही सर्वोत्तम समन्वय था। वर्तमान में भी दोनों के समन्वय की परमावश्यकता है। भौतिक विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान दोनों वाञ्छनीय हैं। इन दोनों में जनकल्याण निहित है। दोनों का समन्वय विश्व के लिए बड़ा सुखप्रद और शान्तिप्रद सिद्ध होगा। ज्ञान और वैराग्य दोनों का समन्वय संसार के लिए, देश के लिए हितकर है। विज्ञान रहित वैराग्य देश के लिए हितकर सिद्ध नहीं होगा।

हमने अपनी युवावस्था में बहुत अच्छे वैराग्य की साधना करने वालों को देखा था। सप्तसरोवर हरिद्वार में एक योगी बड़े वैराग्यपूर्वक साधना किया करता था। एक पैर को रस्सी से वृक्ष में बाँधकर लटकाये रखता था। उसके तप को देख-कर हम प्रभावित हुए और उसका सत्संग सुनने हेतु जाने लगे। उसकी इतनो कठिन तपस्या का यह परिणाम निकला कि वे सब साधन छोड़कर गृहस्थी बन गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ ज्ञान के अभाव में केवल वैराग्य ही रहता है वहाँ भी पतन का हेतु हुआ करता है। यही लोक संग्रह का प्रेम-मार्ग है। यदि इसमें ज्ञान का अभाव होगा तो यह पनपेगा नहीं, फले-फूलेगा भी नहीं, अपितु अन्धकार की ओर ले जायेगा, विनाश की ओर ले जायेगा। इसके साथ भी अध्यात्म ज्ञान की आवश्यकता है। युक्ति पूर्वक भोग के विषय में भगवद् गीता में कहा है—"युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्त स्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा"॥ गीता० ६-१७॥

युक्तिपूर्वक दोनों का सम्मिश्रण करते हुए संसार में रहना चाहिये। दोनों प्रकार की तृप्तियाँ संसार से लेकर जाओगे तो सीधे ही मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। जो अकेला चलता है उसमें पतन की या गिरने की सम्भावना रहती है। अतः आगे बढ़ने के लिए अध्यात्म विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनों का समन्वय करना चाहिए।

व्याख्यान-८५

उपासना और ज्ञान द्वारा आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार ।

ओ३म्—ईशावास्यमिदम् सर्वम् यत्किञ्च जगत्याम् जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ।।
ईशोपनिषद्० मन्त्र १ ।।

उपासना का अर्थ है उप—समीप और आसन—बैठना अर्थात् समीप बैठने को उपासना कहते हैं । अब प्रश्न उठता है कि किसके समीप बैठना है । यदि परमात्मा के समीप बैठना है तो परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है, हमारे शरीर में भी व्यापक होने से वह मेरे अति समीप हैं, यहाँ तो बैठने की बात नहीं बनती । कुछ विधि-विधान होते हैं ऐसा विधान बतलाया है कि परमात्मा के निकट बैठना जैसे कि अब आप उपासना के लिए बैठे हो । इस प्रकार का जो बैठना है यह उपासना कहलाती है । अब भगवान् के समीप बैठ तो गये, शरीर भी बैठ गया, मन भी बैठ गया, पर उसके आसन के समीप हम कैसे जायेंगे क्योंकि कोई साधन, विधि-विधान भी तो होने चाहिये ।

हमारे शरीर के भीतर ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्रधान हैं, मन और बुद्धि भी ज्ञान-प्रधान हैं । अहंकार और चित्त भी ज्ञान-प्रधान हैं । यह नौ पदार्थ हैं । यह ज्ञान-प्रधान कहलाते हैं । परमात्मा को भी हम ज्ञान के द्वारा ही देख सकते हैं, समझ सकते हैं, जान सकते हैं । वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ हैं । अब इनके ज्ञान के द्वारा ही हम उसको जानने का प्रयत्न करते हैं और आत्मा को जानने का भी प्रयत्न करते हैं । इन्द्रियों के विषय सब भिन्न-भिन्न हैं, जैसे नेत्रेन्द्रिय का विषय है रूप, रसनेन्द्रिय (जिह्वा) का विषय है रस, नासिका का विषय है गन्ध और त्वचा का विषय है स्पर्श, कर्णेन्द्रिय का विषय है शब्द । यह पाँच इन्द्रियों के विषय हैं । एक मन का भी विषय संकल्प-विकल्प है । इनका आदान तो एक ही विषय है । क्योंकि यह विषय ज्ञान-प्रधान हैं, इन सबको मन नियोजित करता है, उसके दो विषय हो जाते हैं आदान और प्रदान, ग्रहण और त्याग । क्योंकि बुद्धि भी ज्ञान-प्रधान है । इसके भी दो विषय हो जाते हैं, ज्ञान और अज्ञान । ऐसे तो अहंकार में भी ज्ञान की प्रधानता गौण है, वह भी उभयात्मक है, मन की भाँति उसके भी ज्ञान

और कर्म दो विषय हो जाते हैं, या उसके भी आदान और प्रदान अर्थात् संस्कारों का आदान और संस्कारों का प्रदान करना। हृदय से ऊपर इन्द्रियों के जो स्थूल व्यवहार होते हैं इन्द्रियों के व्यवहार के प्रथम स्थूल संस्कार बनते हैं, पुनः सूक्ष्म भाव को प्राप्त होकर परिणत होकर सूक्ष्म होकर हृदय में जाते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हैं। चित्त भी ज्ञान-प्रधान है, चित्त में भी ज्ञान-अज्ञान आदि दोनों विषय माने जाते हैं। यह सब इन्द्रियाँ ज्ञान-प्रधान ही हैं। इनके द्वारा ही आपने आत्मा या परमात्मा का अन्वेषण करना है। इनके समीप जाकर इनको देखना है, समझना है।

नौ साधन आत्मा के समीप अथवा परमात्मा के निकट पहुँचने के हैं। इनमें सबसे सूक्ष्म और प्रथम भाग है घ्राणेन्द्रिय। घ्राणेन्द्रिय की उत्पत्ति पृथ्वी तत्त्व से होती है क्योंकि पृथ्वी का गुण विशेष है गन्ध आदि। पृथ्वी में अनेक प्रकार के गन्ध हैं। गन्ध के जो धर्म हैं वे सब पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं और उन गन्धों की प्रतीति नासिका के द्वारा होती है। यदि नासिका में कोई विकार या रोगादि हो जाता है तो सुगन्ध आदि की प्रतीति नहीं होती है। गन्ध पृथ्वी का सूक्ष्म रूप है। यदि सब गन्धों का एकत्र कर दिया जाय, इनके अणुओं को एकत्र करके योग कर दिया जाय तो वह वाष्प के रूप में बनकर पश्चात् पृथ्वी का रूप धारण कर लेंगी। सब प्रकार की गन्धें अति सूक्ष्म रूप धारण करके आकाश-मण्डल में गमन करने लगती हैं। इसका सूक्ष्म रूप पृथ्वी का जैसे पुष्पों की गन्ध आकाश या उद्यानों में भ्रमण करती है।

अब इस इन्द्रिय के द्वारा तुम्हें आत्मा के समीप पहुँचना है। आप गन्ध का प्रयोग करो। प्रथम किसी प्रकार का गन्ध ले लो जो आपको प्रिय लगे जैसे पुष्प के रूप में, तरल गन्ध के रूप में अर्थात् जिस पदार्थ में गन्ध आती हो उसके रूप में उसको आप इतनी दूर पर रखें कि उसकी सुगन्ध आपके घ्राण तक पहुँचता हो और उसकी प्रतीति होती हो। यह चमेली की गन्ध है, यह गुलाब की गन्ध है या कस्तूरी की गन्ध है अथवा केसर की गन्ध है। केसर अथवा कस्तूरी को समीप रख लें, अर्थात् ऐसी वस्तु रखें जिसकी गन्ध सदा स्थायी हो। अब उसको आप शनैः-शनैः सूँघने का यत्न करें। आत्मा का आवास यदि आप हृदय में मानते हैं तो उस गन्ध को शनैः-शनैः आकर्षित कर हृदय तक साथ लेकर यहाँ स्पर्श करते जायें। यदि आप मस्तिष्क में आत्मा को मानते हैं तो उस गन्ध की अनुभूति मस्तिष्क में होने लगेगी। उस गन्ध की अनुभूति हृदय में जाकर भी स्पर्श करने लगती है। हृदय तक उस गन्ध को ले जाकर उसके द्वारा आत्मा या परमात्मा को भी स्पर्श कर सकते हैं, क्योंकि गन्ध में तो गमनागमन रूप धर्म बना हुआ है। यह इन्द्रिय अपने गुण से पदार्थ के स्वरूप को दिखाती है। जैसे नेत्र का गुण है रूप को दिखाना, यह दूर देश में भी रूप को दिखाती है जहाँ तक इसकी रश्मि काम करती है। इसी प्रकार

नासिका दूर देश तक भी गन्ध को सूँघती है सूँघना इसका प्रत्यक्ष कहलाता है। क्योंकि—"इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यभव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्" ॥ न्याय० १–१–४ ॥ यह प्रत्यक्ष का लक्षण किया है कि इन्द्रियों के और मन के साथ जो विषय का सन्निकर्ष होता है उससे जो ज्ञान की उपलब्धि होती है वह उपलब्धि ऐसी होती है उसमें भ्रान्ति न हो निश्चयात्मक ज्ञान हो। रज्जु-रज्जु ही प्रतीत हो सर्प-सर्प ही प्रतीत हो। इस प्रकार का जो निश्चय होगा वह यथार्थ ज्ञान कहलायेगा।

इस नासिका के द्वारा गन्ध को ग्रहण कर हृदय के साथ आप स्पर्श के साथ इसकी अनुभूति करें कि गन्ध भी आत्मा के समीप जाकर चिपक कर घुल-मिल गया हो। अब आत्मा क्या करेगा। आत्मा में भी यह गुण है—"रूपम् रूपम् प्रति रूपोवभूव"—जैसे पदार्थ उसके निकट जाता है तद्रूप वह भासने लगता है, अयस्कान्त की भांति। अतः जब गन्ध सूक्ष्म भाव में हो जायेगी तो आत्मा के समीप में वह गन्ध भासने लगेगा, उसमें भी घुल मिल कर तद्रूप सा हो जाता है। जैसे जल दूध में जाकर घुल-मिल कर तद्रूप सा हो जाता है और पुनः उस जल को पृथक् किया जा सकता है दूध से जैसे उसे उबाल कर वाष्प निकाल कर पृथक् किया जा सकता है, इस प्रकार उसको भी पृथक् किया जा सकता है।

सूक्ष्म गन्ध आत्मा के साथ या परमात्मा के साथ प्रतिरूप अनुभव होगा। चेतन में घुल-मिलकर चेतन भी तद्रूप हुआ प्रतीत होने लगेगा। तब गन्ध के द्वारा और नासिका के द्वारा आत्मानुभूति या ब्रह्मानुभूति की बात बनेगी।

शास्त्रकार और उपनिषद्कारों ने भी आत्मा को या परमात्मा को प्रमाण का विषय नहीं माना है, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम का विषय नहीं स्वीकार किया है। किन्तु मुझे भी बहुंत वर्ष साधना करते हो गये, अब मेरी तो समझ में आ रहा है कि परमात्मा सब इन्द्रियों का मन, बुद्धि चित्त आदि का विषय बन जाता है। जब कोई सत्ता रूप से वर्तमान है जैसे यह आकाश है ऐसे हम परमात्मा को भी मानते हैं। अब आकाश के साथ हमारी नासिका का भी सम्बन्ध है। नासिका भी आकाश को प्रत्यक्ष कराती है। नेत्र भी आकाश का प्रत्यक्ष कराता है। कर्णेन्द्रिय का भी हम सम्बन्ध शब्द के द्वारा कर आकाश का प्रत्यक्ष करते हैं। इसी प्रकार और जो इन्द्रियाँ हैं जैसे नासिका इन्द्रिय है गन्ध को लेती है यह भी आकाश का साक्षात्कार कराती है। यह सब इन्द्रियाँ आकाश का साक्षात्कार कराती हैं, समझाती हैं, अवसर देती हैं। बुद्धि के साथ सहयोगी बनकर यह इन्द्रियाँ भी आकाश का प्रत्यक्ष का हेतु होती हैं।

इसी प्रकार बुद्धि से मिलकर आत्मा-परमात्मा भी इन्द्रियों का विषय बन जाते हैं। उपनिषद्कार कहते हैं कि "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (केन० १-५) ॥ 'यन् मनसा न मनते'—अर्थात्

जो मन से मनन नहीं किया जा सकता। 'येनाहु मनोमतम्' और मन को जो जानता है। 'तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि'—उसको तुम ब्रह्म समझो। यह तो मन के विषय में कहा है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति'–अर्थात् जहाँ आँख ओर वाणी नहीं पहुँच सकती वह कौन सा तेज, अग्नि स्वरूप भगवान् है ऐसा कहा गया है। किन्तु यह देखा गया है कि जब तक परमात्मा की बात समझ में नहीं आती, प्रत्यक्ष रूप में अनुभूति नहीं होती, तब तक तो न इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान होता है न मन, बुद्धि आदि के द्वारा पता लगता है। यदि उसको प्रत्यक्ष का विषय न माना जाय, परमात्मा ज्ञान का विषय न हो तो वह कोई पदार्थ ही नहीं सिद्ध होगा।

उसकी सत्ता को जानने के लिए कोई तो साधन होना चाहिए चित्त, बुद्धि आदि जब इन साधनों के द्वारा उसको जाना जा सकता है और जाना जाता है और जान लेता है तब कुछ अनुभव होने लगता है कि प्रत्येक पदार्थ के साथ, वस्तु के साथ, प्रत्येक इन्द्रिय का भी सम्बन्ध कर आत्मा की अनुभूति कर सकता है। शब्द का सम्बन्ध भी बनाकर आत्मा की अनुभूति कर लेता है। उसका कुछ ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर प्रत्येक इन्द्रिय के साथ भी है, मन, बुद्धि इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ में भी है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जहाँ परमात्मा की व्याप्ति न हो। जब उसकी व्याप्ति सर्वत्र है तो सब पदार्थों के द्वारा भी उसकी अनुभूति होनी चाहिए।

ईश्वर की स्थिति के विषय में गीता में एक श्लोक आता है—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानां यन्त्रारूढानि मायया॥" गीता १८-६१॥—यहाँ गीताकार ईश्वर को हृदय प्रदेश में बताते हैं। यह जो तुम्हारा हृदय है इसमें उसकी स्थिति मानते हैं और कहते हैं। और भी आचार्य लोग ऐसा ही कहते हैं। जब इस हृदय में ईश्वर वर्तमान है—तो सामने गन्ध को तुम रख कर उसको सूंघ-सूंघ कर और तुम हृदय तक उसकी टक्कर लगाओ जहाँ लुप-डप शब्द हो रहा है। वहाँ आस-पास पुनः पुनः मन्द-मन्द श्वास लेते हुए नासिका के द्वारा उस गन्ध को हृदय के साथ स्पर्श करते चले जाओ तो यह तुम्हारा ध्यान भी बन जायेगा। यह तो साधना है नासिका और इन्द्रिय के द्वारा आत्मा या परमात्मा की अनुभूति की। जब वह सत्ता है तब सर्वत्र प्रतीत होने वाली वस्तु है। जैसे आकाश को तुम सब लोग अनुभव करते हो, सब इन्द्रियाँ भी अनुभव करती हैं। जब तुम बुद्धि या मन का विषय मानते हो तो बुद्धि इसके साथ में लगाकर, गन्ध को माध्यम बनाकर यह भी उसके साथ स्पर्शानुभूति का, गन्धानुभूति का अनुभव करा देगी। और वहाँ तो तुम कहते हो—'न मनसा न मनुते'—मन से मनन नहीं किया जाता। परन्तु मेरे भाई! यह मन का विषय भी बनेगा, ऐसा कोई पदार्थ जगत् में नहीं है जो ज्ञान का विषय न बने। ज्ञान अन्तःकरण का धर्म है। मन चित्त आदि के धर्म है। अतः इनका विषय अवश्य बनाना चाहिये। इन इन्द्रियों का भी ज्ञान रूप धर्म है, यह भी आपके रूप सूरत आदि को दिखाती है इसके द्वारा उसकी अनुभूति होनी

चाहिये जैसे आकाश की अनुभूति होती है। आकाश भी तो सब पदार्थों के बाहर-भीतर तुम्हें प्रतीत हो रहा है प्रत्यक्ष रूप से। ऐसी ही तुम्हें परमात्मा की भी अनुभूति प्रत्यक्ष होनी चाहिए। आत्मा प्रत्येक पदार्थ के साथ तद्रूप भासता है ऐसे ही आकाश भी प्रत्येक पदार्थ के साथ तद्रूप भासता है। वायु में आकाश वायु रूप भासने लगता है। जब हम अग्नि और प्रकाश का संबंध आकाश के साथ बनाते हैं तब आकाश प्रकाश रूप भासने लगता है, वायु रूप भासने लगता है क्योंकि आकाश ज्योति और प्राण से भी वर्तमान है। इसी प्रकार गन्ध में यह आकाश गन्ध रूप भासने लगता है। आकाश में भी वही योग्यता है जो सर्वव्यापक परमात्मा के भीतर है यह तो हमें एक प्रकार से प्रत्यक्ष ही दीख रहा है, वह तुमने परोक्ष बनाया हुआ है। मुझे तो जैसे आकाश प्रत्यक्ष प्रतीत होता है वैसे ही भगवान् भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। "अतः तनिक भी अन्तर नहीं है। जैसे यह आकाश प्रत्यक्ष है वैसे भगवान् भी प्रत्यक्ष है।" यदि आकाश आपकी समझ में आ जाये तो भगवान् की भी वास्तविकता एक क्षण में समझ में आ जायेगी।

आज के प्रवचन में आपको गन्ध और नासिका के द्वारा आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार का साधन बताया। इसके आगे और है। प्रथम नौ पदार्थों का वर्णन किया था। उन आठ का कल वर्णन करूंगा। उनके द्वारा हम परमात्मा को कैसे प्रत्यक्ष कर सकते हैं। आज आप गन्ध को लेकर चलें। हमारे उद्यान में बाहर अनेक पुष्प पुष्पित हैं। जो पुष्प तुम्हें प्रिय हो उसकी गन्ध को आकर्षण कर तुम भीतर लाना अपने हृदय तक खींच कर नासिका द्वारा, तुम परमात्मा के साथ उस गन्ध का सम्बन्ध बना कर अभ्यास करना, साक्षात्कार करना।

व्याख्यान-८६

पंच भूतों के माध्यम से परमात्मा का साक्षात्कार ।

ओ३म्—आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते ।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ ।। ऋग्वेद ८-४५-२० ।।

परमात्मा के अनुसंधान के विषय में लगभग आधा संसार जिसकी संख्या पौने चार अरब की है, लगा हुआ है। इनमें से दो भाग तो इसके अन्वेषण में अवश्य लगा हुआ है कि परमात्मा कोई है भी अथवा नहीं ? यदि है तो वह कैसा है ? सब लोग यही चाहते हैं कि जैसे मैं आपको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ऐसे भगवान् भी प्रत्यक्ष का विषय बने । इसके प्रत्यक्ष के विषय में भी कहा है—"अति दूरात् अति सामिप्यात् इन्द्रिय धाताद् व्यवधानात्"—अर्थात् जो वस्तु अति दूर हो वह भी दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे मैं यहाँ बैठा हूँ और यदि मैं चाहूँ कि देहली के चाँदनी चौक में क्या हो रहा है इसे दृष्टिपात कर के प्रत्यक्ष करूँ, तो वह दृष्टिगोचर नहीं होगा और वहाँ की तो बात ही छोड़िये यहाँ तो समीप में स्वर्गाश्रम है वह भी दृष्टिगोचर नहींहोता । क्योंकि 'अति दूरात्'—दूर होने से भी इन्द्रियों के पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता और यदि कोई वस्तु अत्यन्त समीप हो जैसे आँखों का सुर्मा या काजल । वह सुर्मा नहीं दिखायेगा क्योंकि यह नेत्रों के अति समीप है। आँख के बीच में कोई व्यवधान पड़ जाता है किसी वस्तु का जैसे द्वार या दीवार व्यवधान पड़ा हुआ है । जैसे द्वार बन्द होने के कारण स्वर्गाश्रम दीखता नहीं है और 'सोक्ष्म्यात्' अति सूक्ष्म होने से भी वस्तु दृष्टि में नहीं आती। यही बात परमात्मा के विषय में भी है। जब हम परमात्मा को व्यापक मानते हैं, हमारे शरीर में उसकी व्याप्ति बनी हुई है वह सर्वत्र है । अब जब इसकी सर्वत्र व्याप्ति है तो वह भीतर भी प्रत्यक्ष है । मुझे तो अब वह प्रत्यक्ष सा ही लगता है । पूर्व भगवान् परोक्ष लगता था । परोक्ष उसको कहते हैं जो अति दूर की वस्तु है और प्रत्यक्ष उसको कहते हैं जो वस्तु समक्ष हो । अब भगवान् समक्ष ही दृष्टिगोचर होता है प्रत्यक्ष होता है जैसा भी वह है वैसा ही मैं समझा हूँ । असत्य अथवा सत्य । अब उसको देखने के लिए माध्यम बनाने के लिए इन्द्रिय का ही आप प्रयोग करना चाहते हैं तो जैसे यह आप सबको आँखें बाह्य दिखा रही हैं यदि उनको बन्द कर

लेंगे तो नहीं दिखाती हैं। अब दर्शन शक्ति तो यहाँ उपस्थित है, किन्तु आवरण पड़ा हुआ है। अब आप उस दृष्टि को भीतर की ओर मोड़ दें क्योंकि जब परमात्मा आकाश की भाँति व्यापक है। जैसे मेरे हाथ के साथ आकाश का सम्बन्ध है। इतनी स्थूल वस्तु अर्थात् हाथ भी एक प्रकार से आकाश को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है। यद्यपि इसमें बुद्धि सहयोगी है क्योंकि बिना बुद्धि के संयोग से इन्द्रियाँ किसी भी कर्म को करने में प्रवृत्त नहीं होतीं।

अकेली बुद्धि भी निर्णय नहीं करती। जब तक उसका सहयोगी न हो उसके लिए कोई माध्यम न हो। परमात्मा को जानने के लिए बुद्धि होते हुए भी किसी माध्यम की, किसी करण की आवश्यकता है। ऐसा करण जैसे यह हाथ है। अब हाथ से मैं आकाश को प्रत्यक्ष करना चाहता हूँ परन्तु यह पोल है। यदि यहाँ दीवार के समक्ष हाथ को कर दूँ तो पोल यहाँ बीच में नहीं रहती, हाथ रुक जाता है। हाथ भी सिद्ध कर रहा है आकाश के विषय में यद्यपि हाथ को ज्ञान नहीं है। ज्ञान यहाँ बुद्धि का ही है बुद्धि ही बता रही है। परन्तु कम से कम यह अवरोध आना-जाना तो हाथ का ही कर्म है।

दर्शनकारों ने तो कह दिया है और उनमें से शंकराचार्य ने तो परमात्मा को परमाणुओं का विषय नहीं माना है। परन्तु मैं कहता हूँ कि परमात्मा परमाणुओं का भी विषय है और इन्द्रियों का भी विषय है, मन का भी विषय है, बुद्धि का भी विषय है और सब का विषय है। जैसे हाथ के सींग नहीं है वह किसी का विषय नहीं बनेगा, न इन्द्रियों का, न बुद्धि का, न नेत्रों का, न मन का। जब कोई सत्ता है, वस्तु है, परमात्मा भी जब सत्ता रूप में है तब सबका प्रत्यक्ष का विषय बनेगा।

आप इस आकाश को प्रत्यक्ष देख रहे हैं और कहते हैं कि—'प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्'—अर्थात् प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आँख यह बता रही है कि यह पोल है और शरीर का गमनागमन हो रहा है तथा यह भी ज्ञान करा रहा है कि यह पोल है और हाथ इसमें हिल रहा है। अब परमात्मा की तुलना आकाश के साथ किसी अंश में तो कर सकते हो, सर्वांश में तो नहीं व्यापकता के नाते। संसार में जिस प्रकार आकाश व्याप्त है ऐसा अन्य कोई भी पदार्थ परमात्मा के अतिरिक्त हमारी समझ में नहीं आया अथवा दृष्टिगोचर नहीं होता है। ऐसी व्यापक वस्तु आकाश की भाँति केवल परमात्मा ही है क्योंकि परमात्मा की उपमा आकाश से दी गयी है। यथा 'यद खम् तद् ब्रह्म' अर्थात् जैसा यह आकाश है वैसा ही भगवान् है। इस आकाश को जब आप प्रत्यक्ष करते हो, इसी के गर्भ में इसी से मिलता-जुलता सा एक और पदार्थ इसी पोल के भीतर तुम समझ लो कि इस आकाश में भी ऐसी सूक्ष्म, ऐसी पोल वाली वस्तु एक ओर है। कल्पना ही कर लो भले ही वह तुम्हारे देखने या समझने में न आवे, किन्तु यह कल्पना भी कुछ काल के पश्चात् साकार रूप धारण कर लेगी और आकाश के सदृश ही तुम्हें चेतना भी

सर्वव्यापक, सर्वत्र, एक रस, एक रूप, निष्क्रिय, निरवयव स्थित हुआ तुम्हारे बाहर-भीतर सर्वत्र प्रतीत होने लगेगा। जैसे आकाश सर्वत्र आपको दीखता है। कोई ऐसा स्थान नहीं है, यहाँ तक कि तुम पृथ्वी के गर्भ में भी चले जाओ वहाँ भी आकाश मिलेगा।

जहाँ गति दृष्टिगोचर हो रही है, वहाँ आकाश को समझना चाहिए। यह आकाश ही समस्त पदार्थों की गति का हेतु होता है। समस्त पदार्थों की गति का हेतु होने से बहुत से व्यक्ति तो यही संतोष कर लेंगे कि अच्छा हम आकाश को ही परमात्मा समझ लेते हैं और परमात्मा से लेना क्या है। यह आकाश ही हमें सब कुछ देता है और कुछ भी नहीं देता। जैसे परमात्मा भी हमें सब कुछ देता है और कुछ भी नहीं देता है यह मान्यता की बातें हैं। इस प्रकार की अभी कल्पना ही कर लो कि जैसे यह आकाश है। ऐसे इसके साथ मिलती-जुलती कोई और शक्ति है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के भीतर ओत-प्रोत होकर इस आकाश के गर्भ में भी रहती है। इस आकाश का भी कुछ गर्भ मानना पड़ेगा। अब कहोगे कि इसके गर्भ में भी जो है उसका भी गर्भ होना चाहिए। फिर उसका भी गर्भ होना चाहिए। इस प्रकार तो कहीं स्थिति नहीं होगी। कहीं समाप्त नहीं होगा। जैसे कोई कहे कि भैंस के सींग पहले हैं कि भैंस पहले है अथवा दिन पहले हैं कि रात ? तो इसका कहीं अन्त नहीं होता। अतः स्वीकार करना पड़ेगा कि इस आकाश के गर्भ में भी किसी और आकाश को तुम जड़ भी मानते हो।

सदा दो पदार्थों का संयोग होता है जड़ और चेतन। जड़ तभी गतिशील होगा जब इसके गर्भ में चेतन सत्ता होगी। जब तक तुम्हारे शरीर में चेतन सत्ता रहती है तब तक तुम्हारा शरीर जीवित रहकर कर्म करता रहता है। जब चेतनता का अभाव हो जाता है तब यह पत्थर-मिट्टी के समान निश्चेष्ट होकर पड़ा रहता है। किसी ऐसी सत्ता की कल्पना कर लो चाहे आप उसको प्रत्यक्ष का विषय मान लो चाहे आप उसको अनुमान से ही स्वीकार कर लो कि इस शरीर के भीतर एक घंटा पहले चेतना थी उस वस्तु का नाम हमने चेतन रखा है अथवा आत्मा रखा है। इसी प्रकार तुम्हारे सूर्य लोक-लोकान्तर चलते हैं यद्यपि यह जड़ है क्योंकि जड़ पदार्थ में चेतन के संयोग से गति होती है क्योंकि प्रक्षेपणास्त्र राकेट, वायुयान, रेल आदि में चेतन के संयोग से गति होती है। भले चेतनों के बनाये हुए हैं। चेतन के संयोग से ही संचालित होते हैं। उसी चेतन सत्ता के संयोग से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बना है और अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र व्यापक होने से निष्क्रिय होते हुए भी क्रियावान् सा बना हुआ हमें प्रतीत होता है।

क्रिया सदा वहाँ उत्पन्न हुआ करती है जहाँ एक देश में रहने वाले पदार्थ होते हैं क्योंकि क्रिया, कर्म का लक्षण किया है नीचे जाना, ऊपर आना, उछलना, कूदना, सिकुड़ना, प्रसारण और गमन करना यह क्रिया का लक्षण है। यदि इन

लक्षणों को परमात्मा में घटाओगे तो आकाश में भी यह लक्षण स्वीकार करना पड़ेगा, किन्तु आकाश में तुम उछल-कूद नहीं देखते हो। यह भी हमारे साथ में उछलता, कूदता सा प्रतीत होता है क्योंकि हमारे भीतर व्यापक है। जब हम उछलते-कूदते हैं तो हमारे भीतर व्यापक होने के कारण वह भी उछलता-कूदता सा प्रतीत होता है, आकाश में आकाश उछलता है। अतः सर्वव्यापक में भी उछल-कूद प्रतीत होती है। कब, जब उसकी व्याप्ति हम इन स्थूल पदार्थों में देखते हैं। आकाश की उछल-कूद जैसे हमें वायु में उछल-कूद प्रतीत होती है जब लहरें, तरंगें उठती हैं तो वह आकाश भी तरंगित होता हुआ प्रतीत होने लगता है। जैसे गर्मी की ऋतु में उष्ण वायु चलती है वह आकाश में उछल-पुथल सी करती हुई चलती है। मानो आकाश वायु के ऊपर गमन कर रहा हो। जैसे आकाश सूर्य की रश्मियों के ऊपर कूद कर चल रहा है क्योंकि उनके साथ-साथ आकाश अवकाश देता जा रहा है। अवकाश देना वायु को किरणों को तेज को इस आकाश का ही कार्य है।

आकाश अवकाश देने वाला है। ऐसी वस्तु को यदि तुम जड़ मानते हो तो इसके भीतर अवश्य कोई वस्तु सत्ता रूप है। यदि इसी को चेतन मान लो तो बात ही समाप्त हो जाय। अब चलो, हमारे समस्त कार्य इनसे ही सिद्ध हो रहे हैं। हे परमात्मा ! आप एक मिठाई की थाली भरकर मेरे समक्ष रखना मैं खा लूंगा, यह एक प्रकार से अन्यार्थ कल्पना है। परमात्मा थाली भर कर नहीं लाता। यदि किसी बच्चे या नौकर को कहूँगा तो वह बाजार जायेगा और मिठाई ले आयेगा, किन्तु भगवान् तो थाली नहीं देगा। हमने भगवान् के प्रति अनेक मान्यतायें मान ली हैं अपनी असमर्थता को सिद्ध करते हुए कि भगवान् ही सब कुछ करता है कराता है कर्ता तो भगवान् है, किन्तु किस रूप में करता है ? जो कार्य आप नहीं कर सकते वह भगवान् करता है। भगवान् के करने की बात है तो जो हम इस पृथ्वी को नहीं चला सकते, मैं तो बस मकान को भी चला नहीं सकता। सूर्य को हम नहीं चला सकते। सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा को चलाने वाली, गति प्रदान करने वाली कोई सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी चाहे वह भीतर गर्भ रूप में मानो और कहीं एक देश में मान लो, यदि तुम एक देश में ही भगवान् को स्वीकार करना चाहते हो, सर्व-व्यापक नहीं मानना चाहते हो, तो संयोग सम्बन्ध मान लो, संयोग भी गति का हेतु होता है।

कई दिन से प्रकरण चल रहा है कि इस प्रकार की चेतन सत्ता का हमें प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो रहा है। उसको हम प्रत्यक्ष भीतर करना चाहते हैं। पूर्व तो कुछ दिन बताया था कि प्राण के द्वारा उस चेतन सत्ता को स्पर्श कर भी जाना जा सकता है। अब हमारे शरीर में यह प्राण चल रहा है, बाहर की भौतिक वायु जो है इसी का यह कार्य विशेष है। हमारे शरीर में प्राण बाहर के भौतिक वायु

से ही आया है और इस शरीर में परिणाम भाव को प्राप्त होकर सात्त्विक रूप से है। वायु का एक सात्त्विक भाग होता है, एक राजस भाग होता है, एक तामस भाग होता है। सात्त्विक भाग परिणाम भाव को प्राप्त होकर हमारे शरीर की रचना में प्राण के रूप में स्थित है, इस प्राण के माध्यम से भी इस परमात्मा को जाना जा सकता है, प्राण के स्पर्श से स्पर्श कर इसे जाना जा सकता है। यह स्पर्शेन्द्रिय को ले लो क्योंकि यह स्पर्शेन्द्रिय भी शरीर में ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर व्यापक है, यह भी स्पर्श को बताती है जैसे इसको स्पर्श करके हाथ बता देता है। हम अपने भीतर अति सूक्ष्म पदार्थ को दृष्टिगोचर करना चाहते हैं क्योंकि यह तो आकार वाली को बता दिया, किन्तु परमात्मा तो आकार वाला नहीं है उसे कैसे बतायेगा ? अब हम ज्योति को माध्यम बनाकर अथवा प्रकाश को माध्यम बनाकर परमात्मा को भीतर दृष्टिगोचर करना चाहते हैं। ज्योति तो नाना प्रकार की है। अब हम बाहर की ज्योति को ले लेते हैं, जैसे सूर्य की ज्योति, चन्द्रमा की ज्योति, सितारों की ज्योति। कौन सी ज्योति के द्वारा भगवान् को ढूँढ़ना है ?

पूर्व मैंने इस शरीर में दस प्रकार की ज्योतियों का वर्णन किया था उसके दस नाम बताये हैं और दस स्थानों में रहकर उसके भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं। नाक में और प्रकार का प्राण है। आँख में और प्रकार का प्राण है। प्राण एक ही है किन्तु स्थान और कार्य भेद से प्राण के भेद हो गये हैं। इसी प्रकार ज्योति या प्रकाश या अग्नि बाहर की अग्नियाँ जैसे सूर्य आदि की अग्नियाँ हैं, बाहर की विद्युत आदि की अग्नि है, लकड़ी में जलने वाली अग्नि है, यह जो अग्नि भूत है उसका सात्त्विक भाग, परिणाम भाव को प्राप्त होकर हमारे शरीर के अन्दर तेज या प्रकाश के रूप में, उष्णता के रूप में वर्तमान है और बाहर की अग्नि लकड़ी, पत्थर आदि को जलाने वाली दग्ध करने वाली जब वह रूपान्तरित होकर हमारे शरीर में आयी वह हमारे अग्नि पत्थर, लोहे को ऐसा दग्ध नहीं कर सकती जैसे बाहर की विद्युत करती है।

यह अग्नि हमारे शरीर में दस स्थानों में वर्तमान है, दस स्थानों में तीन प्रकार की अग्नि प्रथम उन देशों में एक भास्वर एक ओजस्, एक चाक्षुष अग्नि को इस मस्तिष्क में वर्णन किया था इन तीनों अग्नियों के द्वारा उपासनापूर्वक, ज्ञानपूर्वक वहाँ परमात्मा का साक्षात्कार कर भगवान् को आँखों द्वारा देखने का साधन और विधि बतायी है। आँख की ज्योति के द्वारा भास्वर नाम की अग्नि है उसको भी माध्यम बनाकर, अनेक प्रकार के रूप में परमात्मा को देखने की बात कही गयी है। जो ओजस् नाम की अग्नि है वह सब से प्रथम सात्त्विक अग्नि है जो बुद्धि को तर्पण करती है। उस अग्नि के द्वारा मैंने चेतन सत्ता का साक्षात्कार करने की बात पहले बतायी है। तीन प्रकार की सात्त्विक अग्नि के द्वारा तो चेतन सत्ता का साक्षात्कार ब्रह्मरन्ध्र में बताया है। चार प्रकार की अग्नि, कण्ठ से लेकर नाभि

तक चार प्रकार की अग्नि यहाँ वर्तमान रहती हैं। जाठर नाम की अग्नि, पाचक रंजक और तेजस् जठराग्नि हमारे यकृत में वर्तमान रहती है और पाचक अग्नि तिल्ली, प्लीहा और हृदय में वर्तमान रहती है और एक अंतिम अग्नि है तेजस्। यह हृदय में रहती है। नाभि से लेकर ऊपर कण्ठ और मस्तिष्क तक कार्य करती है। तेजस् अग्नि का साक्षात् सम्बन्ध हृदय में होता है. और सूक्ष्म शरीर के साथ भी रहता है। एक प्रकार से जब बार-बार अभ्यास प्रारम्भ करते हैं तेजस् नाम की अग्नि भी प्रज्वलित सी होकर हृदय-प्रदेश को प्रकाशित करती है। उसके आलोक में हृदय के पदार्थ उद्भासित से होने लगते हैं, जैसे ओजस् नाम की अग्नि या भास्वर नाम की अग्नि या चाक्षुष नाम की अग्नियाँ प्रकाश उत्पन्न कर भिन्न-भिन्न रूप से तीन प्रकार के प्रकाश उत्पन्न हुए। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के प्रकाशों ने भिन्न-भिन्न रूप से पृथक्-पृथक् प्रकाश कर एक प्रकार से चेतन सत्ता को अपने गर्भ में दिखा देती है। चेतन सत्ता में यह विशेषता है जो पदार्थ उसके समक्ष आता है तब उसके साथ घुल-मिल कर तद्रूप भासने लगती है। पहले परमात्मा ओजस् नाम के रूप में भासित हुआ पश्चात् भास्वर नाम की अग्नि के रूप में घुल-मिल कर ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चक्षु ही उसको दिखा रहा था।

अव यहाँ आकर जहाँ जाठर नाम की अग्नि है यह भी तीन प्रकार की है, सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इसके साथ इस भेद से यहाँ भी आत्मा की अनुभूति को माध्यम बनाकर कैसे साक्षात्कार कराती है यह आगे बताऊँगा।

प्रधान रूप से ७-८ के लगभग ग्रन्थियाँ हैं—१. यकृत, २. आमाशय, ३. पक्वाशय, ४. प्लीहा, ५. हृदय की ग्रन्थि, ६. बड़ी आँत, ७. छोटी आँत और ८. वृक्क की ग्रन्थियाँ। यह ८ हैं।

खाया हुआ पदार्थ पहले आमाशय में जाता है, वहाँ पिस-पिसा कर फिर पक्वाशय में जाता है, पक्वाशय में जाकर वहाँ पक्वाशय को वड़ी ग्रथियाँ हैं, उसको विभक्त करती हैं, वहाँ तरल सा वन जाता है। पहली ग्रन्थि से यकृत से क्षार निकल कर आता है उससे भोजन पचने में सहायता मिलती है। यह मशक के सदृश जो ग्रन्थि है यह हमारे यकृत के ऊपर-ऊपर के रस को लेकर शर्करा चीनी आदि का जैसे मिठास बना देती है या क्षार सा वनाती है लवण सा बनाती है ३-४ प्रकार के पदार्थ यह बनाती है और इस पक्वाशय की ग्रन्थि में जाता है। अब शेष यह पीस कर तीनों ग्रन्थियों में या चारों ग्रन्थियों में पहुँचता है, यह यकृत से जाता है यह यकृत रोगी हो तो सब ग्रन्थियाँ रोगी सी रहने लगती हैं और सम्पूर्ण शरीरं का स्वास्थ्य क्षीण होने लगता है। यहाँ जाकर जो स्थूल भाग होता है क्षारवाला सा रस होता है उसको छोटी आँतों में देता है। वहाँ कुछ निकला हुआ रस प्लीहा की ओर भेज देता है और यहाँ पाक विशेष होने लगता है। यहाँ रंजक नाम की

अग्नि इस प्लीहा में रहती है। प्लीहा की ग्रन्थि इन तीनों चारों से छोटी है। यह रक्त के सूक्ष्म-सूक्ष्म कण से लाल कण बनाती है।

अग्नि का सात्त्विक, राजस्, तामस भाग यहाँ से जो रस होता है पहला रस सात्त्विक पीत सा श्वेत सा होता है उसका रंग तनिक श्वेत सा होता है वरन् किंचित् श्वेत पीलेपन सा होता है। जब रजःप्रधान यह कार्य करती है तो पुनः उसमें अधिक पीलापन सा गुलाबीपन सा आ जाता है। पुनः और विशेष कार्य करती है तो जैसे काले लवण सा वर्ण का होता है। यह ग्रन्थि रस के चार विभाग बना देती है। इन सब ग्रन्थियों को यह रस देती है और अपना कार्य करती है। वास्तव में यह समस्त अन्न जलादि का परिणाम रक्त बनता है क्योंकि यह खाद्य पदार्थ पृथ्वी के भाग हैं। यह रस का भाग पतला है। यदि खाद्यों में जल नहीं डालोगे तो पाक अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार पहले कुछ समय पाक होता रहेगा किन्तु कुछ काल के पश्चात् यह ग्रन्थियाँ दूषित हो जाती हैं। जैसे किसी पतीले में शाक डालो, पकाते रहो, पानी न डालो तो वह जल जायेगा। इसी प्रकार जल की आवश्यकता होती है। दोनों मिलकर जो मोटे अनादि भाग को पीस कर निचोड़ कर रस निकलता है और वह रस फिर दूसरी धातुयें बनकर बह कर चलने वाली हैं, उन्हीं का उसमें निर्माण अधिक होता है। वैसे तो यह रस अस्थियों को भी बनाता है। अस्थियों का भाग चूना क्षार होता है। उसका पतला द्रवित भाग मज्जा, मेद, वीर्य, वसा आदि बन जाते हैं और जो उससे पतला सा भाग होता है उसका रस बन कर हृदय की ओर चलता है, यह प्लीहा नाम की ग्रन्थि हृदय को रस देती है। हृदय उसको पकड़ कर रुधिर बना कर नीचे-ऊपर भेजता रहता है, एक ऊपर क़ो ले जाती है एक नीचे को आती है जैसे हैण्डपम्प चलाया करते हैं हाथ से यह हैण्डपम्प सा कार्य हमारा हृदय करता है। वह एक प्रकार से समस्त रसों का परिणाम रक्त बनाता है। रक्त का भाग सम्पूर्ण शरीर का पोषण करता है। अस्थियों का भी पोषण करता है। मांस की पेशियों का भी पोषण करना है। रज, वीर्य बनते हैं इनका भी और मेद, मज्जा बनता है। यह द्रवित होने वाली वस्तुयें इस रस के द्वारा ही बनती हैं, जल के भाग से आगे दो भूतों के भाग स्थूल-स्थूल होते हैं।

अब आगे आती है अग्नि, वायु और आकाश की बात। अग्नि आदि इन पदार्थों को पाक नहीं करेगी तो यह ज्यों-की-त्यों पड़ी रहेंगी। तुम अन्न डाल दो, यदि अग्नि मन्द हो गयी है, अन्न नहीं पकेगा वैसे का वैसा ही पड़ा रहेगा और व्यक्ति कष्टमय बना रहेगा। यह जठराग्नि है या अग्नि जो दस प्रकार की अग्नि शरीर में हैं। मैं बतला रहा हूँ इस भाग में चार प्रकार की अग्नि काम करती है। मैंने तो इसी स्थान (हृदय) को जीवन का आधार माना है। यदि यह ग्रन्थि अपना कार्य करना बन्द कर दे, आहार इस मस्तिष्क को न दे, चार दिन में इसका

दिवाला निकल जायेगा। आहार देने वाली यह ग्रन्थियाँ हैं। इससे सिद्ध होता है कि जीवन का आधार चेतन शक्ति यहाँ ही वर्तमान है। निद्रा की अवस्था में भी मस्तिष्क निष्क्रिय होकर रह जाता है किन्तु यह ग्रन्थियाँ जाग्रत होकर अहर्निश २४ घंटे अपना कार्य करती रहती हैं। अतः चेतन का जो व्यवहार है इन ग्रन्थियों में २४ घंटे होता रहता है। यह कभी सुप्त ही नहीं होती है, कभी श्रान्त ही नहीं होती।

अतः बड़ी सावधानी से जीवन को रखने की बाते हैं, अति मूल्यवान यह जीवन है। आहार-व्यवहार, निद्रा को युक्तिपूर्वक करते हुए इस शरीर को इस मन्दिर को स्वस्थ रखना है। यह शरीर भगवान् का मन्दिर है। हम तो यह बाह्य ईंट-पत्थर गढ़ कर मन्दिर बनाते हैं। उसकी अपेक्षा यह ऐसा उत्तम मन्दिर भगवान् ने तुम्हें दिया है, उसकी तो तुम पूजा नहीं करते, आराधना नहीं करते, सेवा नहीं करते। उन मन्दिरों की तुम सेवा करते हो जो हमने गढ़-गढ़ कर बना रखे हैं। मूर्तियाँ भी रखी हैं मन्दिर भी बनाये हैं। वास्तविक भगवान् का मन्दिर तो यह देह है। इस शरीर में आप अग्नि रूप दीपक जैसे अन्धकार किसी कमरे में हो, मूर्ति भी रखी हो और द्वार रात को बन्द कर दो। जो सम्मुख मूर्ति है वह भी दिखायी नहीं देगी। दीपक लेकर चलते हैं दर्शन करने।

जठर नाम की सात्विक अग्नि आहार को पतला-सा बना कर श्वेत वर्ण रस को बनाया करती है। रजोगुणी अग्नि उसको पीत वर्ण सा बना देती है। स्वर्ण सा बना देती है, अधिक पाक बनाकर नील और लाल वर्ण बना देती है। यह रस का भी परिवर्तन कर देती है। रूप को भी परिवर्तित कर देती है।

इस जठर नाम की अग्नि को यदि माध्यम बनाकर चेतन के साथ संपर्क बनाओगे क्योंकि चेतन-सत्ता यहाँ भी वर्तमान है। प्रत्येक भाग में चेतन भगवान् की सत्ता वर्तमान है। देश का ध्यान रखते हुए, रंग का ध्यान रखते हुए, कल्पना के द्वारा, मनोबल के द्वारा इस प्रकार के अग्नि को जागृत सा कर चेतन सत्ता के साथ सम्बन्ध बनाकर प्रत्यक्ष अनुभूति उसकी हो जाती है। जैसे यहाँ आकाश की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है वैसे हो आकाश जैसे बाहर का आलोक सम्पूर्ण इस कक्ष को आलोकित सा कर रहा है। इसी प्रकार यह अग्नियाँ चेतना को आलोकित कर रही हैं हमारे सम्पूर्ण शरीर के भीतर।

बाहर की विद्युत का जब इस पंखे के साथ हम सम्बन्ध बनाते हैं तो वह पंखे को चलाती है जब हीटर के साथ सम्बन्ध बनाते हैं तो हीटर को जलाने लगती है दूसरे ढंग से प्रकाश देने लगती है। जब हम किसी यन्त्र के साथ संयोग करते हैं तो यन्त्र को चलाने लगती है। एक वस्तु है विद्युत कितने पदार्थों को भिन्न-भिन्न रूप से कर्म कराती है। इसी प्रकार एक ज्योति या अग्निभूत तुम्हारे शरीर में वर्तमान है। शरीर के भिन्न-भिन्न देशों में जाकर भिन्न-भिन्न कार्य कर रहा है। उस अग्नि

को भी इस शरीर में व्यापक समझना चाहिये। जैसे पानी के अन्दर विद्युत व्यापक थी, उसे टक्कर देकर उस विद्युत को वहाँ अभियन्ताओं ने पकड़ लिया और पुनः तुम्हें प्रकाश देने लगे। इसी प्रकार यहाँ यह अग्नि हमारे शरीर में व्यापक है। यह बहती हुई चलती है क्योंकि एक तो इसका बहना है और एक स्थिर भी हुई है। अपने स्वरूप में यह स्थिर भी है और इसमें गति भी है। जैसे अग्नि सूर्य में स्थिर भी है और किरणों के रूप में गतिशील होकर चल भी रही है। वैसे ही यह अग्नि सर्वत्र उष्णता लिए हुए हमारे सम्पूर्ण शरीर में ओत-प्रोत होकर व्यापक है। बाहर की ठण्डी से भले ही हाथ ठण्डे हो जायें पर इसके भीतर गर्मी निकलती है। इस प्रकार की अग्नि तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर के भीतर व्यापक है। यह उष्णता तुम्हें प्रतीत हो रही है, ऐसे ही परमात्मा भी तुम्हारे सम्पूर्ण शरीर में व्यापक है। ऐसे प्राण भी तुम्हारे शरीर में सर्वत्र व्यापक है। ऐसे जल भी तुम्हारे शरीर में जब कभी गर्मी हो तो शरीर से स्वेद निकलने लगता है। कोई भी अंग ऐसा नहीं रहता जिधर से स्वेद न निकले। गर्मी में बैठो, समस्त अंगों में नीचे-ऊपर सर्वत्र स्वेद निकलता है। इसी प्रकार पृथ्वी के भाग शरीर में भी, अस्थियों में भी जल, गर्मी, वायु पहुँचा हुआ है। सबसे ठोस अस्थियाँ होती हैं। समस्त पदार्थ सूक्ष्मता के सम्बन्ध से अस्थियों तक पहुँचे हुए हैं। अस्थियों का भाग पृथ्वी का ठोस रूप से है।

इस प्रकार से सूक्ष्म स्थूल को व्याप्त कर लेता है। तुम्हारी अग्नि ने एक तो वायु को भी पकड़ा हुआ है क्योंकि तुम्हारे श्वास-प्रश्वास गर्म आते हैं। यह वायु के साथ मिलकर वायु को भी उष्ण कर देती है और यह अग्नि तुम्हारे भीतर जल के साथ मिलकर रक्त को भी गर्म कर देती है, स्वेद भी अन्दर से गर्मी से निकल आता है, भले ही बाहर की वायु ठण्डी होती हो।

इस प्रकार की व्यापक रूप अग्नि को आपको समझना है, देखना है, अनुभव करना है और पुनः इस अग्नि के साथ में चेतन सत्ता इससे सूक्ष्म है वह भी मिश्रित है। इस चेतन सत्ता का इसमें भेद-भाव है और अभेद भी है। भेद इसलिए है कि इसके गर्भ में ओत-प्रोत होकर चेतन सत्ता ठहरी है अतः भेद भी है और अभेद भी है। हम इस अग्नि को किसी देश में जिस प्रकार की अग्नि नाभि में आमाशय में भिन्न कार्य कर रही है, यकृत में भिन्न, हृदय में भिन्न, मस्तिष्क में भिन्न कार्य कर रही है। यह अग्नि ओज आदि के रूप में या दूसरे रूपों में भी इतने नाम बताये गये हैं तेजस् नाम के रूप में हृदय में कार्य कर रही है। जैसे उसका रंग, रूप बताया गया है उसी प्रकार की अग्नि की वहाँ खोज कर देखना चाहिये। यह कई प्रकार का भी काम दे देंगी। पचाने का भी काम दे देंगी। गर्म करने का भी काम देंगी जैसे विद्युत की तारें काम करती हैं। जल को भी गर्म कर देती हैं और पदार्थों को भी पत्थर को भी गर्म कर देती हैं। यह अन्दर की अग्नि, अन्दर का जो

तेज है यह भी एक प्रकार की विद्युत शक्ति है। क्योंकि भिन्न-भिन्न रूप से हमारे शरीर में काम कर रही है किन्तु यह सात्विक विद्युत है, इसका जो प्रकाश है वह अनुद्भुत रूप प्रकाश है। आँखों से दृष्टिपात नहीं होता जैसे बाह्य विद्युत आँखों से देखने में आती है। बाहर का अनुद्भूत रूप प्रकाश है बाहर का सूर्य विद्युत आदि का। भीतर की अग्नि का अनुद्भूत रूप प्रकाश है। अनुद्भूत रूप प्रकाश के रूप में अनुभव करते हुए परमात्मा के साथ इसका सम्बन्ध बनाओ। अग्नि का भी प्रत्यक्ष होगा और परमात्मा का भी प्रत्यक्ष रूप में साक्षात्कार होगा क्योंकि समस्त शरीर में वह व्याप्त है।

व्याख्यान-८७

अग्नि, वायु, तेज और प्राण के शरीर में महत्त्वपूर्ण कार्यों का सर्वेक्षण।

ओ३म—अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देव मृत्विजम्।
होतारं रत्न धातमम्॥ ऋग्वेद १-१-१॥

कई दिन से आध्यात्मिक विषयों में चर्चा चल रही है। प्रकाश, तेज या ज्योति के द्वारा हम अपने शरीर में अपने स्वरूप को देख सकते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार भी कर सकते हैं। क्योंकि दर्शन नेत्रों के द्वारा होता है, नेत्र ही रूप को दिखाता है, अग्नि भी नेत्र का रूप है। अग्नि को ही नेत्र का उपादान कारण माना गया है।

मानव-शरीर में दस प्रकार से इसका विभाग किया गया है, जैसे प्राणों का विभाग हमारे शरीर में किया गया है। ऐसे ही अग्नि का विभागीकरण भी हमारे शरीर में किया गया है। प्राण और तेज प्रधान रूप से सब प्राणियों के जीवन का आधार-सा बने हुए हैं। श्वास-प्रश्वास की गति रूप प्राण भी जीवन का आधार बना हुआ है। शरीर में प्राण और तेज परस्पर मिल कर एक-दूसरे के पोषक और सहायक होते हैं। यह दो शक्तियां हमारे शरीर में एक प्रकार से स्थूल शरीर को सिद्ध करती हैं। 'रयिं च प्राणं च'—रयि और प्राण। रयि का अर्थ होता है तेज। प्राण और तेज हमारे शरीर में जीवन का आधार हैं। अब इनका कोई अधिष्ठाता, संचालक और नियन्ता होना चाहिये वह है आत्मा चेतन सत्ता, इसके सन्निधान से ही यह सब हमारे लिए भोग और अपवर्ग सम्पादन करते हैं, प्राण और तेज के द्वारा हमें भोग उपलब्ध होते हैं।

संसार के सब प्राणियों में यह तेज और प्राण सर्वत्र वर्तमान है, जो भी पदार्थ गतिशील है, उसमें तेज और प्राण रहते ही हैं। प्राण की गति तेज की गति में सहयोगी बनकर स्थूल शरीर को धक्का देने वाला बन जाता है। वैसे तो वायु भी धक्के लगाती है। क्योंकि वायु में भी बल है, और तेज में भी शक्ति है। यह दोनों प्रकार की स्थित्यात्मक और गत्यात्मक शक्ति मिल कर हमारे शरीर के सहायक बन जाते हैं। शरीर को उष्ण रखने के लिए हमें सदैव प्राण और तेज की आवश्यकता रहती है। जैसे वस्त्र धारण करने से भी शरीर उष्ण हो जाता है। उष्णता वास्तव में हमारे जीवन का रक्षक व पोषक है। उष्णता, तेज या अग्नि के द्वारा उपलब्ध होती है।

चार प्रकार की रज-प्रधान अग्नि के विषय में कल वर्णन किया गया था।

नाभि से नीचे तीन प्रकार की अग्नि कार्य करती है, इनमें से एक विभाजक है, दूसरी पोषक है, तीसरी विसर्जक है। विभाजक अग्नि नाभि के नीचे है। यहाँ एक प्रकार से इच्छाजन्म विघात उत्पन्न करके शब्द का उद्भावन किया जाता है। नाभि की विभाजक नाम की अग्नि से वह उसको धक्का देकर प्राण को ऊपर को लाती है। शब्द आकर ऊपर उच्चारण होता है। शब्द की उत्पत्ति नाभि में होती है। नाभि स्थान पर बड़ी आँतें और छोटी आँतें नीचे कुछ खुरी-सी रहती हैं। यहाँ सब प्रकार का खाद्य पदार्थ पिस कर रस बन जाता है, और वह सर्वत्र विभक्त हो जाता है। नाभि के स्थान में सब रसों का मल-मूत्रादि का अन्य जितने पदार्थ हैं उनका विभाजन होकर जो जिस ग्रन्थि का होता है, वह वहाँ पहुँच जाता है। कार्य करने के लिए रस का विभाजन कर ऊपर को चला जाता है, नीचे को भी आ जाता है, और इसका स्थूल भाग बड़ी आँत में चला जाता है। खाया हुआ स्थूल पदार्थ पच-पचकर यहाँ आकर इकट्ठा होकर बड़ी-छोटी आँतों में बहता चला जाता है। चौबीस घंटे में आकर यह मल का या टट्टी का रूप धारण कर लेता है। यहाँ से लेकर विभाजक नाम की अग्नि छोटी आँतों की ओर जो क्षार युक्त मूत्र का रूप होता है, यहाँ वृक्क की ओर दायीं ओर को विभक्त कर देती है और यह छोटी आँतें कई रसों को चूस-चूस कर इनमें छः प्रकार का रस बनाती हैं। समस्त शरीर में विभक्त कर देती हैं। यह छः रस हमारे शरीर के पोषक हैं। यह रस शरीर को शान्ति प्रदान करते हैं।

छः प्रकार के रसों का विभाजन भी नाभि से ऊपर जाकर होता है। स्वाधिष्ठान नाम के चक्र के निकट वृक्क है, और इन वृक्क के निकट ही पोषक नाम की अग्नि रहती है। यहाँ मूलाधार के ऊपर के भाग में पोषक नाम की अग्नि है, जो वीर्य और वृक्क का पोषण करती है। गर्भस्थ बालक का पोषण भी पोषक नाम की अग्नि करती है, तो स्त्री-पुरुषों में रज और वीर्य का पोषण भी इसी का कार्य है। रज और वीर्य में भी अन्तर देखने में आता है। स्त्रियों में रज धर्म है, इसकी पृथक् ग्रन्थि है। यह ग्रन्थि पैंतालीस से पचास वर्ष आयु पर्यन्त कार्य करती रहती है, परन्तु वीर्य वाहिनी नाड़ियाँ स्त्रियों में भी समान सी रहती हैं, क्योंकि वीर्य का दो-तीन प्रकार से विभाग होता है। यहाँ आकर वृक्क के ऊपर यह पोषक नाम की अग्नि वृक्क को पुष्ट बनाती रहती है। शिश्न के नीचे के भाग में अण्ड-कोष हैं। वहाँ जाकर यह ग्रन्थियाँ उसको शुक्र के रूप में बनाती हैं। स्थूल सा द्रव बना देते हैं जिसमें सन्तान को उत्पन्न करने की योग्यता आ जाती है।

स्त्रियों के लिए गर्भाशय में जो भीतर का भाग होता है उसमें रजस्वलादि पृथक् पदार्थ है। यह दूषित रक्त का एक विभाग होता है। जिन देवियों को मासिक धर्म ठीक होता रहता है, यह रज प्रवाहित होकर एक मास के पश्चात् स्त्रियों के शरीर में कान्ति उत्पन्न कर देता है। जिस प्रकार वर्षाऋतु में हमारे समस्त वृक्षों

की समस्त पत्तियाँ, टहनियाँ धुल-धुल कर सुन्दर और दीप्तिमान बन जाती हैं उसी प्रकार रजस्वला होने के पश्चात् स्त्रियाँ कान्तियुक्त हो जाती हैं।

अनेक देवियों को प्रदर तथा पुरुषों को प्रमेह नाम का रोग हो जाता है। प्रमेह में जो द्रव्य-पदार्थ निकलता है, यह एक प्रकार से शुक्र ही दूषित होकर विकार भाव को प्राप्त होकर निकलता है। अत्यन्त तीक्ष्ण पदार्थ खाने से वीर्य द्रवित हो जाता है, अधिक उष्ण पदार्थों के सेवन से वीर्य पीत वर्ण का हो जाता है।

जिन लोगों में विशेष पाचन शक्ति होती है अथवा खाद्य पदार्थ या पेय पदार्थ अधिक खाया करते हैं उसमें वीर्य शक्ति अधिक बनती है। वह एक प्रकार से शरीर का पोषण भी करती है। इसका विभाग होकर सम्पूर्ण शरीर में मूलाधार से बहुत-सी नाड़ियाँ निकलकर ऊपर को मस्तिष्क पर्यन्त इनका सम्बन्ध बनाये रहती हैं। सुषुम्ना नाड़ी के साथ में कुछ नाड़ियाँ वीर्य को लेकर यहाँ से वहाँ ऊपर मस्तिष्क तक ले जाकर वहाँ ओज के रूप में परिणत करती हैं। स्त्रियों और पुरुषों में ओज उत्पन्न करती हैं। जो वीर्य शक्ति को अधिक मात्रा में क्षीण कर देते हैं उनमें ओज अल्प हुआ करता है। यहाँ ही इस पोषक नाम की अग्नि के द्वारा सूक्ष्म ज्ञानवाहक और गतिवाहक नाड़ियां प्राण और रक्त को ऊपर तक ले जाती हैं। इस प्रकार से रक्त का एक वृत्त-सा बना रहता है। वीर्य एक द्रव्य स्नेह युक्त पदार्थ है, जो हमारे शरीर में कान्ति उत्पन्न करता है। जो वीर्य की अधिक रक्षा करते हैं वे दीर्घायु और स्वस्थ्य होते हैं।

बल, शक्ति, पराक्रम आदि स्त्री और पुरुष दोनों में विशेष रहता है। पोषक नाम की अग्नि सब प्रकार की रज, वीर्य, मूत्रादि का पोषण करती है। इसके नीचे और एक विसर्जक नाम की अग्नि होती है जो मल-मूत्र का विसर्जन करती है। रज, वीर्य का भी विसर्जन करती है। विसर्जन नाम की अन्तिम अग्नि मूलाधार में रहती है। यह सब प्रकार से दूषित पदार्थों का विसर्जन करती है। मल-मूत्र पूर्ण पाक भाव को प्राप्त होकर उपयोगी नहीं रहते हैं। इनका निकलना अनिवार्य होता है। अतः मल-मूत्र आदि का बाह्य निष्कासन अत्यावश्यक है। पोषण नाम की अग्नि रज-वीर्य पोषण करती रहती है, विसर्जक नाम की अग्नि इनका विसर्जन करती रहती है।

एक और अग्नि है जिसको कुण्डलिनी शक्ति या तेज कहा है, यह भी मूलाधार के भीतर विद्यमान है। आयुर्वेदिक आचार्यों और चिकित्सकों ने इस अग्नि को नहीं माना है पर कुण्डलिनी नाम की शक्ति मूलाधार में तेज रूप में है। मस्तिष्क में ओज को माना है, कुण्डलिनी नाम का तेज मूलाधार में माना गया है।

इस प्रकार के तेजों के नाम आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मिलते हैं, किन्तु कुण्डलिनी शक्ति के विषय में योगियों ने विशेष उल्लेख किया है। अन्य आचार्यों ने इसको नहीं माना है।

हमने सत्तर प्रकार के प्राणों की व्याख्या की है। अब यदि नवीन ग्रन्थ लिखूँ तो सत्तर-अस्सी प्रकार की अग्नियों का उल्लेख किया जायेगा। इस प्रकार इतना विभाग प्राण और तेज का हो सकता है। यही विद्या तुम्हारे अध्ययन के योग्य है।

इन विज्ञानों का विशेष विस्तार अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता है। योगी ही आध्यात्मिक बुद्धि द्वारा अन्वेषण कर सकते हैं। यह ग्यारह प्रकार की ज्योतियाँ तुम्हारे लिए पथ-प्रदर्शक बनेंगी।

आत्मा और परमात्मा भी तुम्हारे दर्शन के विषय हैं। तब इन ज्योतियों के द्वारा समझा जा सकता है, देखा जा सकता है। उनके रूप की कल्पना की जा सकती है। तद्रूपता इन ज्योतियों में भी आ जाती है। आत्मा में भी इन ज्योतियों का रूप आ जाता है। क्योंकि आत्मा इन से सूक्ष्म है अतः इनको व्याप्त कर स्थित है।

हमारे शरीर के भीतर दस प्रकार की अग्नियाँ हैं, तेजस नाम की अग्नि हमारे हृदय के भीतर है। जो लुप-डप का कार्य हृदय करता है। यह अग्नि उसके साथ मिल कर सम्पूर्ण रक्त को उष्ण बना-बना कर उसको किंचित रक्त सा बना देती है। यह मांस-पेशियों के साथ मिलकर मांस-पेशियों को स्थूल बना देती है। जो मांस-भक्षक होते हैं उनका शरीर स्थूल हो जाता है और यह मांस की पेशियों को बढ़ाता है। यह रक्त ही परिणाम भाव को प्राप्त होकर अन्त में इसमें जो स्नेह का भाव होता है, वह वीर्य बनता है। क्योंकि वीर्य भी बहने वाला है और रक्त भी बहने वाला है। दस प्रकार की अग्नि इन पदार्थों को पका-पका कर पोषण व भरण करती है और उसको शक्तिशाली बनाती है।

केवल प्राण ही कार्य नहीं करता है। प्राण के साथ जब तक अग्नि नहीं मिलेगी तब तक इन समस्त पदार्थों का पाक होकर यह धातुओं के रूप में परिणत नहीं होंगे। पाकज अग्नि, जितने भी पदार्थ हम खाते हैं, सबका पाक करके परिणाम भाव करती है। देश और स्थान के भेद से अग्नियों के कई भेद हो गये हैं। स्थान-भेद से इस प्राण के समान अग्नि के भी दस भेद हो गये हैं।

यदि अग्नि की उष्णता की व्याप्ति सम्पूर्ण शरीर के भीतर तुम्हारे ज्ञान में आ जाये तो आत्मा की व्याप्ति भी तुम्हारे ज्ञान में आ जायेगी, जैसे प्राण के साथ आत्मा की व्याप्ति रहती है।

प्राण, अग्नि और तेज दोनों से सूक्ष्म है। प्राण के साथ आत्मा की व्याप्ति भी प्राण के समान ही समस्त शरीर में मान लीजिये। परमात्मा की भी व्याप्ति तुम्हारे संपूर्ण शरीर में वर्तमान है। इसी प्रकार प्राण की भी व्याप्ति सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान है। व्यान नाम का प्राण सर्वप्रथम उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण शरीर के अन्दर व्याप्त होकर रहता है। यदि इस व्यान की बात तुम्हारे ज्ञान में आ जाये, सर्वप्रथम व्याप्ति परमात्मा की व्यान के साथ देखने में आयेगी। व्यान के समान ही ओज नाम की अग्नि भी समस्त शरीर में व्याप्त है।

वर्तमान के भौतिकवादी डाक्टर मस्तिष्क को विशेष महत्त्व देते हैं। हृदय को इतना महत्त्व नहीं देते। हमारे प्राचीनाचार्यों ने हृदय में ही आत्मा का वास माना है। हम तो आत्मा को हृदय में मानते हैं, हमारे ज्ञान में तो ऐसा ही आया है, क्योंकि हम तो इस विषय में प्रत्यक्षवादी हैं। प्राचीन आचार्यों की बात पर भी विश्वास नहीं करते जब तक हमारे ज्ञान में कोई बात न आ जाती। हम किसी आचार्य पर भी विश्वास नहीं करते, प्रत्यक्ष रूप से जो देखने में आ जाये वही हमारे लिए यथार्थ विज्ञान होगा। कभी-कभी प्रत्यक्ष में भी भ्रान्ति हो जाती है। किन्तु यहाँ निर्भ्रान्ति प्रत्यक्ष होना चाहिये और निर्भ्रान्ति प्रत्यक्ष होने पर वह यथार्थ ज्ञान समझा जायेगा। जिस प्रकार प्राण की व्याप्ति आत्मा में वर्तमान रहती है और आत्मा प्राण में व्याप्त रहता है और तेज में भी व्याप्त रहता है। एक प्रकार से हमारे समस्त शरीर पर शब्दमय आकाश का आवरण समझ लो, इसे एक पोल समझ लो, उसे पोल का आवरण यह प्लेट समझ लो, उसके आगे है प्राण का आवरण, क्योंकि प्राण उससे स्थूल है, उससे आगे है, अग्नि का आवरण उससे स्थूल है, उससे आगे जल का आवरण है, वह उससे भी स्थूल है। इन पाँच आवरणों को शरीर में पाँच कोषों के नाम से कह दिया है। जैसे आकाश, आकाशीय कोष, वायवीय कोष, आग्नेय कोष, जलीय कोष और पार्थिव कोष हमारे शरीर में पाँच कोष हैं।

हमारे शरीर में इन पाँचों कोषों के अन्दर आत्मा की व्याप्ति बन जाती है। प्रत्येक कोष को पृथक्-पृथक् करके आत्मा की व्याप्ति देखनी चाहिये। आकाशीय कोष में भी आत्मा की अनुभूति होनी चाहिये। क्योंकि हमारे शरीर की रचना के पूर्व लिंग-शरीर सहित आत्मा को आकाश ने ही अवधारण किया होता है। दूसरे प्राण के द्वारा या वायवीय कोष के द्वारा भी आत्मा की अनुभूति होनी चाहिये। इन दोनों के पश्चात् आग्नेय कोष ने आत्मा को धारण किया, अपने गर्भ में उसको बसाया। इसके पश्चात् जलीय कोष जो मांस-पेशी आदि संगठित करने वाला द्रव्य पदार्थ है, इसी प्रकार जलीय कोष ने भी आत्मा को धारण किया है और अन्त में पार्थिव कोष ने भी आत्मा को अपने गर्भ के भीतर धारण किया और पुनः तुम्हारे शरीर में बैठ गया।

जिस समय मनुष्य का मरण होता है उस समय पहले जब शरीर की उत्पत्ति हुई थी तब उसमें प्रथम पार्थिव पदार्थ की उत्पत्ति हुई थी। और जिस काल शरीर का मरण होता है उस काल में पृथ्वी भूत का भाग जो इस स्थूल देह में है एक प्रकार से उसका ही मरण होता है। जब मरण का समय आता है शरीर के अंग आदि ठण्डे पड़ जाया करते हैं। इसमें प्राण और तेज का अभाव होने लगता है और यह सिकुड़-सिकुड़ कर हृदय की ओर चलने लगता है। मस्तिष्क भी एक प्रकार से निष्क्रिय हो जाया करता है। हाथ-पैर भी निष्क्रिय हो जाते हैं और मूर्च्छा जैसी

स्थिति आने लगती है। शून्यता जैसी स्थिति आने लगती है। शनैः-शनैः पार्थिव द्रव्य में ठोसता, शून्यता, जड़ता आने लगती है। शनैः-शनैः इसके पश्चात् जो जल युक्त धातुयें हैं, रक्त, वीर्य, मांस, मज्जा, स्वेद आदि, इनका शोषण होने लगता है और रक्त में जमाव उत्पन्न होने लगता है। नाड़ियाँ कुछ शिथिल हो जाती हैं पुनः इसके पश्चात् रक्त पर और तेज पर प्रभाव होता है। शरीर को कहीं भी स्पर्श करो शीतल प्रतीत होने लगता है। जब तक इसमें उष्णता रहती है तब तक प्राण वर्तमान रहता है। प्राण से पूर्व उष्णता समाप्त होती है। उष्णता समाप्त होने पर प्राण की बारी आती है, अब प्राण ही हृदय में शेष रह जाता है। अन्ततः इस प्राण का भी हृदय से निस्सरण हो जाता है। प्राण के निस्सरण के साथ में ही इन्द्रियाँ तो एक प्रकार से निष्क्रिय हो जाती हैं क्योंकि तेज और प्राण के द्वारा ही समस्त इन्द्रियों के समस्त व्यापार होते हैं।

मन आदि के व्यापार हो रहे थे क्योंकि प्रधान रूप से जीवन का आधार प्राण और तेज ही हैं। इनके आधार पर ही पार्थिव शरीर और जलीय शरीर काम कर रहे थे। पार्थिव शरीर के स्थूल आँख, नाक, कानादि हैं। यह भी अपना-अपना कार्य बन्द करना प्रारम्भ कर देते हैं। तत्पश्चात् जड़ता शरीर में आने लगती है क्योंकि रक्त का संचार कम होने लगता है, अकड़ने लगता है, जमने लगता है, जड़ होने लगता है। एक प्रकार से साथ जाते हुए से दृष्टि में आते हैं। प्राण अन्तिम तेज को लेकर अपने साथ में चल देता है। तेज को लेकर ही प्राण आता है क्योंकि प्राण के पश्चात् तेज की उत्पत्ति होती है। तेज के उत्पन्न होने पर इसका उपादान कारण प्राण ही रहता है। उसके बाद में आकाश के अवकाश में जो शब्द होते हैं, हृदय में प्राण जो रह जाता है शेष हृदय की सूक्ष्म धड़कन को लेकर वह भी शब्द के रूप में वर्तमान रहता है। शब्द को लेकर प्राण भी सूक्ष्म-सा हो जाता है। एक प्रकार से वह शब्द ही लेकर आकाश में चल देता है। जो धड़कन हृदय तथा नाड़ियों में हो रही है वह शब्द ही है। इस प्रकार शरीर का क्रमपूर्वक मरण होता है।

जब इस आकाश की उत्पत्ति होती है तो ऊपर से जैसे कि आकाश चलता है आकाश शब्दों के रूप में चलता है। यह सूक्ष्म शब्दों का अनन्त, असंख्य शब्दों का समुदाय ही यह आकाश है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति हो रही है, शब्द चल रहे हैं, गमन कर रहे हैं। आकाश शब्द रूप में परिणत होता हुआ उनका संघात वायु के रूप में परिणत हो जाता है। वायु में भी गमन करते हुए ध्वनि आती है। शब्दों का समुदाय ही एक प्रकार से स्थूल रूप वायु या प्राण होता है। यह भी एक प्रकृति का परिणाम विशेष अथवा अवस्था विशेष है। तत्पश्चात् यह जो प्राण नाम की शक्ति है और वायु नाम की शक्ति है, गति रूप वाली है। वह तेज के रूप में परिणत हो जाती है, अग्नि के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि तेज भी हम एक ही पदार्थ का परिणाम-क्रम मान रहे हैं। जैसे हमारे शरीर में बाल्यावस्था, कुमारा-

वस्था, यौवनावस्था और वृद्धावस्था आती है ऐसे यह एक प्रकृति ही परिणत होती हुई प्रथम आकाश के रूप में आयी. फिर वायु रूप में आयी। पुनः वायु और आकाश का समन्वय होकर वही अग्नि के रूप में परिणत हो गयी। आकाश, वायु, प्रकृति, जल रूप में तदन्तर आकाश, वायु, अग्नि, जल मिलकर संघात भाव को प्राप्त होकर इस पृथ्वी के रूप में परिणत हुए। इस प्रकार इसका नीचे को गमन होता है, इसी प्रकार ऊपर को गमन स्थूल से होता है।

आपकी यह ज्ञान की अध्ययनशाला है, पढ़ने की शाला है। डाक्टर लोग तो इस विज्ञान के द्वारा, यन्त्र के द्वारा भी कुछ प्रकट करते हैं, दिखाते हैं, परन्तु आपके इस मस्तिष्क में भी एक यन्त्र है। जिस यन्त्र ने इन भौतिक यन्त्रों का निर्माण किया है। इस मस्तिष्क रूपी यन्त्र के द्वारा आप काम लेना प्रारम्भ कर दें तो संसार के अनेक यन्त्र भी बनाये जा सकते हैं। परन्तु जिस यन्त्र के द्वारा यह तुम्हारा शरीर जो इतना प्रिय है, सबसे प्रिय इस जगत् में अपना देह है, इसको हम समझने के लिए, कि यह देह कैसे निर्माण हुआ ? हम छोटे थे और अब बड़े हो गये हैं, अब वृद्ध होने जा रहे हैं। प्रत्येक दिन, मास, वर्ष गणना कर अब हमारे वर्ष भी समाप्त होने जा रहे हैं।

यह जो शरीर हमारे प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर हो रहा है, जीर्ण-शीर्ण हो गया है। जो बल, शक्ति, पराक्रम युवावस्था का था वह अब वृद्धावस्था में नहीं रहा, यह परिणाम-क्रम देखने में आ रहा है। इस परिणाम-क्रम को, इस रूपान्तर को यदि आप अन्दर देखते हुए, समझते हैं तब आपको इस शरीर को त्यागने में दुःख नहीं प्रतीत होगा। और एक यह भी ज्ञात हो जायेगा कि यह क्या वस्तु है, क्यों मिला है, इससे मैं क्यों स्थित हूँ, क्यों मुझे इसके साथ इतना स्नेह, प्रेम हो गया है ? यह दूषित, निष्क्रिय, रोगी भी रहता है। फिर भी इससे मुझे पृथक् होने को चित्त नहीं चाहता। यदि यह विज्ञान यह दर्शन तुम्हारे समझ में आ जायेगा तो भाई इसको छोड़ना तो है ही, तनिक प्रसन्नता से उदासीनता या समझ-बूझ कर के छोड़ें तो मरने में भी आनन्द आयेगा। मरने में भी आनन्द आता है, जैसे जीने में आनन्द आता है वैसे ही विधि से शनैः-शनैः मरण होगा तो बड़ा आनन्द आयेगा और जाते हुए भी देखोगे यदि चेतना बनी रही तो। यदि मन पर कुछ नियन्त्रण प्राप्त किया हो ध्यान और समाधि के द्वारा उस समय भी समझने की और जानने की समझ होगी, योग्यता होगी और जीर्ण-शीर्ण देह को छोड़ते हुए मोह, ममता आदि नहीं होगी। हाँ, इष्ट मित्र, सम्बन्धी, परिवार वाले इनसे ममता बनाये हुए होंगे। अरे भैया, इनका भी तो देखो, तुम आश्रम वासी हो। यदि अभ्यासियों में कोई रोगी हो तो मुझे भी चिन्ता होती है, कोई दुःख मानता है तो मुझे भी दुःख अनुभव होता है। यह मैं आप ही तो सम्बन्ध जोड़ बैठा हूँ। इस समस्त परिवार को बनाकर और आप ही हमनें दुःख-सुख को निर्माण कर दिया है। गृहस्थी तो विवाह

कर दो-चार बच्चों का परिवार सा बनायेगा, मैं बिना विवाह के इतने विशाल परिवार को लेकर बैठा हूँ।

एक प्रकार से यही विषय यहाँ सिखाये जाते हैं। इन सबका संबंध अध्यात्म ज्ञान से है। अध्यात्म ज्ञान—'आत्मानाम् अधिकृत्य अध्यात्म इति उच्यते'—आत्मा को आश्रय बनाकर के जिनका ज्ञान किया जाता है और उस आत्मा का आश्रय शरीर है। इस शरीर के ज्ञान हेतु ही आज इतनी बातें बतायी गयी हैं। शरीर का आधार तेज, प्राण, जल, पृथ्वी और आकाश है। यदि इस शरीर का विज्ञान समझ में आ जाये तो मन, बुद्धि, आत्मा की भी बात समझ में आ जायेगी। ज्ञान तो छोटा-सा ही है किन्तु महान् भी है। आज के अभ्यास में केवल आपको यही करना है कि शान्ति भाव से बैठकर यह देखना है कि मैं तेज रूप में हूँ या प्राण रूप में हूँ या शरीर रूप में हूँ। यदि इनसे भिन्न हूँ तो वह कैसा हूँ, और कहाँ हूँ, यह इस शरीर में देखना है।

व्याख्यान-८८

प्रकृति और ब्रह्म में अन्योन्याश्रय दोष नित्य ही रहता है। आत्मा और शरीर में यह दोष अनित्य है।

भावात्मक और ज्ञानात्मक विज्ञान—

ओ३म्—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
यजुर्वेद ३१-१८॥

विज्ञान की दृष्टि से हमारे शरीर में प्रधान रूप से विज्ञान के तीन केन्द्र माने जाते हैं। आयुर्वेद के सिद्धान्त से तथा भौतिक विज्ञान के सिद्धान्त से हमारे शरीर में जहाँ लुप-डप होती है इसको हृदय माना जाता है। परन्तु जब हम चेतन की बात करते हैं कि चेतन का अनुभव होता है, चेतन का साक्षात्कार होता है, तो इस प्रकार इस हृदय में तो यह लोग चेतन को नहीं मानते क्योंकि जब हम आत्मा का परलोक में गमन मानते हैं तब तो इस प्रकार का और ही हृदय मानना पड़ेगा कि जिसमें आत्मा का आवास हो। यह हृदय तो यहाँ ही मरण काल में परिसमाप्त हो जाता है। यह रक्त प्रक्षेपण कार्य करता है। इससे तो सिद्ध होता है कि हृदय सूक्ष्म शरीर के भीतर वर्तमान रहता है और उसी हृदय को दूसरे विद्वान स्थूल शरीर में मानते हैं क्योंकि हम लोग तो पुनर्जन्म को मानने वाले हैं, इस स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर का आवास मानते हैं। यदि दो ही शरीर मान लिये जायें, सूक्ष्म और स्थूल, तो सूक्ष्म शरीर का आवास इस स्थूल शरीर में ही माना जायगा। जब स्थूल शरीर के साथ सूक्ष्म शरीर रहता है तो इस स्थूल शरीर के हृदय को पृथक् मानने की बात कुछ समझ में नहीं आती। आत्मा का आवास तो सूक्ष्म शरीर में ही है, जब तक स्थूल शरीर रहता है तब तक सूक्ष्म शरीर भी इसमें वर्तमान रहता है, तो फिर स्थूल शरीर में हृदय को पृथक् मानने की बात बनती नहीं है। हृदय का जो वर्णन आता है वह सूक्ष्म शरीर की ही बात बन जाती है।

अब हृदय के विषय में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विद्वान कहते हैं कि मस्तिष्क में ही हृदय है, परन्तु हृदय को हम कहते हैं भावात्मक तथा मस्तिष्क को कहते हैं ज्ञानात्मक। भावात्मक जो हृदय है वह तो यहीं मानना पड़ेगा, अनुभव जिसको कहते हैं, अनुभूति भी जिसको कहते हैं वह यहीं वास्तविक हृदय

ही प्रतीत होता है। प्रत्येक व्यक्ति मस्तिष्क पर हाथ रखकर कहने लगता है कि मेरी तो यह बात समझ में नहीं आती थी या नहीं सूझता था। हृदय यह बात मानता नहीं साक्षी ही नहीं देता। स्वीकृति नहीं देता। प्रतीति, अनुभूति गहन-सी अवस्था में उसका स्थान हृदय को ही मानना पड़ेगा। यह हृदय शरीर के मध्य में है। मूलाधार से लेकर सिर पर्यन्त का ही शरीर गिना जाता है और हाथ, पैर आदि उपांग अंग माने जाते हैं।

हृदय भावात्मक है, यहाँ भावना की अनुभूति होती है, भाव-प्रधान प्रदेश है, क्योंकि हृदय में भावना जो उत्पन्न होती है। उसको प्रकट करने का साधन मस्तिष्क में होगा। जैसे आप विद्युत निर्माण करते हैं विद्युतशाला के अन्दर और उस विद्युत की तुम्हें विद्युतशाला में प्रतीति नहीं होती। वह विद्युत तारों के द्वारा बल्बों में आकर प्रकट होती है। भावात्मक विज्ञान का जब उद्‌बोधन होता है तब वह प्रकट होता है। वह मस्तिष्क में इन्द्रियों के द्वारा प्रकट होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ ही प्रकट कर सकती हैं। हमारे भावनात्मक विज्ञान को, हमारी स्वयं की अनुभूति को वाणी प्रकट कर रही है, आँखें बतला रही हैं। यह दस प्रकार की इन्द्रियाँ हमारे भावनात्मक ज्ञान को प्रकट करने के लिए मस्तिष्क स्थान को माना गया है। सर्वसाधारण इस बात को समझ लेते हैं और दस ज्ञानेन्द्रियों के स्थान भी यहीं हैं, मन-बुद्धि भी हैं।

मैं तीन शरीरों को मानता हूँ और यह मुझे समझ में भी आता है। सूक्ष्म शरीर जो यहाँ वर्तमान है इसमें मन और बुद्धि दोनों ज्ञान और कर्म प्रधान हैं। हृदय में अहंकार द्वारा जैसे 'अहम् अस्मि' होता है 'मैं हूं', वह मस्तिष्क के भीतर इनकी भावना नहीं होती। यह स्वाभाविक है कि जहाँ से जीवन का स्रोत निकल रहा हो, हाथ रख कर ऐसी भावना प्रकट करते हुए मानव कहा करता है, स्वीकार रूप में कि मेरा हृदय इस बात को नहीं मानता। इस विज्ञान को प्रकट करने के लिए मस्तिष्क रूपी यह स्थान बना है। जैसे विद्युतशाला में विद्युत को प्रकट करने के लिए यह तारों की लाइन बनी है। इन्द्रिय प्रकट करने वाली, इस विज्ञान को फैलाने वाला, विकास करने वाला यह मस्तिष्क है। इस प्रकार के दो केन्द्र विज्ञानात्मक हैं।

आप लोग प्रति दिन इसी साधना में लगे रहते हैं तो भी सर्वसाधारण के लिए यह विज्ञान की बात समझ में नहीं आती। मेरे ग्रन्थों को पढ़कर सर्वसाधारण लोग भी कहने लगते हैं कि तुझे भी ज्योति आ गयी। किन्तु तुम्हारी ज्योतियों से कुछ बनता हुआ मेरी दृष्टि में नहीं आया। यह ज्योतियाँ तुम्हारे विज्ञान का हेतु बन गयी हों ऐसी बात नहीं देखने में आयी। जब तक तुम्हारी आत्मा स्वयं इस भावना को प्रकट नहीं करेगी, स्वयं अनुभूति की भावना तुम्हारे भीतर नहीं उत्पन्न होगी कि हां, मुझे यथार्थ में इस बात की अनुभूति हो गयी है, यथार्थ में मुझे प्रत्यक्ष हुआ है, उसके विषय में कोई अनुमान, कोई शंका की बात

नहीं है। ऐसी किसी अभ्यासी की बात देखने में नहीं आयी है। अभी तक भी इस भ्रान्ति में ही रहते हैं क्योंकि ज्योतियाँ तो शरीर में अनेक प्रकार की हैं। मैं छोटा-सा एक और ग्रन्थ लिख रहा हूँ 'ज्योति के द्वारा आत्म-साक्षात्कार' (दिव्यज्योति-विज्ञान)।

ज्योतियाँ हमारे शरीर के भीतर अनेक प्रकार की हैं। जैसे मैंने प्राण को ७० प्रकार का बना दिया वैसे ही १५५ प्रकार की ज्योतियाँ भी हमारे शरीर में होती हैं। वैसे तो शब्द इससे भी अधिक बन जायेंगे। प्राण और ज्योतियाँ भी बन जायेंगी। इससे भी आगे प्राण का विकास और भेद है। मैं तो अभी तक ७० तक हो पहुँच पाया हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि वे तुम्हारे अन्दर भावात्मक अनुभूतियाँ होती हैं। भावात्मक विज्ञान होता है। इस विज्ञान का किसी ज्योति आदि के साथ सम्बन्ध नहीं है। ज्योति का सम्बन्ध तब होता है जब ज्योति को लेकर, प्रकाश को माध्यम बनाकर, आतमा के या परमात्मा के पास जाओगे। तब परमात्मा वहाँ प्रकाश रूप-सा प्रतीत होने लगेगा, या प्राण को लेकर जाओगे तो प्राण रूप-सा प्रतीत होने लगेगा, शब्द को लेकर जाओगे तो शब्द रूप प्रतीत होने लगेगा। यह जो आत्मा-परमात्मा की विशेषतायें हैं—'रूपम् रूपम् प्रति रूपो बभूव' की बात होती है। साधक अभी तक यह निश्चय नहीं कर पाये कि कितने प्रकार की ज्योतियाँ हैं। इनमें से उस प्रकार की ज्योति के रूप में परमात्मा है जिस ज्योति के साथ उसका सम्बन्ध बनाओगे। हमने ७० प्रकार का प्राण माना है। ७० प्रकार के प्राण को यदि परमात्मा के साथ एक-एक को जोड़ते चले जायें तो ७० प्रकार के रूप वाला भगवान् तुम्हें प्रतीत होने लगेगा। इसी प्रकार यदि ज्योति के रूप में आप मानेंगे तो १५५ प्रकार को ज्योति वाला भगवान् या आत्मा तुम्हें प्रतीत होने लगेगा। यह निर्णय आप स्वयं ही अपने अनुभव के आधार पर अपने अन्दर करना कि वास्तव में परमात्मा का स्वरूप कौन-सा है, कहाँ है और कैसा है, किस रूप में है? उसको मैं भी कह नहीं सकता।

भौतिक विज्ञानवादी डाक्टरों का सिद्धान्त यह है कि जिस समय बालक माता के गर्भ में आता है तब इस मस्तिष्क का ही पहले निर्माण होता है, क्योंकि हमारी खोपड़ी की जो अस्थि है अत्यधिक मोटी है। इससे लम्बी अस्थि हमारे शरीर के भीतर रीढ़ और हाथ-पैर में अवश्य है, पर इतनी मोटी गोल अस्थि खोपड़ी में ही है। शरीर के निर्माण में सर्वप्रथम मस्तिष्क का निर्माण होता है। बृहत्काय जो वृक्ष हम देखते हैं यह वृक्षाकार उस बीज में ही सूक्ष्म रूपेण निहित था। बीज लिया जाय बोने के लिए तो उस छोटे से बीज के भीतर ही समस्त पत्ते, शाखा, मूल निहित होते हैं। जब किसी भूमि विशेष में ले जाकर आप इसे बोओगे तब तद्‌रूप वृक्ष आपको कुछ काल में मिल जायेगा। इसी प्रकार सर्वप्रथम इन लोगों का कहना यह है कि इस मस्तिष्क रूपी अस्थि का निर्माण होता है, वह एक प्रकार से पहले बीज के रूप में ही होता है। पुनः इसमें से ही नाक, मुख,

गर्दन, रीढ़ की अस्थि आदि सम्पूर्ण शरीर का विभाग इसी में से चलता है। मूल स्थान इसका यही माना है।

अब रही आत्मा के विषय की बात। जैसे लोग कहते हैं कि आत्मा का निवास हृदय में है। अब यहाँ शंका यह होती है कि यदि आत्मा का वास यहीं है तो मस्तिष्क का निर्माण तो इससे पूर्व हुआ था और हृदय बाद में हुआ। मस्तिष्क का विकास किसके द्वारा हुआ था और हृदय बाद में हुआ? क्योंकि आत्मा तो उस काल में नहीं था। आत्मा की तो अनुभूति तुम हृदय में मानते हो। उदाहरणार्थ—वीज आप बोते हो, पहले वह गुठली के रूप में होता है। उसमें से अंकुर बन करके चलता है। इसका सार रूप एक प्रकार से स्थूल शरीर है। मस्तिष्क के भीतर ही संकुचित-सा होकर सूक्ष्म-सा बन कर सारा इकट्ठा होकर इस अस्थि में ही ठहरता है। पुनः देश, काल, निमित्त सामग्री आदि के द्वारा यह मस्तिष्क की अस्थि विकास भाव को प्राप्त होकर उसमें से यह सम्पूर्ण ढाँचा निकल कर नीचे की तरफ बहने लगता है, यह बह जाता है। अब जो उसका भाग मस्तिष्क के भीतर था चेतन पहले वर्तमान था जिस चेतन ने मस्तिष्क का विकास किया है, अब वह उस चेतन का प्रधान स्थान इसमें एक प्रकार से निकल कर हृदय में उसका प्रधान स्थान में स्थित हो जाता है। हृदय की जितनी ग्रन्थियाँ हैं यह ही सम्पूर्ण शरीर का पालन-पोषण और रक्षण करती हैं। बीच के तने में ही जीवनी शक्ति का जड़ों से रसादि को खींचता है। पुनः ऊपर शाखाओं की ओर को भी बढ़ता है। दोनों के वीच का जो भाग है वृक्ष की, शाखाओं को भी, मूल को भी बढ़ाने की शक्ति होती है। यह ही वृक्ष का हृदय है।

इसी प्रकार मनुष्य में हृदय भी एक ऐसा स्थान है जिसमें जीवनी शक्ति अव्यक्त रूप से रहती है। अव्यक्त रूप इसलिए कहेंगे क्योंकि वृक्ष में तना अव्यक्त-सा पड़ा है। शाखाओं को भी बढ़ाता है और मूल को भी बढ़ाता है। जैसे मानव के हाथ, पैर आदि इतने बड़े बन जाते हैं। वैसे ही शाखायें टहनियों आदि की वृद्धि होती है। किन्तु जीवन का आधार या स्रोत आपको हृदय ही मानना पड़ेगा। क्योंकि इसकी शंका मैंने ही उठाई थी कि प्रथम विकास मस्तिष्क का ही हुआ, चेतना का विकास नहीं हुआ था। प्रथम अस्थि का ही विकास हुआ था। अब आप कहेंगे कि हृदय का विकास क्यों न पहले माना जाय और बाद में मस्तिष्क का विकास माना जाय? मस्तिष्क का विकास पहले इसलिए माना गया है कि सूक्ष्म शरीर इन्द्रियों को लेकर इस मस्तिष्क में वर्तमान होकर ठहरा है। इन्द्रियों की सत्ता को रखना था, इन्द्रियाँ और मन आदि को लेकर उसका विकास होना था, क्योंकि प्रथम इस अस्थि का विकास होता है पुनः इसमें से दूसरी अस्थियाँ विकास भाव को प्राप्त होती हैं। जो भाग पहले गर्भ में पनपेगा, चाहे अस्थियाँ के रूप में, मांस के लोथड़ों के रूप में अथवा किसी भी रूप में पनपेगा, उसका विकास मानना

पड़ेगा वह पहला भाग जो है। वह किसी प्रकार अस्थि का मोटा भाग है। अतएव इस अस्थि का प्रथम विकास होता है। इसकी उत्पत्ति होती है। स्थूल रूप में पुनः आकार तने से बहुत लम्बी-लम्बी शाखायें वृक्षों की हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार हृदय से भी बहुत लम्बे-लम्बे हाथ-पाँव आदि शाखायें बनीं। शरीर को भी एक प्रकार से वृक्ष की उपमा दी गयी है। वृक्ष के साथ इसकी तुलना की गयी है। जैसे वृक्ष है वैसे शरीर भी है। परन्तु वृक्ष का मूल नीचे होता है शाखायें ऊपर होती हैं। यदि सिर को नीचे और पाँव को ऊपर करें अर्थात् 'शीर्षासन' के रूप में स्थित हों, तब सिर मूल रूप हमारा भी नीचे होगा। परन्तु शरीर चलता है पैरों के माध्यम से। पैर तो इसके अंग हैं। पैर न हों तो और किस प्रकार यह चल सकता है, सर्प की भाँति अथवा किसी और की भाँति।

जीवन का विकास इसमें से निकल कर प्रसारित होता है। जीवनी शक्ति वहाँ से विस्तृत होकर वृद्धि को प्राप्त हुई हैं। अब कहोगे, क्या जीवनी शक्ति का भी विकास मानते हो, क्या सिकुड़ना, फैलना चेतना के भी मानते हो ? चेतना का हम कोई परिणाम नहीं मानते। यहाँ विकास का तात्पर्य चेतन आत्मा के संयोग सम्बन्ध से प्राकृतिक पदार्थों में ही होता है आत्मा में नहीं। परमात्मा की व्याप्ति को यदि सम्पूर्ण शरीर में समझ लिया जाये तब वह चेतना तो जीवात्मा के सदृश है वह भी चेतन है, अतः इस चेतना का प्रधान रूप में, अनुभूति के रूप में हृदय स्थान ही बना हुआ है। स्पष्ट रूप में विज्ञान की बात इन्द्रियों के द्वारा प्रसारित की जा सकती है। इन्द्रियों के द्वारा दर्शायी जा सकती है। वाणी के द्वारा व्यक्त की जा सकती है। यदि इन्द्रियों के द्वारा दर्शायी जा सकती है तो उसकी प्रशंसा की जा सकती है, उसके गुण गाये जा सकते हैं। वह स्थान मस्तिष्क है। गुण गाने के लिए, ज्ञान का प्रसार करने के लिए, विज्ञान का विकास करने के लिए। परन्तु मूल स्रोत जीवन का हृदय ही है। इसी में ही आप ध्यान की स्थिति में गहराई में जाकर बुद्धि में चिन्तन करते-करते एक प्रकार से बुद्धि को और हृदय को एक बनाते हैं। जैसे बुद्धि और मस्तिष्क से तुम्हारी विज्ञान की धारा निकल कर और इस अव्यक्तात्मक विज्ञान के अन्दर वह धारा बह कर हृदय में ठहर जाय, और तुम्हें बतला देवें, तुम्हें दिखा देवें क्योंकि बुद्धि से चिन्तन करना है। यहाँ इन्द्रियों के स्थान वर्तमान हैं, तत्सम्बन्धी चिन्तन होते हैं। इन्द्रियों के विकास, उनके भोगों का विकास अधिक है। संसार में इसके भोगों का विकास इन्द्रियों के द्वारा होता है। यह भावात्मक मूल स्रोत यह हृदय स्थान है, इसका विकास यहाँ आकर होता है। उसी को आप ध्यान की अवस्था में नाना प्रकार से वर्णन करते हो या जैसे मैं वर्णन करता हूँ।

आप जिस काल अभ्यास तथा ध्यान में बैठते हो, तो आप सबसे पहले हृदय की धड़कन को पकड़ना। जिस अभ्यासी को अभ्यास में या ध्यान में धड़कन पकड़

में आ जायेगी और उसको सुनाई देगी, उसकी अनुभूति होने लगेगी। उसको आप ध्यान या मेडिटेशन का विषय बनायें हृदय की लुप और डप को। यह तो शब्द हैं, इस शब्द के द्वारा जो धक्का लगता है चेतना का, जीवन का कैसे प्रारम्भ होकर यहाँ से प्रसार होता है। जीवन का प्रसार क्यों मान रहा हूँ, क्यों कह रहा हूँ ? जैसे यह आकाश व्याप्त है, जब तेज हवा चलती है तो आकाश को भी अपने साथ में लहरों के रूप में कम्पायमान सी करते हुए चलती है। गर्मी के मौसम में जब तेज हवा या गर्म हवा चलती है, लू भी चलती है, तब वह इस आकाश नीचे-ऊपर को उछल-उछल कर चलती है, तो इस प्रकार यह तरंगित होता हुआ आकाश प्रतीत होता है।

इसी प्रकार यह जो प्राण की धड़कन हो रही है यह प्राण चेतना को तरंगित करता हुआ सारे शरीर में आपके अनुभव में आयेगा। जब तक इसमें प्राण के द्वारा तरंगें नहीं उठेंगी, चेतना में तरंगें नहीं उठतीं, वह तो एक रस खड़ा है। आकाश एक रस स्थिर है इसमें तरंगें नहीं, तरंगें भले ही वायु में होंगी या तेज में होंगी, सूर्य की किरणों में होंगी या हवा में होंगी, पर उसके साथ आकाश भी तरंगित-सा होता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार तरंगों के रूप में चेतना का अनुभव करना होगा आपको सम्पूर्ण शरीर में और वह चेतना आपको पृथक् स्थिर हुई भी प्रतीत होगी जैसे यह आकाश आपको पृथक् स्थित हुआ सा प्रतीत हो रहा है। एक वायु के साथ मिला हुआ कम्पायमान-सा होता हुआ आपको प्रत्यक्ष में आ रहा है। इसी प्रकार आप चेतन को भी प्राण के द्वारा या तेज के द्वारा ही समझो। क्योंकि धड़कन प्राण की हो रही होती है। प्राण के साथ में तरंगित होकर लहराती हुई चेतना की अनुभूति तुम्हें होगी। क्योंकि वेद में कहा है—"तदेजती तन्नैजती तद्दूरे ताद्वन्तीके"। परमात्मा कभी कम्पायमान नहीं होता, परन्तु जब तक कुछ अज्ञान-सा रहता है, परमात्मा चलता, फिरता, उछलता, कूदता दृष्टिगोचर होने लगता है। चेतन सत्ता कूदती है, आकाश भी इसके साथ कूदता है, आकाश भी उछलने लगता है तो चेतना उछलती हुई सी, चलती हुई सी, गति करती हुई सी सम्पूर्ण शरीर में प्रतीत होने लगती है। आकाश-मण्डल में वायु को, इस आकाश-मण्डल में अपना ध्यान का विषय बनायेंगे तो सर्वव्यापक चेतना भी इस आकाश-मण्डल में वायु के साथ में, तेज के साथ में उछलती हुई, कूदती हुई, नाचती हुई, लहरें मारती हुई, हिलोरें मारती हुई प्रतीत होने लगेगी।

व्यापकता का साक्षात्कार मैंने इस आकाश को गुरु बनाकर इससे सीखा है। जैसे यह आकाश सर्वत्र, प्रत्येक जो पदार्थ दृश्यमान् हैं, आँखें और इन्द्रियों का विषय है, इन सब पदार्थों को व्याप कर ठहरा हुआ है। जैसे इसकी व्याप्ति जगत् के सब पदार्थों में देखने में आती है, इसी प्रकार परमात्मा की व्याप्ति भी। इसकी व्याप्ति तो ठीक है, परन्तु यह आकाश तो जड़ है, क्रिया का हेतु नहीं बन

सकेगा। भले यह व्याप्त करके स्थित है। वैसे तो अग्नि जल को और पृथ्वी को व्याप्त करके स्थित है उसको क्यों न चेतना मान लिया जाय? क्योंकि उसमें व्याप्ति बनी हुई है। तब वायु को ही क्यों न चेतना मान लिया जाय। क्योंकि इसने अग्नि को तेज को गतिमान किया हुआ है, परन्तु उनकी जो गति है किसी की अपेक्षा करती है। वायु में जो गति है वह दूसरे की अपेक्षा करती है। किस की? आकाश की।

परन्तु आकाश में भी गति है, आकाश भी उत्पन्न होने वाला है, हम इसको जड़ मानते हैं तो इसका भी कोई उपादान कारण मानना पड़ेगा, इसमें भी किसी की व्यापकता माननी पड़ेगी जो इसको गर्भ में स्थित कर इसका आधार बना कर ठहरा हुआ है। परमात्मा ने आकाश को आधार बनाया हुआ है, अपनी चेतनता का विस्तार करने के लिए, अपनी चेतना को सारी प्रकृति के गर्भ में पहुँचाने के लिए। आकाश को भी आधार चेतना ने बनाया हुआ है। यदि यह अवकाश रूप आकाश आधार परमात्मा के लिए न हो तो वह एक देशीय बन कर रह जायेगा, उसकी चेतना का प्रसार सर्वत्र दृष्टि में नहीं आयेगा।

जड़ प्रकृति, चेतना की अपेक्षा करती है, अपनी गति के लिए। क्योंकि उसमें इस प्रकार का धर्म नित्य नहीं है निमित्त से है और चेतन जो है वह किसी की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह स्वयं ही गति का स्रोत है। ज्ञान और गति का भण्डार समझ लो। उसको किसी और चेतन की या जड़ की अपेक्षा नहीं है। जैसे किसी लँगड़े को अन्धे की अपेक्षा पड़ जायेगी; लँगड़ा उसके कंधे पर बैठकर अन्धे को मार्ग दिखाता हुआ चलेगा। सो यह प्रकृति एक प्रकार से अन्धे के समान है, इस पर भगवान् लँगड़े की भांति बैठकर चलता है। भगवान् भी प्रकृति के बिना पंगु है और प्रकृति भी उसके बिना अन्धी है। दोनों मिल कर सृष्टि, स्थिति और लय का हेतु बनते हैं। परमात्मा की चेतना के लिए और परमात्मा के गतिशील होने के लिए अन्य किसी जड़ या चेतन की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्रकृति को है; क्योंकि प्रकृति में हम नित्य परिणाम देखते हैं, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में गमन करते हुए देखते हैं। चेतन में इस प्रकार का गमन देखने में नहीं आता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था में नहीं जाता, परन्तु कुछ-कुछ व्यक्तियों ने पूर्णतया न समझ कर चेतना में ही गमन मान लिया है। परन्तु चेतना में गमन सिद्ध नहीं होता। जब हम कर्म का लक्षण करते हैं— उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन— तब प्रकृति में तो यह कर्म घट जाते हैं, सर्वव्यापक चेतन में यह कर्म नहीं घटते। अतः किसी प्रकार का वहाँ कर्म होता ही नहीं। उसको किसी कर्म की, ज्ञान की अपेक्षा ही नहीं रहती। जिसमें ये कर्म होगा, उसमें ज्ञान की अपेक्षा रहेगी। प्रकृति को ज्ञान की अपेक्षा रहती है, चेतना को ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है।

व्याख्यान-८९

विशेष ज्ञान के द्वारा कर्म संस्कारों तथा योगविघ्नों की निवृत्ति।

ओ३म्—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु॥
यजुर्वेद० ३४-१॥

अभ्यास-काल में जब अभ्यासी ध्यान और समाधि में प्रवृत्त होता है तो अनेक प्रकार के विघ्न और बाधायें आकर उपस्थित होने लगती हैं। योग के अभ्यासियों के लिए जहाँ नौ विघ्न बताये हैं वहाँ स्त्यान, मन का चुराया जाना यह एक प्रधान विघ्न सबके लिए आता है। ध्यान में बैठे हैं, तनिक ध्यान लगा और अन्य किसी विषय का स्मरण आने लगा, किसी व्यवहार का चिन्तन करने लगा, मन कहीं और दिशा में भाग गया, विषयों से, व्यवहारों से, कार्यों से हमारा मन हरण हो जाता है। मन का हरण, जिसके द्वारा हमने साधना करनी है, समाधि की स्थिति में पदार्थों का साक्षात्कार करना है, वह हमारी वस्तु तो सत्यान हो जाना अर्थात् चुराये जाने से वह दूसरे की वस्तु या पदार्थ बन जाता है। पुनः उसको हम बार-बार पकड़ लाते हैं।

उपनिषद्कारों ने इस विषय में एक मन्त्र पढ़ा है—"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाषान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्"॥ कठ०१-३-२४॥ —आत्मा के विषय में कहा गया है कि 'एनम् आप्नुयात्'—जो व्यक्ति इस भगवान् को प्राप्त करना चाहता है उसका मन कैसा होना चाहिये 'नाविरतो'—वैराग्यवान् मन होना चाहिये, विरक्त मन होना चाहिये। जब तक हम विषयों से विरक्त नहीं होंगे तब तक मन में स्थिरता नहीं आयेगी। विषय सदा मन को हरण करते रहेंगे। अतः बुद्धि और इन्द्रियों के बीच में जो मन है वह एक प्रकार से लगाम का कार्य करता है। जैसे घोड़े को लगाम लगी हुई होती है वैसे मन भी इन्द्रिय रूपी घोड़ों के लिए लगाम होता है, परन्तु 'बुद्धिन्तु सारथिम् विद्धि"—बुद्धि को इसका सारथी कहा गया है या कोचवान चालक कहा गया है या चलाने वाला कहा है। अभ्यास-काल में विशेष ध्यान रखना चाहिये कि हमारे मन को विषय हरण कर न ले जायें। जब तक चित्त में विरक्ति नहीं आयेगी और जिस वस्तु को हम प्राप्त करना चाहते हैं उसके साथ-साथ हमारा स्नेह और उत्कट प्रेम नहीं होगा और उसके लिए हम

त्याग नहीं करेंगे, तब तक इसकी प्राप्ति में सफलता नहीं होगी। इसलिए आवश्यक है कि स्त्यान नाम का जो विघ्न है इसको दूर हटा देना चाहिये। यह तब होता है जब मन में वैराग्य की भावना होती है। अतः 'अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः' कहा है। अभ्यास और वैराग्य से इसका निरोध होता है। अभ्यास तो आप बहुत करते हो। इसकी अभ्यास की कोई कमी नहीं है। कई-कई घण्टे नित्य लगाते हो, पर निरोध करने में वैराग्य की कमी है। वैराग्य से मन में या बुद्धि में उपरति, उपरामता आती है, निवृत्ति होती है। आवश्यकता है वैराग्य की।

वैराग्य दो प्रकार का होता है : एक सामान्य और एक विशेष। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। सामान्य वैराग्य की किसके लिए आवश्यकता है, जो स्वाभाविक गुण हमारे भीतर वर्तमान हैं उन स्वाभाविक गुणों पर अधिकार करने के लिए उनको नियन्त्रण करने के लिए वैराग्य की परमावश्यकता है। जैसे भूख, प्यास, निद्रा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, भ्रान्ति, अभिनिवेश इत्यादि। ये हमारी बुद्धि के यह सामान्य धर्म स्वभाव से हम लेकर आये हैं और इनमें हमारे साथी पशु-पक्षी भी हैं। वे भी इसी प्रकार का सामान्य ज्ञान लेकर आये हैं। इसमें हमारी और पशुओं दोनों की समानता है। यह तो सामान्य ज्ञान है और सामान्य वैराग्य की बात है।

दूसरा विशेष ज्ञान है, जैसे कि आप यहाँ आचार्य के पास रह कर साधना, अभ्यास आदि द्वारा विशेष ज्ञान प्राप्त करते हैं उसका क्या फल होगा। जो विशेष प्रधान संस्कार हैं जो किन्हीं निमित्त से आये हैं, प्रधान संस्कारों का कारण को ही निमित्त विशेष होते हैं उनके लिए विशेषतः विशेष निमित्त होते हैं। जैसे मैं आश्रम बना रहा हूँ दिल्ली में। अब उसके लिए विशेष प्रयत्न, विशेष कार्य और विशेष प्रवृत्ति है क्योंकि यह एक निमित्त बना है। आप लोगों की सुख-सुविधा के लिए यह साधना कक्ष बनाने के लिए कितना समय लगा था, सवा लाख रुपया व्यय हुआ था। अब यह विशेष कर्म किया गया तुम्हारे सुख के लिए, तो निमित्त बने हो आप। निमित्त जो होता है उसकी निवृत्ति के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता होती हैं, उसको छिन्न-भिन्न करने के लिए इस प्रकार की ममता की भावना जो उत्पन्न हो रही है, करुणा की, दया की भावना आप लोगों के प्रति। निवृत्ति के लिए जैसे विशेष कार्य आये हैं ऐसे विशेष ज्ञान की भी आवश्यकता है। विशेष ज्ञान से ही इस प्रकार के प्रधान संस्कारों को हटाया जा सकता है। यह विशेष ज्ञान और विशेष वैराग्य की बात मैं कर रहा था। हम साधारण-सा उपदेश सुने हैं कि भाई साधना के लिए बड़ी तितिक्षा की आवश्यकता है, सहनशीलता की आवश्यकता है। यह द्वन्द्वों के अन्तर्गत आ जाते हैं। द्वन्द्वों के सहन करने का स्वभाव बनाना है। इसके लिए सामान्य ज्ञान भी काम कर जाता है।

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ये ४ प्रकार के संस्कार होते हैं। इन

४ प्रकार के संस्कारों के लिए स्वाभाविक धर्म या कर्म या गुण हमारे अन्तःकरण में वर्तमान हैं। काम, क्रोध आदि इनके लिए सामान्य ज्ञान ही पर्याप्त होगा। उनके लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन्हें नित्य प्रति शनैः-शनैः अभ्यास से विच्छिन्न करना है, छेदन करना है। जैसे आजकल आप लोग उनको छेदन कर रहे हैं। जो प्रधान-प्रधान पाप-जन्य संस्कार हैं या सामान्य काम, क्रोध, लोभ आदि इन्द्रिय-जन्य जो संस्कार थे उनको पुनः-पुनः काटते हो, मन को उनसे हटाते हो, निरोध करते हो पुनः-पुनः विच्छिन्न करते हो, पुनः उभरते रहते हैं। काटते हो तो कुछ समय के अभ्यास से ऐसी स्थिति आ जायेगी कि वे अपने आप उनका जो धर्म-कर्म उभरने का, विकसित होने का है वह स्वयं ही ठण्डा हो जायेगा। आप के यत्न के द्वारा जो उदार संस्कार हैं उनको अभ्यास-काल में, अभ्यास के द्वारा शनैः-शनैः विच्छिन्न करते हो यह विच्छिन्न होते-होते तनु हो जायेंगे। इनमें वार-वार उभरने की योग्यता नहीं रहेगी। पुनः-पुनः जो आकर्षण करते हैं विषयों का रूप धारण कर, उस ओर हमारा आकर्षण नहीं होगा।

इस प्रकार के अभ्यास और वैराग्य से दोनों प्रकार के संस्कार सामान्य और विशेष का निरोध होगा और उसे निरोध करने के लिए पुनः-पुनः से जो स्त्यान नाम का विघ्न बताया है वह आकर मन को चुरा ले जाता है। अतः सावधान रहना चाहिये, मन इधर-उधर न भागने पाये। जहाँ हम उसको लगाना चाहते हैं वहाँ ही यह लग जाय; हम मन के दास न बनें, मन हमारा दास बन जाये। यह तुम्हारे अभ्यास की विशेषता होनी चाहिये।

स्वाभाविक संस्कार हम माता के गर्भ से लेकर आये हैं। काम कोई हमको नहीं सिखाता। क्रोध, लोभादि सब प्राणियों में वर्तमान रहते हैं। मनुष्यों को व्यवहारादि फिर भी सिखायेंगे, परन्तु पशुओं को कौन सिखाता है ? उनके भीतर भी माता आदि के प्रति ममता होती है, उनके मन में भी स्नेह-प्रेम आदि होता है अपनी सन्तान के प्रति। यह इस प्रकार के जो स्वाभाविक संस्कार हैं इनके निरोध के लिए तो अभ्यास की आवश्यकता है। जो विशेष संस्कार निमित्त से बनाये गये हैं और अब जो निमित्त से बन रहे हैं। विशेष संस्कार जब कोई व्यक्ति उद्योग चलाता है, दुकान चलाता है, कार्यालय चलाता है और विशेष-विशेष कार्य करता है इनके संस्कार भी विशेष होते हैं। इनके लिए प्रयत्न भी विशेष होता है। यहाँ इनका निरोध इनकी निवृत्ति होगी वैराग्य के द्वारा। क्योंकि वैराग्य भी निमित्त से उत्पन्न होता है। शास्त्रादि पढ़ कर महापुरुषों के सत्संग से पुनः-पुनः विचारने से वैराग्य और ज्ञान की भावना बनती है। इतने वर्षों से आप यहाँ अध्ययन कर रहे हो, ज्ञान सीख रहे हो, यह विशेष प्रयत्न है, विशेष साधना है।

विशेष कार्य का विशेष निमित्त से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके लिए परम वैराग्य की आवश्यकता है। जब तक परम वैराग्य नहीं होगा तब तक

विशेष कर्म या संस्कारों का निरोध नहीं होगा। सामान्य संस्कारों का निरोध तो वैसे भी हो जायेगा विशेष ज्ञान के बिना भी, परन्तु विशेष संस्कारों के निरोध के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता है क्योंकि वे प्रधान होते हैं, विशेष प्रबल होते हैं। प्रधान कर्म के साथ गौण कर्म गौण संस्कार सहयोगी बन कर भोग का हेतु कर्मक्षेत्र के भीतर जाकर हुआ करते हैं।

दो प्रकार के और विघ्न समाधि में आकर उपस्थित होते हैं। एक तो भ्रान्ति एक अलब्ध भूमिकत्व। जिस भूमि को हम प्राप्त करना चाहते हैं, अभ्यास के द्वारा जिस पदार्थ का साक्षात्कार करना चाहते हैं या साक्षात्कार कर उसको हम दृढ़ भूमि करना चाहते हैं, उस भूमि की प्राप्ति न होना अलब्ध भूकत्व है। साक्षात्कार तो ऐसे होता है जैसे कभी-कभी एकाध बार ज्योति सामने आयी, चमत्कार-सा दिखा गयी। यह भो साक्षात्कार कहलाता है। पर अलब्ध भूमिकत्व वह होता है जिसमें हमारी दृढ़ स्थिति नहीं होने पाती। अनेक अभ्यासी कहते हैं, कि महाराज जी! ज्योति तो आयी, वह टिकती नहीं घूमती रहती है, थोड़ी देर में भाग जाती है। वह ज्योति क्या बनेगी? अलब्ध भूमिकत्व बनेगी। वह दृढ़ नहीं हो पा रही है। अपने स्थान में स्थिर नहीं हो पा रही है तो यह भी एक विघ्न कहलाता है। पुनः ज्योति तुम्हें कई प्रकार की आ जाती हैं। अव उनमें भी भ्रान्ति हो जाती है कि यह मन की ज्योति है, बुद्धि की ज्योति है या आँखों की ज्योति है या किसी और प्रकार की ज्योति है? यहाँ संघर्ष से ज्योति उत्पन्न हो गयी है क्योंकि प्राण के संघर्ष से भी ज्योति उत्पन्न होती है।

आकाश-मण्डल में बादल घिरे हुए हों वे वायु के धक्कों से टकराकर विद्युत उत्पन्न कर देते हैं। ऐसा प्राण का संघर्ष भी है जो कुण्डलिनी शक्ति को जगाता है जो प्राण के संघर्ष से उत्पन्न हो जाती है। प्राण के संघर्षों से भी ज्योति का प्रादुर्भाव हुआ करता है और जो निरन्तर अभ्यास करने वाले होते हैं उनकी ज्योति स्थिर भी हो जाती है। परन्तु वह किसी कार्य में नहीं आती और कठिनाई का हेतु भी वन जाती है, अभ्यासी उससे भी तंग आ जाया करते हैं।

हमारे यहाँ एक देवी आया करती थी, वह प्रणव का जप करती थी। चलते-चलते भी उसकी दृष्टि प्रणव की ओर चली जाती है, सर्वत्र पुष्प, पत्ते, दीवार, मकान इत्यादि सब में नीचे-ऊपर ओ३म् ही दृष्टि में आता था। वह कहने लगी कि महाराज जी! मैं तो इस प्रणव जप से तंग आ गयी हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि कभी-कभी भगवान् के नाम से भी लोग तंग आ जाते हैं, क्योंकि लोक-व्यवहार में बाधा पड़ती है।

जिस साधना पर अपना अधिकार न हो उस साधना को निरन्तर दीर्घकाल तक नहीं करना चाहिये। जिस साधना पर अधिकार है जैसी ज्योति की आवश्यकता होती है तो अपने मनोबल से संकल्प से ज्योति को उत्पन्न कर लिया,

जागृत कर लिया, पदार्थ को देख लिया, निरन्तर थोड़े ही आप टार्च जलाकर बैठोगे, थोड़ा अँधेरा या टार्च जलायी पुनः शान्ति से बैठ जाओ, यदि आवश्यकता पड़े तो कोई पदार्थ उसकी सहायता से उठा लाओ निरन्तर ज्योति से भी आप तंग आते हो।

यदि अभ्यास में भी ज्योति तंग करने लगे तो उस अभ्यास को रूपान्तरित कर देना चाहिये। उसको प्राण के द्वारा अभ्यास करना चाहिये। प्राण में भी ज्योति है, किन्तु वह चकाचौंध करने वाली नहीं है। वह सूक्ष्म और मध्यम स्तर की अनुद्भूतात्मक है।

ज्योति तो तुम आत्मा में भी देखोगे। आत्मा को भी प्रकाश के माध्यम से देखोगे, किन्तु ज्योतियों में भी भिन्नता है। बहुत-सी प्रकाश वाली होती हैं, जो चकाचौंध करने वाली होती है वह सुख देने का भी कारण बन जाती है। मध्यम-सी ज्योति दिखाने में समर्थ होती है। ऐसा अधिकार होना चाहिये कि यदि आप ज्योति के द्वारा कोई पदार्थ देखना चाहते हैं तो ध्यान-बल से ज्योति का प्रादुर्भाव कर लो। प्राण के द्वारा देखना या स्पर्श करना चाहते हो तो श्वास-प्रश्वास की गति को पकड़ कर स्पर्शानुभूति होगी। जहाँ दोनों आत्मा और प्राण का स्पर्श होगा वहाँ स्पर्श भी थोड़ा-सा प्रकाश उत्पन्न करता है। क्योंकि स्पर्श के साथ तेज संलग्न है, प्राण के साथ यहाँ तेज संलग्न है। प्राण-शक्ति के साथ ऊष्ण हमारे शरीर से निकलता है। प्राण और तेज एक होकर मिल कर रहते हैं, प्राण शरीर को व्याप्त करके रहता है। दोनों का व्याप्य-व्यापक भाव सम्वन्ध है। अकेला प्राण भी कुछ नहीं करता, अकेली ज्योति भी कुछ नहीं करती। अगर दोनों का संयोग कर दोनों को समन्वय कर आप पदार्थ का साक्षात्कार करोगे, वहाँ रूप के द्वारा भी दर्शन होगा, स्पर्श के द्वारा भी दर्शन होगा।

एक और अंतिम विघ्न आता है अनवस्थितत्व—स्थिर न होना और वह सबको बना रहता है। ज्योति आई है, स्थिर नहीं होती है। प्रथम तो भूमि का ही ज्ञान नहीं था अब भूमि में आकर ठहरने भी लगी, यहाँ ज्योति का प्रादुर्भाव भी हो गया अथवा प्राण की अनुभूति भी किंचित हो गयी, किन्तु वह स्थिर नहीं होती है। स्थिर न होना जो है यह भी एक बड़ा भारी विघ्न है। आप विज्ञान के किसी भी स्तर पर पहुँचोगे किन्तु वहाँ दीर्घकाल तक निरन्तर स्थिति नहीं बनती है। जब विज्ञान के स्तर पर पहुँचता है तब वहाँ एक प्रकार से कोई पदार्थ सामने आ गया सा लगता है और हम उसको स्थिर कर पकड़ कर बैठ जाते हैं। अब यहाँ से सम्प्रज्ञात समाधि का विषय प्रारम्भ होता है जैसे मैंने एक व्यक्ति को अपनी समाधि का विषय बनाया। पहले तो मन इतस्ततः भागता रहता है और पुनः जब भागना बन्द हो जाता है, चंचलता हट गयी, मन ठहर गया, तो उस व्यक्ति की छाया या प्रतिमा सामने बनी हुई दृष्टिपात होगा। वह स्थिति दीर्घ-

काल तक बनी रहेगी। तब यह अनवस्थित-सी अवस्था हो जाती है। अब इसमें क्या करना चाहिये? उसी पदार्थ को लेकर मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार करना चाहिये। अब तक केवल अनवस्थित में धारणा का ही विषय था। अव इसको ध्यान में परिणत कर समाधि का विषय बनाना चाहिये। पदार्थ के विषय में तर्क-वितर्क, ऊहा-पोह, शंका-समाधान स्वयं ही उसको निर्णय करते रहना चाहिये तब वह पदार्थ, वह विज्ञान आपका दृढ़ भूमि बन जायेगा और वह सव प्रकार के विघ्न-बाधायें सब निवृत्त हो जायेंगी।

दुखःदौमेनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ।। योग० १-३१ ।।
शारीरिक, मानसिक और वाचिक दुःख जैसे मन या बुद्धि के विपरीत या खिन्न या चिन्ता से मन में विरोध सा हो जाना, शरीर के अंगों में कम्पन होना या आसन की स्थिरता न होना, प्रयत्न-शैथिल्य हो जाना, श्वास-प्रश्वास का गमनागमन ठीक न होने पर सूक्ष्म भाव को प्राप्त न हो घरड़-घरड़ की ध्वनि आना, खाँसी, जुकाम, दमा आदि का होना ये पाँच विक्षेप योग में होते हैं।

प्राण का विक्षेप अंगों का विक्षेप अंग में जयत्व भी समाधि से व्युत्थान का कारण हो जाता है। हृदय की धड़कन भी यदि तेज हो तो वह भी विक्षेप का हेतु हुआ करती है जब मनन, निदिध्यासन, चिन्तन करता है तो हृदय की धड़कन भी विक्षेप का हेतु होती है। यदि पदार्थ का ऊहा-पोह, तर्क-वितर्क आदि चलता रहे तो यह भी विघ्न का हेतु होता है। कभी-कभी हृदय की धड़कन दुगुनी हो जाती है। यदि विचारों का अभाव हो जायेगा, पूर्ण निवृत्ति सा बन जाये, कोई विचार उत्पन्न न हो, तब हृदय की धड़कन कम हो जाती है।

अभी इस ९० वर्ष की अवस्था में भी हृदय की धड़कन का विक्षेप मुझ में भी वर्तमान है। यह नहीं समझना कि केवल हमें ही विक्षेप होता है। यह विक्षेप कोई क्लेशदायक प्रतीत नहीं होता क्योंकि स्वाभाविक ही है। स्वभाव का अवरोध नहीं किया जा सकता है; औषधि आदि से कम तो किया जा सकता है किन्तु योग दर्शनकार कहते हैं कि औषधि की आवश्यकता नहीं तत् प्रतिषेधार्थ मेकतत्वाभ्यासः यह नौ प्रकार के विघ्न और पाँच प्रकार के विक्षेपों के लिए एक तत्त्व का अभ्यास जो है आत्म-तत्त्व या ब्रह्म-तत्त्व का चिन्तन करना। उसी परमात्मा को ध्यान का विषय रखना और कोई तुम्हारे समक्ष बात आनी ही नहीं चाहिये। ये १४ प्रकार के विक्षेप समाप्त हो जाते हैं।

व्याख्यान-९०

प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण के द्वारा आत्म-साक्षात्कार और मोक्ष की प्राप्ति।

ओ३म—ये ते पवित्रमूर्मयो अभिक्षरन्ति धारया।
तेभिर्नः सोमः मृडय ॥ ऋग्वेद ९-६१-५ ॥

संसार के अन्दर तीन प्रमाण प्रधान हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। आपको मैं इन्द्रियों के द्वारा देख रहा हूँ। इन्द्रियों के द्वारा विषयों का या पदार्थों का जो अनुभव होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। एक अनुमानात्मक ज्ञान होता है, उसको इन्द्रियाँ सामने नहीं देख रही हैं परन्तु अनुमान करती हैं। इतना विशाल पर्वत जो सामने स्थित है, इसको सम्पूर्ण जगत के लोग मिल करके भी बनाना प्रारम्भ करें तो भी सम्भवतः नहीं बना सकेंगे। हिमालय को बनाना प्रारम्भ करें तो समस्त विश्व के लोग भी मिल कर नहीं बना सकते। अतः इसको बनाने वाले का अनुमान करना पड़ता है। जैसे यहाँ हम भवन आदि का निर्माण करते हैं। बड़े-बड़े बाँध का निर्माण करते हैं, वहुत कार्य करते हैं। ये सब प्रत्यक्षात्मक हैं; इनके निर्माणकर्ता का अनुमान करना होगा। यदि अनुमान से भी कोई बात सिद्ध नहीं होती वहाँ शब्द प्रमाण होता है। जैसे मैं आपको उपदेश देता हूँ। मेरे वाक्यों को आपको शब्द प्रमाण के रूप में मान लेना चाहिये, क्योंकि आपने मेरा अनुकरण करना है, मेरे पीछे चलना है, मेरे से विज्ञान प्राप्त करना है। तो तुम्हारे लिए मेरे वाक्य शब्द प्रमाण के रूप में होते हैं। यदि मेरे वाक्यों को नहीं मानते हो तो हमारे प्राचीन जितने ऋषि, मुनि, ज्ञानी हुए हैं उनके शब्दों और वाक्यों को शब्द प्रमाण के रूप में मानना पड़ेगा। महापुरुषों का शब्द या वाक्य चाहे वह बाइबिल हो, कुरान हो, वेद-शास्त्र हों अथवा अन्य ग्रन्थ में हों, पर उनको शब्द प्रमाण मानना पड़ेगा।

"लक्षण प्रमाणाभ्याम् वस्तु सिद्धिः"—लक्षण और प्रमाण से पदार्थ की सिद्धि होती है। यह जो वर्तमान संसार आपके समाने देखने में आ रहा है तीन अवस्थायें इसकी हैं।

इस वर्तमान संसार का उपादान कारण उसको कहते हैं जिसमें कोई वस्तु उत्पन्न हो, जैसे बच्चे के लिए माता का शरीर उपादान कारण है। यह मकान बना है, यह भूमि के पदार्थों से बना हुआ है अतः इसका उपादान कारण

पृथ्वी है। इस जगत का उपादान कारण प्रकृति को कहते हैं। प्रकृति हमारे सब के लिए परोक्ष-सी बनी हुई है, प्रत्यक्ष देखने में नहीं आती। वर्तमान के भौतिक विज्ञान-वादी कुछ वर्ष हुए बहुत अन्वेषण कर-कर के परमाणु तक पहुँचे थे। तब अणु विखण्डन नहीं मानते थे, क्योंकि संसार के उपादान कारण की इन अणुओं का और कोई विभाजन नहीं कर पाये थे।

इन अणुओं को कणाद ने और न्याय दर्शनकार गौतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन आदि आचार्यों ने उस परमाणु को ही संसार का एक प्रकार से उपादान कारण माना है। वे अनन्त परमाणु संघात भाव को प्राप्त होकर इस स्थूल जगत् की रचना करते हैं। जहाँ तक नैयायिक आदि आचार्य कुछ हजारों वर्ष पूर्व पहुँचे थे वहाँ तक वर्तमानवादी भी पहुँचे। इन लोगों की खोज जारी रहे, क्योंकि मनुष्य कोई भी कार्य करता हो उसमें सफलता हो जाए तो उस सफलता से ही बुद्धिमान संतुष्ट नहीं होता मूर्ख भले ही हो जाय। पुनः इन्होंने निष्क्रिय बैठकर क्या करना था और अनुसंधान करनी प्रारम्भ की। पुनः उस अणु का भी यह लोग खण्ड कर पाये विभाग कर पाये। इन लोगों ने उसको परमाणु कहा था, नैयायिकों ने भी कुछ ऐसा ही माना है। तो इन लोगों ने अणुओं का खण्ड किया उससे ऊर्जा या शक्ति निकली। पुनः इस वात पर पहुँचे कि इससे भी भिन्न इसका विभाग करने वाली चाहे वह इसके आश्रय रहती है या पृथक् रहती है यह भी निर्णय अभी तक नहीं कर पाये कि यह इसके आश्रय है, या वह इसी का कार्य विशेष है। यहाँ दो विभाग विज्ञान-वादियों के बन जाते हैं—एक विभाग तो यह भौतिक विज्ञानवादियों का दूसरा सिद्धान्त नैयायिकों का है।

न्यायमत वाले परिमाणु को परिमाण्डल्य मानते हैं। परिमाण्डल्य का अर्थ है देश-विशेष को ग्रहण करने वाला और उसको अखण्ड मानते हैं। फिर पता नहीं क्यों इनको सूझ नहीं आयी, इन्होंने वायु के, अग्नि के, जल-पृथ्वी के परमाणु मानकर आकाश को विभु माना है। आकाश को इन्होंने परमाणुआत्मक नहीं माना है। जैसे अग्नि आदि के परमाणु हैं वैसे आकाश के परमाणु नहीं माने। भौतिक विज्ञानवादियों ने भी आकाश के परमाणु न मानकर विभु माना है। मैंने तो वर्तमान का भौतिक विज्ञान पढ़ा नहीं है। हाँ, प्राचीन दर्शन विज्ञान का तो मुझे ज्ञान है। यह जो आकाश है इसको परमाणु नहीं मानते हैं, नैयायिकों ने भी आकाश के परमाणुओं को नहीं माना है।

'विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा' ॥ वैशेषिक० ७-१-२२ ॥ कणाद ने यह सूत्र दिया है। "विभवा महान् आकाश" यह आकाश विभु है, व्यापक है कैसे "तथाश्च आत्मा" जैसे आकाश विभु व्यापक है वैसे आत्मा भी विभु है। यह इन्होंने लक्षण किया। जब हम आकाश विभु मानते हैं तब वे इनके अन्दर से पार निकलता है। वह आकाश उनको यदि व्याप्त करके निकलता है तब तो इसका

खण्ड होना चाहिये क्योंकि उस परमाणु में भी देश-विशेष अवकाश या स्थान होना चाहिये। आकाश उसको पार कर निकल जाय। जब पार कर निकल जाता है। सम्भवतः यह जो ऊर्जा ढूँढ़ पाये हैं यह आकाश रूपी ऊर्जा को ही देख पाये हैं यह भी हो सकता है अथवा उस अणु की ही शक्ति विशेष सूक्ष्म अंश है किन्तु वह विस्तृत हुई इस अणु से अधिक है वह ऊर्जा जो निकलती है, उसको चारों ओर मानते हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर किरणें निकल रही हैं, चन्द्रमा और दीपक के चारों ओर किरणें निकल रही हैं, तो ऐसे ही अणुओं के चारों ओर ऊर्जा मानी है। यह भी शंका उत्पन्न होती है कि वह शक्ति इससे भिन्न है अथवा अभिन्न है नैयायिकों ने इसे भिन्न माना है। भौतिक विज्ञानवादियों ने भी, इनका अनुकरण करके भिन्न माना है। परन्तु मेरी अपनी दृष्टि में तो शक्ति उससे भिन्न नहीं है। ऊर्जा उसका ही कार्य विशेष है अर्थात् परमाणु इससे भी सूक्ष्म हैं। ऊर्जा जो निमित्त बनी है यदि उसको भी खण्ड-खण्ड किया जाय तो इसके भी टुकड़े बन जायेंगे या अंश बनेगा तो उस अणु से भी यह ऊर्जा रूप खण्ड है। इसको परम अणु कहते हैं। सबसे छोटे पदार्थ को परमाणु कहते हैं। परम कहते हैं महान् को, अणु कहते हैं छोटे को। अब वह जो ऊर्जा उसके विभाग किये जाते हैं उसके छोटे-छोटे अवश्य खण्ड बन जायेंगे। उनका भी खण्ड करें। इस प्रकार यहाँ भी एक दोष उत्पन्न होता है कि कहाँ तक उसका खण्ड करते चले जायें ?

नैयायिक आकाश तक जाकर स्थिर हो गये। आकाश का उन्होंने कोई समाधान नहीं किया, आकाश की व्याप्ति कैसे बनती है। भौतिकवादी तो अभी लगे हुए हैं क्योंकि इनको तो सभी प्रत्यक्ष यन्त्र पर होना चाहिये। यह जो मस्तिष्क रूपी यन्त्र है यह फिर बेकार हो यह जो लोहे, तांबे, पीतल के यन्त्र को बनाते हैं मस्तिष्क के द्वारा ही बनती हैं।

यह मस्तिष्क रूपी यन्त्र हैं बाहर के सहस्रों यन्त्रों को बनाती हैं। बाहर का यन्त्र तो अपनी जाति वाले पदार्थों को उत्पन्न करती हैं एक जैसे मशीन को भी जैसे मोटर आदि के यन्त्र भाग आदि हैं। एक यन्त्र अपनी जाति वाले हजारों-लाखों यन्त्रों को बनायेगी, दूसरी अपनी जाति के यन्त्रों को सहस्रों, लाखों बनायेगी। किन्तु भिन्न जाति वालों का इस प्रकार विकास नहीं होता। यहाँ इनके सिद्धान्त में जो ऊर्जा शक्ति है। योग और सांख्य वाले तो सूक्ष्मता में इससे और आगे गये हैं। इनका कथन है कि यह जो ऊर्जा है इससे भी और सूक्ष्म महान् ऊर्जा है, उस ऊर्जा से तुम्हारा सूक्ष्म जगत् बनता है वह हमारे अनुमान का विषय बनता है। वे परमाणु तक, ऊर्जा तक यह यन्त्रों से देख पाये। प्रत्यक्ष प्रमाण आँखों का विषय बना रहा।

उसके आगे का विषय अनुमान का विषय बन जाता है। पंचभूतों से आगे

का ऊपर का जो विषय है एक प्रकार से इसका ही प्रतिबिम्ब है, नेगेटिव जिसको कहते हैं।

यह सम्पूर्ण संसार सूक्ष्म जगत् इस स्थूल जगत् का प्रतिबिम्ब है। अब उस प्रतिबिम्ब के विज्ञान का आपको अध्ययन करना है जो एक प्रकार से आपके लिए परोक्ष-सा बना हुआ है प्रत्यक्ष नहीं है। यह जो प्रत्यक्ष पंच भौतिक जगत् है इसका तो साक्षात्कार प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा किया जा सकता है क्योंकि यह पाँच भूतों से बना हुआ है, अतः पंच भूतों का विषय बन जाता है।

भौतिक विज्ञान के द्वारा और पदार्थों के द्वारा इस भौतिक जगत् का अध्ययन किया जा सकता है और प्रत्यक्ष किया जा सकता है। दृश्यमान् जगत् का प्रत्यक्ष तुम्हारे इस शरीर की इन्द्रियों द्वारा हो जायेगा। परन्तु आत्मा तो प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता और परमात्मा भी नहीं आता। यह इन्द्रियाँ नहीं बतलातीं कि परमात्मा इस पर्वत को बनाने वाला कहाँ रहता है। यदि यह बतलातीं तो इन भौतिकवादियों ने भगवान् को कभी का पकड़ लिया होता। पूछ बैठते कि कैसे बनाते हो बताओ ? अतः उनको भी इस प्रकार का ज्ञान नहीं है, यह सम्पूर्ण प्रत्यक्ष का विषय हो जाता है जो तुम अध्ययन कर रहे हो, ज्ञान कर रहे हो। या तो तुम प्रत्यक्ष को ही मानो, अनुमान नाम की कोई नहीं, शब्द प्रमाण नाम की कोई वस्तु नहीं। यदि अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण नाम की कोई वस्तु नहीं होती तो वर्तमान के भौतिकवादी हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रंथों को क्यों पढ़ते हैं ? क्यों इनसे विज्ञान प्राप्त करते, उनके ग्रन्थ तो अनुमानात्मक, शब्दात्मक प्रमाण हैं। ऐसे ज्ञान कर लिया करें, अपनी इन्द्रियों से ज्ञान कर लिया करें। तुम तो सब प्रकार से प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानते हो। अनुमान और शब्द प्रमाण की कोई वस्तु ही तुम्हारी दृष्टि में नहीं है और पुनः हम यह पूछते हैं इतना विशाल सूर्य-मण्डल है, नित्य यहाँ से जाकर वहाँ छिपता है, इसको चक्कर कौन दे रहा है ? इसको चक्कर देने वाला वह भी अनुमान का विषय है जिस वस्तु को यह इन्द्रियाँ नहीं बताती हैं उसको अनुमान प्रमाण बतायेगा।

अनुमान प्रमाण सूक्ष्म जगत् को बताया है, इसको रचने वाले को बताना है किसने रचा है अथवा यह चन्द्रमा आदि को बताना है किसने सृजन किया है, यह पर्वत कौन बना गया ? बताना है जो अनुमान प्रमाण है वह सूक्ष्म जगत् को बतायेगा। जहाँ वह अणु से ऊर्जा निकल कर बाहर आयी है, एक छोटे से अणु से इतनी विस्तृत ऊर्जा निकलती है, वह है तुम्हारा सूक्ष्म जगत् का विषय। इस ऊर्जा उसके अनेक खण्ड-खण्ड किए जायें वह वास्तविक में परमाणुआत्मक या पंच तन्मात्रिक स्थूल भूतों का उपादान कारण है। ऊर्जा शक्ति के द्वारा ही तुम्हारा सूक्ष्म शरीर, मन, बुद्धि आदि बने हैं। तुम्हारे सूक्ष्म शरीर में मन और बुद्धि जिसको परलोक की बात कहते हो जो धर्माधर्म संस्कार लेकर चलती है।

ईसाई भी स्वर्ग को मानते हैं, वहाँ स्वर्ग से सुखों का भोग मानते हैं और मुसलमान भी जन्नत को मानते हैं, वे भी नाना प्रकार के सुखों का भोग मानते हैं। हिन्दू भी इस प्रकार का स्वर्ग मानते हैं। तो यह सब अनुमानात्मक बातें हैं क्योंकि यदि प्रत्यक्ष में इनके स्वर्ग लोक होते हिन्दुओं, ईसाइयों, मुसलमानों के, तो व्योम-यान बन गए थे वे वहाँ चले जाते। उसमें जो दूसरा लोक कहते हैं दृश्यमान् जगत् अव्यक्त है। एक और इसके आगे जो तीसरा है यह अव्यक्त है। सूक्ष्म जगत् एक प्रकार से इसका ही प्रतिबिम्ब इसी की ही छाया विशेष या इसकी शक्ति विशेष है। यह जितने भी तुम्हारे दृश्यमान पदार्थ हैं प्रत्येक की आकृति आकाश-मण्डल में स्थित हुई है। जैसे छाया के भीतर समस्त चित्र निहित रहते हैं वैसे आकाश-मण्डल में प्रत्येक पदार्थ के प्रतिबिम्ब, फोटो, अक्स ठहरे हुए हैं। उनका सीधा सम्बन्ध बना रहता है तुम्हारे साथ योगियों, ज्ञानियों सभी इस अनुमान प्रमाण के स्वर्ग को मानते हैं। मेरे विचार में अब चार अरब के लगभग जनसंख्या है। उन चार अरब में साढ़े तीन अरब लोग तो इस स्वर्ग को मानते भी हैं, इस अनुमान प्रमाण को भी और सूक्ष्म जगत् को भी।

यह समस्त अनुमान का विषय हो जाता है। अब आपने ध्यान की अवस्था में इस अनुमान के विषय का अध्ययन करना है, पढ़ना है। इस भौतिक जगत् से उठकर इस शरीर से भी ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर में स्थित होकर सूक्ष्म शरीर का अध्ययन करना है। जैसे सम्पूर्ण जीवन भौतिक विज्ञानवादियों के अध्ययन करते हुए इस स्थूल जगत् को हो रहे हैं। तब भी पार नहीं पाते। इसी प्रकार योगी भी सूक्ष्म जगत् का अध्ययन करते हैं। समाधि की अवस्था में, खोज करते हैं। अनुमान को भी प्रत्यक्ष करते हैं। कैसे अनुमान को प्रत्यक्ष करते हैं? मान लो कई दिन से गंगा में मिट्टी वाला जल आ रहा था। सेवक जल नहीं लाता था मिट्टी आ गयी है इसलिए। हम अनुमान कर रहे थे कि भाई, कहीं वर्षा अवश्य हुई होगी अथवा कोई पर्वत गिर गया, उसकी मिट्टी गंगा में बहती आ रही होगी। तो यह अनुमान का विषय हो जाता है। यदि उत्तरकाशी, गंगोत्री की ओर जाकर देख लेते तो पता लगता कि यह कोई पर्वत गिरा है अथवा वर्षा हुई है। जो अनुमान का विषय बना था वह प्रत्यक्ष हो जाता है।

योगी इस प्रकार के सूक्ष्म जगत् का अध्ययन करता है कि यह मन, बुद्धि सूक्ष्म शरीर भी कोई है या नहीं। स्वर्ग लोक में जाने वाला यह स्थूल शरीर है अथवा और भी कोई सूक्ष्म शरीर है इसलिए क्योंकि ईसाई, मुसलमान भी इस स्थूल शरीर को कब्रों में दबाते हैं। हमारे हिन्दू जला देते हैं। स्थूल शरीर तो इधर ही समाप्त होता है। तो वहाँ जो जाने वाला है और कोई सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म जगत् में उसको सभी मानते हैं। उस विज्ञान का तुमने अध्ययन करना है, खोजना है, समझना है। श्रवण के द्वारा अब जो हो रहा है। अब ध्यान की स्थिति में मनन,

निदिध्यासन और साक्षात्कार इन तीन बातों के द्वारा तुमने अनुमान के विषय को भी प्रत्यक्ष करना है।

जैसे यहाँ प्रत्यक्ष में भी भ्रान्ति हो जाती है वैसे अनुमान में भी भ्रान्ति हो जाती है। अब जैसे एक शरीर का विज्ञान है, जिसके विषय में अब इस समय वर्तमान समय में लाखों डाक्टर लोग अध्ययन करते हैं। प्रत्यक्ष में भी नाना प्रकार का विचार-भेद डाक्टरों को हो जाता है। एक रोग को एक कुछ कहता है, दूसरा कुछ कहता है तीसरा कुछ और ही कहता है। तीनों की एक सम्मति नहीं हो पाती। ऐसे ही प्रत्यक्ष में भ्रान्ति हो जाती है। निर्णय नहीं कर पाते दस व्यक्ति मिल कर प्रत्यक्ष विज्ञान को भी या और भी प्रत्यक्ष में भ्रान्ति हो जाती है। मैं कभी-कभी ऊपर खड़ा होता हूँ। अब कुछ नेत्र-दृष्टि मन्द हुई है, दूर की वस्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देती है। गंगा के उस पार की ओर देखता हूँ तो वहाँ बड़े-बड़े पत्थर पड़े हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ कोई व्यक्ति बैठे होंगे। हो गयी न अब प्रत्यक्ष में भ्रान्ति? तो पर्याप्त देर तक वे न हिलते हुए देख कर निर्णय करता हूँ वे व्यक्ति नहीं पत्थर ही हैं। कभी वहाँ इतस्ततः लोग वस्त्र सुखा देते हैं। प्रतीत होता है वहाँ कोई बकरी, भेड़ चर रही हों। इस प्रकार की भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार अनुमान विज्ञान में भी भ्रान्तियाँ होती हैं। अतएव अनुमान प्रमाण के ज्ञान के अनेक सम्प्रदाय बन गये। जितने विद्वान् प्राचीन आचार्य हुए सब अपने-अपने भिन्न-भिन्न विचार एक ही भगवान् के विषय में भिन्न-भिन्न रूप से अपनी-अपनी सम्मति देते आए हैं, तो अनुमान में भी भ्रान्ति हो जाती है। अतः जो हमारे साधारण व्यक्तियों के लिए विद्वान कह देते हैं चाहे वे असत्य ही अपने विचार कह दें, किन्तु मान लेते हैं कि भाई वे विद्वान हैं, अधिक पढ़े-लिखे हैं, उनकी बात मान लेनी चाहिए। भले वे गलत निश्चय कर बैठे हों। इस प्रकार गलतियाँ भ्रान्तियाँ परम्परागत चलती हैं उनके शिष्य-शिष्याओं में। अतः "श्रुतियों विभिन्नः स्मृतियों विभिन्न नैको ऋषिर्यस्य मतम् प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्वं निहितम् गुहायाम् महा जनो गतः स पन्थाः।" यह जो तत्त्व विज्ञान है यह कुछ ऐसा छिपा हुआ है इसका सत्य निर्णय करने वाला कोई विरला ही होता है। कुछ ज्ञान से बाहर की बातें हैं।

अब यहाँ मेरे समीप बैठे हो दस-बीस-पचास लोग मेरी बातों को आप बड़ा महत्त्व देते हो, उधर दूसरे योगी के पास दस-बीस-पचास लोग बैठे हों वे उनके वाक्यों को बड़ा महत्त्व देते हैं। यद्यपि हमारा दोनों का परस्पर संवाद होता है तो वे अपने विचार को सत्य कहते हैं, मैं अपने विचार को सत्य कहता हूँ, आप अपने विचार को सत्य कहते हो। तो अब इसका भी निर्णय करने वाला होना चाहिए। अनुमान भी भ्रान्तियात्मक हो जाता है।

स्वर्गादि के विषय में भी अनेक भ्रान्ति ज्ञानियों के लिए हो गयी हैं जो

भौतिक जगत् से ऊपर उठ गये हैं, अध्यात्म ज्ञान में सूक्ष्म जगत् में अध्ययन करते हैं उनमें भी भ्रान्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं और एक दूसरे सूक्ष्म जगत् का अध्ययन करते हैं जहाँ सूक्ष्म शरीर ही आकाश में गमन करने वाला होता है, जहाँ सूक्ष्म ही सब पदार्थ उसके लिए संसार में जैसे प्रतिबिंब ठहरते हैं छाया के रूप में ये समस्त पदार्थ जितने यहाँ आकर मण्डल में सबके प्रतिबिम्ब पड़कर सब के तद्रूप आकृतियाँ वर्तमान होकर ठहरी हुई हैं। सूक्ष्म जगत् वाले उसका उपभोग करते हैं वह तुम्हारे प्रतिबिम्ब होकर सूक्ष्म जगत् में पड़े हैं या स्थिर हैं। सूक्ष्म जगत् का अध्ययन, उसका ज्ञान, उसका भोग दस इन्द्रियों के द्वारा होता है, वहाँ दस इन्द्रियाँ सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहती हैं।

एक इसमें भी ऊपर का जगत् है क्योंकि परमात्मा तो इन्द्रियों के भोग का विषय बनेगा नहीं, यदि इन्द्रियों के भोग का विषय बनता तो यहाँ भी इन्द्रियाँ परमात्मा का उपभोग स्थूल रूप में करतीं। जब यहाँ यह इन्द्रियाँ उसके होते हुए भी परमात्मा का उपभोग नहीं करतीं। वैसे वहाँ सूक्ष्म जगत् में जाकर भी सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा जीवनमुक्त व्यक्ति के सदृश सूक्ष्म भोग उपभोग करेंगे। जैसे स्थूल इन्द्रियों के यहाँ स्थूल विषय हैं वैसे ही वहाँ सूक्ष्म इन्द्रियों के सूक्ष्म विषय मानने पड़ेंगे जिनको सूक्ष्म भूत या सूक्ष्म परमाणु अथवा तन्मात्रा कहते हैं। वहाँ भी सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा वहाँ के भोग सब सूक्ष्म शरीरधारी करते हैं। हिन्दू, ईसाई, मुसलमान सभी जो स्वर्ग को मानने वाले हैं, यह सब इन्द्रियों के ही भोग मानते हैं।

इसके ऊपर और भी जगत् मानना पड़ेगा। अब इस प्रकार के जगत् का अध्ययन और ज्ञान तो समाधि की अवस्था में आप यहाँ भी कर सकते हो। जब इस स्थूल शरीर का भान तुम्हारी समाधि में चला जाय और अपने को हल्का-फुल्का सूक्ष्म-सी स्थिति जैसे मैं आकाश में ही स्थित हुआ हूँ ऐसी स्थित आपकी आ जाय तो वहाँ सूक्ष्म जगत् का अध्ययन सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा ही हो जाता है। समाधि की स्थिति में बैठे-बैठे सूक्ष्म शरीर के द्वारा सूक्ष्म जगत् का उपभोग किया जा सकता है, जब सूक्ष्म शरीर तुम्हारे भीतर वर्तमान है, सूक्ष्म विषय भी और पंच-तन्मात्रा भी इस आकाश-मण्डल में वर्तमान हैं।

इससे ऊपर एक ओर जब आपको न तो कोई रूप वाली न कोई शब्द वाली न कोई सुनने वाली, किसी इन्द्रियों का विषय समाधि में नहीं आता, केवल आपको शान्ति और आनन्द की बात आती है, यह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है। शान्ति और आनन्द चित्त का ही धर्म है। इन्द्रिय के विषय का उपभोग जो है वह सुख और दुःखात्मक होता है, जैसे दिन और रात इकट्ठे हैं वैसे इन्द्रियों के उपभोग हैं। सुखात्मक तृप्ति तब हो जाती है विषय का भोग होते-होते तब सुख माना जाता है। बड़ा तृप्त हो जाता है अति स्वादिष्ट भोजन खाकर बड़ा सुख होता है, तृप्ति होती है। यहाँ भी भोग भोगा और बड़ा तृप्त हो गया है। ऐसी तृप्ति आनन्द की बात

नहीं होती है। परन्तु एक ऐसी गहन-सी अवस्था तुम्हारे इतने महीने, वर्ष हो गये मेरे सामने साधना करते-करते, कभी दस पाँच मिनट को भी आ जाती होगी ? पूर्णतया कोई दर्शन की बात नहीं, श्रवण की बात नहीं, कोई स्पर्श की बात नहीं, एक अद्वितीय आनन्द की बात होती है। एक अद्वितीय निरन्तर धारा प्रवाह, शान्त सी अवस्था आती है। यह जो इस प्रकार की अवस्था सी आती है वह कारण शरीर में चित्त की अवस्थायें हैं, बुद्धि की अवस्था नहीं। बुद्धि तो विषयों का विवेचन कर दस इन्द्रियों को बतलाती है। वहाँ दस इन्द्रियों का विषय नहीं होता, शान्ति और आनन्द की स्थिति में केवल चित्त का ही विषय रहता है। जब चित्त के द्वारा आत्मा का अध्ययन करता 'अस्मि-अस्मि' तब तो शान्ति का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता है। मैं हूँ बस उससे भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं। क्योंकि संयोग से हर्ष की प्राप्ति होती है। किसी भिन्न, सहेली, दोस्त, सखी से मिलना है, ऐसे आलिंगन करके अति हर्ष होता है, अति आनन्द सा-आता है, इस प्रकार अन्य किसी के साथ मिलकर परमात्मा को अपने से भिन्न समझकर उसके साथ मिलकर एक विशेष हर्ष, उल्लास की आनन्द की अनुभूति होती है वह भी चित्त के द्वारा ही होती है।

ये दो अवस्थायें हैं जो चित्त के ही धर्म हैं, कारण शरीर में ही होते हैं, इन्द्रियों की बात वहाँ कोई नहीं होती। यह तीसरा जगत् है प्रकृति का तीसरा रूप है और अंतिम रूप है, इस प्रकार से इन तीन अवस्थाओं में प्रकृति भी समाप्त हो गयी आगे कुछ शेष नहीं रहा। इस अवस्था में पहुँचकर भी तीसरी अवस्था में ध्याता, ध्यान और ध्येय यह तीन त्रिपुटी बनी रहती है। अब ध्याता तो हम कहेंगे आत्मा को, और ध्यान कहेंगे चित्त के द्वारा आनन्द का अनुभव को क्योंकि बिना करण के आनन्द का उपभोग नहीं होगा। इस आत्मा का वह चित्त रूपी कारण वर्तमान है परन्तु चित्त भी तो उत्पन्न हो कर आया है कहीं से। इसके पश्चात् है ध्येयस्वरूप स्थिति या मोक्ष।

अब जब कि संसार की प्रलय होने जा रही है, चित्त अपने कारण में जाना है, तब बताओ हमें कहाँ जाना होगा ? चित्त भी हमारे से छिन गया उसके आगे और भगवान् के समीप चले जायें तो वहाँ चित्त तो होगा नहीं, उस शान्ति का आनन्द का उपभोग हम किसके द्वारा करेंगे क्योंकि चित्त तो हमारे से चला गया, उस अवस्था को मैं नहीं जानता, वह अवस्था क्या होगी ? मैं तो वहाँ तक ही कह सकता हूँ, बतला सकता हूँ जहाँ तक चित कार्य कर रहा है, आगे की तो अनुमान की बात ही बनेगी अथवा शब्द प्रमाण की बात बनेगी। अब यहाँ चित्त नहीं होगा, प्रकृति में लीन हो जायेगा। यदि कहीं मैं वहाँ चला भी गया तो चुप कर अकेला ही बैठना पड़ेगा। भाई, यहाँ मेरा साधन तो रहा नहीं परमात्मा के साथ सम्बन्ध कर किंचित् उसका आनन्द लें, कोई पदार्थ भोगने वाला नहीं रहा, त्रिपुटि समाप्त हो जाती है, ध्याता, ध्यान ध्येय सम्बन्ध विलीन हो जाता है, जब ध्यान भी समाप्त

हो गया तो ध्येय भी न रहने के सदृश हो जाता है केवल ध्याता ही रह जाता है।

अतः आगे की भी एक चौथी अवस्था है। वह अनिर्वचनीय अवस्था है। उसके विषय में भी मैंने अपने प्राण विज्ञान नामक ग्रन्थ में विचार प्रस्तुत किया है। उस में विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है, वह भी एक ऐसी अवस्था है सदा प्रत्येक पदार्थ का प्रत्यक्ष पूर्वक ही अनुमान का विषय हुआ करता है, प्रत्यक्ष पूर्वक ही शब्द प्रमाण होता है। पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं है उसको जैसे घोड़े के सीगों का प्रत्यक्ष नहीं है, उसका अनुमान भी कोई नहीं करेगा, शब्द प्रमाण भी कोई नहीं कहेगा। जिसका प्रत्यक्ष ही नहीं है उसका न अनुमान होगा न शब्द प्रमाण होगा, विद्वान् भी नहीं कहेंगे, अनुमान भी नहीं होगा। इसलिए क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष अनुभव किया इस समाधि की स्थिति में चित्त के द्वारा। अब शेष का आगे जब चित्त नहीं रहेगा, अनुमान का विषय भी न होगा। अतः वहाँ से कोई लौटकर आज तक आया नहीं, जितने चले गये उस अवस्था में किसी ने आकर बतलाया नहीं। आँखों देखा समाचार ही नहीं सुनाया आकर। हिन्दू कृष्ण की प्रतीक्षा कर रहे हैं, ईसाई क्राइस्ट की, मुसलमान मोहम्मद की, बौद्ध बुद्ध की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि आ जायें कभी बतलायें।

व्याख्यान-९१

मन और बुद्धि के साक्षात्कार के भिन्न-भिन्न उपाय और इनके वास्तविक स्वरूप की अनुभूति ।

ओ३म्—अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मेराध्यताम् ।
इदमह मनृतात् सत्य मुपैमि ।। यजुर्वेद १-५ ।।

मुझे योग साधना कराते हुए कम से कम ६० वर्ष हो गये हैं । प्राय: जितने साधक आते हैं, सब यही प्रश्न करते हैं कि मन वश में नहीं होता । मन के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं है । केवल खोखले विचार उत्पन्न होते रहते हैं । मन क्या चीज है, उसका कुछ ज्ञान नहीं । जिसमें यह विचार उत्पन्न हो रहे हैं, यदि उसी का ज्ञान नहीं है तो उस पर नियन्त्रण कैसे करेंगे ? जब तक मन के स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, कि मन क्या वस्तु है, कहाँ यह विचार उत्पन्न हुए हैं और किसमें होते हैं, तब तक यह बात नहीं बनेगी । जीवन में जाग्रत अवस्था में और कोई ऐसी स्थिति नहीं आती है जब कुछ न कुछ विचार न उत्पन्न हो रहे हों । यदि दो घण्टे जाग रहे हैं अथवा १६ घण्टे जाग रहे हैं तो मन कुछ न कुछ करता रहेगा । कुछ न कुछ चिन्तन बना ही रहेगा । आत्मा के साथ शरीर का एक प्रकार से नित्य सम्बन्ध या प्रत्येक क्षण का सम्बन्ध बना हुआ है । इसमें कुछ न कुछ क्रिया, व्यापार, गति, कर्म उत्पन्न होते रहेंगे । जब आप समाधि की गहन अवस्था में प्रवेश करते हो, आत्मा का अथवा परमात्मा का चिन्तन करते हो, यह भी एक विचार ही है । केवल विषयों के साथ सम्बन्ध के जो विचार हैं वे आपको दुख:दायी व क्लेश का हेतु प्रतीत होते हैं । जब योगी ऊँची अवस्था में पहुँच जाता है तो समाधि-जन्य ज्ञान संस्कार भी विक्षेप का हेतु प्रतीत होने लगते हैं । चौबीस घंटे वह भी तो परमात्मा के साथ जुड़ा नहीं रहेगी । प्रत्येक क्षण वहाँ भी निरोध और व्युत्थान होता रहेगा । सम्बन्ध और विच्छेद होता रहेगा । कोई ऐसी अवस्था मेरे जीवन में तो आयी नहीं, बड़े साधन किये तो भी नहीं आई ।

रही निद्रा की बात, निद्रा को भी दर्शनकारों ने वृत्ति माना है, क्योंकि निद्रा में भी सुख-दु:ख की अनुभूति होती है । जाग्रत, स्वप्न, निद्रा सब वृत्यात्मक हैं । कोई अवस्था ऐसी नहीं आती जब वृत्तियों का अधिकारपूर्वक सर्वथा निरोध हो गया

हो। वृत्ति स्वाभाविक धर्म है। स्वाभाविक धर्म को निरोध नहीं किया जा सकता है, कितने ही वर्षों के उपरान्त चिन्तन तथा विचार करके इसी निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यह वृत्तियाँ इनके स्वाभाविक धर्म ही हैं। आँख खुली रहेंगी तो वह रूप को देखेंगी ही, कान खुले रहेंगे तो शब्दों को सुनेंगे ही, प्रत्येक समय प्रतिदिन यही पाठ पढ़ाया जा रहा है कि विषय दुःख का हेतु है। भोग भी दुःख का हेतु है। भोग सुख का हेतु भी है। यह एक औषधि है। यदि इसको युक्ति से सेवन किया जाये तो जीवन को सार्थक बनाने वाली होती है। संखिया घातक होता है, किन्तु यदि इसको भस्म करके थोड़ी-सी मात्रा रोगी को खिलायी जाये तो अनेक रोगों का निवारण भी करता है।

अब हमें मन के स्थान को समझना है। इसके स्वरूप को समझना है। यही बात आत्मा और परमात्मा की भी है। न किसी ने आत्मा को देखा है न परमात्मा को ही। केवल विद्वान् लोग इसके विषय में चर्चा करते हैं। शब्द प्रमाण सिद्ध करता है कि परमात्मा है तथा अनुमान भी होता है कि परमात्मा का अस्तित्व है, क्योंकि संसार की रचना उसके बिना कोई नहीं कर सकता है। जब कोई कार्य है तो उसका कर्ता भी मानना पड़ेगा। सृष्टि की रचना है तो उसका रचयिता अवश्य होना चाहिये। शब्द प्रमाण और अनुमान प्रमाण की बात सब के सामने है। अब मैं जो व्याख्यान दूँगा वह आत्मा के विषय में होगा। मैं आत्मा और परमात्मा के विषय में क्या समझा हूँ वह बताऊँगा, दुनिया चाहे कुछ भी समझती रहती हो।

मन के केवल दो ही धर्म हैं: संकल्प तथा विकल्प। संकल्प और विकल्प मन के स्वाभाविक धर्म हैं। संकल्प का अर्थ है—यह है, विकल्प का अर्थ है—यह किस प्रकार से है और कैसे है। यह संकल्प और विकल्प स्वतः होते रहते हैं, जितने निर्णयात्मक अथवा निश्चयात्मक कर्म हैं यह बुद्धि के धर्म हैं।

आपके मस्तिष्क में बुद्धि ज्ञान-प्रधान है, मन कर्म-प्रधान है। मन स्वाभाविक रूप से तो ज्ञान-प्रधान भी है। क्योंकि यह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों दोनों को नियोजित करता है। इस प्रकार से मन के दो प्रकार के धर्म हैं, एक तो नियोजित कर देना या सम्बन्ध बना देना है, दूसरा बाह्य ज्ञान को बुद्धि को समर्पित कर देना। इसी प्रकार हृदय में चित्त और अहंकार के भी दो धर्म रहते हैं। जिस प्रकार मन इन्द्रियों के विषय को पकड़ कर उनका निर्णय कराने के हेतु बुद्धि को दे देता है, इसी प्रकार बुद्धि में विशेष रूप से प्रधान-प्रधान संस्कार होते हैं वे मस्तिष्क में रहते हैं, सूक्ष्म संस्कार रूप अथवा बीज रूप से जो संस्कार रहते हैं उनको अहंकार ग्रहण कर लेता है, और अहंकार इनको चित्त को समर्पित कर देता है। जो संस्कार चित्त में पड़े होते हैं, उनको बुद्धि को दे देता है। हृदय से मस्तिष्क तक या मन और अहंकार के बीच सूक्ष्म धारा सी बनी रहती है, मन विचारों और संस्कारों का प्रक्षेपण नीचे की ओर करता है। उनको अहंकार ग्रहण करके चित्त

के भीतर घुल-मिल जाता है वहाँ अपनी छाप-सी बिछा देता है। अनन्त संस्कार सूक्ष्म रूप से करोड़ों परमाणु के एक समुदाय के समान चित्त में पड़े रहते हैं। चित्त-मण्डल भी एक प्रकार का संस्कारों का ही समुदाय है, जहाँ जाकर संस्कार प्रसुप्त-सी अवस्था में रहते हैं। इन सब बातों का ज्ञान तो साधारण व्यक्तियों को नहीं होता। स्थूल रूप से आप लोगों को बहकाने की बात सी बनी रहती है। साधारण बुद्धि के लोग किसी को मन्त्र-जाप करने के लिए कहते हैं किसी को ज्योति का साक्षात्कार करने में लगा देते हैं, परन्तु आत्मा और परमात्मा के साक्षात्कार के विषय में तो सब अँधेरे में ही भटक रहे हैं।

सूक्ष्मता की दृष्टि से तो आत्मा-परमात्मा से सूक्ष्मतर कोई वस्तु नहीं है। इतने सूक्ष्म पदार्थ के निकट हमें पहुँचना है। इतना ही नहीं उस पर तीनों शरीरों के आवरण पड़े हुए हैं। यदि आत्मा को हृदय में एकदेशी मानते हो, जैसे बहुत-से आचार्यों ने उसको कण के रूप में माना है। उपनिषद्कारों ने बाल के अग्रभाग का सौवाँ भाग माना है पुनः उसका सहस्रवाँ भाग माना है। इतना सूक्ष्म है वह आत्मा। भला इतना सूक्ष्म आत्मा यदि तुम्हारे अन्दर चिपका हुआ हो तो वहाँ कहाँ और कैसे उसे ढूंढ सकोगे? जहाँ लाखों-करोड़ों परमाणु जैसे संस्कार चित्त के भीतर पड़े हुए हैं वहीं आत्मा भी है, उन असंख्य परमाणुओं के मध्य उसको कैसे ढूंढ सकोगे? जहाँ करोड़ों सजातीय परमाणु एकत्र हुए हों उनमें एक विजातीय परमाणु पड़ा हो तो उसको कैसे ढूंढ पाओगे? यदि उसको अणु मानोगे तो उसको वहाँ कैसे ढूंढ पाओगे? इतनी सूक्ष्म बुद्धि सर्वसाधारण की नहीं होती। पढ़े-लिखे की बात नहीं, साधना की बात नहीं। मैं भी तो अभी अपने को अधूरा-सा ही मानता हूँ इस विषय में और इस ऊहा-पोह में लगे हुए इतने वर्ष हो गये। हमारे साधक लोग हमारे समीप आकर कहते हैं कि जैसे आपके गुरु ने आपके सिर पर हाथ रख दिया था और आपको प्रकृति, जीवात्मा तथा ब्रह्म का साक्षात्कार हो गया था, उसी प्रकार आप भी अपना हाथ हमारे सिर पर रख दें जिससे हमें भी समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त हो जाये। परन्तु हमारे भोले शिष्य इस बात को विस्मरण कर जाते हैं कि हम कितने वर्षों से भटकते रहे थे। कितनी कठिन तपस्या की थी, हमें तो केवल थोड़ा अभी किंचित् विश्राम मिला, वरना हम तो सदा भगवान् के लिए परेशान ही रहे। अब उसकी वास्तविकता कुछ समझ में आयी है। इतना सूक्ष्म और सर्वव्यापक पदार्थ एक प्रकार से चित्त और बुद्धि का ही विषय बनेगा और वह भी अति सूक्ष्म और गहन अवस्था में जाकर बनेगा। वह भी तब बनेगा जब स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में उसको ढूंढ पायेगा। इतना ज्ञान सर्वसाधारण को कहाँ होता है। जब से सृष्टि चली आ रही है, केवल गिनती के ही महापुरुषों ने आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान लाभ किया है। प्रमाणात्मक हमारे सामने बने हुए हैं। अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ आत्मा और

परमात्मा के विषय में अभी भी बनी हुई हैं।

दो प्रकार के विचार होते हैं—एक अनुकूलात्मक, दूसरे प्रतिकूलात्मक। जो प्रतिकूलात्मक विचार हैं, विरोधी विचार हैं, उनको रोकना चाहिये। यदि अनुकूल विचार उत्पन्न हों और उनका चिन्तन होता रहे तो उत्तम है। उनका चिन्तन करो और अपनी समाधि का विषय बनाओ। उस विषय के अतिरिक्त शेष सब विषय भूल जाना चाहिये और चिन्तन उसी विषय का होना चाहिये। आप लोगों को अपने मन को ऐसा बनाना चाहिये कि जिस पदार्थ को या जिस विषय को लो उसी का चिन्तन करना, दूसरे का भान ही न हो। तुम्हारा इतना ही अधिकार अभी तक नहीं हो पाया। मोटी वस्तु पर ही अधिकार नहीं हो पाया तो इतने सूक्ष्म आत्मा और परमात्मा को कैसे ढूंढ लोगे ? अभी तो बुद्धि और मन के स्वरूप का ही ज्ञान नहीं हुआ तो इससे सूक्ष्म चीज को कैसे देख सकोगे ? आँखें वन्द करोगे तो थोड़ी देर में प्रकाश सामने आ जाता है, इसी को लोग सूक्ष्म नेत्र समझने लग जाते हैं। परन्तु आँख खुली हो फिर भी मस्तिष्क में प्रकाश दृष्टिगोचर हो, कोई ज्योति दिखाई दे, तब तो ठीक है अन्यथा सब भ्रांतियाँ ही हैं। मन को मन्त्र आदि में अथवा प्राणायाम आदि में लगाये रखते हैं, यह सब स्थूल बातें हैं, मनोरंजन हेतु हैं। जैसे बच्चे रोते हैं, माता खिलौने दे देती है, यह खिलौने देने वाली बात है। शेष विज्ञान की बात बहुत दूर है बहुत लम्बी है।

पुनः वैराग्य की भी आवश्यकता है। यह वैराग्य दृढ़ ही नहीं हो पाता, राग का अभाव ही नहीं होता। यह राग ही तो है कि इतने समस्त परिवारों को लेकर बैठा हूँ। राग के कोई सींग-पूँछ थोड़े ही होती है। एक गृहस्थी का अपने चार बच्चों के साथ में राग है, मुझे आश्रमवासियों के साथ है, राग का अभाव कहाँ हुआ ? कल मेरी मृत्यु हो जाय तो सबके राग को ही तो लेकर जाऊँगा। राग भी स्वाभाविक ही है तथा निवृत्ति भी स्वाभाविक है, ये समस्त वस्तुयें स्वाभाविक ही लेकर आये हैं। मन की चंचलता भी स्वाभाविक ही लेकर आये हैं अतः सर्वथा निरोध नहीं होगा। हाँ, एक स्थान पर लगा दो, उसी का चिन्तन, मनन करते रहो, यह तुम्हारी समाधि का विषय बनेगा, समाधि तुम्हारी यह होगी कि किसी एक पदार्थ को ले लो अथवा शरीर को ले लो अथवा कोई सांसारिक पदार्थ को ले लो, व्यापार को ले लो, वही समाधि का विषय बन जायेगा। पंच भूतात्मक भी समाधि होती है, आत्मा-परमात्मा में भी समाधि होती है। किसी एक पदार्थ को ले लो, उसी को विचारते रहो, उसी का मनन, निदिध्यासन, साक्षात्कार हो यह बात आपने सीखनी है।

मन को तो इसी प्रकार रहना है। जहाँ ये विचार उत्पन्न हो रहे हैं उस स्थान को ढूंढ लो। मैंने बहुत वर्षों के अध्ययन और अभ्यास से मस्तिष्क में यह समझ लिया है कि मन का स्वरूप और बुद्धि का स्वरूप कैसा है, इनके आकार-

प्रकार क्या हैं, कैसे इनमें विचार उत्पन्न होते हैं, कैसे निर्णय होते हैं ? जब तक आपको मन और बुद्धि के स्वरूप की बात समझ में नहीं आयेगी आकार-प्रकार, स्थान, इनके निर्णय इनके कर्म-व्यापार नहीं समझ में आयेंगे और तब तक इनका निरोध नहीं होगा। कुछ न कुछ सोचते रहोगे। यदि विचारपूर्वक आपका मन शान्त नहीं होता तो हठपूर्वक और बल से शान्त करना चाहिये। जिस समय अभ्यास में बैठोगे तो अपने मस्तिष्क को ढीला-सा छोड़ दें और मन-बुद्धि को इसके साथ में ही चिपका दें। जैसे जिस काल निद्रा की अवस्था में प्रवेश करते हो तब प्रत्येक दिशा से विचार रुकने से लगते हैं, स्वाभाविक ही निरुद्ध-सा होने लगते हैं। मानो एक अंधकार की ओर जा रहा हो, एक पृथक् अनिर्वचनीय-सी अवस्था में जा रहे हो इस प्रकार सब बाहर के विचार शान्त होते चले जाते हैं। उसके लिए आचार्यों ने कहा है—"स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनंवा"॥ योग १-३८ ॥ स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला चित्त भी स्थिर-एकाग्र हो जाता है। ध्यान की अवस्था में निर्विषय बुद्धि और मन को जब बनाने लगते हो तब ध्यान बनता है और उसे ही ध्यान कहते हैं। "ध्यानम् निर्विषयं मनः" ॥ मन का निर्विषय हो जाना मन के अन्दर न तो इन्द्रियों के विषयों की ओर प्रवृत्ति हो और न अपने विषयों की ओर प्रवृत्ति हो।

मन-बुद्धि के भी अपने विषय हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष यह सब इसके विषय हैं। मन इनमें रमण करता रहता है। यह विषय भी उस काल में उत्पन्न न हों। इन इन्द्रियों के विषयों को मन के विषयों को हटा कर उसको खड़ा सा कर देना है, किसी एक ओर लगाना है। इन्द्रियों और मन को विचारों से हटा-कर परमात्मा का दर्शन करने का यत्न करें। वह सुनी-सुनाई बातें नहीं हैं अथवा परमात्मा के प्रति गलत धारणा भी नहीं है। यह बात यदि समझ में आ जाय तो उस परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान किसी भी वस्तु को लेकर परमात्मा के समीप एक क्षण में पहुँचा जा सकता हैं। जब तक उसका ज्ञान नहीं होता है, उसकी अनुभूति नहीं होती, तब तक वह दूर सा ही रहता है।

उसके निकट जाने के लिए हमने अभ्यासियों को अनेक साधन बताये हैं। प्राण को भी लेकर चल सकते हो जैसे श्वास-प्रश्वास की गति चल रही है, इसको तुम पकड़ कर हृदय तक ले जाओ। इसका जो गमनागमन साथ हो रहा है, रक्त का प्रक्षेपण हो रहा है, वह सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत होकर पुनः लौट कर आ जाता है। इसी के साथ तुम अपने मन को लगाओ। जैसे आँखें आप सबको रूप दिखा रही हैं। ऐसे ही प्राण भी स्पर्श करके पदार्थ के रूप को बताता है। इससे चित्त के अन्दर चेतना के स्पर्श के द्वारा अनुभूति हो सकती है। ऐसी बात जब तक समझ में नहीं आयेगी, तब तक प्राण के द्वारा साधना की बात समझ में नहीं आयेगी। आत्मा और परमात्मा के भीतर एक और विशेषता है, जिस वस्तु को लेकर उसके

साथ सम्बन्ध बनाते हैं या चिपकते हैं वह उसी रूप का बन जाता है। हम भूल जाते हैं कि यह हमारे प्राण का रूप है या प्रकाश रूप है, या आत्मा-परमात्मा का है, वहाँ भ्रांति हो जाती है। वहाँ उस चेतन का भेद भी रहता है और अभेद भी रहता है। प्राण को लेकर जाती है तो वहाँ प्राण का भेदात्मक विज्ञान करना होगा। उसके साथ-साथ स्पर्श करके उसकी अनुभूति भी करनी होगी। चेतन के स्पर्श की अनुभूति प्राण के द्वारा हो सकती है, रूप के द्वारा उसके रूप को देखा जा सकता है। परन्तु उसको देखकर भी बाहर पदार्थों के साथ उस रूप की तुलना नहीं होती है, क्योंकि उसके सदृश कोई और पदार्थ नहीं है जो सादृश्यवान हो जैसे एक घोड़े को देख कर दूसरे घोड़े का अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार परमात्मा के समान कोई और रूप वाला पदार्थ नहीं है जिसके साथ उसकी उपमा दे सकें। वह तो स्वयं संवेद्य होगा, स्वयं अनुभवगम्य होता है। जैसे शान्ति और आनन्द स्वयं अनुभवगम्य होते हैं उनके रूप को आप नहीं वता सकते हैं, ऐसे चेतन के भी रूप को आप नहीं वता सकेंगे। अत: यह विषय इतना सूक्ष्म सा वना हुआ है, सर्व-साधारण को समझ में नहीं आता है, मोटे आदमी की वुद्धि भी मोटी होती है।

जब एक कार्य के पीछे तन, मन, धन को अर्पण कर लग जायेंगे तो उसकी सफलता शीघ्र हो जाती है। जिन व्यवहारों में जिन कार्यों में आप लगे हुए हों तन, मन, धन से, उनमें सफलता अवश्यम्भावी है। आत्मा-परमात्मा के विषय में हमें क्यों कठिनाई नहीं होती है? मैंने सम्पूर्ण जीवन इसी में लगाया है। अत: मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। जब आप अभ्यास में बैठेंगे तो आपका जीवन जिस ओर लगा है उसी के तो विचार आयेंगे, जब मैं बैठूंगा तो मेरे जीवन के ऐसे ही विचार आयेंगे। यह विचार जो चल रहे हैं इनसे आप व्यथित नहीं होना। संसार के विचार आयें चाहे इन्द्रियों के विचार आयें, उनसे घबड़ाओ नहीं। समझो कि ये स्वाभाविक धर्म हैं। विचार तो आते ही रहेंगे। परमात्मा की भक्ति के विचार और संसार के विचार इन दोनों को समान-सा ही समझ लो तो कठिनाई नहीं होगी।

मैं कह रहा था कि स्थिरता की बात मैं पहले वता चुका हूँ कि स्वप्न और निद्रा-जन्य ज्ञान का अवलम्बन करने से भी मन तथा चित्त में स्थिरता आ जाती है। स्वप्न कोई अच्छा सा अति उत्तम आया हो उसका स्मरण करते रहो। निद्रा में जैसे प्रथम अवस्था आती है वैसी स्थिति बना लो अथवा "वीतराग विषयं वा चित्तम्" जो महान् आत्मायें हैं जिन पर तुम्हारी श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा है, उन गुरुजनों, ऋषि, मुनियों का चिन्तन करना, उनका ध्यान करना, मनन करना इससे भी मन की एकाग्रता हो जाती है। "यथाभिमत ध्यानाद्वा" या जहाँ भी तुम्हें प्रीति हो, तुम्हारा जो प्रिय हो उस पर मन लगा देना। यह ध्यान का विषय बन जायेगा। तुम्हारा अपना मन है, तुम्हारे अपने भीतर की वस्तु है। पंजाबी में

में कहते हैं "कुच्छड़ कुड़ी ते शहर ढंढोरा" वाली बात बन जाती है। तुम्हारा अपना मन है अपने वश की बात है, दूसरे से इसका क्या सम्बन्ध है ! आप अपनी वस्तु को वश में नहीं करते हैं। दूसरे के निकट आकर कहते हैं, मन नहीं लगता है। तुम्हारा मन है, तुम्हीं उसे जहाँ चाहोगे लगाओगे। तुम्हारा मन यदि विचार से शान्त नहीं होता तो हठ और बल से उसको शान्त करना चाहिये। जहाँ लगाना चाहते हो वहाँ लग जाना चाहिये। परमात्मा में लगाने की बात अभी नहीं है, क्योंकि उसके स्वरूप का अभी ज्ञान नहीं है। आत्मा में भी लगाने की बात नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप भी अभी देखा नहीं है। हाँ इसको स्थिर करना है, निरुद्ध करना है। जब यह एकाग्र हो जायेगा तब इसमें बल, शक्ति, पराक्रम बढ़ जायेगा। तीव्रता बढ़ जायेगी। इसकी रश्मियाँ, इसकी विचारधारायें, पदार्थ के गर्भ में प्रवेश करने योग्य बन जायेंगी। जैसे आपकी आँखों से रश्मियाँ निकल कर मेरे मुख को देख रही हैं। ऐसे मन में से रश्मियाँ निकल कर पदार्थ के गर्भ में पहुँच कर उसके स्वरूप को दिखाने में समर्थ हो जाती हैं।

एक इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष होता है। एक मन-जन्य प्रत्यक्ष होता है। एक बुद्धि-जन्य प्रत्यक्ष होता है। एक चित्त-जन्य प्रत्यक्ष होता है। जब कभी आप चित्त की अवस्था में पहुँचोगे तो आत्मा-परमात्मा के स्वरूप का वहाँ पता लग जायेगा। मस्तिष्क में आप पहुँचोगे, ध्यान और चिन्तन करोगे, तो यहाँ इन्द्रिय और मन का व्यापार उनके साथ ज्ञान सम्बन्ध आदि हैं, उनका चिन्तन होगा, इन्द्रियों के व्यवहारों का और उनके विषयों का चिन्तन होगा। आत्मा-परमात्मा का चिन्तन यहाँ शीघ्र नहीं होगा। "ईश्वर सर्व भूतानाम् हृद्धेशेऽर्जुनतिष्ठति" आत्मा-परमात्मा का वास इस हृदय, प्रदेश में है। आत्मा को चाहे तुम कहीं भी मान लो, यदि अणु मानते हो तो एक कण को सम्पूर्ण शरीर में ढूंढना है। वहाँ चिपका हुआ होगा। एक अणु या एक कण के तुल्य यदि उसको मोटा, लम्बा, चौड़ा मान लो तब तो सम्भव है कोई बात समझ में आ जाय। मन को पहले समझाया करो, यदि वैसे शान्त नहीं होता तो 'सर्वद्वारबद्ध प्राणायाम' करके ध्यान को भ्रूमध्य में लगाकर प्रकाश या प्राण को ध्यान का विषय बनाओ और प्राणायाम भी न करो तो ऐसे ही शान्त होकर बैठ जाया करो और इसको भ्रूमध्य में ध्यान का विषय बना लो, शान्ति से बैठ जाया करो। भ्रूमध्य में प्रकाश का प्रादुर्भाव-सा होने लगता है। उसको तुम ध्यान का विषय बना लो।

अब रही शरीर और आत्मा को देखने की बात, वह तो कुछ आगे की बात होगी। प्रथम तो स्थूल-स्थूल बात सीखनी चाहिये। आप का मन पर अधिकार हो जाय, जहाँ मन को लगाना हो वहाँ लग जायेगा। इस अभ्यास के अन्दर हम यही बात बताते हैं।

यहाँ हमने दो मूर्तियाँ बनवाई हैं। इसमें हमने चक्र बनाये हुए हैं "ओ३म्

भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः, ओ३म् महः, ओ३म् जनः, औ३म् तपः, ओ३म् सत्यम्"। सत्य व्याहृतिका मन्त्र यह जो है इन चक्रों के साथ में सम्बन्ध बनाकर मन की स्थिरता के साधन बताये हैं। इसी प्रकार यह जो सप्त व्याहृतियात्मक मन्त्र है इसको स्मरण कर साप्त चक्रों के साथ में अथवा एक-एक चक्र के साथ में इसका सम्बन्ध बनाया करो। मन्त्र के वाक्यों को पढ़ा करो और कोई बात न बने इस मन्त्र के वाक्यों को "ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः, ओ३म् महः," इस प्रकार जाप करने से आपका मन स्थिर हो जायेगा।

यह मन को लगाने की बात है। अभी ध्यान, समाधि की बात नहीं है क्योंकि मन्त्र का जाप भी वृत्त्यात्मक है। मन को निर्विषय बनाना है। जाप से तो निर्विषय नहीं बनता है। यह तो मन को उलझाने की बात है क्योंकि मन स्थिर नहीं होता या इधर-उधर भागता था उसको मन्त्र में लगाया है। पहले इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता है, अब इस मन्त्र के साथ वाक्यों को स्मरण करता है। यह भी वृत्त्यात्मक है। इस मन को ठहराना है, अधिकार में लाना है, एक स्थान पर स्थिर करने की योग्यता लानी है। यह योग्यता ध्यानाभ्यास से कुछ काल में हो जाती है। संतोष से शान्ति से बैठ कर एकान्त में एक वस्तु पर चिन्तत किया करें, सोचा करें। यहाँ कौन सी शक्ति है जहाँ यह विचार उत्पन्न होते हैं? क्या उसका आकार-प्रकार है? इसमें एक प्रकार की विद्युत शक्ति है। प्रत्येक क्षण इसके भीतर वाइब्रेशन उत्पन्न होते रहते हैं। चिन्तन रूप व्यापार प्रत्येक क्षण इसके भीतर बना रहता है। अतः दसों इन्द्रियाँ एक क्षण में कार्य करती हुई, चलती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। इतनी तीव्र गति जिस मन की हो और उसका आकार-प्रकार कोई दृष्टि में न आये तो उसको बस में कैसे किया जाय? स्थूल रूप से बस में करने का तो उपाय यह है, जहाँ यह विचार उत्पन्न होते हैं उन विचारों को हटाते जाएँ। एक स्थिति ऐसी आ जायेगी जहाँ यह विचार उत्पन्न होंगे उस स्थान का पता लग जायेगा। उसमें विद्युत शक्ति का उन कम्पनों का ज्ञान हो जायेगा। उन कम्पनों को आप अपने ध्यान-बल से स्तब्ध कर सकोगे, बुद्धि और मन के चिन्तन रूप कम्पन स्तब्ध कर सकोगे, बुद्धि और मन चिन्तन रूप कम्पन स्तब्ध होकर खड़े हो जायेंगे। आप द्रष्टा से बन कर स्तब्ध हुए मन और बुद्धि को देख सकोगे। इतना अधिकार हो तो जायेगा परन्तु बहुत अभ्यास की आवश्यकता है और साधना की भी आवश्यकता है।

मन और बुद्धि यह दो पदार्थ ऐसे हैं, संसार की अरबों की जन-संख्या इन दो की अनुसंधान में लगी हुई है। अब आपको ध्यान में बैठना है, अतः अधिक न कहता हुआ केवल इतना कहूँगा कि मैं अभ्यासियों के सामने ऐसे हाथ उठाया करता हूँ, इसका तात्पर्य होता है कि तुम्हारी पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों को स्तब्ध-सा कर देता हूँ। पुनः ऐसे घुमाता हूं, इसका तात्पर्य है दूसरों

के मनों को दमन सा कर देता हूँ, रोकता हूँ, ठहरने का आदेश-सा देता हूँ। यदि यह बात तुम्हारे ज्ञान में आ जाती है तो मन वश में होने लगेगा। प्रथम पाँच मिनट त्राटक कर लें। मेरे भीतर से कोई कम्पन सी आती हुई आपको अनुभव होने लगे अथवा तरंगों के रूप में, प्राण के रूप में किरणों के रूप में, ज्योति के रूप में, भावना के रूप में, किसी भी प्रकार का सम्बन्ध हो जाय तो उस सम्बन्ध को दूर देश में रहते हुए भी किसी के साथ सम्पर्क किया जा सकता है। अपने मन को समाहित किया जा सकता है। यदि इस प्रकार यह विषय ज्ञान में आ जाता है तो मन का विषय भी समझ में आ जायेगा। जहाँ यह विचार उत्पन्न होते हैं यह समझ में आ जायेगा। प्रत्येक क्षण इस प्रकार के कम्पन होते रहते हैं। जैसे किसी आकाश-मण्डल के अन्दर व्यापक-सी दृष्टि डालते हैं वैसे व्यापक-सी दृष्टि डालकर सबके मनों के साथ अपने मन की रश्मियों का संबंध सा बनाता हूँ। जैसे यह एक बल्ब सब प्रकाश की रश्मियें भेजकर सम्पूर्ण कमरे के साथ सम्बन्ध बनाता है। इसी प्रकार मन और इन्द्रियों की रश्मियों के साथ सम्बन्ध कर उनको स्तब्ध किया करता हूँ। यदि यह विषय किसी की बुद्धि में आ जाये तो सम्भवतः मस्तिष्क में मन और बुद्धि की भी बात समझ में आ जायेगी।

अब आप शान्त समाहित होकर बैठ जाएँ। जब मैं कहूँगा कि अन्तर्ध्यान हो जाओ तब प्रयत्न करना, मन को इस शरीर और मस्तिष्क को ढीला-सा छोड़ देना और मन जैसे सिकुड़-सा गया हो, चिपक-सा गया हो, कुछ चिन्तन न हो ऐसे शान्ति से बैठे रहना। अपने आप जब कोई विचार उत्पन्न हो तो उसको रोक दें और पुनः-पुनः रोकते जायें। एक ऐसी स्थिति आ जायेगी विचार ही उत्पन्न नहीं होंगे। तब शान्ति का अनुभव होने लगेगा। शान्ति के पश्चात् कुछ आनन्द भी आने लगता है। यदि यह अवस्था उत्पन्न नहीं होती है तो पुनः किसी एक मन्त्र को ले लेना चाहिये, जो मन्त्र आपको प्रिय लगता है वह एक, दो, तीन अथवा पाँच अक्षर का हो अथवा गायत्री मन्त्र हो उसमें मन को उलझाये रखना, किंचित् काल उसका जाप करके अधिकारपूर्वक ध्यान में आ जाना चाहिये। मन्त्र का भी ध्यान न आये, इन्द्रियों के विषयों का भी ध्यान न आये, मन शान्त होकर स्थिर सा हो जाये। शान्ति के अनुभव में यह समझ लेना कि मन का संबंध आत्मा के साथ है। मध्य में और कोई व्यवधान नहीं है। जब कभी आनन्द की अनुभूति-सी होने लगे तो समझ लेना कि परमात्मा के साथ सम्बन्ध हो गया है। भले ही यह वृत्ति होती है चित्त की। आनन्द और शान्ति चित्त की वृत्ति है। विज्ञान का मार्ग बहुत लम्बा है, यह तो विद्वानों के लिए, ज्ञानियों के लिए अथवा जिसके पास बहुत समय है उनके लिए ठीक है। आप लोगों के पास इतना समय नहीं है, सांसारिक व्यक्ति हो, अतः आप केवल इतना ही किया करें कि विचारों को शान्त करते-करते आपका मन शान्त हो जाये। समझ लेना कि अब मेरा आत्मा के

साथ सम्बन्ध है और शान्ति में यह भी भावना कर लिया करें 'अहम् अस्मि' मैं हूँ। इसी शान्ति के रूप में ही मैं हूँ। यदि आनन्द की प्रतीति होने लगे 'त्वम् असि' तू है आपको देख कर हर्ष और उल्लास मेरे चित्त में हुआ ऐसे चेतन को देखकर समझ कर हर्ष और उल्लास होता है। आनन्द का स्फुरण-सा हो तो समझ लो परमात्मा के साथ सम्बन्ध हो गया है। यह दो साधन हैं, इन साधनों को आप अपना लेना। अब हो जाइये सावधान, ध्यान के लिए अपनी समाधि में शान्ति और आनन्द को ही आत्मा और परमात्मा को साक्षात्कार करने का लक्ष्य बना लें।

व्याख्यान-९२

कुण्डलिनी शक्ति क्या है और यह कैसे ज़ाग्रत होती है तथा इसके द्वारा आत्मा का साक्षात्कार।

ओ३म्—अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमः उक्तिविधेम॥
यजुर्वेद ४०-१६॥

आज मेरा प्रवचन कुण्डलिनी शक्ति के विषय में होगा कि कुण्डलिनी शक्ति क्या वस्तु है, क्या पदार्थ है तथा किस प्रकार की यह शक्ति है। प्राचीन काल, मध्यकाल और वर्तमान काल तीन युगों में इसकी उपासना लोग करते आये हैं। मध्यकालीन युग जो लगभग तीन सहस्र वर्ष के पश्चात् का युग रहा है और आज से कोई ६०-७० वर्ष पूर्व या इस शताब्दी का अब तक कुण्डलिनी शक्ति का बहुत प्रचार रहा है और उसकी अपेक्षा आज तक वर्तमान में यूरोप, अमेरिका आदि अन्य देशों में कुण्डलिनी शक्ति के विषय में लोगों का चिन्तन बहुत बढ़ने लगा है। कुण्डलिनी शक्ति के विषय में बहुत जोर देने लगे हैं। प्राचीन ग्रन्थों में तो इसका बहुत उल्लेख देखने में नहीं आता, किन्तु अर्वाचीन ग्रन्थों में आता है।

हमारे शरीर के अन्दर विज्ञान के तीन केन्द्र माने जाते हैं—मस्तिष्क, हृदय और मूलाधार। बहुत-से विद्वानों का मत तो यह है कि कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में जाग्रत होती है तथा कुछ विद्वानों का अनुमान या अनुभव है कि कुण्डलिनी शक्ति मस्तिष्क में जाग्रत होती है। यदि दोनों प्रकार की विचारधाराओं को लिया जाए तो मेरे अपने अनुभव के आधार पर मुझे यह अनुभव में आता है कि हमारे शरीर की रचना पंचभूतों से होती है—पृथ्वीभूत, जलभूत, अग्निभूत, वायुभूत, आकाशभूत। इन भूतों में अग्निभूत भी हमारे शरीर की रचना में सहकारी उपादान कारण है। यदि स्थूल शरीर में ही जब हम कुण्डलिनी शक्ति की बात करते हैं तो इसका उपादान कारण इस भौतिक अग्नि को ही मानना होगा, क्योंकि इस स्थूल शरीर में ही सब विद्वान लोग इसके विषय में वार्तालाप या चिन्तन करते हैं। यदि कोई आद्याशक्ति होती, आदि काल से आयी हुई होती तो इसका गमन सूक्ष्म और कारण शरीरों के साथ भी होना चाहिए था, परन्तु परलोक-गमन में इसकी चर्चा

नहीं, इसकी कोई बात सूक्ष्म जगत में या स्वर्गलोक में अथवा ब्रह्मलोक आदि में सुनने-पढ़ने में नहीं आई। इस भौतिक शरीर में ही इसकी चर्चा सुनने-पढ़ने में आती है। अर्वाचीन काल के विद्वान लोग आजकल इस पर बहुत अध्ययन कर रहे हैं। इस कुण्डलिनी शक्ति के विषय में बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखते जा रहे हैं। मैंने भी इसके विषय में बहुत चिन्तन किया है क्योंकि अग्निभूत हमारे शरीर में सर्वत्र वर्तमान है। कुण्डलिनी शक्ति के विषय में दो विचारधारायें हैं। एक तो प्राण शक्ति कों ही लोग कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। दूसरी विचारधारा है कि एक प्रकार की दिव्य-ज्योति का प्रादुर्भाव मूलाधार में होता है। एक और विचारधारा है कि प्राणोत्थान प्राण के द्वारा जो आत्म-साक्षात्कार की चर्चा करते हैं वह प्राणोत्थान मूलाधार में ही मानते हैं और दूसरे प्राणोत्थान को मस्तिष्क में मानते हैं और तीसरे जो अग्नि को ही कुण्डलिनी शक्ति कहने वाले हैं वे मूलाधार में भी इसका प्रादुर्भाव मानते हैं और मस्तिष्क में भी इसका प्रादुर्भाव मानते हैं।

तन्त्र शास्त्र के मानने वाले जो सदा से शक्ति के उपासक रहे हैं, कुण्डलिनी शक्ति का आवास-निवास यह लोग मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर इन तीन चक्रों में मानते हैं। इससे यह तीनों चक्र जाज्वल्यमान बने रहते हैं। प्राणोत्थान वाले भी प्राण का उत्थान यहाँ ही मानते हैं क्योंकि अपान नाम का प्राण यहाँ वर्तमान रहता है। ध्यान विशेष के द्वारा इसमें गति विशेष हो जाया करती है। यह दूसरे प्राणों को जाग्रत कर, संचालित कर ऊपर तक ज्ञान कराता चला जाता है। स्पर्श आदि के द्वारा दूसरे दिव्य ज्योति की बात कुण्डलिनी शक्ति को मानते हैं, वह मूलाधार चक्र या स्थान के अन्दर अभ्यास विशेष से या मन्त्र आदि के जाप विशेष से अथवा धारणा विशेष से अथवा प्राणायाम के द्वारा यहाँ एक दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव मानते हैं और उस दिव्य ज्योति को कुण्डलिनी शक्ति के रूप में प्रतिपादन करते हैं।

यह कुण्डलिनी शक्ति इस स्थूल शरीर की विद्या मानी जाती है तब तो यह अग्नि का ही कार्य माननी पड़ेगी, क्योंकि अग्नि से भिन्न और तेज नाम का पदार्थ स्थूल शरीर में और कोई नहीं है रूप दिखाने वाला। अब इस अग्नि का ही कार्य विशेष मानना पड़ेगा। अग्निभूत का उपादान कारण रूप तन्मात्रा को मानना पड़ेगा। अग्निभूत का उपादान कारण सूक्ष्म भूतों में रूपनाम को तन्मात्रा या सूक्ष्म अग्निभूत है। उससे स्थूल अग्निभूत की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति का उपादान कारण हमारे शरीर की भौतिक अग्नि और भौतिक अग्नि का कारण सूक्ष्म शरीर में रूप तन्मात्रा को मानना पड़ेगा और उसका भी उपादान कारण आगे का है क्योंकि उपादान कारण का भी उपादान कारण रूप में अन्त में जाकर प्रकृति में ही इसकी सूक्ष्म अवस्था पहुँचेगी। एक प्रकार से इस अग्नि का आगमन मानोगे तो इसका मूल स्रोत कारण रूप प्रकृति को ही मानना पड़ेगा,

क्योंकि कारण रूप प्रकृति से भिन्न एक चेतन सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ नहीं है। अन्तिम उपादान कारण इस अग्नि का भी प्रकृति को ही मानना पड़ेगा। जबकि एक प्रकार से संसार का प्रलय हो जाता है तब साम्यावस्था में रहती है। जब सृजन होता है तब परिणाम भाव को प्राप्त होते हुए अपने सब कार्यों के साथ चली आती है और आकर अग्निभूत में वह ठहर जाती है अतः इसका मूल स्रोत प्रकृति को ही मानना पड़ेगा।

बहुत आचार्यों ने इसको आद्याशक्ति नाम से प्रतिपादन किया है। परन्तु हमारे शरीर में विशेष रूप से जो एक ज्योति उत्पन्न होती है यह इसी अग्निभूत का ही कार्य विशेष और सात्त्विक अवस्था होती है। मैं तो कुण्डलिनी शक्ति का उपादान कारण प्राण को नहीं मानता हूँ। मेरी समझ में यह बात नहीं आयी है। परन्तु बहुत से विद्वान् लोग प्राण को ही कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। अथवा प्राणोत्थान को ही कुण्डलिनी शक्ति कह देते हैं। मैं दिव्य ज्योति नाम की विशेष अग्नि को ही कुण्डलिनी शक्ति कहता हूँ। यह रूप को दिखाती है जैसे नेत्र रूप को दिखाते हैं और कान शब्द को सुनाते हैं। इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रियाँ स्पर्श को बताती हैं। अग्नि रूपवान पदार्थ को दिखाने में समर्थ होती है। वायु का कार्य प्राण को माना गया है और प्राण का कार्य यह कुण्डलिनी शक्ति मानते हैं।

बहुत-से आचार्यों ने प्राण से ही कुण्डलिनी शक्ति का प्रादुर्भाव माना है। परन्तु हमारे अपने अनुभव के आधार पर प्राण के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत हो सकती है। प्राणायाम के द्वारा अभ्यासी पुनः-पुनः अभ्यास करता है तो किंचित् काल के पश्चात् मूलाधार के भीतर दिव्य ज्योति उत्पन्न हो जाया करती है। जैसे कि सर्व-द्वारबद्ध प्राणायाम करते हैं उस समय मस्तिष्क के भीतर ज्योति का प्रादुर्भाव अथवा मस्तिष्क के भीतर आलोक-सा प्रकाशयुक्त बना हुआ होता है। इसी प्रकार प्राणा-याम विशेष के द्वारा जैसे अग्नि प्रसारण प्राणायाम, कपाल भाति प्राणायाम, दीर्घ श्वास-प्रश्वास प्राणायाम, भस्त्रिका प्राणायाम हैं तथा कई प्रकार के प्राणायाम करने से या विशेष प्राणयाम करते रहने से कुछ समय के अन्दर मूलाधार में प्राण का संघर्ष करने से भी ज्योति उत्पन्न होती है। जैसे दो लकड़ियों के घर्षण से, दो पत्थरों के टकराने से अथवा दो लोहे टकराने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही प्राणों के टकराने से अर्थात् अपान और व्यान के टकराने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। अतः वायु के द्वारा भी अग्नि की जागृति होती है। जैसे कोई अग्नि प्रसुप्त हुई हो उस पर वायु करने लगें तो उससे अग्नि प्रदीप्त हो जाती है, इसी प्रकार छिपी हुई अग्नि वहाँ स्थिर हुई अग्नि प्राणायाम के द्वारा वायु विशेष के द्वारा जागृत हो जाया करती है और वह ऊर्ध्व गमन करने लगती है। अनेक बार तो ऐसा देखा गया है कि इस प्रकार की ज्योति उत्पन्न होने से अभ्यास विशेष से, प्राणायाम विशेष से, ध्यान विशेष से, समाधि विशेष से एक प्रकार का हर्ष-सा उत्पन्न होकर, उल्लास-

सा उत्पन्न होता है। वह दिव्य ज्योति भी रक्त रूप में कभी पीत वर्ण के रूप में कभी नीले से वर्ण के रूप में होती है। इस प्रकार के सात्त्विक, राजस, तामस भेद से तीन प्रकार के रूपों में जागृत होने लगती है। प्रतीत होता है कि जैसे एक दीपक-सा जल कर यहीं ठहर गया हो। अनेक बार तो ऐसा होता है कि वह उसी स्थान में शक्ति के रूप में रह जाती है। कई-कई महीने या वर्ष भी लग जाते हैं वह ऊर्ध्व-गमन नहीं करती है। यह साधारण अभ्यासियों को आगे नहीं ले जाती है। अनेकों अभ्यासियों को यह अग्नि अथवा वायु कम्पन पैदा कर देती है। जैसे इंजिन के भीतर अग्नि जलाते हो, या कोयला जलाते हो, वह धक्-धक् कर वायु उत्पन्न करता है। वाष्प या स्टीम उत्पन्न करता है तो वह उछलने लगती है। कहीं-कहीं वायु भी अग्नि को तेज करने का कारण बन जाती है। प्राणायाम भी यहाँ अग्नि या कुण्डलिनी शक्ति को प्रदीप्त करने में कारण बन जाया करता है। सहकारी या निमित्त कारण भी बन जाता है। निमित्त कारण चेतन भी हुआ करता है, जड़ भी हुआ करता है।

यदि हम प्राणायाम का अभ्यास विशेष करें और मूलाधार में पुनः-पुनः अश्विनी मुद्रा करते हुए अभ्यास करें तो कुछ काल के पश्चात् वहाँ अग्नि में से चिनगारियाँ जैसी कुछ उड़ा करती हैं। इस प्रकार मूलाधार में स्फुलिंग-से उठते हुए अथवा प्रकाश के रूप में, ज्योति के रूप में, दीपशिखा के रूप में, अग्नि के रूप में चन्द्रमा के प्रकाश जैसे सूर्य के प्रकाश जैसा मोमबत्ती के प्रकाश जैसी स्थिति होकर स्थिर हो जाती है। विशेष अभ्यास और प्रयत्न करने से वह स्वाधिष्ठान, मणि-पूर आदि चक्रों की ओर गमन करने लगती है। क्रमपूर्वक हमारे अभ्यास के द्वारा चक्रों के अन्दर से होती हुई चली जाती है।

चक्रों के विषय में भी अनेक प्रकार की धारणायें अभ्यासियों के अन्दर हैं। इस कुण्डलिनी शक्ति के जागरित होने पर सुषुम्ना की नाड़ियों के भीतर गुच्छक से होते हैं। उन गुच्छकों पर दिव्य ज्योति का या कुण्डलिनी शक्ति का प्रभाव सा पड़ता है। वे प्रदीप्तमान होकर जाज्वल्यमान होकर पुष्प के सदृश चक्र की भाँति प्रतीत होने लगते हैं। वह अग्नि ही या कुण्डलिनी शक्ति ही एक प्रकार से उन गुच्छकों को प्रकाशमान या प्रदीप्त कर दिया करती है इनको ही चक्र का रूप देने लगते हैं। इस प्रकार ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १५, अथवा १६ चक्र तक विधान करते हैं और इस शरीर के भीतर मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक बताते हैं। इन चक्रों को या नाड़ियों के गुच्छकों को दिखाती हुई ऊर्ध्वगमन करती हैं। वास्तव में इन नाड़ियों के भीतर प्राण का भी वहन होता है और प्रकाश का भी वहन होता है। नाड़ियों के द्वारा प्रकाश जैसे विद्युत की तारों में बहकर आता है। इसी प्रकार हमारे शरीर के भीतर मस्तिष्क में सूक्ष्म-सूक्ष्म तंतु हैं। यह प्रकाश का वहन करते हैं। वे हमारे नेत्रों के पटल तक लाकर उस प्रकाश को

फेंकते हैं अतः हमारे नेत्रों के पटल बाहर के पदार्थों को दिखाने में समर्थ हो जाते हैं।

इसी प्रकार रूप को दिखाने वाली अग्नि का कार्य रूप, यह ज्योति है। दिव्य ज्योति इसको क्यों कहा है, जब तक यह स्थूल अग्नि बाह्य आकाश-मण्डल में रहती है इस शरीर में नहीं आती है तब तक तो यह प्रकाश के रूप में रहती है। इसको दिव्य नहीं माना गया है। यह अग्नि हमारे शरीर के भीतर जब प्रवेश करती है, यह अग्नि जलाई जाती है, अथवा प्राकृतिक बनकर आती है, इसका निर्णय अभी नहीं हो पाया। जब इसका प्रादुर्भाव होता है तो इसको हम कुण्डलिनी का रूप देने लगते हैं, कुण्डलिनी शक्ति कह देते हैं। कुण्डलिनी का तात्पर्य है, जैसे एक सर्प फण को ऊपर कर कुण्डली मारकर बैठा हो ऐसे मूलाधार के स्थान में यह चक्र-सा ऐसे लगा कर बैठती है। इसी प्रकार मूलाधार के अन्दर यह जो दिव्य ज्योति उत्पन्न होती है, अग्नि उसका उपादान कारण होती है। शरीर में आकर इसको दिव्य रूप दिया होता है। इस अग्नि के भीतर अनुद्भूत रूप प्रकाश होता है। अनुद्भूत इसको कहते हैं जैसे सूर्य को हम सामने देख रहे हैं वैसे सामने देखने में शरीर की ज्योति का प्रकाश या अग्नि नहीं आती है परन्तु अन्दर के नेत्रों से हमें इसकी अनुभूति होती है, वैसे हम आँखें भी बन्द कर लेते हैं पूर्णतया, चाहे रात्रि हो चाहे दिन हो, सूर्य के समय में हमें प्रकाश प्रतीत होने लगता है। शरीर के भीतर भी ज्योति वर्तमान है, वह बाहर इन तंतुओं के द्वारा नेत्रों में आकर प्रकाश को फेंकने लगती है। इस प्रकार यह प्रकाशवाहिनी हमारे शरीर के भीतर सहस्रों नाड़ियाँ वर्तमान हैं। यह प्राण का वहन भी करती हैं, प्राण का वहन करने से प्राणोत्थान की बात कह देते हैं। प्रकाश का वहन करने से हम आत्मा-परमात्मा के रूप को इसके द्वारा देखना चाहते हैं। अतएव इसमें कारण रूप से आपको ज्योति के रूप में कुण्डलिनी शक्ति को मानना पड़ेगा। प्राण की बात यहाँ नहीं बनेगी। प्राण तो स्पर्श कर दिखाएगा और नेत्र रूप को प्रत्यक्ष सामने दिखा देता है। प्राण इस प्रकार नहीं दिखाता है स्पर्श करके दिखाता है। यह जो रूप या अग्नि है यह नेत्रों के द्वारा दिखाती है। नेत्र भी तीन प्रकार के होते हैं—स्थूल शरीर का नेत्र, सूक्ष्म शरीर का नेत्र, बुद्धि का नेत्र, अर्थात् बुद्धिरूपी नेत्र, अपितु चित्त को भी चौथा नेत्र कह दिया है। जैसे नेत्र बाहर के पदार्थों को देख कर ज्ञान करा देते हैं वैसे ही बुद्धि और चित्त आत्मा और परमात्मा का ज्ञान करा देते हैं।

बुद्धि और चित्त हमारे शरीर में ज्ञान-प्रधान होने से आत्मा-परमात्मा को दिखाने में समर्थ होते हैं। स्थूल अग्नि हमारे शरीर में जाकर अध्यात्मवाद के रूप में दिव्य ज्योति के रूप में परिणत हो जाती है। शरीर की अग्नि को हम दिव्य ज्योति के रूप में कहते हैं। मूलाधार में दिव्य ज्योति के रूप में जो अग्नि उत्पन्न होती है, यह शरीर की रचना को हमें दिखाती चली आती है। शरीर की रचना में नाड़ियों के गुच्छे विशेष चक्र के रूप में देखते हैं। वह कोई अलौकिक शक्ति साथ में जाने

वाले नहीं हैं। वैसे तो वेद में भी 'अष्टाचक्र नवद्वारा' आदि शब्द आते हैं। चक्रों के विषय में इसलिए चक्र विज्ञान पृथ्वी का ही भाग विशेष है। स्थूल शरीर में नाड़ियों के गुच्छे पर प्रकाश का आभास पड़ता है। यह भी प्रकाश का प्रक्षेपण करने लगते हैं, चक्रों के रूप में, पुष्पों के रूप में यह नाड़ियाँ प्रकाश को प्रक्षेपण करने लगती हैं। जिस कुण्डलिनी शक्ति ने अपने सम्पूर्ण शरीर के भीतर प्रकाश का उत्थान किया है अथवा विशेष प्रकाश को उत्पन्न कर ध्यान-बल के द्वारा कुण्डलिनी के रूप में सम्पूर्ण शरीर को प्रदीप्त कर दिया है। एक ऐसी स्थिति आती है कि जब इस ज्योति का प्रादुर्भाव होता है तब कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है जैसे मैं प्रत्यक्ष रूप से बाहर किसी पर्वत को देख रहा हूँ, किसी वस्तु को देख रहा हूँ उसी प्रकार वह आलोक होता है। सम्पूर्ण शरीर की रचना को वैसे ही दिखाने लगता है। जैसे बाहर की आँखों से किसी बाहर के पदार्थ को देख रहे हो। कभी-कभी कुण्डलिनी शक्ति व्याप्त से रूप को धारण कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त-सी हो जाती है, विस्तृत हो जाती है और जब ऐसा नहीं होता तो केवल दीपशिखा के रूप में उत्पन्न होकर सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है। सुषुम्ना में प्रवेश करके यह प्रकाश वहाँ नाड़ियों के गुच्छकों पर इन चक्रों के ऊपर यह प्रतिबिम्ब फेंकने लगता है। चक्रों में से यह प्रकाश निकलने लगता है। इसे कुण्डलिनी शक्ति का प्रकाश कह दिया है क्योंकि यह अभ्यास विशेष से जाग्रत होकर इस प्रकार का प्रकाश सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर चलता है। वैसे तो सुषुम्ना नाड़ी के भीतर जैसे प्राण व्याप्त होकर चल रहा है ऐसी ही अग्नि भी व्याप्त होकर रहती है। परन्तु विशेष रूप से वह दीपक-सा बन कर सम्पूर्ण शरीर को आलोकित-सा बनाती है। वैसे यदि किसी की कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत नहीं हुई होती, उसको शरीर की रचना का ज्ञान नहीं होगा, तब चक्र विज्ञान कैसे होगा ? कुण्डलिनी शक्ति के उत्पन्न होने पर उस के द्वारा ही चक्रों का अथवा शरीर का साक्षात्कार होगा या विज्ञान होगा। कभी तो यह विस्तृत होकर सम्पूर्ण शरीर को ही एक जैसा दिखाती है। क्योंकि चक्रों का विशेष संबंध इस सुषुम्ना नाड़ी के साथ में है और ईड़ा पिंगला नाड़ी के द्वारा इन चक्रों का विशेष सम्बन्ध है।

सुषुम्ना के काण्ड में यह चक्र ठहरे हुए हैं। इन सब गुच्छों को कुंडलिनी नाम की शक्ति प्रकाशित कर देती है। मद अभ्यासी जो होते हैं उनका तो एक ही चक्र प्रकाशित होकर आलोकित होकर रह जाया करता है। पुनः कुछ काल निरन्तर अभ्यास से वह ज्योति ऊपर को गमन करती है। अभ्यास के द्वारा दूसरे चक्र में फिर तीसरे चक्र में ऐसे क्रमपूर्वक कई-कई दिन, मास, वर्ष भी लग जाते हैं। बहुत-से अभ्यासियों को कम्पन्न होने लगा करता है। जिस समय इस कुण्डलिनी का उत्थान होता है धक्के से लगने लगते हैं। वैसे तो जब प्राणोत्थान होता है उससे भी धक्का लगता है। जैसे इंजन में अग्नि उत्पन्न होती है तो धक्-धक् करने

लगता है। वह अग्नि भी वायु को उत्पन्न करके धक्का देने लगती है। अग्नि भी धक्के का रूप बन जाया करती है। यह कुण्डलिनी शक्ति भी धक्का देने लगती है। प्रकाश को बहा कर ले चलती है। प्रकाश सुषुम्ना काण्ड में नाड़ियों के गुच्छों में बह कर चलता है। इसको ही कुण्डलिनी शक्ति नाम से आचार्यों ने प्रतिपादन कर दिया है।

इस प्रकार यह कुण्डलिनी शक्ति शरीर की रचना को दिखाने में समर्थ हो जाती है और क्रमपूर्वक एक-एक चक्र के रूप को भी और आकार-प्रकार को भी दिखाती है। जो तीव्र संवेगी अभ्यासी होते हैं वे तो एक ही दिन के अभ्यास में एक बार कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर सम्पूर्ण शरीर का दर्शन कर लेते हैं। अपने अधिकारपूर्वक उस दिव्य ज्योति को सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करके एक-एक चक्र का ज्ञान करते हुए एक-एक चक्र के भीतर ठहरते हुए उसके कार्य-व्यापारों को देखते हुए आगे क्रमपूर्वक चला करते हैं और कई-कई दिन के अभ्यास से शरीर का चक्र विज्ञान करते हुए चले जाते हैं। इस प्रकार वह अभ्यास करते-करते सहस्रार तक पहुँच जाते हैं। उस काल में स्थूल शरीर का भान जाता रहता है। केवल विज्ञान द्वारा ज्योतियों के द्वारा चक्रों का विज्ञान होता रहता है और प्राण आदि का भी विज्ञान होता रहता है।

इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के विषय में आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं। अर्वाचीन काल के आचार्यों में बहुत-से मेरे जैसे व्यक्ति तो मूलाधार से ही इस दिव्य ज्योति की बात कहते हैं। दूसरे आचार्य प्राण शक्ति के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान मानते हैं। वेद, उपनिषद् आदि में प्राण और रई की बातें आती हैं। ज्योति को रई शब्द दिया गया है, प्राण का अर्थ तो प्राण ही होता है। प्राण और तेज दोनों मिल कर शरीर में कार्य करते रहते हैं। इसमें जो चलने-फिरने आदि की शक्ति है और रूप देखने की शक्ति है यह अग्नि और प्राण के ही दोनों कार्य हैं। इसमें पृथ्वी का भाग तो शरीर का यह स्थूल भाग है, जल का भाग बहने वाला है। इस शरीर में जो पदार्थ हैं, तेज का भाग उष्णता है, प्राण का भाग सम्पूर्ण शरीर में प्राण के रूप में गमन करता है। इस प्रकार ये चारों भूत इसमें प्रतिक्षण कार्य करते रहते हैं। नाड़ियों के अन्दर सहस्रों प्रकार के शब्द उत्पन्न होते रहते हैं। जो धड़कन और फड़कन नाड़ियों की है यह भी शब्दों के रूप में उत्पन्न होती है।

यह पाँचों भूत कार्य भाव को प्राप्त होकर हमारे शरीर के अन्दर कार्य करते हैं। योगी लोग इस कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा स्थूल शरीर का सब प्रकार का विज्ञान प्राप्त करते हैं और इतना ही नहीं वे सूक्ष्म शरीर में ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर विज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे एक व्यक्ति के पास एक टार्च है। वह पर्वतों को भी दिखा देगी और पृथ्वी पर चल रहे कीटाणु को भी दिखा देगी। सूक्ष्म पदार्थ को भी

टार्च दिखाने में समर्थ होती है और महान् से महान् पदार्थ को भी दिखाने में समर्थ होती है। इसी प्रकार कुण्डलिनी की दिव्य ज्योति उत्पन्न होती है, यह महान् से महान् पदार्थ जैसे एकदम स्थूल शरीर को भी दिखाने में समर्थ हो जाती है और सूक्ष्म पदार्थ जैसे मन, बुद्धि आदि हैं इनको भी दिखाती है क्योंकि माध्यम तो वास्तव में बुद्धि ही होती है। बुद्धि इस कुण्डलिनी शक्ति और प्राण शक्ति को माध्यम बनाकर उनके द्वारा आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्म-साक्षात्कार कराने में समर्थ हो जाती है। माध्यम तो रहेगी बुद्धि और बुद्धि का माध्यम यह कुण्डलिनी शक्ति, प्राण शक्ति अथवा अन्य शक्तियाँ हैं, यह भी इनको माध्यम बनाकर उनके साथ स्पर्श करके बुद्धि दिखाने में समर्थ हो जाती है। यदि बुद्धि इनके साथ नहीं मिली होगी, बुद्धि का साथ नहीं होगा, तो केवल कुण्डलिनी शक्ति, प्राण शक्ति कुछ भी कार्य करती हुई प्रतीत नहीं होगी।

जब कुण्डलिनी शक्ति जागरित हो जाती है, बुद्धि में एक प्रकार से ऋतम्भरा-सी, आलोक-सी अवस्था आ जाती है और यह ज्योतिष्मती बुद्धि बन जाती है। किसी भवन के भीतर कोई दीपक रख दिया जाय, वह सम्पूर्ण भवन को आलोकित कर देता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति सम्पूर्ण शरीर को आलोकित कर देती है। यहाँ तक कि सूक्ष्म शरीर भी आलोकित हो जाता है और कारण शरीर पर्यन्त इसका प्रकाश विस्तृत हो जाता है। भले ही वह प्रकाश स्थूल है। यह स्थूल प्रकाश भी सूक्ष्म शरीर के प्रकाश को जाग्रत करने में, उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है। मेरी अपनी दृष्टि में तो यह स्थूल अग्नि का ही एक कार्य विशेष यह अग्नि है। बाहर के पदार्थों में यह पंचभौतिक पदार्थ हैं।

आजकल के वैज्ञानिक मन, बुद्धि आदि को सूक्ष्म शरीर में नहीं मानते हैं, पंचभूतों के ही कार्य विशेष मानकर इनके सूक्ष्म पदार्थों का अध्ययन करते हैं और अति सूक्ष्म अध्ययन पर्यन्त इनके द्वारा पहुँच गए हैं। एक प्रकार से इन सूक्ष्म भूतों के द्वारा ही परमात्मा के समीपवर्ती होते जा रहे हैं। मेरी बुद्धि में यह आया है कि आत्मा-परमात्मा के विषय में जब योगी को साक्षात्कार हो जाता है तो किसी भी पदार्थ को माध्यम बनाकर स्थूल शरीर को, प्राण को, अग्नि को, पृथ्वी को, और बुद्धि को उसका माध्यम बनाकर आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। पृथ्वी, जल, प्राण, तेज आदि को माध्यम बनाकर भी बुद्धि को साथ लेकर आत्म-साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाया करते हैं। तेज और बुद्धि को देखकर वहाँ एक प्रकार से यह भ्रान्ति हो जाती है कि यह प्रकाश ही उस पदार्थ को दिखा रहा है या आध्यात्मिक प्रकाश या बुद्धि का प्रकाश दिखा रहा है। बुद्धि भी प्रकाश युक्त है, इन्द्रियाँ भी प्रकाशकारिणी हैं और यह दिव्य ज्योति भी प्रकाशात्मक ही है। यह भी पदार्थों को दिखाने में समर्थ होती है।

इस प्रकार यह विज्ञान की परम्परा ज्योति के द्वारा और अग्नि के द्वारा

चली आ रही है। यह एक प्रकार से शरीर में स्थूल अग्नि का ही कार्य विशेष है। यदि इस कार्य का हम कारण ढूंढ लेवें, उसका भी कारण ढूँढ लेवें, अंत में जाकर इसका कारण मूल कारण रूप प्रकृति से जुड़ा हुआ है। जैसे हमारे संस्कारों का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ भी है, मूल प्रकृति के साथ भी है। इसी प्रकार इस कुण्डलिनी शक्ति की दिव्य ज्योति का सम्बन्ध हमारे स्थूल शरीर के साथ में भी है। सूक्ष्म शरीर के साथ में भी है, कारण शरीर के साथ भी है। महाकारण शरीर प्रकृति के साथ में भी इसका सम्वन्ध हो जाता है । इस प्रकार से तो यह आद्या शक्ति बन जाती है।

स्थूल बुद्धि से जब हम देखते हैं तो इसका विज्ञान नहीं इस अग्नि में ही समाप्त हो जाता है। क्योंकि इस स्थूल शरीर के समाप्त हो जाने पर स्थूल पंचभूत भी यहीं समाप्त हो जाते हैं और अपने-अपने कारणों में चले जाते हैं। जब तक इन पंचभूतों का संघात यह देह है तब तक ही हमें कुण्डलिनी शक्ति और इसके विज्ञान आदि की प्रतीति होती है। अतः इसको स्थूल शरीर का ही विज्ञान माना जाएगा। यदि यह सूक्ष्म शरीर का विज्ञान होता तब स्वर्ग लोक में भी यह कुण्डलिनी शक्ति रहनी चाहिए थी और वहाँ भी इसको कार्य करना चाहिए था। स्वर्ग लोक या सूक्ष्म जगत् में इसका अस्तित्व भी कोई विद्वान नहीं मानते हैं। इसका भाव या प्रादुर्भाव इस स्थूल शरीर को ही माना जाता है। यह स्थूल शरीर की ही शक्ति विशेष है, ज्योति विशेष है और इसका ही यह कार्य विशेष है। इसको आध्यात्मिक रूप से कह दिया गया है, क्योंकि आत्मा का इसके साथ सम्बन्ध बनाया जाता है। इस शरीर में जितने भी पदार्थ हैं इन सबको आध्यात्मिक कहते हैं क्योंकि इसमें जीवन शक्ति रहती है, इन सबको आध्यात्मिक कह दिया गया है। ऐसे, पृथ्वी, जल को, बाहर के पदार्थों को आध्यात्मिक नहीं कहते हैं क्योंकि—'आत्मानाम् अधिकृत्य आध्यात्मिक इति उच्यते'—आत्मा के साथ इन सबका सम्बन्ध बना हुआ है। अतः मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि अन्तःकरण चतुष्टय को शक्ति के रूप में कह दिया है। यह इन पंचभूतों के ही कार्य विशेष हैं। पंचभूतों के रहते हुए इनका ज्ञान हो जाता है और पंचभूतों का सम्बन्ध आत्मा के साथ परमात्मा के साथ कर उनका भी साक्षात्कार किया जा सकता है।

यह है हमारी विचारधारा कुण्डलिनी के विषय में। कुण्डलिनी शक्ति क्या-क्या कार्य करती है इसके विषय में अन्यत्र व्याख्यान में और विस्तार रूप से वर्णन किया जाएगा।

व्याख्यान-९३

प्राणोत्थान के द्वारा आत्म-साक्षात्कार।

ओ३म्—प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
अथर्ववेद ११-४-१॥

कल कुण्डलिनी उत्थान के विषय में व्याख्या की गयी थी। आज प्राणोत्थान के विषय में व्याख्या की जाएगी। प्राणोत्थान क्या वस्तु है, और इसका क्या लाभ है, क्या यह उठता भी है या नहीं अथवा ऐसे ही कल्पना की हुई है?

जिस समय हम सप्त व्याहृतियों का जाप सात चक्रों में करते हैं उस समय में प्रथम व्याहृति 'ओ३म् भूः' को लेते हैं। तब कुछ काल तक 'ओ३म् भूः' शब्द का पुनः-पुनः उच्चारण करने से मूलाधार चक्र पर एक प्रकार की ठोकर-सी लगती है। वास्तव में शब्द के अन्दर वहुत शक्ति है। यदि देखा जाए तो शब्द सम्पूर्ण जगत् के भीतर व्याप्त हैं। अनन्त शब्द एकत्रित होकर वायु के प्रारम्भक होते हैं। स्थूल भाव को प्राप्त होकर वायु का रूप वन जाते हैं। आपने देखा होगा, कि वायु के अन्दर 'साँय-साँय शब्द की ध्वनि-सी आया करती है। वायु को धक्के लगाकर एक प्रकार से शब्द के साथ परस्पर टकरा कर वायु के आरम्भक बन जाते हैं, गति के आरम्भक बनते हैं। ब्राह्मी चेतन सत्ता के आधार पर, शब्द सदा गतिशील बने रहते हैं। इनसे भी और सूक्ष्म शब्द हैं, जो इस आकाश के अन्दर उत्पन्न होते रहते हैं। शब्द की उत्पत्ति सर्वप्रथम आदि सृष्टि में जहाँ प्रकृति और परमात्मा का सम्बन्ध होकर क्रिया प्रारम्भ होती है, वहाँ भी सर्वप्रथम शब्द की ही उत्पत्ति होती है। जब दो वस्तुओं का संयोग और वियोग होगा, वहाँ गति प्रारम्भ हो जाएगी और शब्द उत्पन्न होकर गति होगी। दो वस्तुओं के संयोग से शब्द की उत्पत्ति हुई। शब्द से, प्राण की या वायु की गति की, उत्पत्ति हुई।

इसी प्रकार मूलाधार के भीतर जब हम पुनः-पुनः—'ओ३म् भूः'—शब्द का उच्चारण करते हैं अथवा भूः को हटा कर केवल प्रणव का ही जाप करते हैं। उसके द्वारा भी प्राण कम्पित-सा हो जाता है। क्षुब्ध-सा हो जाता है। शब्द के द्वारा टक्कर खाकर वायु क्षुब्ध होता है। क्षुब्ध हुआ प्राण ऊपर को गमन करता है। अग्नि में तो

ऊर्ध्व-गमन का गुण है और प्राण में तिर्यक गमन का गुण है। जैसे सर्प की गति टेढ़ी होती है, ऐसे ही प्राण या वायु की गति भी टेढ़ी होती है। अग्नि की गति शब्द को उत्पन्न करके ऊर्ध्व-गमन करती है इनमें यह स्वाभाविक ही गुण है।

जब अभ्यासी व योगी पुनः-पुनः मूलाधार में अभ्यास करता है, वहाँ प्राण की, एक प्रकार से मूलाधार के भीतर सरसराहट-सी होने लगती है, कम्पन-सा होने लगता है, क्षोभ-सा उत्पन्न होने लगता है और वह क्षोभ ऊपर को दूसरे चक्र के साथ जुड़ता है। बहुत दिनों के या महीनों के अभ्यास से पुनः योगी उसको और कम्पायमान-सा करता है, पुनः वह ऊपर स्वाधिष्ठान नामक चक्र में प्रवेश करता है, या उसकी प्रतीति, गति-विधि, स्वाधिष्ठान चक्र में प्रतीत होने लगती है।

स्पर्श गुण वायु का है, प्राण का भी गुण स्पर्श है। क्षुब्ध-सी हुई प्राण शक्ति, जहाँ उसको अवकाश मिलता है उधर को गमन करती है। वास्तव में, बहुत-सी नाड़ियाँ, मूलाधार से प्रारम्भ होकर, ब्रह्मरन्ध्र के साथ में जा मिलती हैं। शब्द का वहन भी इनके अन्दर ही होगा। एक प्रकार से शब्द प्राण को उत्पन्न करता है, प्राण एक प्रकार से स्थूल शब्द को लेकर भी चलता है। जैसे, आकाश-मण्डल के अन्दर, वायु भी शब्द को लेकर चलती है। वायु को बन्द कर दिया जाए तो शब्द भी ध्वनि नहीं कर सकेगा। बार-बार प्रणव मानसिक जाप जो किया जाता है अथवा जप न करके मूलाधार को अश्विनी मुद्रा के द्वारा पुनः-पुनः संकोच किया जाता है। प्राणायाम करते हुए या बिना प्राणायाम करते हुए भी प्राणोत्थान हो जाता है। प्राण प्रत्येक स्थान में, स्पर्श करता हुआ, पदार्थों का ज्ञान कराएगा। जैसे प्रज्ञाचक्षु को, भवन के भीतर भेज दो, तो हाथ से स्पर्श करता हुआ, वह सब बता देगा। उस गृह में कितनी खिड़की हैं, कितने द्वार हैं, सब पहिचान लेगा। इसी प्रकार प्राण भी, स्थूल शरीर के विज्ञान को स्पर्श के द्वारा करा देगा। जैसे हमारी अँगुलियाँ स्पर्श कर बता देती हैं, यह अस्थि है, यह अमुक पदार्थ है। जैसे सूरदास, उभरे हुए शब्दों को पढ़ते थे, समझते थे। इसी प्रकार यह प्राण, इन शब्दों को लेकर चलता है और शब्द प्राणों को धक्का देता रहता है। वायु के अन्दर अनन्त शब्द, गतिशील होकर, वायु का रूप बनते रहते हैं। प्रत्येक क्षण उत्पन्न होते रहते हैं। अतः शब्द भी संसार के अन्दर अनन्त हैं। जितना यह आकाश पोल है यह सब शब्दों से भरा हुआ है। शब्दों का रूप ही यह है, जहाँ आप बोलो, वहीं शब्द उत्पन्न हो जाता है।

अब जैसे टेप के भीतर शब्द अंकित हुए हैं, ये शब्द ही तो हैं, जब यन्त्र चलाओगे तब बोलने लगते हैं, एक प्रकार से शब्द ही सर्वत्र व्यापक-सा बना हुआ है। ठोकर देने की, ध्वनि देने की, कम्पायमान करने की, गतिशील करने की, क्रियाशील करने की आवश्यकता होती है, जितने भी जड़ पदार्थ हैं उनके भीतर गति का हेतु चेतन बनता है।

जब तक आत्मा का सम्बन्ध शरीर में रहता है, तब तक समस्त कर्म और

व्यापार इसमें होते रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि जैसे अति मधुर-सा स्पर्श करती हुई कोई वस्तु चल रही हो। अति आनन्द की अनुभूति होती है, जैसे कोई छोटे कोमल नवजात शिशु को स्पर्श करें, तो उसका शरीर अति कोमल होता है, ऐसी कोमलता की अनुभूति शब्दों के द्वारा शरीर के भीतर प्रतीत होने लगती है। वह शरीर के भागों को दर्शाती चलती है। समझाता हुआ, प्रत्यक्ष करता हुआ, अनुभूति कराता हुआ, ऊर्ध्व गमन करता है।

इसके गमन, कुण्डलिनी शक्ति के सदृश, दो-तीन प्रकार के हैं, एक तो गमन यह है, कि यह सम्पूर्ण शरीर में विभु-सा, व्यापक-सा, होकर अनन्त शब्दों को लेकर चलता है और एक यह होता है कि केवल सुषुम्ना नाम की नाड़ी में ही प्रवेश कर चलता है। पुनः यहाँ कुछ कम्पन होकर, थरथराहट-सी उत्पन्न होकर, मधुर से स्पर्श की अनुभूति होती है। चक्रों के गुच्छकों का ज्ञान करा देती है। जिसको कि हम प्रकाश रूप गुच्छकों को, कुण्डलिनी उत्थान में देख रहे थे, समझ रहे थे। यहाँ नाड़ियों के गुच्छकों में जिनको हम चक्र कहते हैं। इन चक्रों के स्पर्श से, योगी को ज्ञान होता चला जाता है।

जो जन्म से अन्धा है, जिनको रूप का ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो हमें उनको भी कराना है, उनको भी समझाना है, स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा, प्राण के द्वारा, ये भी विज्ञान को प्राप्त कर लेंगे। इसलिए प्राण जब गमन करता है, उसके भी दो विभाग, कण्ठ में हो जाते हैं। जब यह सुषुम्ना में प्रवेश करता है, एक विभाग तो लघु मस्तिष्क में चला जाता है और एक विभाग आगे की ओर को चला जाता है। लघु मस्तिष्क में गया हुआ सुषुम्ना का प्राण होता है, दसों इन्द्रियों के जो अव्यक्त-से, कुंठित-से, अपूर्ण-से स्थान हैं, यहाँ पृष्ठ भाग में लघु मस्तिष्क में, उनका भी यह स्पर्श विज्ञान करा देता है। सब प्रकार की नस, नाड़ी, मांस की पेशी अस्थि आदि सबका ज्ञान हो जाता है। सामने से गया हुआ जो प्राण, एक प्रकार से, अन्दर निकलकर सूक्ष्म प्राण को भी जागृत कर देता है अथवा मस्तिष्क के भीतर, मांस की पेशियों की रचना है, वहाँ जो तरल भाग है, जिसको नेत्र से देख रहे थे, वहाँ प्राण स्पर्श के द्वारा अनुभूति करा देता है। आपने कभी देखा होगा जो अति सूक्ष्म मानसिक ओ३म् का जाप किया करते हैं, वहाँ भी ओ३म् के जप में जो ध्वनि उत्पन्न होती है, उस ध्वनि के द्वारा, वहाँ मधुर से स्पर्श की अनुभूति हुआ करती है। उस काल लोग यह कहा करते हैं, कि वह जो मधुर स्पर्श होता है, जैसे कोई पदार्थ टपक रहा है, उसको अमृत कहते हैं या और कुछ रूप दे देते हैं।

प्रणव जप के द्वारा, मधुर-सी उसकी अनुभूति होती है। वहाँ आनन्द की अनुभूति होती रहती है। अतः प्राणोत्थान, स्थूल शरीर की रचना को दर्शाने का हेतु होता है। चक्रों के विज्ञान का और ब्रह्मरन्ध्र के विज्ञान का भी हेतु हो जाता

है। यदि देखा जाय, जिस समय चित्त का आत्मा के साथ संयोग होता है, उस समय प्रथम शब्द की उत्पत्ति होती है, शब्द का निर्माण होता है। उन दो वस्तुओं के संयोग से होता है। जब वह संयोग होता है तो उससे शब्द उत्पन्न होता है। और वह शब्द प्राण या गति को उत्पन्न करता है और सूक्ष्म प्राण के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार चित्त और आत्मा का संयोग, सूक्ष्म प्राण को उत्पन्न कर देता है, जो कारण शरीर के जीवन का आधार बना रहता है। यदि सूक्ष्म प्राण वहाँ न हो, तो अहंकार आदि पदार्थों में वहाँ गति नहीं होगी। क्योंकि सूक्ष्म प्राण का जो स्थान है, वह चित्त ही है। चित्त में ही सूक्ष्म प्राण की उत्पत्ति होती है।

स्थूल प्राण एक प्रकार से तो सम्पूर्ण शरीर में वर्तमान है। प्रत्येक भूत के, दस प्रकार के विभाग या दस प्रकार के भेद कर दिए हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों में, भिन्न-भिन्न रूप से यह कार्य करता है। स्थान के भेद से, प्राण का भी भेद हो जाता है। पार्थिव अंश से हमारे शरीर की नस, नाड़ी, मांस आदि मोटी-मोटी वस्तुएँ बनी हुई हैं। पृथ्वी, उपादान कारण रूप है। जल, रस, रुधिर, रज, वीर्य आदि मूत्र आदि का उपादान कारण हैं। अग्नि, वायु आदि गौण रूप से इसमें मिलकर कारण हैं। शरीर में अंग-प्रत्यंग आदि की अनुभूति होती है। यह स्थूल भूतों का ही एक प्रकार से विकार हैं, इसमें सत्त्व प्रधान हैं। जैसे यहाँ अनुभूति होती है, उसी प्रकार प्राण के द्वारा कारण शरीर का जीवन-सा बना रहता है, और अहंकारादि वने रहते हैं, गतिशील-से रहते हैं।

एक प्रकार से चित्त और अहंकार का हृदय में जो संयोग होता है, वहाँ चित्त की सर्वप्रथम वृत्ति, क्रिया, प्राण ही उत्पन्न होता है। प्राण, अन्तःकरण की सबसे प्रथम वृत्ति है। प्रतीत होता है, कि पतंजलि ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने पंच ही वृत्ति मानी है, इसके आगे की छठी वृत्ति, प्राण वृत्ति की ओर, उनका ध्यान ही नहीं गया। प्राण के बाद, स्मृति वृत्ति की उत्पत्ति होती है, इन्होंने प्राण को तो स्पर्श किया भी नहीं। इनको या तो पता नहीं था अथवा इनका ध्यान नहीं गया। प्राण नाम की जो वृत्ति है, वह सर्वप्रथम है। उसके पश्चात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति वृत्तियाँ अन्तःकरण में उत्पन्न होती हैं अथवा चित्त में उत्पन्न होती है। सर्वप्रथम वृत्ति, हमारे चित्त की वह प्राण रूप वृत्ति है। प्राण का इतना महत्त्व है, कि हम जब स्थूल शरीर के साथ, इसका सम्बन्ध बनाते हैं, तो नाभि से नीचे अपान प्राण का केन्द्र है। नाभि के नीचे जितने भी पदार्थ हैं, जितनी भी गतियाँ, कर्म आदि की हैं, नस-नाड़ियों के भीतर मूत्र का प्रक्षेपण, रज और वीर्य का नीचे को वहन है, फेंकना है, यह सब अपान प्राण का ही कार्य है।

यद्यपि प्राण तो एक ही था, परन्तु स्थान के भेद से, प्राण के भेद बन गए हैं। इसी प्रकार, तेज भी शरीर में एक ही है। शरीर के स्थान भेद से, तेज में भी

दस प्रकार के विभाग हो गए हैं। इसी प्रकार शब्दों के भी विभाग हो जाते हैं। प्राणमय कोश के विषय में तो इन आचार्यों ने कह दिया है, और अन्नमय कोश भी कह दिया; परन्तु इन्होंने जलीय कोश, आग्नेय कोश, शब्दीय कोश, इन तीनों कोशों के विषय में कुछ नहीं कहा।

हमने इन तीनों का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है, 'हिमालय का योगी' में इस विषय पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। और थोड़ा, ब्रह्म विज्ञान ग्रन्थ के भीतर भी वर्णन किया है। एक प्रकार से, पंचभूतों के पाँच कोश हो जाते हैं। प्रधानता जैसे अन्नमय कोश, प्राणमय कोश की है, वैसे ही आकाशीय कोश की भी प्रधानता है और आग्नेय कोश की भी प्रधानता है, इसी प्रकार जलीय कोश की भी प्रधानता है। क्योंकि जल के आधार पर ही पृथ्वी संघटित होकर स्थित हुई है। यदि आग लगाकर, इसमें जल को उड़ा दिया जाय, तो राख का ढेर और अस्थि रह जाती हैं। अतः जलीय कोश भी शरीर में वर्तमान है। इन आचार्यों को इसका स्मरण नहीं आया था, इनके समझ में नहीं आया था, इनको गौण समझकर छोड़ दिया। आग्नेय कोश की भी समस्त शरीर में उष्णता वर्तमान है। जब मनुष्य का मरणकाल आता है, साधारण बुद्धि के व्यक्ति तो हाथ-पैर और सिर गरम है या नहीं यही देखते हैं। जो ज्ञानी होता है वह नाड़ी को पकड़कर देखता है, कि प्राण गमन कर रहा है या नहीं। जैसे जीवन का आधार, हमारे शरीर के भीतर, प्राण है, वैसे जीवन का आधार तेज भी है, यह भी वैसा ही सहयोगी है। हमारे शरीर में अन्नमय कोश अन्न को खाकर पुष्ट रहता है। इसी प्रकार जलमय कोश है, यह जल को सेवन करके,पुष्ट रहता है। इसी प्रकार आग्नेय कोश भी है वह अग्नि का सेवन कर, बाहर से उष्णता का सेवन कर पुष्ट रहता है। उसी प्रकार आकाशीय कोश जो है, वह शब्दों को धारण कर पुष्ट होता रहता है। इस प्रकार इन पाँच कोशों की पुष्टि इन पंचभूतों के द्वारा होती है। पंचभूत इनके आधार बने हुए हैं। उन्हीं से इनकी उत्पत्ति होती रहती है। उन्हीं को यह सेवन कर पुष्ट होते रहते हैं। हमारे शरीर के भीतर, यह प्राण का महत्त्व है। यही तो विज्ञान की बातें समझने वाली हैं। पता नहीं आप तो परमात्मा के पीछे पड़े हुए हैं, और आत्मा के पीछे लगे हुए हैं, उनसे ही हमारा कल्याण होना है, ऐसे समझते हो। वास्तविक जो बात है विज्ञान की, उनकी ओर तो ध्यान नहीं जाता। जब तक इन कसौटियों पर रगड़ कर, तुम्हारी बुद्धि सूक्ष्म और तीक्ष्ण नहीं हो जाएगी, तब तक उसमें आत्मा की अनुभूति नहीं होगी।

एक प्रकार से संसार प्राणमय ही है। यह सम्पूर्ण विश्व जो गतिशील हो रहा है, यह लोक-लोकान्तर, ग्रह आदि चल रहे हैं, यह प्राण के ही आधार पर चल रहे हैं। वह जो प्राण है, वह समष्टि प्राण है, ब्रह्माण्ड के भीतर समष्टि प्राण है। हमारे शरीर के भीतर व्यष्टि प्राण है। व्यष्टि प्राण हमारे शरीर की गति का

हेतु है। समष्टि प्राण, ब्रह्माण्ड के अन्दर, पदार्थों की गति का हेतु बना हुआ है। अतः प्राण की बड़ी महत्ता है। प्राण का आधार शब्द या आकाश है। आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। आकाश के गुण शब्द हैं। यह शब्द ही, वायु के रूप में परिणत हो जाते हैं। वायु ही तेज का रूप धारण कर लेती है। तदन्तर आकाश और वायु मिलकर जल का रूप धारण कर लेते हैं। यह चारों मिलकर, एकत्र होकर, संघात भाव को प्राप्त होकर, वाष्प के रूप में बनकर, पृथ्वी के स्थूल रूप को धारण कर लेते हैं। इस प्रकार भूतों की उत्पत्ति और क्रम चलता रहता है। हमारे शरीर के भीतर, प्राण की बड़ी प्रधानता है। प्राण के विज्ञान को समझना चाहिए। यदि प्राण का विज्ञान बुद्धि में आ जाय, तो आत्मा का ज्ञान भी हो जाएगा, क्योंकि यह तो आत्मा की अपेक्षा स्थूल विज्ञान है।

व्याख्यान-९४

इस मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति है।

ओ३म्—प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर्जायमानो बहुधाभिजायते।
तस्य योनिम् परिपश्यन्ति धीराः परीत्यस्मान् लोकान् अमृताः भवन्ति ।।
अथर्ववेद ।।

इस वेद मन्त्र में भगवान् के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। उसकी प्राप्ति के लिए कहते हैं कि 'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर्जायमानो'—प्रजापति, जो भगवान् है, इस प्रजा का सृजन करने वाले हैं, गर्भ के अन्दर जैसे बालक जायमान होता है, इसी प्रकार वह सम्पूर्ण विश्व में जायमान है, प्रकट रूप से वर्तमान है। 'तस्य योनिम् परिपश्यन्ति धीराः'— दो प्रकार का कारण होता है। अर्थात् एक उपादान कारण, एक निमित्त कारण। 'तस्य योनिम्'—उस निमित्त कारण भगवान् को। 'परिपश्यन्ति'—देखते हैं, जानते हैं, प्राप्त करते हैं। 'धीरा'—विद्वान और ज्ञानी लोग।'परीत्यस्मान् लोकादमृता भवन्ति'—और फिर वे किस गति को प्राप्त होते हैं? 'परीत्य'—मर कर, 'अमृता भवन्ति' मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अर्थात् इस शरीर से मुक्त होकर परीत्य का अभिप्राय है, यह स्थूल शरीर। जो स्थूल बन्ध और मोक्ष का हेतु है, इससे मुक्त होकर, नित्य जो मोक्ष है, उसको प्राप्त करते हैं।

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्। अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते में"।। कठोपनिषद्—द्वितीय अध्याय, ६ मन्त्र।

'न साम्प रायः प्रतिभाति बालं'—जो अज्ञानी है, मूढ़ हैं उनको यह अध्यात्म मार्ग, यह श्रेय मार्ग, अच्छा नहीं लगता है। जो भगवान् के मिलन का पथ है उसका नाम रखा है श्रेय। जो यह सांसारिक मार्ग है, जिसमें सांसारिक लोग व्यस्त रहते हैं, उसका नाम है प्रेय। प्रेय मार्ग सबको प्रिय लगता है और सब लोग इसी में जाते हैं। यहाँ बाल शब्द का प्रयोग किया गया है। इनको श्रेय मार्ग, भगवान् का मार्ग अच्छा नहीं लगता। बाल का अर्थ है, अज्ञानी या छोटा। 'अयं

लोको नास्ति, पर इति मानी'—इनकी भावना यह हो गयी है कि इस संसार से परे और कुछ है ही नहीं। जो कुछ भी है, यही है। यूरोप में यही भावना अनेक वर्षों से जागृत हो रही है कि संसार से परे और कोई है ही नहीं, खाओ, पिओ, मौज करो और फिर भी वहाँ तृप्ति देखने में नहीं आती है। संसार से परे, इस भोग-युक्त जीवन से परे और कोई वस्तु है ही नहीं। 'पुनः, पुनर्वशमापद्यते में'—यमाचार्य नचिकेता को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वे पुनः-पुनः जन्म-मरण के बन्धन में पड़ते हैं, क्लेशों को भोगते रहते हैं, यह उपदेश उपनिषद् में दिया गया है।

मैं बाल्यकाल से ही इस योग मार्ग का पथिक बना हुआ हूँ और इसी मार्ग पर चल रहा हूँ। इसको मैंने श्रेय मार्ग समझा है, जिस मार्ग में आप लोग चले हो, उससे मैं तुम्हारी दृष्टि में भटक गया हूँ। परन्तु अपनी दृष्टि में मैं पूर्णतया ठीक मार्ग पर चला हूँ। क्योंकि योग के पथ को मैंने अपनाया है। गीता में कहा है "तपस्विभ्योधिको योगी, ज्ञानिभ्योयि मतोधिकः कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्मात् योगी भवार्जुन" ॥ गीता ॥ 'तपस्विभ्योधिको योगी'—जितने तपस्वी लोग हैं उनमें योगियों का पद अति उच्च है। तपस्वियों का अभिप्राय जैसे पंचाग्नि तपने वाले, धूनियाँ तपने वाले और शरीर को अनेक प्रकार से कष्ट देने वाले हैं।

संत रामदास नाम के तपस्वी सप्तसरोवर पर रहा करते थे। बारह वर्ष तक उन्होंने एक पैर को रस्सी बाँध करके वृक्ष की शाखा में लटका कर रखा था और एक पैर से खड़े होकर तपस्या की थी। बारह वर्ष एक पैर पर खड़ा रहना भी तपस्या कहलाता है। इन तपस्वियों से योगी का पद बहुत ऊँचा है।

योग का लक्षण किया है 'युज', युज समाधौ शब्द से योग की सिद्धि होती है। इसमें दो अर्थ होते हैं, भगवान् के साथ या आत्मा के साथ संबंध जोड़ना, 'योगो समाधि इति उच्यते' दूसरा अर्थ दिया है, योग का अर्थ समाधि है। समाधि की अवस्था में ही आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। वास्तव में यह मानव देह में ही आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार होता है अर्थात् यह मानव देह आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए ही प्राप्त होता है केवल भोग के लिए नहीं। मनुष्य के जीवन में यह विशेषता देखने में आती है, कि कर्म, भोग और ज्ञान। ज्ञान की ही विशेषता मनुष्य-जीवन में है। यदि ज्ञान नहीं होता तो कर्म और भोग पशुओं में भी है तब उसके समान मनुष्य का जीवन बनता। ज्ञान को यहाँ कहा है आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, क्योंकि सामान्य ज्ञान तो पशु में भी होता है। वे भी अच्छी-अच्छी घास खाना आदि पसंद करते हैं, उनमें भोग की कोई कमी नहीं है। वे भी मैथुन आदि करते हैं। सब इन्द्रियों के भोग करते हैं। यदि यह मानव देह प्राप्त करके भी, सम्पूर्ण जीवन इन भोगों में ही बिताना है, तो ऐसे जीवन में और पशु के जीवन में कोई अन्तर देखने में नहीं आता है। अतः कर्म, भोग और ज्ञान में, मनुष्य के जीवन में ज्ञान की ही विशेषता है।

इह चेदवेदोदय सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।
॥ केनोषनिषद् द्वितीय खण्ड—५ मन्त्र ॥

'इह चेदवेदोदय सत्यमस्ति'—इस मानव देह को प्राप्त करके यदि अपने स्वरूप को पहचान लिया, जान लिया कि मैं क्या हूँ, संसार में किसलिए आया था, क्या मेरा कर्त्तव्य था, क्या पहले भी कोई जन्म था या नहीं, मरने के पश्चात् भी मेरा कोई जन्म होगा या नहीं, क्या गति होगी, क्या मुझे करना चाहिए था, क्या मैं कर रहा हूँ ? यदि तुमने अपने स्वरूप को नहीं जाना, ब्रह्म की भी बात जाने दो, सम्भवतः उसके बिना भी हमारा काम चल जाएगा, परन्तु कम से कम हमें अपने आत्मा को तो जानना चाहिए, कि हम क्या हैं ? प्रतिक्षण हम अपनेपन की भावना प्रकट करते रहते हैं। प्रत्येक व्यवहार में जैसे मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं करता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मेरा परिवार, मेरा बेटा, मेरी बेटी, मेरा सब कुछ सम्पूर्ण जीवन जन्म से लेकर मरण तक करते रहते हैं। जन्म होते ही क्या-क्या करने लगता है। जन्म से लेकर अहंकार की भावना और ममता की भावना को लेकर उत्पन्न होता है, इसी को लेकर मरण भी हो जाता है।

यदि इस अहंकार पर ममता पर विजय प्राप्त कर लिया जाय तो सम्भवतया ज्ञान हो जाएगा। यह अहंकार का ही आवरण आत्मा के ऊपर पड़ा हुआ है। हम जिस हृदय रूपी मन्दिर में आत्मा के साक्षात्कार के लिए, ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए प्रवेश करते हैं, वहाँ हमने सर्वप्रथम अहंकार का ही आवरण बतलाया है। क्रमपूर्वक वर्णन इसका किया जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि आप लोगों के अन्दर जिज्ञासा तो जागृत हैं, तभी तो इतनी दूर से चल कर आए हो। परन्तु यह जिज्ञासा यहाँ मुझे तो ऐसा लगता है १५ दिन शिविर यहाँ लग रहा है, यह तुम्हारा अभ्यास, तुम्हारी साधना कुंजर स्नान के बराबर देखने में आती है। हाथी ग्रीष्मकाल में प्रेमपूर्वक स्नान करता है गंगा में, नदियों में, फिर सूँड से मिट्टी वाहर से उठाकर अपने ऊपर ही फेंकने लगता है। यह जो प्रातःकाल का समय है वह आपका आध्यात्मिक जीवन है, शान्ति का जीवन है, प्राप्ति का जीवन है, यह विशेष रूप से मेरा प्रयास है, तुम्हारा भी है, क्योंकि अन्तःकरण तो तुम्हारा है। परन्तु भूमि थोड़ी-बहुत निर्मित हुई होगी या संस्कार जागृत हुए होंगे। भूमि की भी बात जाने दो, परम्परा से पाप-पुण्य के संस्कार तो हैं। इस प्रकार के जो धार्मिक भावना के संस्कार हैं, जो कार्य-क्षेत्र को देखकर पनपने लगते हैं, भोगोन्मुख हो जाते हैं। साधना करने के लिए तुम्हें देश भी अच्छा मिल गया है, मैं तो हिमालय में तपस्या करता रहा, तुम इसे ही हिमालय समझ लो, १५ दिन के लिए। यह कार्य-क्षेत्र जब निमित हो जाता है, फिर काल भी होगा, यह प्रातःकाल में, ब्रह्ममुहूर्त में, मीठी निद्रा को छोड़कर आते हो, समय भी दे रहे हो। निमित्त भी बन गया है,

मेरा भी यहाँ आगमन हो गया है, यह एक प्रकार से कल्याणजनक है।

निमित्त दो प्रकार का हुआ करता है, एक चेतन दूसरा जड़। स्थान, सब व्यवस्था आदि भी निमित्त बन गए। मैं भी निमित्त बन गया। अब सामग्री है, क्योंकि यदि दुकान खोली जाय उसमें क्रय न हो और ग्राहक अच्छे न आएँ, सामान अन्दर अच्छा हो तो क्या होगा? इसलिए उत्तम सामग्री की भी आवश्यकता है। देश, काल, निमित्त और सामग्री, जब यह चार वस्तुएँ एकत्रित होती हैं पुरुषार्थ के द्वारा तब जो पहले पड़े हुए संस्कार होते हैं, पुनर्जन्म के या इस जन्म के संग्रह किए हुए संस्कार पड़े हुए हैं, वे आकर कार्य-क्षेत्र में फलोन्मुख हो जाया करते हैं। अब यह तुम्हारे संस्कार फलोन्मुख इन १५ दिन में होने जा रहे हैं।

परन्तु हाथी का स्नान नहीं करना है। यह जीवन तो ऐसे बीत जाना है। मर कर भी तो छोड़ना ही है, मर कर भी तो हटना ही है, यह जीते जी इस लोक से हट जाय तो उसमें बड़ी प्रसन्नता, बड़ा हर्ष होता है। और नहीं तो मृत्यु आ करके गर्दन दबा देगी। तब भी तो छोड़ना है, तब भी तो अलग होना है। यह ठीक है, देखो, लोक-व्यवहार तो मैं भी कर रहा हूँ, मैं भी तो ९ महीने देश-विदेश में प्रचार करता रहा और यहाँ भी आकर विश्राम ही नहीं मिला। कहीं शिविर, कहीं प्रचार, कहीं कुछ, कहीं कुछ हो रहा है। काम तो करना है, आगे मैं अपने लिए करता था अब अपने लिए आवश्यकता नहीं है। मेरी अपनी तृप्ति हो गई है। आगे मैं अपने लिए नाना प्रकार की साधनाएँ किया करता था, कष्ट उठाता था, अब आप लोगों के लिए कर रहा हूँ। प्रातः शीघ्र उठने को अब मेरा चित्त नहीं करता जैसी वेदना युवावस्था में थी, मैं अपनी साधनाओं के लिए लगा हुआ था अब तुम्हारे लिए वेदना हो गई है। यदि मैं साधना नहीं करता तो आराम से सोता, बैठता, इच्छानुसार उठ बैठता। कहने का तात्पर्य यह है, यह जीवन सम्पूर्ण संघर्षमय बीतता है। "न च इन्द्रस्य सुखं किंचित् न सुखं चक्रवर्तिना। सुखं अस्ति विरक्तस्य मुनिरेकांत जीविना ।।" संसार में राजा, चक्रवर्ती कोई भी सुखी नहीं है। जो एकान्त, शान्त में बैठकर निर्द्वन्द्व होकर कहीं हिमालय की कन्दराओं में साधना करता है, आत्मचिन्तन जो करता है, कहते हैं वही सुखी है।

स्कूल में बच्चे पढ़ते हैं, प्रत्येक वर्ष उनकी परीक्षा होती है और वे सफल होकर एम० ए० तक चले जाते हैं। परन्तु आप लोगों को कई वर्ष हो गए हैं पढ़ते हुए इस आध्यात्मिक विद्यालय में। तुम्हारी कोई न तो आज तक परीक्षा हुई और न कोई उन्नति देखने में आई। अपने आप तुम चाहे भगवान के भी ऊपर बन जाओ, क्योंकि अपनी बुद्धि मनुष्य को अधिक अच्छी लगा करती है दूसरे की कम। अपना ज्ञान अधिक दृष्टिगोचर हुआ करता है परन्तु हमारी दृष्टि में, हम तो उसको समझेंगे उन्नत हुआ है, जो अनेक वर्षों से साधना कर रहा है और वह आश्रम के अनुकूल गृहस्थाश्रम से उपराम होकर घर को छोड़कर पत्नी के साथ जंगल में

चला जाए, वन में चला जाए, उसको समझेंगे उन्नति। फिर वानप्रस्थ के पश्चात् संन्यस्त हो जाए। ऐसे तो देखने में आए नहीं।

हमारे पास उच्चकोटि के दो महात्माओं का आगमन हुआ, एक महात्मा आनन्दस्वामी जी और महात्मा प्रभु आश्रित जी। यह दोनों संन्यासी आए शेष और गृहस्थी आए। गृहस्थियों को हमने बहुत उठाने का प्रयत्न किया। इनका प्रारम्भ भी बड़ा ऊंचा और घंटों तक की समाधि में भी पहुँच जाते थे। नये-नये वैरागी आए थे, समाधियाँ भी लगाते थे और उन समाधियों का फल फिर घर ही रहा। उनको तो निकल कर, बन में जाकर, हिमालय में जाकर वास करना चाहिए था। ५५-६० की उमर बीत गई। इस प्रकार का जीवन देखने में नहीं आता है। अभी कहने की बातें हैं, करने में जीवन में नहीं आता। जब आप लोग हिन्दू हो, आर्य हो, सनातनधर्मी हो, और आश्रम-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था जानते हो। वर्णाश्रमों की व्यवस्था के बिना कोई भी बहुत उन्नत नहीं होगा।

उन्नति हम दो प्रकार की समझते हैं, भौतिक और आध्यात्मिक। पश्चिम के देश भौतिक उन्नति कर चुके हैं। वर्तमान में, और अशान्त जीवन देखने में आ रहा है। जब तक भौतिकवाद के साथ अध्यात्मवाद नहीं होगा वह भौतिकवाद भी सरस नहीं बनेगा। नीरस ही रहेगा। उनका भौतिकवाद देखने में आया है। आध्यात्मिक भावना साथ न होने से भौतिकवाद सरस नहीं बन पाया है। नीरस हो गए, भोग-भोग कर संसार के भोक्तव्य पदार्थों से भी दुःखी हो गए, अतः ऐसी स्थिति कभी यहाँ भी आयेगी। हमारे यहाँ के लोग तो, जो जिन भोगों को छोड़कर शान्ति की खोज अब करना चाहते हैं, उनका अनुकरण हम लोग करने जा रहे हैं। जो शान्ति के राज्य में निवास किया करते थे, वे उस अशान्ति की ओर, उन भोगों की ओर जिनको वे छोड़ करके भाग रहे हैं, ये उनके पीछे चल रहे हैं। मुझे वहाँ कहते थे, आप के देश में सभी योगी होंगे सभी योगिनी होंगी। आप वहाँ के योगियों को हमारे यहाँ क्यों नहीं भेजते ? उनकी सब व्यवस्था हम करेंगे, वे हमको अध्यात्म की शिक्षा दे दें। अब बतलाओ, किस को भेजें, कौन जाए ? कौन योगी बने हैं ? ऐसे हैं, जैसे मदारी की डुगडुगी होती है। जब वह मदारी आता है, उठाता है, डुग-डुग करने लगती है, फिर ठप्प हो जाती है। जब हम आते हैं ५-१० दिन कुछ उन्नति हो जाती है, फिर वह डुगडुगी वहीं पड़ी रहती है। जहाँ से निकल कर आए थे वहीं जा पहुँचते हैं। 'पंचों का सिर मत्थे, पर पर्नाला उत्थे रहना'। पर्नाला तुम्हारा नहीं हटना है। इस प्रकार का जो जीवन है, जिसमें उन्नति न हो, कोई कक्षा सफल न हो तो आप भी कैसे आगे चलेंगे। यह भी तो अध्यात्म की कक्षा है। हमने भी कक्षायें पढ़ी हैं, ६० वर्ष हो गए, एक प्रकार से पढ़ते हुए। कितनी कक्षायें तुमने अध्यात्म ज्ञान की पढ़ी हैं ? कितने आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी बने ? मेरे सम्पर्क में दो महात्मा आए, आनन्द स्वामी जी और प्रभुआश्रित जी। यह संन्यासी थे, उनमें

यह विज्ञान पनप गया और विकसित हुआ। शान्ति भी मिली। जो प्राप्त करने वाली वस्तु थी, वह प्राप्त भी की। परन्तु शेष और जितने आए इनके सब के वह हाथी के समान स्नान हुए। हिमालय में ज्ञान प्राप्त कर समाधियाँ लगा कर फिर उन्हीं नगरों में, वहीं घरों में, वही पत्नी, पुत्र परिवार में आकर बैठ गए। इसी कारण तो इस ओर लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती है। "यद्यदाचरति श्रेष्टस्तत देवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते।।" गीता—तृतीयोध्याय—२१ श्लोक।।

जैसा-जैसा कर्म और आचरण बड़े किया करते हैं, गुरुजन, माता-पिता किया करते हैं, उनकी संतान भी वैसा ही आचरण किया करती है। हम दूसरों को जो शिक्षा देना चाहते हैं, वह प्रथम आप ही तो ग्रहण करनी चाहिए। दूसरों को जो मनाना चाहते हैं, उस पर आप तो अनुकरण करें। जब तक हमारा जीवन इस प्रकार का नहीं होगा, हमारे जीवन का प्रभाव दूसरों पर नहीं पड़ेगा। दूसरों पर नहीं भी पड़े, हमारा तो जीवन ऐसा होना ही चाहिए कि कम से कम जिस निमित्त यह मानव देह मिला था उसमें तो हमारी तृप्ति हो जानी चाहिए। हमारा सन्तोष हो जाना चाहिए कि हमारा कर्तव्य, जिज्ञासा थी आत्मज्ञान की वह हो आना चाहिए। जिज्ञासा थी ब्रह्मज्ञान की वह प्राप्त होना चाहिए। जिज्ञासा थी जीवनमुक्ति की या मोक्ष की, वह भी इसी जीवन में प्राप्त करना चाहिए। इससे बढ़ कर और जीवन फिर मिलना नहीं है। 'प्रर्वयोनिम् सहग्राणी दृष्टवा चैव ततो मया। आहार विविधा भुक्त्वा पीता नाना विधा सदा"। अनेक योनियों में जाकर संसार के भोग भोगे हैं, खाया, पिया, जब उन अनेक जन्मों में तृप्ति नहीं हो पाई तो इस एक जन्म में और शेष आयु में जो अब रह गई है, जितनी भी है, १०-२०-२५-५०-१००, तो इसमें तृप्ति की क्या संभावना हो सकती है यदि अब तक नहीं हुई है तो। वास्तव में हमने अब तक तृप्ति के साधनों को अपनाया नहीं है।

तृप्ति हो जाती है, संतोष की कोई सीमा होनी चाहिए, तृप्ति की कहीं तो स्थिति होनी चाहिए। यह जो अतृप्ति है यह पुनर्जन्म का हेतु बन जाएगी। अब देख लो, सोच लो, जिस स्थिति में आप चल रहे हो, जैसे कर्म अब आप कर रहे हो, यदि मेरा आज मरण होता है, तो जिस प्रकार मैं कर्म कर रहा हूँ, वह तो बन्द हो जाएँगे। जैसे ध्यान में बैठा हूँ, समाधि में बैठा हूँ यह कर्म अच्छा है। यदि इसी में कहीं प्राण निकल जाते हैं तो आगे का कर्म फिर वही समाधि के जैसा ही मुझे प्राप्त होना चाहिए। जैसे रात जो कर्म करके सोये थे, प्रातःकाल पुनः उन्हीं को प्रारम्भ कर देते हैं, मरण भी ऐसा ही है। यदि भविष्य अच्छा बनाना है, पुनर्जन्म अच्छा बनाना है, तो वर्तमान को पहले अच्छा बनाओ, क्योंकि वर्तमान ही थोड़ी देर के बाद भविष्य बन जाता है।

आजकल तो हृदय-गति रुकने से मरण हो जाता है, उनको सौभाग्यशाली

भी कहेंगे और दुर्भाग्यशाली भी। क्योंकि कई कामना ले कर जाते हैं। दीर्घ काल तक जो लम्बा रोगी होकर चारपाई पर पड़ता है तो शनैः-शनैः जो वासनायें, कामनायें होती हैं वे शान्त-सी होती जायेंगी, तृप्त-सी होती चली जायेंगी। उस स्थिति में अब तो मरना ही है यह ज्ञान हो जाता है। एकदम मरण जो होता है इसमें कई कामनायें, कई वासनायें अधूरी-सी होती हैं। लम्बा पड़ा हुआ रोगी कामनाओं को त्याग भी देगा, छोड़ भी देगा। हाँ जो ज्ञानवान्, बुद्धिवान् हैं उनको तो अभी से ही जब कुछ ज्ञान हो जाय, तब ही से ही मरा हुआ समझ लेना चाहिए कि बस हम तो मर गए हैं या हमने १० वर्ष जीना है तब भी हमने और कुछ प्राप्त नहीं करने की है, कुछ नहीं लेना है। यदि हमने एक दिन जीना है तब भी हमारा कोई काम शेष नहीं है ऐसी स्थिति बना लेनी चाहिए। और विशेषकर ६० वर्ष से ऊपर वालों को तो चाहे हम कल ही चले जायें कुछ भी काम शेष न रहे और जो कामनायें हैं उनको शीघ्र पूर्ण कर लेना चाहिए। ऐसा जो मरण होगा उसका भविष्य भी अच्छा होगा। वर्तमान को जब तक अच्छा बनाया नहीं जाएगा तब तक मनुष्य का भविष्य अच्छा नहीं बनेगा।

अब आप लोगों ने करना क्या है, यह बुद्धिगम्य करने वाला, विचार करने वाला विषय है, क्योंकि पिछले वर्ष तो कोई ऐसा प्रमाण नहीं दिया गया जिससे हमें स्थिति का पता लग जाय कि किस-किसने कितनी कक्षा में सफलता प्राप्त की है। क्रम होना चाहिए। जैसे एक कक्षा रखी हुई थी, जो अभ्यासी कुण्डलिनी उत्थान, प्राणोत्थान के द्वारा विज्ञान का प्रारम्भ करेंगे, फिर ब्रह्मरन्ध्र के विज्ञान में पहुंचेंगे जहाँ सूक्ष्म शरीर का निवास है।

अन्य कक्षा है जो अभ्यासी ब्रह्मरन्ध्र में साधना कर रहे हैं। ब्रह्मरन्ध्र का साक्षात्कार और इसी के पदार्थों का विज्ञान प्राप्त करने का है। एक अन्य कक्षा थी हृदय-देश के विज्ञान की। इनका विज्ञान आत्मा के विषय में चित्त आदि के विषय में, परमात्मा के विषय में, सूक्ष्म प्राण के विषय में और हृदय में ही अभ्यास होना है। इसी प्रकार की साधना, इसी प्रकार का विचार, इसी प्रकार का कार्यक्रम विज्ञान चलना है, यह तीन मुख्य कक्षायें आप समझ लेवें।

कुण्डलिनी उत्थान और प्राणोत्थान से भी विज्ञान होता है। फिर ब्रह्मरन्ध्र की साधना से भी विज्ञान होता है और हृदय में अभ्यास करने से भी विज्ञान होता है। क्रम से आप को विज्ञान प्राप्त करना चाहिए। हृदय-देश में शाम्भवी मुद्रा के द्वारा विज्ञान होता है। मस्तिष्क में उन्मनी मुद्रा के द्वारा ज्ञान होता है। कुण्डलिनी में शक्ति संचालिनी मुद्रा के द्वारा विज्ञान होता है।

मैं अपनी मन की भावना को, आत्मिक शक्ति को, मूलाधार में आपके साथ जोड़कर आपके मन को वहाँ टिकाने का और ध्यान कराने का यत्न करूँगा। जो ब्रह्मरन्ध्र में अभ्यास करने वाले हैं उनको ब्रह्मरन्ध्र के विषय में ही प्रेरणा दिया

करूँगा। आत्मिक बल से उनको वहाँ ही लगाए रखूँगा, जोड़े रखूँगा और यह भी यत्न करूँगा कि वे पदार्थ आपके सामने स्फुटित हो जाएँ। जो हृदय-प्रदेश में अभ्याग करेंगे उनके मन को हृदय में लगाए रखूँगा ताकि वहाँ के पदार्थों का विज्ञान निर्भ्रान्त हो सकेगा।

जो जहाँ अभ्यास करते हैं, जिनका अभ्यास जहाँ चल रहा है, उसी क्रम से आपको साधना और अभ्यास करना है। पहले मिनट मेरे सामने त्राटक करें और त्राटक में यह भावना उत्पन्न करें कि जैसे इनकी ओर से हमें आत्मिक बल आ रहा है, कोई शक्ति हमारे साथ सम्बन्ध बना रही है प्राण के रूप में, चाहे किसी धारा के रूप में या कोई शक्ति के रूप में या ज्योति के रूप में, नेत्र के किरणों के रूप में आ रही है इस प्रकार की भावना कर लेना चाहिए। क्योंकि तीन प्रकार के पदार्थ बहने वाले होते है। वैसे तो जल भी बहता है, गन्ध भी बहती है, परन्तु यहाँ जैसे वायु वहन करती है तो यह प्राण का सम्बन्ध बना कर, उनके द्वारा मानसिक शक्ति खींची जाती है। मानसिक शक्ति ऐसी है कि जैसे यह आँख है, इनके साथ में एक दूरवीक्षण लगा दी जाए दूर तक देखने की तो दूर के पदार्थ दीखेंगे। इसी प्रकार मन रूपी दूरवीक्षण आँखों के साथ लगाई जाती है। मन रूपी दूरवीक्षण प्राण के साथ भी लगाई जाती है। मन रूपी दूरवीक्षण शब्द के साथ भी लगाई जाती है।

जो मानसिक शब्द का जप करने वाले हैं, हृदय में 'अहम् अस्मि' मन्त्र का जप करते हैं या 'अयम् अस्ति' यह ब्रह्म है इस प्रकार का जप करते हैं। यह शब्द के द्वारा अभ्यास कहलाता है क्योंकि शब्द के द्वारा भी आत्मा तक पहुँचा जा सकता है। प्राण के द्वारा भी आत्मा तक पहुँचा जा सकता है। ज्योति के द्वारा भी आत्मा के निकट पहुँचा जा सकता है। यह तीन साधन हैं। वैसे तो रस के द्वारा, गन्ध के द्वारा भी आत्मा तक पहुँचा जा सकता है। यह पाँच प्रकार के ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। यह समस्त साधन हैं मार्ग हैं आत्मा और परमात्मा के निकट पहुँचने के लिए, अभ्यासियों को इनमें जो अच्छा लगे उसको अपनाना होगा। प्राण के द्वारा पहुँचना चाहते हो तो पहले आप हृदय-देश में प्राण के धड़कन को ध्यान का विषय बना लेना, इसके द्वारा भी हृदय-प्रदेश में पहुँच जाता है या श्वास-प्रश्वास की जो गति है इसको पकड़ कर भी हृदय-प्रदेश में पहुँचा जा सकता है। श्वास की गति को अभ्यास से पहले मन्द कर लेना चाहिए, अति सूक्ष्म कर देना चाहिए, फिर यह मन्द गति चित्त के निकट तक ले जाएगी। इसी प्रकार शब्द की गति को भी माध्यम बनाना पड़ेगा। तेज की अपेक्षा प्राण और शब्द सूक्ष्म हैं, इनके माध्यम से भी आत्मा तक पहुँचा जा सकता है।

कुण्डलिनी जागरण के अभ्यास में भी, जो कुण्डलिनी उत्थान करना चाहते

हैं, प्राणोत्थान करना चाहते हैं, या विज्ञान करना चाहते हैं, उनको मूलाधार में अभ्यास करना चाहिए। चक्रों का सम्बन्ध विशेष रूप से प्राण के साथ में वहाँ रहता है। जहाँ चक्र रहते हैं वहाँ प्राण भी रहते हैं। वैसे तो प्राण सम्पूर्ण शरीर में रहता है, परन्तु मुख्य रूप से चक्रों के साथ रहता हुआ योगी को शरीर का विज्ञान कराने में और आत्मा तक ले जाने में सहायक बनता है।

व्याख्यान-९५

आत्मा अणु है या विभु अथवा सावयव है या निरवयव ।

ओ३म्—यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ।। ऋग्वेद ८-४४-२३ ।।

हमने अपने ग्रन्थों में ब्रह्म को निरवयव सिद्ध किया है और आत्मा की मोक्ष में स्थिति बतलाई है । जब तक प्राण और मन का इसके साथ में सम्बन्ध रहता है तब तक भेद बना रहता है । जब इसका मोक्ष होता है तब सब भेद निवृत्त हो जाते हैं । अब शंका यह होती है कि वह भेद क्या पूर्व कभी उत्पन्न हुआ था जो अब वह विनाश भाव को प्राप्त होने जा रहा है ? यदि हम जीवात्मा को इसका अंश या पुत्र मान लेवें अथवा इसमें से उत्पन्न हुआ मान लेवें तब उसमें जाकर विलीन होकर तद्रूप हो जाएगा । जैसे एक गड़वा जल गंगा से भर कर लाया और पुनः गंगा में जाकर उसको डाल दिया । अब यह लोटा तो लाए थे उधर गंगा से, परन्तु जीवात्मा को कहाँ से लाए थे ? आया कहाँ से ? अब यह कहोगे कि अनादि काल से आ रहा है । अब यह जीवात्मा अनादि और सान्त बन गया । क्योंकि ब्रह्म में जाकर विलीन होकर एक ही भाव को प्राप्त हो गया । विलीन और संयोग दोनों शब्द भिन्न हैं और दोनों का अर्थ भी भिन्न-भिन्न है । विलीन और संयोग दोनों शब्दों के अर्थ में भेद हैं । परन्तु यहाँ लीन शब्द का अर्थ है कि अपने भेद और अस्तित्व को वह पदार्थ मिटा देता है । जैसे दूध है और जल है । अब जल को डाला जाय दूध में, वह लीन हो गया दूध का ही रूप बन गया । वहाँ से पुनः उस जल का यन्त्र आदि के द्वारा पृथक्करण किया जा सकता है, क्योंकि पहले वह भिन्न जाति वाला जल था और पुनः वह दूसरी जाति वाला बन गया । अब आत्मा के विषय में इसकी उत्पत्ति का तो कोई वर्णन नहीं किया गया । जीवात्मा को नित्य और अनादि मान कर उसकी सान्त या लीन अवस्था मानी है ।

अब शंका यह होती है कि वह जीवात्मा जड़ है अथवा चेतन ? अद्वैतवाद माया को अनादि और सान्त मानते हैं । इनके मन्तव्य के अनुसार जीवात्मा भी अनादि और सान्त हो जाते हैं । परन्तु मैंने पहले भी अनेकों बार कहा था कि अनादि और सान्त होने वाला, जिसका कोई आदि न हो, जिसकी कोई उत्पत्ति न

हो और उसका विनाश हो जाय, ऐसी कोई बात देखने में नहीं आती। किसी की यदि उत्पत्ति हुई है, तो उसका कभी विनाश भी होगा। नित्य का, कभी विनाश नहीं होता। हाँ, एक बात होती है कि प्रकृति को हम मिटा नहीं सकते, समाप्त नहीं कर सकते। स्वरूप से तो, वह वर्तमान रहेगी, परन्तु उसमें कार्य-कारण भाव रूप से परिवर्तन होते रहते हैं। एक अवस्था से, दूसरों अवस्था को प्राप्त होती रहती है। इसी प्रकार, जीवात्मा में भी, अवस्थान्तर परिणाम होकर क्या अपने कारण में वहाँ जाकर लीन हो गया?

वह भगवान् उसका निमित्त कारण था अथवा उपादान कारण था? उपादान कारण जैसे मिट्टी को घड़े के प्रति कहते हैं और कुम्हार को निमित्त कारण कहते हैं। इसी प्रकार भगवान् वहाँ क्या निमित्त कारण था या उपादान कारण था, जो लीनता की बात कही गयी है? लीनता तो सिद्ध करती है कि जैसे वह उपादान कारण ही हो। यह उसका कार्य है पुनः यह उसमें जाकर विलीन हुआ। परन्तु जीवात्मा की उत्पत्ति का कभी वर्णन नहीं किया गया है। इसलिए, उपादान कारण, सिद्ध नहीं हो सकता और लीनता भी सिद्ध नहीं हो सकती, जहाँ तक कार्य-कारण भाव न बने। क्योंकि जो गुण कारण में हुआ करते हैं, वे कार्य में आया करते हैं। जैसे एक गेहूँ का दाना है अथवा मटर का दाना है, वह खेत से आया, हमने खाया, शरीर में वह पाक रूप को प्राप्त कर मल के रूप में बना। पुनः खाद के रूप, उसको जाकर पौधों में डाल दिया। पुनः वह परिणाम रूप को प्राप्त होकर, उसमें मिश्रित होकर, अंकुर में जाकर, दूसरे रूप में, पुनः दाना बन कर आ गया। यह है एक प्रकार से, कारण से कार्य की उत्पत्ति।

जो कारण में गुण हुआ करते हैं वे कार्य में आया करते हैं। यदि हम भगवान् से जीवात्मा की उत्पत्ति मानते हैं तो भगवान् परिणामी हो जाएगा। प्रकृति के समान हो जाएगा, जैसे प्रकृति से, चित्त बुद्धि आदि की, उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार परमात्मा से भी जीवों की उत्पत्ति होगी, यह बात भी नहीं बनती है। यदि जीव को हम अनादि मान लेते हैं तो अनादिता उसकी बन सकती है, और नित्यता भी बन सकती है, वह कैसे? जैसे, एक जड़ पदार्थ है, दूसरा चेतन पदार्थ है। एक सर्वव्यापक चेतन सत्ता भगवान् है, दूसरी उससे सूक्ष्म और स्थूल सर्वव्यापक जड़ प्रकृति है। जड़ और चेतन, इन दोनों का नित्य सम्बन्ध बना रहता है। नित्य सम्बन्ध बना रहने से भी प्रकृति में उत्पत्ति, विनाश और प्रलय भी हम देख रहे हैं। संसार में पदार्थ का परिणाम देख कर हम यह अनुमान कर लेते हैं, कि कभी यह भवन बना था। यह जीर्ण-शीर्ण होकर भूमि में जाकर विलीन हो जाता है। पहले ईंट, पत्थर सीमेन्ट आदि के रूप में, भूमि से उत्पन्न होकर आया था और पृथ्वी में ही इसकी परिसमाप्ति सी हो जाती है। न तो जीवात्मा का उपादान कारण भगवान् सिद्ध होता है, न जीवात्मा का उपादान कारण प्रकृति

सिद्ध होती है। जीवात्मा नाम की जो तीसरी वस्तु है, वह क्या है? कहाँ से आई है? विलीनता, तुम क्यों इसकी मानते हो, जब यह कहीं से आई नहीं है। नित्य है, तो इसका अन्त और अभाव भी कैसे होगा?

एक प्रकार से यह सब समाधान हो जाता है, जब कि दो पदार्थ हम मान लेते हैं—एक जड़ और एक चेतन। चेतन जो है, इसको निरवयव सभी मानते हैं, मैं भी मानता हूँ। परमात्मा निरवयव है, प्रकृति सावयव है। प्रकृति में परिणाम उत्पन्न होता है। अतः वह सावयव सिद्ध होता है। चेतन नित्य और निरवयव ही सिद्ध होगा। इसमें कभी विकार आएगा ही नहीं। अब जीवात्मा की कुछ ऐसी स्थिति-सी हो जाती है कि न इधर का रहा न उधर का। न यह भगवान् का बना न प्रकृति का बना। यह बीच-बीच में ही रहा। यह आया भी कहीं से नहीं और विलीन भी जाकर हो जाएगा। यह तो बात बनती नहीं है। इसका आना भी और विलीन होना, दोनों को, यदि मान लिया जाए, तब तो मानो बात बन जाएगी।

इसकी नित्यता और अणुता भी हम सिद्ध करना चाहते हैं क्योंकि कल, परसों के व्याख्यानों में भी हमने कहा था, यदि एक ही चेतन ब्रह्म को मान कर, एक ही चेतन आत्मा को मानकर, और चित्त का सम्बन्ध उसके एक देश में मान लेते हैं। जैसे इस आकाश-मण्डल में हजारों यान चल रहे हैं, उन वायुयानों को अवकाश देने वाला यहाँ आकाश है। आकाश वायुयानों के साथ सम्बन्ध कर अन्दर और बाहर हो जाता है। वायुयानों में आकाश अन्दर भी है बाहर भी है क्योंकि इनकी गति के लिए अवकाश देता है। अन्दर भी उसके जो ठोस पदार्थ हैं, वहाँ भी सूक्ष्म रूप से आकाश वर्तमान रहता है, क्योंकि उन ठोस पदार्थों में भी शब्द की उत्पत्ति होती रहती है। आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि से सूक्ष्म है, विभु है। इसी प्रकार परमात्मा, प्रकृति से सूक्ष्म है। चित्त, अन्तःकरण से भी सूक्ष्म है यह अन्तःकरण का चित्त, जब परमात्मा के साथ चिपक जाएगा, सम्बन्धित हो जाएगा, उसी को क्यों न उतने देश की चेतन सत्ता को, जीवात्मा मान लिया जाय?

मैंने पहले, आत्मा को, पृथक् रूप में, अपने आत्मविज्ञान ग्रन्थ में वर्णन किया है परन्तु एक बात मुझे जचती नहीं थी, खटकती रही कि परमात्मा तो निरवयव है। मैं जीव को भी निरवयव सिद्ध करता, तो परमात्मा के देश में तो वह ठहर नहीं सकेगा क्योंकि भगवान् तो निरवयव है। अब वह प्रकृति के देश में ठहरेगा। यदि उसको भी निरवयव मानते हैं तो अनेक निरवयव सिद्ध नहीं होते। निरवयव तो एक ही वस्तु माननी पड़ेगी। उस एक वस्तु की निरवयवता तब ही सिद्ध होगी जब वह सबको व्याप्त करके ठहरे। परमात्मा सबको व्याप्त करके ठहरेगा तब ही उसकी निरवयवता सिद्ध होगी। जिन पदार्थों को वह व्याप्त करके ठहरेगा, उनमें सावयवता सिद्ध होगी। अतः तुम्हें पुनः पृथक जीवात्मा में भी,

सावयवता रूप गुण मानना पड़ेगा। जैसे स्वामी दयानन्द जी आदि दूसरे आचार्यों ने माना है। जीव में ईश्वर का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध नहीं होता। निरवयव कहते हैं जिसके टुकड़े न हों। जिसको तोड़कर, काट-काटकर छोटा न बना सकें, उसका नाम है, निरवयव। जिसके टुकड़े हो जाएँ या कार्य बन जाए, अनेक पदार्थ बन जाएँ, उसको सावयव कहते हैं। परमात्मा ऐसी तो वस्तु है नहीं जो सावयव हो सके, वह तो निरवयव है। इससे कोई जीवात्मा उत्पन्न हो जाय या सूक्ष्म बनकर निकल जाय या इसका बच्चा बनकर निकल जाय, यह तो बात इसमें बनती नहीं। जीवात्मा की आवश्यकता तो है शरीर को, क्योंकि इससे भोग लेना है। ब्रह्म, जो हृदय देशावच्छिन्न है आत्मा या ब्रह्म है इसको ही क्यों न आत्मा संज्ञा दे दी जाय।

वैसे तो ब्रह्म सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त माना जाएगा, सर्वव्यापकता भी सिद्ध होगी। चित्त में ही उसकी क्यों अनुभुति या प्रतीति हो, चित्त के साथ ही क्यों उसका इस प्रकार का सम्बन्ध माना जाय, क्योंकि चित्त में भोगात्मक शक्ति है। आत्मा में तो भोगात्मक शक्ति नहीं है वह निरवयव है। परमात्मा में भी भोगात्मक शक्ति नहीं है और कर्तृत्वात्मक शक्ति भी नहीं बनती है। परमात्मा को हम कर्ता न भी मानें, तो भी, उसके सन्निधान मात्र से सृष्टि के सब कार्य हो जायेंगे। परमात्मा को कर्ता मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। कर्ता तो हमेशा एक देशी हुआ करता है। सर्व देश के साथ में कर्तृत्व रूप धर्म नहीं जोड़ा जा सकता है। कर्तृत्व रूप धर्म से जिस देश में जो आप काम कराना चाहते हैं कर्ता बनाकर, वहाँ तो परमात्मा पहले ही सर्वव्यापक रूप से वर्तमान है, पुनः उसमें कर्तृत्व रूप मानने की क्या आवश्यकता है? अतः परमात्मा में कर्ता रूप धर्म या कर्म रूप व्यापार नहीं होता है। कर्तृत्व रूप धर्म प्रकृति में और चित्त में ही मानना पड़ेगा, क्योंकि इनमें परिणाम-क्रम है, एक अवस्था से दूसरी अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं।

आत्मा और परमात्मा में अवस्थान्तर परिणाम नहीं होता। यदि अवस्थान्तर परिणाम मानें तो दोनों विकारी हो जाएँगे और प्रकृति के समान हो जाएँगे। वहाँ जड़ विकारवान है यहाँ चेतन विकारवान होगा। इस प्रकार की समस्याएँ सारे ऋषियों, मुनियों के भीतर बनी रहीं। मनन, निदिध्यासन, चिन्तन, विचार आदि करते रहे, अपने-अपने निर्णय ग्रन्थों में लिख-लिखकर देते रहे।

मुझे कोई कह रहे थे, कि आपके विचार में कुछ परिवर्तन हो गया है, पहले तो आप कहते थे, कि मुझे आत्मा का पता लग गया, ज्ञान हो गया, अब पुनः इतनी विवेचना आत्मा-परमात्मा के विषय में क्यों करते हो?

देखो, मैंने अब किसी का रूप देखा, उस आकार रूप आदि से यहाँ अमुक व्यक्ति बैठा है यह ज्ञान हो गया। पुनः उसके विषय में अध्ययन करना आरम्भ करता हूँ। आत्मा का दर्शन तो कर लिया, परमात्मा का दर्शन भी कर लिया, अब आत्मा और परमात्मा के विषय में अध्ययन कर रहा हूँ, मनन कर रहा हूँ। आत्मा-

परमात्मा के एक-एक देश की छान-बीन करके देख रहा हूँ। क्यों इनके इतने हाथ हैं, क्यों इनके पाँच-पाँच ही उँगलियाँ हैं, क्यों इस प्रकार की अस्थियाँ हैं, क्यों इनका रंग ऐसा है, क्यों इसका आकार ऐसा है, नाक इस प्रकार की है, कान इनके ऐसे हैं, शरीर गोरा है, काला है, मैं इसी का अध्ययन कर रहा हूँ। अब इस अध्ययन की कोई सीमा नहीं है। इस प्रकार के विज्ञान की सीमा नहीं है। अन्ततोगत्वा जैसे एक व्यक्ति पकते हुए चावलों को ऊपर से दो-चार दाने देख कर उसका अनुमान कर लिया करता है कि समस्त चावल पक गए हैं। यह भी बात हो सकती है मैंने एक व्यक्ति देख लिया, ठीक है यह अमुक व्यक्ति है। अब इसके विषय में विशेष अध्ययन करना चाहता हूँ। उसके एक-एक देश को एक-एक स्थिति को इस प्रकार के विज्ञान को जानना चाहता हूँ।

इसके विषय में ऋषियों को मुनियों को एक जन्म नहीं कई-कई जन्म भी लग जाया करते हैं। कई जन्म भी इस प्रकार के आत्मा और परमात्मा के विषय में अनुसंधान करते-करते ब्रह्म के विषय में खोज करते-करते हो जायेंगे। अंत तो उसका नहीं पा सकेंगे, इतना लम्बा-चौड़ा है; फिर भी जहाँ तक शक्ति है वहाँ तक तो उसको समझ कर ही छोड़ेंगे। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी शक्ति सीमित है। मैं तो केवल स्थाली पुलाक न्याय से कह रहा हूँ, यदि हम संतोष कर लेंगे तो! अरे भाई, यह अमुक व्यक्ति है, यह आत्मा है, अथवा परमात्मा है, इस प्रकार संतोष कर लेवें, तब तो सम्भव है कि मोक्ष हो जाएगा और दूसरा जन्म न हो। यदि अनुसंधान करना प्रारम्भ कर देंगे, विवेचना प्रारम्भ कर देंगे जैसे भोज पत्र के पत्ते-पत्ते उखाड़ते चले जाओ अथवा प्याज के छिलके उतारते चले जाओ अन्दर कुछ नहीं निकलता। इसी प्रकार इस आत्मा और परमात्मा के विषय का अध्ययन करते-करते इनके छिलके उतारते जायें। अतिसूक्ष्मता से, विज्ञान की दृष्टि से, समाधि की गहनतम दृष्टि से, प्रवेश करते चले जायें, छिलके उतारते जायेंगे तो आत्मा और परमात्मा के विषय में अन्त में कुछ नहीं मिलेगा। जैसे कि भोज पत्र के भीतर पत्रों की तह जमी हुई होती है। अन्त में कुछ नहीं निकलता, यह आत्मा और परमात्मा का ज्ञान भी ऐसे ही है।

एक चेतन सत्ता को मानकर जड़ का उसके साथ में सम्बन्ध किया जाय। कई आचार्यों ने यही वर्णन किया है। ब्रह्म को निरवयव मानकर जीवात्मा का पूर्व जहाँ अन्तःकरण का जब तक सम्बन्ध रहा था, तब तक एक जैसी स्थिति बनी रही, जब तक द्वैत भाव बना रहा। तब जाकर इसने प्राण, मन और बुद्धि का परित्याग कर दिया, पुनः परमात्मा में मिलकर एक ही भाव को प्राप्त हो गया। अब एक ही भाव को प्राप्त होना एक स्वरूप से होता है, एक विजातीय रूप से होता है, एक सजातीय रूप से होता है। जैसे विजातीय रूप दूध और जल है। विजातीय रंग और जल है। रंग को जल में डालोगे वह तद्रूप-सा हो

जाएगा। यह विजातियों का मेल है। परन्तु इस रंग को दूर भी किया जा सकता है। क्योंकि वह विजातीय था। विजातियों में तो भेद हो सकता है, सजातियों में भेद नहीं होता, क्योंकि जिस देश की आत्म संज्ञा चेतन की बनाई थी वह एक प्रकार से जब अंतिम अवस्था आयेगी, एक क्षण से, उत्तर क्षण में मोक्ष होगा। तब अन्तःकरण अपनी प्रकृति में चला जाएगा। उस देश के रूप में तुम उसको आत्मा समझ लो या परमात्मा समझ लो। वहाँ बात कुछ कहने की बनती नहीं है, क्योंकि उस काल में अन्तःकरण नहीं रहता है। शरीर नहीं रहेगा। शरीर और अन्तःकरण ही इस भेद ज्ञान का या किसी भी प्रकार के विज्ञान का वर्णन करने में समर्थ होते हैं। मन, वाणी इन्द्रियाँ यह ही विज्ञान को प्रकाशित कर सकते हैं। विचार सब के सुनने चाहिए। जो तुम्हारी अपनी इच्छा में आए, तुम्हारे अपने ज्ञान में आए, वही बात ठीक समझी जाएगी। उसी पर तुम अपना निर्णय पृथक्-पृथक् कर सकोगे। अतः यहाँ दो पदार्थों को सिद्ध किया है।

आत्मा को अनादि माना है। अनादिता तो है ही, क्योंकि चित्त का सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है, और सान्त इसलिए है, कि जब चित्त अपनी प्रकृति में लीन हो गया, आत्मा न पहले उत्पन्न हुआ था और वर्तमान में भी इसकी स्थिति चेतन के रूप में हुई और अन्त में भी चेतन के रूप में हुई, कोई तीसरा पदार्थ, तीसरी वस्तु बनाने या मानने की आवश्यकता नहीं। एक ही चेतन में भ्रान्ति या अज्ञान हो गया था कि यह आत्म संज्ञा है। यह जीवात्मा है। अन्यथा प्रलय काल की अवस्था नहीं होती है। जिस काल प्रलय हो जाता है उस काल भी तीनों प्रकार के शरीरों के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है। उस काल जिस स्थिति में आत्मा को मानोगे, जिसके गर्भ में उसका निवास मानोगे, उसके आकर्षण का हेतु वही चित्त क्यों रहे ? अब वहाँ तो आत्मा रल-मिल जायेंगे जैसे एक जाति के समस्त मनुष्य बैठे हैं। यदि एक विजातीय घोड़ा लाकर वहाँ बीच में खड़ा कर दिया जाय, उसको तो शीघ्र देख लेंगे। यदि एक ही जाति के व्यक्तियों में एक व्यक्ति को ढूँढना हो, उसमें बहुत विलम्ब होगा। जैसे दो जुड़वां भाई हुआ करते हैं या बहिनें हुआ करती हैं, उनमें भेद का ज्ञान करना अति कठिन हो जाता है। इनमें पहला कौन-सा है और दूसरा कौन-सा है। प्रायः उनके स्वाभाव मिले-जुले से होते हैं। प्रलयकाल की अवस्था में आत्माओं की एक समान संज्ञा हो जाती है।

अपने स्वरूप में आत्माओं की स्थिति होती है अथवा ब्रह्म के स्वरूप में उनकी स्थिति होती है। पुनः जब उनका प्रादुर्भाव होगा तब कैसे आत्मा अपने अन्तःकरणों को ढूँढते फिरेंगे या चित्त उन आत्माओं को जो एक सदृश थे उनको ढूँढने में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाएगी। यदि इस प्रकार का एक आत्मवाद मान लिया जाय जैसे आकाश अनन्त है इसमें वायुयान-प्रक्षेपणास्त्र आदि चल रहे हैं,

घूम रहे हैं, और इस आकाश के साथ ही उन सब का सम्बन्ध बना रहता है। आकाश में कोई विकार नहीं आता। विकार तो गमनागमन रूप धर्म वायुयानों में होता है। आकाश में कोई गमनागमन रूप धर्म नहीं होता है। आकाश सबको स्थान देता है, सम्बन्ध बनाता है। आकाश का सम्बन्ध प्रत्येक पदार्थ के साथ बना रहता है।

इसी प्रकार परमात्मा का सम्बन्ध प्रत्येक चित्त में मान लिया जाए, क्योंकि कर्तापन, भोक्तापन तो चित्तों के ही धर्म हैं। चित्त में ही परिणाम, भोग, मुक्ति, बन्ध सब कुछ चित्त में ही होगा। आत्मा शुद्ध, निर्लेप और परमात्मा भी निर्लेप बने रहेंगे। शेष और एक बात रही, अब तीनों प्रकार के सम्बन्ध शरीरों के छूट जायेंगे वहाँ भेदक ज्ञान कराने वाली कोई वस्तु नहीं होगी। अतः जब तक अन्तःकरण का सम्बन्ध रहता है और शरीरों का सम्बन्ध रहता है तब तक समस्त मानवों के व्यवहार भेदात्मक ही होते हैं, वहाँ अभेदता आती ही नहीं, परस्पर भेद बना ही रहता है। जहाँ परिणाम-क्रम हुआ करता है वहाँ भेद अवश्य हुआ करता है। अतः प्रकृति और अन्तःकरणों में ही भेद मानना पड़ेगा।

अब शंका होती है कि जड़ पदार्थों के अन्दर भोग कैसे सिद्ध होगा? जड़ के अन्दर जैसे लोहे के साथ में विद्युत का सम्बन्ध हो गया है उसमें दाह शक्ति और प्रकाश शक्ति आ जाती है इसी प्रकार चेतन का अन्तःकरण के साथ में सम्बन्ध होने से उसमें भोक्तृत्व और कर्तृत्व धर्म आ जाते हैं। क्यों न इसकी ही भोग और अपवर्ग मान लेवें क्योंकि चित्त में परिणाम-क्रम होता है। इसका बन्ध भी होगा, मोक्ष भी होगा। आत्मा न बन्धा है, न उत्पन्न हुआ है, न उसको मोक्ष की बात बनती है। बन्ध और मोक्ष हम आत्मा में मानते हैं, इस भ्रान्ति को हमें दूर करना है। भोग दुःख, क्लेश आदि चित्त के अन्दर अन्तःकरणों के अन्दर होते हैं। हम आत्मा के ऊपर आरोप करते रहते हैं। इसके ऊपर ऐसे ही थोपते रहते हैं। अपराध किसी का दण्ड किसी और को देने चलते हो। दण्ड देते हो आत्मा को, अपराध तुम्हारे अन्तःकरण का है। भोग और अपवर्ग भी अन्तःकरण का ही मानना पड़ेगा। अतः यहाँ आकर अनेक लोग नास्तिक बन जाते हैं।

भगवान् की आवश्यकता भी क्या है, और आत्मा की भी आवश्यकता क्या है, ऐसे कहते हैं। आवश्यकता तो है, क्योंकि बिना चेतन के सम्बन्ध के जड़ में गति और क्रिया कर्म और व्यापार नहीं होता। हम चेतन का निषेध नहीं करते, चेतन से इन्कार नहीं करते, और दोनों ही चेतन को एक प्रकार से मानते हैं। परन्तु उसी एक चेतन का देश विशेष जहाँ हमारे अन्तःकरण, चित्त का उसके साथ सम्बन्ध होता है, वहाँ हमें भेद भी प्रतीत होने लगता है। अन्तःकरण के सम्बन्ध से जैसे अनेक कटोरियों में जल भर कर रख दिया जाय, उसमें एक चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब प्रत्येक कटोरी के जल में पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार जो

चेतन सत्ता आत्मा की है उसके आभास या प्रतिबिम्ब प्रत्येक अन्तःकरण के चित्त में पड़ते हैं। उन चित्तों के आधार पर भोग, कर्म और व्यवहार चलते रहते हैं। मरण, उत्पत्ति, विनाश इनका ही होता रहेगा। इसमें क्यों आपत्ति उठाते हो, इसके ऊपर क्यों आक्षेप उठाते हो, परिणाम क्रम क्योंकि जड़ में हो रहा है, रूपान्तर जड़ में हो रहा है। चेतन आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं है। यह अवस्थान्तर धर्म आत्मा में नहीं आता क्योंकि वह निरवयव है, चेतन है, उस चेतन में यही विशेषता है। उसके सन्निधान से जड़ नृत्य करने लगती है, नाचने लगती है, लोकान्तरों को उत्पन्न करने लगती है, कूदने लगती है, उछलने लगती है, सृष्टि का सृजन करने लगती है।

जो कारण में गुण हुआ करते हैं, वे कार्य में आया करते हैं, जितने संसार में दृश्यमान पदार्थ हैं, यह सब प्रकृति का ही विस्तार है, प्रकृति के साथ ही हमारा सम्बन्ध है, भोग है, उसी से हम बँधे हुए हैं और प्रकृति से ही मुक्त होना है। तुम आत्मा-परमात्मा को अधिक छेड़ो नहीं, उनको कष्ट न दो। तंग न करो, उनको सुरक्षित रहने दो। कष्ट देने वाली तुम्हें यह प्रकृति है। यह संसार के भोग पदार्थ हैं। ये परिवार है। जड़ और चेतन, दो पदार्थ तुम्हारे बन्धन और सुख-दुःख का हेतु हैं इनसे तुम्हें विरक्त होना है। यदि मुक्ति लेनी है तो पहले इससे मुक्ति लो, जिससे तुम बँधे हुए हो। आत्मा से बंधे हुए नहीं। परमात्मा से भी बँधे हुए नहीं। बंधे हुए हो संसार से। संसार से मुक्त होना है, न कि आत्मा-परमात्मा से होना है। मुक्ति तो संसार से है, बंधे हुए भी संसार से हो, परिवारों से हो, पदार्थों से हो। धर्म, ऐश्वर्यों से बँधे हुए हैं। मुक्ति भी हमारी इनसे होनी है, न कहीं आना है न कहीं जाना है। केवल बन्धन का विच्छेद करना है, अविद्या का नाश करना है, क्योंकि अविद्या से ही हमें यह भ्रान्ति हुई है। अथवा अज्ञान से ही हमें यह भ्रान्ति हुई है। संसार को नाशवान जानते हैं, जानते हुए भी आँखें बन्द करके इसको नित्य बनाने का प्रयत्न और चेष्टा करते रहते हैं। जैसे संसार भी अजर और अमर रहेगा, मैं भी अजर और अमर रहूँगा। इस प्रकार के समस्त साधन, कर्म और व्यापार सम्पूर्ण जीवन करते रहते हैं। अन्त में रोते, चिल्लाते हाथ खाली करके चले जाते हैं। यह तो हमारा विचार हुआ।

परमात्मा का हम निषेध नहीं करते क्योंकि जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक तो भेद बना ही रहता है। मोक्ष होने के बाद हम भेद नहीं करते। किसी ने आकर हमें नहीं सुनाया कि मोक्ष में भगवान मिल गया था, अब निकल कर चला आया हूँ और वहाँ से सुख-दुःख आनन्द की बात भी किसी ने आकर नहीं सुनाई। केवल हमारे अपने अनुमान ही हैं, प्रत्यक्ष को देखकर।

हम प्रत्यक्ष में, जिस समय ध्यान में बैठते हैं, मन समाहित-सा हो जाता है। शान्ति और आनन्द की अनुभूति होने लगती है। उस समय मन, बुद्धि आदि के

विकार शान्त हो जाते हैं। जो विकार इसमें उलट-पलट कर रहे थे, जो चंचल बनाए हुए थे, वे विकार थोड़ी देर के लिए दूर हो जाते हैं, शान्ति और आनन्द की अनुभूति होने लगती है। अब इस वर्तमान की शान्ति को देखकर शरीर के रहते हुए हम मरने के पश्चात् भी वैसा ही अनुमान करने लगते हैं। सम्भवतः मोक्ष में भी हमें इसी प्रकार की शान्ति मिलेगी। इसी प्रकार का आनन्द मिलेगा। आनन्द और शान्ति का हेतु तुम्हारा यह चित्त ही है। सब हमारे वर्तमान के भाई वन्धु लोग यही शान्ति और अशान्ति की बात करते हैं। अतः शान्ति और अशान्ति को यहीं भोगना है, यहीं इनकी प्राप्ति होनी है। शान्ति और अशान्ति, सुख और दुःख एक ही बात है, क्योंकि शान्ति किसी क्रय केन्द्र से नहीं क्रय की गई है और अशान्ति भी नहीं क्रय की गई है। और दोनों क्रय केन्द्र से क्रय भी की जाती हैं, जैसे सम्बन्ध बनाते हैं, व्यवहार करते हैं, समस्त ही अनुकूल व्यवहार नहीं होते, हमारे विपरीत भी व्यवहार होता है। हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारा कर्म हो जाता है। या कोई उसमें आकर आक्षेप डालते हैं, विरोध करते हैं। तब हमारे मन में भी हलचल होने लगती है। चंचल हो उठता है। अशान्ति का अनुभव होने लगता है। हमारे अनुकूल कोई कर्म हो, उसमें शान्ति की अनुभूति करने लगते हैं। वह शान्ति और अशान्ति केवल मन के ही धर्म और विचार हैं। एक कर्म में पहले हम दुःख समझा करते थे, अन्त में कोई ऐसा अवसर आता है उसी को हम सुख समझने लगते हैं। जिसको पहले हम सुख रूप समझते थे, विचार शक्ति ने काम किया अन्त में उसी को हम दुःख समझते हैं। सुख और दुःख एक प्रकार से बुद्धि के विचार हैं, उसकी भावनाएँ हैं, उसके परिणाम हैं, उसका रूपान्तर है। आत्मा का कोई रूपान्तर नहीं है, परमात्मा का कोई रूपान्तर नहीं है। रूपान्तर तुम्हारी बुद्धि या चित्त के परिणामों का है, चित्त की अनन्त वृत्तियों का है। इसमें प्रतिक्षण परिणाम-क्रम उत्पन्न होता रहता है।

चित्त और आत्मा का जब संयोग होता है, इनके सम्बन्ध से प्राण की उत्पत्ति होती है। प्रकृति और ब्रह्म का जब आदि सृष्टि से संयोग होता है उससे समष्टि प्राण की उत्पत्ति होती है। यहाँ हमारे शरीर में व्यष्टि प्राण की उत्पत्ति होती है। वास्तव में चित्त की एक क्रिया विशेष का ही नाम प्राण है और प्रकृति की एक क्रिया विशेष का ही नाम समष्टि प्राण है। समष्टि और व्यष्टि प्राण नाम की कोई पृथक् वस्तु नहीं है, उसकी ही अवस्था विशेष है। यदि देखा जाए तो चित्त की जो प्रथम वृत्ति हुई है वह प्राण के रूप में उत्पन्न हुई है, अन्य वृत्तियाँ पीछे हैं। यह प्राण की चित्त की और अन्तःकरण की एक वृत्ति विशेष है। जो प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति यह पाँच वृत्तियाँ मानी हैं, और छठी वृत्ति यह प्राण है। योग दर्शन में इस प्राण रूप वृत्ति का वर्णन नहीं किया परन्तु सांख्य ने, एक स्थान पर सीमित रूप में, एक सूत्र लिख कर दिया है कि यह जो पंच वायु है, "अन्तः करणस्य

वृत्ति विशेषः" ऐसा सूत्र है, यह प्राण अन्तःकरण की ही वृत्ति विशेष है।

जब चित्त और आत्मा का सम्बन्ध होता है वहाँ प्राण शक्ति या क्रिया शक्ति होती है। वह प्राण शक्ति हमारे अन्दर चेतना का प्रसार करते हुए जीवन का आधार-सी बनी हुई है। जैसे तार विद्युत को वहन कर ले जाती है। इसी प्रकार सूक्ष्म चेतना की शक्ति, शक्तिमान होकर चलती है। आत्मा में कोई परिणाम नहीं होता, परिणाम चित्त में होकर यह चेतनवत् सा बनकर जैसे विद्युत के संयोग से लोहे का गोला भी आग का अंगार बन कर, दाह्य का हेतु बन जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण के संयोग से चित्त भी अंगारे के रूप में दाहक रूप बन जाता है। इसी प्रकार परमात्मा के संयोग से प्रकृति भी दाहयुक्त, क्रियायुक्त, व्यापार युक्त बन कर जगत् का सृजन करने लगती है। यह व्यवस्था आत्मा और परमात्मा की है।

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा-परमात्मा के विषय की बात चल रही है। परमात्मा भिन्न है अथवा अभिन्न है, यह वाद-विवाद तुम छोड़ दो। पहले तो अपने अन्दर समझ लो। मेरा आत्मा कितना बड़ा, कितना छोटा है। उसका भगवान के साथ संतुलन बाद में करना, पहले अपने आपको तो पहचान लो, पहले भगवान की चिन्ता क्यों करते हो, अपने आप की चिन्ता क्यों नहीं करते हो? क्योंकि मरना है कम से कम हमें, या तो विदित हो जाय कि हम मरने जा रहे हैं। यह शरीर मरेगा अथवा मैं मरूँगा या मरने वाला क्या पदार्थ है? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है, मैं क्यों संसार में आया था, क्या मेरा कर्तव्य था, क्या कर रहा हूँ? मृत्यु के पश्चात् मेरी क्या गति होगी, कहाँ से मेरा आगमन हुआ था? किसी प्रकार कर्मों का प्रवाह, जो हम में प्रवाहित हो रहा है। वास्तव में जन्म-मरण नाम की कोई वस्तु नहीं है। यह कर्मों की जो निरन्तर शृंखला चल रही है, यही धारा बह रही है। कर्मों की और जन्म-मरण की, जब तक कर्मों की शृंखला उत्पन्न होती रहेगी और चलती रहेगी तब तक जन्म-मरण का प्रवाह बन्द नहीं होगा।

कर्म भी दो प्रकार के होते हैं। एक ज्ञान पूर्वक कर्म, एक अज्ञान पूर्वक कर्म। अज्ञान पूर्वक कर्म जैसे इस पंखे का अथवा वायु का हो रहा है। ज्ञानपूर्वक कर्म जो हो रहा है वह हमारा कहलाता है। हमारे भीतर जितना कर्म होगा वह ज्ञान पूर्वक होगा। पंखे के भीतर जो कर्म हो रहा है वह अज्ञान पूर्वक होता है। ज्ञान और अज्ञान का भेद है। कर्म हमारे भीतर भी वर्तमान है पंखे में भी वर्तमान है। हमारे अन्दर ज्ञान और अज्ञान की ही विशेषता है। ज्ञान और अज्ञान ही बन्ध और मोक्ष का हेतु है।

अज्ञान बन्ध का हेतु है और ज्ञान मोक्ष का हेतु है। ज्ञान होने पर परम वैराग्य की आवश्यकता होती है, क्योंकि अनादि काल से प्रकृति के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। इसके सूक्ष्म संस्कार हमारे भीतर वर्तमान रहते हैं। उन संस्कारों को असम्प्रज्ञान समाधि की स्थिति में निरोध करके उनका स्रोत बन्द करना

होगा। विनाश तो उनका नहीं होता। जैसे अग्नि पड़ी हुई है। उसको राख से दबा दिया जाय, वह अपना कर्म व्यापार करना बन्द कर देगी। भले वहाँ अग्नि जीवित सी पड़ी रहे। इसी प्रकार अज्ञानात्मक कर्म जो पड़े थे उनको शुक्ल कर्मों से ज्ञानात्मक कर्मों से दबाना है। पुनः वे शुक्ल कर्म मोक्ष का हेतु बनेंगे। चित्त इनको लेकर अपनी प्रकृति में प्रवेश कर जाएगा।

जब तक इच्छा, वासना, तृणायें, संस्कार ये हैं, यह ही जन्म-मरण का हेतु बनेंगे। धर्माधर्म की बात जाने दो, इच्छा हो, संस्कार हो, वासना हो, यह जन्म का हेतु बनेंगे। इच्छा, तृष्णा, वासना, संस्कार इन सबका निरोध करना है। जब यह निरुद्ध हो जायेंगे, इनमें और कोई आगे कर्म कराने की समर्थ नहीं रहेगी, शिथिल हो जायेंगे जैसे किसी को नपुंसक कर दिया जाता है, ऐसे ही एक प्रकार से तृष्णा, वासना, संस्कारों को नपुंसक सा कर प्रकृति में छोड़ देना है, जिससे वह भोग देने के लिए पुनः-पुनः हमारे जन्म-मरण का हेतु न होवें।

अतः कहा गया है कि मोक्ष अनादि और सान्त है। अनादि सान्त कैसे, जैसे जब विवेक हो गया, आत्मा का दर्शन हो गया है अब अन्त में जाकर भगवान ही आत्मा था, न कोई भेद की बात बनी, अभेद सा रहा। भेद की बात तब तक ही बनी रही जब तक कि अन्तःकरण था। भाई, जब तक तुम्हारा अन्तःकरण रहना है, मन, बुद्धि के चित्त अहंकार रहने हैं, भेद ही समझना है, अभेद तो कहीं मरने के पश्चात् मोक्ष होने पर होगा। होता रहे उससे हमने क्या लेना है, हमें तो वर्तमान चाहिए। यह जो भेदवाद है यह तुम्हारे उत्थान का, ज्ञान का, वैराग्य का हेतु बनेगा और यह तुम्हें किसी ऊँचे स्थल पर ले जाएगा जो तुम्हारी मंगल कामनाएँ है, शुभ कामनायें हैं। जो संसार के भोग ऐश्वर्यों से संतप्त होकर शान्ति की खोज करना चाहते हो, शान्ति के मार्ग पर चलना चाहते हो, श्रेष्ठ मार्ग पर चलना चाहते हो, उस ओर को आपका गमन होगा। भगवान के सन्निधान से आपका कल्याण होगा। भगवान आपको सुख और शान्ति प्रदान करेंगे. स्थायी शान्ति और आनन्द का स्रोत आपके अन्तःकरण में चिर काल पर्यन्त बहता रहेगा।

व्याख्यान-९६

चार प्रकार के योग द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ।

ओ३म्—प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजाय मानो तस्ययोनिम् परि पश्यन्ति धीराः ।
परी त्यस्मां लोका अमृता भवन्तिः ।।

इस मंत्र में भगवान् की उपासना की गयी है, उसके गुणों का वर्णन किया गया है, एक प्रकार से प्रार्थना की गयी है । "प्रजा पतिश्चरति गर्भेऽन्तर जाय मानो" प्रजा का सृजन करने वाला पति स्वामी जो भगवान् है । 'चरति गर्भेऽन्तर जाय मानो" प्रत्येक पदार्थ के गर्भ में स्थित है, लोक लोकान्तर, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और हमारे भीतर वर्तमान है । ध्यान समाधि के अन्दर प्रकट भी होता है, उसकी अनुभूति होती है । 'तस्ययोनिम् परिपश्यन्ति धीरः" सब उसके निमित्त कारण भगवान् को ज्ञानी,धीर,विद्वान,भक्त,योगी सब देखते हैं,दर्शन करते हैं, 'परीत्यस्मां' लोका अमृता भवन्ति' और इस संसार को छोड़ कर इससे निवृत्त होकर अथवा देह को त्याग कर अमृत कहते हैं मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

चार प्रकार के योग के क्रम से हम कक्षायें चला रहे हैं जो समाधि के द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने वाले अभ्यासी हैं । चिरकाल के अभ्यास से जिनकी मानसिक स्थिति स्थिर हो गयी है कि उनको जाप आदि की आवश्यकता नहीं है । जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध बनाना चाहते हैं अथवा जानना चाहते हैं पूर्णतया उनकी दृष्टि वहाँ ही जाकर स्थिर हो जाती है और उसी पदार्थ के विषय में विवेचना प्रारम्भ करते हैं, मनन प्रारम्भ करते हैं अथवा उनका साक्षात्कार करना प्रारम्भ करते हैं, ऐसी स्थिति वाले योगियों के लिए आज का विषय रखा गया है । ब्रह्मरन्ध्र के भीतर मन और बुद्धि की क्रिया कैसे होती है, क्या इनके स्वरूप हैं, कैसे इन दोनों का व्यवहार होता है, किस स्थिति में इनका व्यवहार बन्द होता है और किस स्थिति में इनका व्यवहार होता रहता है ।

शरीर के साथ इनका क्या सम्बन्ध है । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय आदि इन चार अवस्थाओं में इन दोनों की स्थिति कैसी होती है, यह विषय समाधि योग वालों के लिए है । समाधि योग के द्वारा जो तत्त्वज्ञान करने वाले हैं । वास्तव में उनके लिए तो दीर्घ काल की आवश्यकता है । एक घन्टे से तो कुछ बनता नहीं

है। प्रथम सबको इतना नियन्त्रण तो नहीं होता कि जब चाहो, जहाँ चाहो मन को वहाँ लगा दो, यह तो अति उत्तम योगियों की बात होती है।

आज बुद्धि और मन के विषय में वर्णन करूँगा। क्या इस मस्तिष्क में एक ही करण है या दो करण हैं? बुद्धि और मन दो करण हैं। जो इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध कर व्यवहार करने वाले हैं क्या एक करण से काम नहीं चल सकता है, दोनों करणों की क्या आवश्यकता है? बुद्धि सीधी ही इन्द्रियों के साथ व्यापार करा लेवे, मन की बीच में आवश्यकता क्या है? इस विषय में मनन निदिध्यासन और साक्षात्कार समाधि वाले करें।

द्वितीय कक्षा ध्यान योग की है। ध्यान के विषय में बात यह है कि ध्यान अनेक प्रकार का है, बाह्य और आभ्यन्तर ध्यान। जैसे बहुत से लोग ईश्वर को ध्यान का विषय बनाते हैं। ध्यान का विषय जैसे पृथ्वी है, पृथ्वी का कार्य कोई पुष्प है, जैसे गुलाब का पुष्प है, गेंदे का पुष्प है, चमेली का पुष्प है अथवा किसी प्रकार की गन्ध है। जैसे हम अति श्रेष्ठ गुलाब को लेकर उसकी गन्ध को कभी सूँघा है ऐसे पुष्प का स्मरण किया जाय, स्मरण कर उसकी गन्ध का आकर्षण किया जाय अनुभव किया जाय। परमात्मा का कोई आकार नहीं है, देखा भी नहीं है, जब उसको आप ध्यान का विषय बना सकते हैं तो उस पुष्प को क्यों नहीं ध्यान का विषय बना सकते हो। यद्यपि पुष्प को तो देखा भी हुआ है।

पाँच प्रकार की धारणा और ध्यान का विषय होता है। उसमें प्रथम स्तर है गन्ध का। किसी भी प्रकार की गन्ध को ले लो, उस गन्ध का गन्ध सार को लो पुष्प न लो,कोई दूर देश में रखा हो या देखा सूँघा हो उस गन्ध सार का भी स्मरण करें उस गन्ध को भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। जैसे मैंने गुलाब के पुष्प का ध्यान किया, गुलाब का पुष्प भी मेरे ध्यान में बना रहे, उसकी गन्ध भी मुझे प्रतीत होवे। जब भगवान् का कोई आकार-प्रकार नहीं देखा, वह ध्यान का विषय बन रहा हैं, तुम्हारे आनन्द, शान्ति का विषय बनता है। यह पुष्प क्यों नहीं बन जाएगा। जिसकी आकृति, वर्ण आदि देखा है उसको स्मरण करते हुए, उसको ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। और यह ज्ञात भी हो जाता है उस पुष्प पर कितनी समय तक मन स्थिर रहता है, कितनी देर में भागता है।

यह तो गन्ध के विषय में धारणा ध्यान बना क्योंकि हमारे योग के आचार्यों का तो क्रम यह है कि धारणा के पश्चात् ध्यान की स्थिति आती है। जिस पदार्थ को धारणा का विषय बनाया गया है वहीं पदार्थ ध्यान का भी विषय बनेगा वही समाधि का भी विषय बनेगा। पुनः यह तीनों का संयम बनेगा। जो योगी जिस पदार्थ को विज्ञान का विषय बनाता है उसको पहले वह धारणा का विषय बनाया करता है, उसी को वह ध्यान का विषय बनाता है पुनः उसी को समाधि का विषय बनाता है। जिस विषय पर धारणा, ध्यान, समाधि तीनों हुआ करती हैं

वह संयम का विषय बन जाता है। संयम का विषय वह पदार्थ नहीं बनेगा। जैसे धारणा तो की है गुलाब के पुष्प पर, ध्यान का विषय बना लिया मोतिया का पुष्प, समाधि का विषय बना लिया गेंदे का पुष्प, इसका संयम नहीं बनेगा। 'त्रयमेकत्र संयमः' योग द० ३-४ ॥ इन तीनों अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि एक ही पदार्थ पर प्रयत्न किया जाय तब वह संयम होता है, तभी उस पदार्थ का यथार्थ साक्षात्कार होता है अतः ध्यान योगियों को, गन्ध का विषय लेकर ध्यान का विषय बनाना चाहिए।

द्वितीय रसना का विषय है। इसको भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। जैसे किसी को मिठाई अतिप्रिय है। वह कहीं भी रखी हुई हो उसको स्मरण करते हुए ध्यान का विषय बनाया जाए। अनेकों को तो उसको देखते ही या स्मरण करते ही मुख में रस आने लगता है, ध्यान की स्थिति में भी रस आने लगता है, ध्यान की स्थिति में भी गन्धानुभूति होने लगती है। ऐसे बहुत अभ्यासी कहा करते हैं, और होता भी है।

इस प्रकार कोई नमकीन पदार्थ या खट्टा नीबू आदि है, उसको स्मरण करते हुए उसके रूप का पदार्थ स्मरण करते हुए उसको भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। अभ्यासी उसको पहले स्मरण करता है, आकार-प्रकार, स्वाद आदि स्मरण करता है वह धारणा का विषय बनता है, पुनः जब जिह्वा में स्राव-सा होने लगे, उसकी खटास की अनुभूति होने लगे तब समझें मेरा ध्यान परिपक्व हुआ, पुनः वह समाधि का विषय भी बन जाता है। उसको स्मरण करते हुए वह क्या गुण है, किन-किन कार्यों में या प्रयोगों में आता है, कैसे उत्पन्न होता है, क्या आकार-प्रकार है, क्या रंग है उस नीबू का स्मरण करते हुए, वही समाधि का विषय हो जाएगा। चाहे उसके भीतर गुण और दोष भी हो, यह हुआ जलीय धारणा का विषय।

इसी प्रकार रूप भी है। जैसे कोई मूर्ति हमने पूर्व कभी देखी है, उसको स्मरण करते हुए ध्यान का विषय बना लेते हैं, अथवा कोई महापुरुष है अथवा किसी का कोई अपना प्रिय इष्टमित्र है, उसको भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। किसी पदार्थ का पुनः-पुनः स्मरण उसका नाम अभ्यास है। 'पुनः पौनं अभ्यास' पुनः-पुनः जो किसी वस्तु का स्मरण किया जाता है वह दृढ़ भूमि होती है, परिपक्व होती है जैसे बच्चे लोग पुनः-पुनः एक विषय को स्मरण किया करते हैं, पुनः-पुनः रटा करते हैं, रटना अभ्यास कहलाता है। किसी भी विषय को लिया जाय, उसका पुनः-पुनः स्मरण किया जाता है। रूप विषय कोई अपना या इष्टमित्र का हो अथवा गुरु का है। अथवा ऋषि, मुनि, अवतार है या कोई अपना अति प्रिय है, उसको भी धारणा और ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। उसको भी समाधि का विषय बनाया जा सकता है और कोई पदार्थ है व्यवहार

सम्बन्ध पदार्थ है जैसे कोई यन्त्र है, घड़ी है या कोई और पदार्थ है जो रूपवान दृष्टिगोचर होता है, जिसको नेत्र देख कर रूप को बतला सकता है। इन सबको धारणा, ध्यान, और समाधि का विषय बनाया जा सकता है।

तीसरा दर्जा प्राणायाम का है। प्रणायाम हठयोग के अन्तर्गत भी आ जाता है और राज-योग के अन्तर्गत भी। ध्यान देने के अन्तर्गत होने से प्राणायाम उभयात्मक है। जब हम इसका स्थूल व्यवहार करते हैं, श्वास-प्रश्वास की गति को अवरोध कर रेचक, पूरक, कुम्भक आदि करते हैं तब इसका स्थूल रूप हो जाता है। और जब हम इसको सूक्ष्म रूप से बाहर से प्राण को शनैः-शनैः भीतर को लेते हैं, सूक्ष्म करते चले जाते हैं, भीतर यह स्पर्श करता चला जाता है और शनैः-शनै बाहर निकालते हैं। यह धारणा, ध्यान, समाधि का विषय भी बन जाता है।

हमारे शरीर के भीतर दस प्रकार के प्राण हैं। वैसे प्राण तो एक ही है परन्तु इसके स्थान-भेद से, व्यापार-भेद से भेद हो गए हैं। जैसे नाभि से नीचे अपान-प्राण कार्य करता है क्योंकि हृदय से नीचे के जितने भी पदार्थ हैं उनका नीचे को प्रक्षेपण होता है निम्न को जाते हैं। मल-मूत्र, रज-वीर्य आदि सब पदार्थों का निम्न गमन होता है। प्राण के अन्दर भेद क्यों बना। इस वायु के अन्दर जो एक ही प्रकार का वायु था जो हमारे शरीर के भीतर प्राण के रूप में प्रवेश कर गया, देश-भेद से इसका भेद क्यों हुआ ? यह भी वहाँ विचारने का, सोचने का ज्ञातव्य विषय है। एक ही प्राण के विषय हैं। समाधि का विषय तब बन जाता है जब उसके विषय में ऊहा-पोह, तर्क-वितर्क, अनुसंधान, मनन, निदिध्यासन उसी पदार्थ के विषय में हों यह समाधि का विषय बन जाता है।

यह प्राण भी आपके विज्ञान का विषय बनेगा और समाधि का विषय बनेगा। समाधि का अर्थ है एक ही पदार्थ का अध्ययन करना मन के द्वारा और बुद्धि के द्वारा इसका अध्ययन होता है। मन और बुद्धि ही साक्षात्कार का विषय होते हैं। क्योंकि वास्तव में बुद्धि से पदार्थों का साक्षात्कार होता है। यदि बुद्धि का नेत्र से संयोग न हो, वह नेत्र देखते हुए भी नहीं देखा करता।

जब आपका मन आपकी बुद्धि समाहित हो जाते हैं तब कान खुले ही रहते हैं आपको कोई शब्द सुनाई नहीं देता, अतः यह बुद्धि ही समाधि का विषय बनाती है। बुद्धि ही ज्ञान का विषय बनती है। बुद्धि ही प्रखर बनती है। इसमें ही यह समस्त योग्यता हो जाती है। संसार को धारण करने की शक्ति होती है। बुद्धि के अन्दर सम्पूर्ण संसार बीज रूप से ओत-प्रोत होकर रहता है। स्थूल संस्कार के रूप में।

बुद्धि से आगे चित्त है, हमारा अभिप्राय चित्त का भी है क्योंकि चित्त में सूक्ष्म संस्कार हम मानते हैं। बुद्धि के द्वारा अनुसंधान होकर, निर्णय कर, प्रत्येक पदार्थ के निर्णय को बीज रूप बना कर वासना के रूप में सूक्ष्म बना कर बुद्धि

चित्त पर प्रक्षेपण कर देती है, भेज देती है। वहाँ संकलन हो जाता है। अतः बुद्धि के विज्ञान के अन्दर सम्पूर्ण विश्व समाया हुआ रहता है। यदि बुद्धि नहीं है जैसे उन्मत्त, पागल हो जाता है, उसकी बुद्धि काम नहीं करती। सब कुछ विस्मरण हो जाता है, संसार उसके लिए कुछ भी नहीं होता है। पशु से भी पतित स्थिति हो जाती है। अतः बुद्धि का बल ही बल कहलाता है, इसका जो विज्ञान है यही विज्ञान कहलाता है। एक विषय को अध्ययन करने में पुनः-पुनः चिन्तन, मनन, निदिध्यासन करने से बुद्धि के अन्दर सूक्ष्मता, प्रखरता, तीक्ष्णता आती है। जैसे वच्चे विद्यालयों में अध्ययन करते हैं, इससे उनकी बुद्धि का ही तो विकास होता है। आपका एक प्रकार से यह भी विद्यालय है, यहाँ भी तुम्हारी बुद्धि का विकास होना चाहिए। किस प्रकार बुद्धि का विकास होना चाहिए? जो आध्यात्मिक बुद्धि है, जिसने साक्षात्कार करना है, उस बुद्धि को सूक्ष्म बनाने के लिए यही एक अवसर है। ध्यान भी एक साधन है अतः प्रणायाम योग से इसका सम्वन्ध है क्योंकि प्राण की बात कर रहे थे। बुद्धि के द्वारा ही प्राण की गतियों को देखना है, प्राण के व्यापारों को देखना है, भेदों को समझना है। जैसे कण्ठ में ही उदान क्यों कार्य करता है? कण्ठ में उदान प्राण का निवास माना गया है। यह नीचे और ऊपर प्रक्षेपण करता है। जैसे मैं वायु से शब्द बोल रहा हूँ, वायु नीचे से कण्ठ तक आते ही उदान प्राण उस शब्द को बाहर प्रक्षिप्त कर स्पष्ट कराता है वाणी के रूप में, शब्दों के रूप में, खाद्य, पेय आदि नीचे प्रक्षेपण करता है। अन्दर से बाहर श्वास को भी यह लाता है और बाहर से लेकर अन्दर को भेजता है। इस प्रकार प्राण के विषय में भी अध्ययन करना है। प्राण को भी समाधि का विषय बनाना है, यह ध्यान का विषय बन सकता है। हम तो ध्यान की बात कर रहे हैं, इसके विषय में विस्तार से बतला रहे हैं।

जैसे अन्नमय कोश माना है वैसे प्राणमय कोश भी माना है, इसका अध्ययन करना है, साक्षात्कार करना है, इसके द्वारा अभ्यास करना है। श्वास-प्रश्वास की गति को समझ कर उसको भी ध्यान का विषय बनाया जाता है। सर्वद्वार बद्ध भ्रामरी, नादानुसंधान आदि जो प्राणायाम हैं यह भी धारणा, ध्यान, समाधि तीनों के विषय बनते हैं। इनके द्वारा प्राण का भी ज्ञान हो जाता है। वास्तव में हमारे शरीर में जीवन के विषय में प्राण ही प्रधान है। यदि प्राण बन्द हो जाय तो ५-७ मिनट में जीवन-लीला समाप्त हो जाती है, अतः प्राण ही जीवनी शक्ति का संचार और विस्तार करता है। सम्पूर्ण शरीर को तर्पण करता है। प्राण विद्या बहुत ऊँचे महत्त्व की है, उसको अध्ययन कर बुद्धिगम्य करना है। तभी जीवन का विषय ज्ञान में आएगा, आत्मा के दर्शन की योग्यता बनेगी। इनके द्वारा बुद्धि सूक्ष्म बन जाएगी। यह हुआ प्राण के द्वारा प्राणविद्या का

विषय।

श्वास-प्रश्वास को भी ध्यान का विषय बनाया जा सकता है। अन्दर से उसको ध्यान का भी विषय बनाया जाता है अर्थात् प्राण के विषय में ही समस्त विज्ञान करना है, ध्यान-समाधि आदि जो कुछ करनी है। प्राण के विषय में ही करनी है। धारणा, ध्यान और समाधि यह तीनों प्राण के स्वरूप को दर्शा देगी, और यह आपको प्रत्यक्ष रूप करा देगी। अतः प्राणायाम योग भी आत्मा के समीप और परमात्मा के समीप पहुँचाने की योग्यता रखता है। जो प्राणायाम योग करने वाले हैं, वे तो इन्हीं विषयों को लेवें, दूसरों का या समाधि वालों को न छेड़ें अपना ही रखें। अब चौथा रहा मन्त्र-योग।

आपको केवल उपदेश ही तो हमें नहीं सुनाना है, हमने तो इन विषयों का प्रत्यक्ष करना है। अब जैसे मंत्र जाप की बात है। मंत्र-योग भी उपयोगी है। एक प्रकार से आत्मसाक्षात्कार की प्रथम सीढ़ी है। जैसे गायत्री मंत्र और सावित्री मंत्र हैं। "ओ३म् भूर्भुवस्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्" यह तो गायत्री मंत्र है और सावित्री मंत्र है "ओ३म् भूः ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः, ओ३म् महः, ओ३म् जनः, ओ३म् तपः, ओ३म् सत्यम्"। इन मंत्रों के द्वारा कैसे हमारा ध्यान बनेगा। कैसे इनकी स्थिरता होगी जैसे हमारे शरीर के भीतर सात चक्र हैं मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, ब्रह्मरन्ध, इस गायत्री मंत्र के साथ विभाग बनाओ और सावित्री मन्त्र को भी सात विभाग बनाओ। गायत्री मंत्र के सात विभाग बना कर यह जो सात तुम्हारे चक्र हैं योग की परिभाषा में मूलाधार आदि चक्रों को सात चक्र कहा है। एक-एक चक्र में एक-एक वाक्य का जाप करो। "ओ३म् भूः" का उच्चारण मूलाधार चक्र में करो, "भूवः" का उच्चारण स्वाधिष्ठान चक्र में करो। "ओ३म् स्वः" का उच्चारण नाभि में करो। अर्थात् नाभि में, उच्चारण कर दो, लिख दो, पिरो दो। आपका मन इधर-उधर नहीं भागेगा। पुनः आगे "तत्सवितुर्वरेण्यम्" इतना जो वाक्य है इसको हृदय में उच्चारण करो। तत् का अर्थ भगवान्, सवित—सकल जगत् का उत्पादक, 'वरेण्यं'—वरण करें, उसको धारण करें, प्राप्त करें कहाँ? इस हृदय में, क्योंकि हृदय में ही उसकी प्राप्ति होती है। "भर्गोदेवस्य" को विशुद्ध चक्र में उच्चारण करें। धीमहि धियो। धी कहते हैं बुद्धि को, धियो कहते हैं उसमें धारण करें। इसको भ्रूमध्य में उच्चारण करें। "यो नः प्रचोदयात्" इसको ब्रह्मरन्ध में जो बुद्धि का आवास है, वह भगवान् हमारी बुद्धि को शुभ कार्यों में प्रेरित करें। यह सात वाक्य बनें। सातों चक्रों के अन्दर गायत्री के साथ वाक्य लिखकर उनमें जप करना है।

एक प्रकार से इन चक्रों में इन सात वाक्यों की आहुति देनी है। जैसे अग्निहोत्र में आहुति देते हैं। यह अध्यात्म यज्ञ कहलाता है, बाहर इसके द्वारा जो

आहुति देते हो। यहाँ एक-एक वाक्य की एक-एक आहुति एक-एक चक्र में देना है। यह गायत्री की उपासना बनेगी। मन, इतस्ततः नहीं भागेगा। पता नहीं लोग क्यों उपालम्भ-शिकायत करते हैं। हृदय से काम करें तो मन कहीं नहीं भागेगा। इन सात वाक्यों को जैसे "ओ३म् भूः, ओ३म् भुवः, ओ३म् स्वः" मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, "तत्सवितुर्वरेण्यम्" को हृदय में वाक्य को बना लो, लिख लो, उच्चारण कर लो। पिरो दो, यहाँ इसकी उपासना करो। "भर्गोदेवस्य" को कण्ठ में ले जाओ, भर्ग कहते हैं जो पापों का विनाश करने वाला है। इस प्रकार देव की उपासना यहाँ करें जो पापों को ध्वंस करता है और "धीमहि" भ्रूमध्य में ले जाओ, "यो नः प्रचोदयात्" ब्रह्मरन्ध्र में ले आओ, यह गायत्री मंत्र के द्वारा उपासना है और ध्यान भी है। और यही मन की एकाग्रता का विषय बन जाएगा। पुनः यही समाधि का विषय बन जाएगा। अब दूसरा सावित्री मंत्र है। ओ३म् भूः को लाओ मूलाधार में, ओ३म् भुवः को लाओ स्वाधिष्ठान में, ओ३म् स्वः को ले आओ नाभि में, ओम् महः को ले आओ हृदय में, ओ३म् जनः को ले आओ कण्ठ में, ओ३म् तपः को ले जाओ भ्रूमध्य में, सत्यम् को ले आओ ब्रह्मरंध्र में। यह दोनों सावित्री और गायत्री मन्त्रों के द्वारा उपासना, भक्ति की जाती है। यह ध्यान का विषय भी बन जाता है दोनों बातें होती हैं। जो मन्त्र-योग के करने वाले हैं इनको तो ३-४ लाभ होते हैं। मंत्र में बड़ी शक्ति होती है, यह जो उपदेश दिया जाता है यह जीवन में बड़ी क्रान्ति-सी उत्पन्न कर देता है, शब्द की क्रान्ति उत्पन्न करते हैं। सैनिकों को जब उनका सेनापति उपदेश देता है तो पतंगों की भाँति कट-कट कर मरने लगते हैं। कोई नेता जनता में व्याख्यान देता है, व्यक्ति सब कुछ करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। यह शब्दों का ही तो महत्त्व है। इसी प्रकार गायत्री और सावित्री मन्त्रों का भी बड़ा महत्त्व है। यदि देखा जाए परन्तु श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन्त्रों का जप किया जाए तो व्यक्ति अपने मन को कहीं भागने को अवसर ही नहीं मिलता। मन्त्र के साथ में भगवान् के साथ में सच्ची लगन हो, प्रीति हो, भय हो, तब मन क्यों भागेगा। यही तो बात यहाँ समझने की है। प्रातः चार बजे उठकर स्नानादि कर इतना कष्ट उठाकर यहाँ आए हो तो यहाँ से कुछ प्राप्त करके भी तो जाना चाहिए। यहाँ आकर तद्रूप ही बन जाना चाहिए। जो यहाँ शिक्षा दी जाती है, जो कराया जाता है, उसको तद्रूप ही बन जाना चाहिए। उसको तद्रूप होकर श्रद्धा, भक्ति, विश्वास पूर्वक तल्लीन होकर यह कार्य करोगे तो सफलता होगी। तुम्हारे लिए यह विज्ञान कल्याण का हेतु बनेगा। मन पर अधिकार हो जाएगा। विज्ञान की वृद्धि होगी। बुद्धि सूक्ष्म बन जाएगी और मन में सदा प्रसन्नता बनी रहेगी। क्योंकि जब दुःख, कष्ट, वेदना आते हैं, यह योग्यता हमारी नहीं हुआ करती है कि मन को वहाँ से हटा लेवें। योग यह योग्यता हमें सिखा देता है। मन को हटाने की और लगाने की। यह बात यहाँ सीखनी है, जो

कि संसार के व्यवहार में यह समझ में नहीं आती। यह यहाँ ही इस अध्यात्मशाला के भीतर बैठ कर सीखने में बुद्धि में आती है। एक प्रकार से बहुत ऊँचे स्तर की यह शिक्षा है। विद्यालयों जैसी सीखने की विद्या है। यह अति उत्तम अधिकारियों की विद्या है, सात्त्विक व्यक्तियों की विद्या है, जिनके अन्तःकरण सात्त्विक होते हैं वहां यह विद्या पनपती है विकसित होती है।

व्याख्यान-९७

पाँच क्लेश और उनसे मुक्ति।

ओ३म्—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
यजुर्वेद ३१-६८॥

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'—मैं उस भगवान् को जानूँ जो सबसे महान् है। कैसा है वह, 'आदित्य वर्णम् तमसः परस्तात्'—वह सूर्य के समान देदीप्यमान है, प्रकाश स्वरूप है, अन्धकार से परे है। 'तमेव विदित्वातिमृत्यु मेति'—उस प्रकाश स्वरूप भगवान् को जानकर मैं या आप मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। संसार में कोई भयदायी, दुःखदायी विषय है तो वह मौत है। प्राणी मात्र इससे कम्पित होते हैं, उसे भगवदाराधन तत्पर भक्त को जानकर मृत्यु पर विजय पाते हैं। अन्धकार उसको कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता।

योग के आचार्य पतञ्जलि महाराज ने ५ क्लेश रूप अन्धकार बताये हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिन्निवेश। सांख्य दर्शन की परिभाषा में तीन दुःख हैं, दुःख और क्लोशों में कोई अन्तर नहीं होता है।

प्रतिदिन यहाँ साधना में लगे रहते हैं, कोई कहते हैं, मुझे आँखों के सामने ज्योति आ गयी, कोई कहते हैं, ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति आ गयी। परन्तु आत्मा की ज्योति इनको कभी देखने में नहीं आती। जब तक यह पाँच आवरण उस पर पड़े रहेंगे, वह आत्मा की ज्योति ऐसे ढकी रहेगी जैसे श्रावण की मेघ घटाओं से सूर्य की ज्योति छिप जाया करती है अथवा रात्रि को चन्द्रमा की ज्योति भी बादलों से आच्छादित हो जाया करती है।

हमारा आत्मा भी इन पंच क्लोशों से आच्छादित हुआ है। पहला क्लेश या आवरण या पहली घटा कौन-सी है, अविद्या। वास्तव में सम्पूर्ण मानव समाज प्राणी मात्र अविद्या में ग्रस्त है। हमारे जितने भी दिन भर के व्यवहार हैं प्रातः काल से लेकर साँयकाल पर्यन्त, जब तक निद्रा नहीं आती तब तक ये समस्त कार्य और व्यापार अविद्या या अज्ञानात्मक ही होते हैं। अविद्यात्मक का अर्थ है अज्ञाना-

त्मक, मूर्खात्मक, मूढ़ात्मक। हम यह समझ बैठते हैं कि हमारा शरीर अजर-अमर है।

आज तक मैं भी आसन, प्राणायाम आदि को करता रहा हूँ। इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दीर्घायु बनाने के लिए योगी को रोग नहीं होना चाहिए। इन कारणों से ही आसन, प्राणायामों का आचरण करता रहा हूँ। मुझे भी विदित है कि इस नालायक शरीर को ५०-१०० वर्ष में नष्ट ही होना है, ९०-१०० वर्ष में इसे मरना ही है, किन्तु फिर भी कामना बनी रहती है कि इसको स्वस्थ रखा जाए, उत्तम-उत्तम पदार्थ इसको स्वस्थ रखने के लिए खिलाने पड़ते हैं। अब यह अविद्या मूर्खता नहीं है तो और क्या है? मेरे नेत्र की शल्य चिकित्सा हुई थी। उपदेश करना डाक्टर ने मना किया था, रोज भाषण करता हूँ यहाँ अभ्यास के काल में कुछ दिवस पूर्व नेत्र के पीछे तक नसें खड़ी हो जाती थीं, वेदना होने लगती थी। खैर, अब तनाव आदि नहीं होता, यह भी तो एक प्रकार का देहाध्यास ही है, इसी का नाम अविद्या है।

इतना ज्ञान होने पर आत्मा का भी ज्ञान बुद्धि में आ गया है और परमात्मा का ज्ञान भी बुद्धि में आ गया है। आत्मा और परमात्मा के विषय में कोई संशय नहीं रहा, जो अनुभव में आया था या जो कुछ भी बुद्धि में आया उससे संतोष प्राप्ति हो गयी। अब अन्य कोई जिज्ञासा नहीं रही। परन्तु यह प्रकृति और उससे निमित्त और उसका कार्य इस शरीर पर अभी तक विजय प्राप्त नहीं हुई। अवाट्य और तनुधर का योग दर्शन में एक सम्बन्ध आता है, अवाट्य ने तनुधर से पूछा, भगवान्! आपका यह विज्ञान कितने काल से चला आ रहा है? उन्होंने कहा, भाई सात जन्म से मेरा यह आत्म-ज्ञान और ब्रह्मज्ञान का विज्ञान चला आ रहा है। कोई संशय मुझे उसमें नहीं है। परन्तु अभी इस ज्ञान की सिद्धि के लिए इसे दृढ़ भूमि करने के लिए परम वैराग्य की आवश्यकता है। अतः परम वैराग्य को सिद्ध करने के लिए सात जन्म और धारण करने पड़ेंगे। अब मेरी भी वही दशा हो गयी। मुझे परम वैराग्य को सिद्ध करने के लिए कितने जन्म धारण करने पड़ेंगे। आप लोगों के लिए कल्याण का हेतु बना। परन्तु मेरे लिए तो यह सब बन्धन का ही हेतु रहेंगे। अहर्निश अविद्या का ही व्यवहार प्रातः काल से उठ कर साँयकाल तक साधारण प्राणी के समान ताने-बाने तानता ही रहता हूँ। लोक संग्रह में संलग्न ही रहता हूँ।

देखो, हमारे आचार्यों ने भी एक प्रकार से गलती की है आधा जीवन बनाया लोक संग्रह के लिए और आधा जीवन परलोक के लिए। पहले कीचड़ में पैर डालो पुनः उसको धोते फिरो। पहले तो कहते हैं कि तुम ब्रह्मचारी बन कर पुनः गृहस्थ में जाओ। जंजाल में फँस जाओ, पुनः बाहर निकलने का प्रयत्न करो। तुम पहले फँसते ही क्यों हो, फंसाने के लिए आचार्यों ने यह जो विधान बना दिया है हम

उसको धर्म मानकर बैठ गए। किसी को कहते हैं तुम एक बेटे को संत, महात्मा बना दो, एक बेटे को गृहस्थी बना दो, संत महात्माओं की हमें आवश्यकता है योगाचार्य बनाना है ऐसा कहते फिरते हैं। परन्तु नहीं जिस जंजाल में आप जैसे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त फँसे हुए हैं, अपनी संतान को भी उसी दिशा में ले जा रहे हैं। इतना पंजाव उजड़ा, इतना विनाश हुआ, कोई हमें उजड़ा हुआ आकर नहीं मिला ऐसी इच्छा लेकर कि हमें योगी बना दो अथवा मुझे योगिनी बना दो। कहने का तात्पर्य यह है कि जो अविद्या का चक्र है इससे मनुष्य निकलना ही नहीं चाहता और कोई निकला ही नहीं, क्योंकि अनादि काल से अविद्या चली आ रही है, अनादि काल से अविद्या के कारण ही मानव जन्म लेता आ रहा है। आदि को सान्त नहीं किया जा सकता है। शंकराचार्य जी ने तो कह दिया कि अविद्या अनादि और सान्त है, मेरी दृष्टि में उन्होंने भी थोड़ी त्रुटि की है क्योंकि जिसका कोई आदि नहीं है वह तो सदा ही नित्य माननी पड़ेगी अत: अनादि और सान्त नाम की कोई अविद्या या माया ही नहीं है। अविद्या अनादि और नित्य ही माननी पड़ेगी और परिणामी माननी पड़ेगी। क्योंकि विकार धर्म दृष्टिगोचर होता है। कारण का कार्य में आ जाना और कार्य का कारण में चले जाना ही शाश्वत सिद्धान्त है। चेतन के सम्बन्ध से प्रकृति या माया के भीतर कर्म और व्यापार सदा ही बना रहेगा।

किसी काल में भी माया या प्रकृति में क्रिया, कर्म का अभाव नहीं होता। जाग्रत और प्रलयकाल की अवस्था में क्रिया सदा बनी ही रहती है। पुरुष के सामने प्रकृति अथवा माया सदा नृत्य करती ही रहती है उसके ही यह कार्य अविद्या आदि हैं। इस अविद्या में प्राणी मात्र ग्रस्त हुआ है। सम्पूर्ण जीवन शरीर को तरो-ताजा, नवस्फूर्ति युक्त रखने के लिए इसको अमर-सा बनाने के लिए इसी के खाने-पीने के लिए व्यापार, व्यवहार जो कुछ उत्पाद आदि करता है, सब इस शरीर के लिए ही करता है। जितने लोक-व्यवहार होते हैं सब इसी शरीर के लिए होते हैं।

जब तुम्हें ज्ञात है कि यह शरीर मरण-धर्मा है, तुम कैसे इसको अजर-अमर बना सकते हो? सम्पूर्ण जीवन धन संग्रह के लिए लगा देते हो, धन भी पूर्ण तृप्ति का हेतु नहीं होगा। बड़े-बड़े करोड़पति, अरबपति धन से तृप्त हो गए क्या? धन से भी किसी की कभी तृप्ति हुई है क्या? संतानों से भी तृप्ति देखने में नहीं आती। तृप्ति के न होने का नाम ही अविद्या है और इसी का नाम है अज्ञान। किसी की भी कहीं तृप्ति देखने में नहीं आ रही है। मानव अल्प को बाहुल्य और न्यून को अधिक बनाने का प्रयत्न करता रहता है। सदा जीवन की कामना बनाए रखता है। मानव का प्रथम क्लेश, अविद्या ही है। जो मानव शरीर के पालन-पोषण, रक्षण आदि के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है वह तो सदा अविद्या में ही

ग्रस्त रहता है। यह समस्त पदार्थ नाशवान हैं। मेरे शरीर का एक दिन नाश होना है, मैं यह नहीं कहता कि इसको जान-बूझ कर हनन कर दिया जाए, वह तो आत्महत्या होगी।

सामान्य चेष्टा, सामान्य व्यापार करना ही होगा। कर्म मानव के बन्धन का हेतु नहीं है। व्यापार भी बन्धन का हेतु नहीं है। कर्म के सींग थोड़ा ही होते हैं, व्यापार को ही कर्म कहते हैं। वास्तव में कर्म बन्धन का हेतु नहीं है, बन्धन का हेतु तो अविद्या है। परमात्मा भी एक प्रकार से कर्म कर रहा है। वह भी सृष्टि का सृजन, पालन, पोषणादि कर रहा है। आप लोग मानते हो कि भगवान् ने संसार का निर्माण किया है। वही सब कुछ कर रहा है। परन्तु उसमें आपने कभी बन्धन नहीं माना है। उसको सदा मुक्त ही माना है। उसकी मुक्ति तुम्हारी दृष्टि में नहीं आयी तो भी कह देते हो, वह सब प्रकार से मुक्त है। इसी प्रकार तुम्हारा आत्मा भी उस भगवान् के तुल्य एक प्रकार से मुक्त ही है।

परन्तु इसमें जो सुख-दुःख की भावना हमारी बनी रहती है, कि आत्मा सुखी है, आत्मा दुःखी है, आत्मा रोगी है आदि, यह समस्त धर्म तो उत्पन्न होते हैं चित्त में। अन्तःकरण में अथवा शरीर में आरोप आत्मा में करते रहते हो। इसी का नाम ही अविद्या है। भगवान् पर तो आप आरोप नहीं करते और आत्मा पर आरोप करते हो। यही अविद्या है।

जो यथार्थ भोग था अर्थात् 'भोगापवर्गाधर्मदृयश्म्' भोग और अपवर्ग के हेतु यह मानव देह मिला है। सदा इस शरीर का निर्माण, जाति, आयु, भोग, आप पूर्व जन्म से लेकर आते हो जाति, आयु, भोग को पूर्ण करने के लिए स्वाभाविक ही प्रारब्ध से जो लेकर आया हुआ धन, सम्पदा, ऐश्वर्य, सन्तान आदि वे तो मिलते ही हैं। उनको कोई रोक नहीं सकता, उनका तो भोग करना हो है। मैं यत्न नहीं करता धन, सम्पदा उपार्जन करने के लिए मुझे भी धन की प्राप्ति हुई। देखो ईंट पत्थर एकत्रित कर दिए। यत्न नहीं करने हर भी भोग तो स्वयं आ जायेंगे। गृह को लात मारकर चला, पैसे नहीं चाहिए, धन नहीं चाहिए, माता-पिता की सम्पदा नहीं चाहिए। सब त्याग कर आया। यहाँ लोगों से रुपये लेकर सम्पत्ति बना बैठा। कहाँ पीछा छोड़ा ? कहने का तात्पर्य यह है कि जिन प्रारब्ध कर्मों से इस शरीर का निर्माण हुआ था, यत्न न करने पर भी भोग तो मिलेंगे ही, परन्तु वास्तविक विषय तो मोक्ष है। उसकी प्राप्ति के लिए, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हेतु, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति हेतु, परमात्मा के साक्षात्कार हेतु, यह मानव देह मिलता है।

आज तक अनेक जन्म धारण करते हुए हम चले आ रहे हैं, किन्तु अनादि काल से आज पर्यन्त हमने आत्मा के स्वरूप को नहीं जाना और ब्रह्म के स्वरूप को नहीं देखा। यहाँ जो कहते हैं, 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' जैसे आदित्य

सूर्य होता है वह आवरण से रहित है उसका प्रकाश होता है। वैसे भगवान् भी आवरण से रहित है, परन्तु किन के लिए आवरण से रहित है जो ज्ञानी हैं, जिन्होंने अविद्या का क्षय कर दिया है। जो इस सम्पूर्ण संसार के कर्म-व्यापार को समस्त धन, सम्पदा, ऐश्वर्य, जड़ और चेतन को जो समझते हैं कि यह मेरी नहीं है परायी है। मेरे लिए नहीं है, दूसरों के लिए है जिनको यह ज्ञान हो गया, यह भान हो गया, जिनकी आसक्ति संसार के ऐश्वर्य से और भोगों से दूर हो गयी है उपरामता जिनके अन्दर आ गयी है। आसक्ति की निवृत्ति हो गयी है वही इस अविद्या पर विजय प्राप्त कर सकेगा। सम्पूर्ण मनुष्य समाज जो लोक-संग्रह में लगा हुआ हैं, चाहे शरीर के लिए, चाहे अन्तःकरण के लिए, चाहे परिवार के लिए, यह सब अविद्यात्मक ही है। अविद्या का इतना प्रसार है कि सभी के ऊपर इसने आवरण डाला हुआ है। अविद्या हमारी एक-एक कण के भीतर, शरीर की एक-एक नस-नाड़ी के अन्दर भरी हुई है, चिपकी हुई है, पीछा ही नहीं छोड़ती, आज से नहीं वरन् अनादि काल से चली आ रही है।

इस अविद्या का नाश कैसे होगा? तत्त्वज्ञान के उदय होने पर, परम वैराग्य के उदय होने पर होगा। ज्ञान और वैराग्य यह दो साधन, यह दो हथियार ऐसे हैं जो इन पंच क्लेशों को छिन्न-भिन्न कर सकेंगे। जिनमें हम सदा आसक्त रहते हैं। यह तो अविद्या की बात है। ६२ प्रकार की अविद्या योग-दर्शन में बतलाई है उसका लम्बा-चौड़ा व्याख्यान है। उस अविद्या से पीछा नहीं छूटता।

थोड़ा-बहुत इससे भी छूट जाए तो दूसरा आवरण अहंकार का अथवा अस्मिता का है। अस्मिता है—मैं हूँ, मैं करता हूँ, मैं खाता हूँ, पीता हूँ, मेरा परिवार, मेरे बच्चे, मेरा पति, मेरा संसार, मेरा घर, मेरा आश्रम ये सब अस्मिता रूप अहंकार है। प्रत्येक समय यह अहंकार वर्तमान रहता है।

अविद्या बन्ध का हेतु भी है और मोक्ष का हेतु भी है। मोक्ष का हेतु अविद्या कैसे थी, जितने भी अब तक जीवन में कर्म किए हैं तत्त्वज्ञान के प्राप्ति के लिए किए हैं किन्तु वे सब कर्म अविद्यात्मक ही हैं। जाप आदि करना, ध्यान आदि करना ये सब अविद्या के ही कार्य थे परन्तु वे मुझे मोक्ष की ओर ले जाने वाले हैं। जैसे क्रोध कभी-कभी कल्याण का हेतु भी होता है तथा विनाश का हेतु तो सदा ही हुआ करता है। यह अविद्या मनुष्य को मोक्ष की ओर भी ले जाने वाली है और बन्ध में तो बाँध कर रखती ही है। क्योंकि अविद्यात्मक कार्य जब हम करते हैं ये जितने भी व्यवहार हम कर रहे हैं श्रेय की ओर जाने के लिए हम कर रहे हैं। साधना कर रहे हैं, योगाभ्यास आदि नित्य प्रति कर रहे हैं, सब अभी अविद्या के अन्तर्गत ही है। परन्तु अविद्या का यह फल अन्त में जाकर मोक्ष की प्राप्ति का हेतु होगा। अतः अविद्या बन्ध का हेतु भी है, मोक्ष का हेतु भी है।

अहंकार का आवरण बन्धन का हेतु तो बना ही हुआ है। परन्तु यह मोक्ष

का हेतु भी बनता है। कब ? जब अन्त में जाकर 'अहम् अस्मि' का ज्ञान होता है। 'अहं अस्मि' मैं हूँ, यह मेरा स्वरूप है। जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तो यह अहंकार रूप वृत्ति के द्वारा ही हुआ करता है। इससे 'अहम् अस्मि' का बोध होता है कि यह मैं हूं अथवा यह मेरा स्वरूप है यह दुधारी तलवार है हमारे लिए बन्धन का हेतु तो बना ही है हम शरीर में अभिमान रखते हैं, प्रत्येक कर्म में अभिमान रखते हैं, ममत्व बना रहता है, हमारा कर्म बिना ममता के, बिना अहंकार के होता ही नहीं। अहंकार क्रोध का भी हेतु बनता है। यह अहंकार इतना बलवान् इतना शक्तिमान है कि बड़े-बड़े राजे-महाराजे, ऋषि-मुनि भी अहंता और ममता की भावना से पृथक् नहीं रह सके। जैसे मृत्यु-भय, यह भी तो एक कामना है, जीवन की कामना है, शरीर से ममता बनी ही रहती है। शरीर के साथ, परिवार के साथ हमारी ममता बनी हुई है। जब तक यह ममता बनी रहेगी अस्मिता रूप क्लेश से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। कोई ऐसा कर्म नहीं है जहाँ मैं को लेकर कर्म में प्रवृति न हो, जितना आपका लोक व्यवहार होता है यह सब अहंकारात्मक ही होता है। यदि अहंकार न रहे तो सम्भवतया कोई कर्म ही न कर सकोगे। अतः अहंकार ही कर्म की प्रवृत्ति का जनक है। यह बन्धन का हेतु भी है और मोक्ष का हेतु भी है। जब 'अहम् अस्मि' का साक्षात्कार होता है तब आत्म-दर्शन होने से वह जो अविद्या का अहंकार का आवरण हटा तो योगी आत्म दर्शन और भगवान् के दर्शन की ओर जाएगा। अस्मिता बड़ी प्रबल है, अन्त तक पीछा नहीं छोड़ती। इसी के कारण क्रोध आता है। नम्र नहीं होना चाहता। जहाँ नम्रता नहीं होती वहाँ अस्मिता उसको उभारे रखती है सबल बनाए रखती है। अहंकार झुकने नहीं देता, दबने नहीं देता, नम्रता नहीं आने देता, कठोरता उत्पन्न करता है और बल, शक्ति, पराक्रम आदि भी उत्पन्न करता है। युद्ध में लड़ते हैं अहंकार तथा अभिमान को लेकर लड़ते हैं। जब तक इस अभिमान पर विजय नहीं पाई जाएगी तब तक यह आवरण आत्मा के समक्ष खड़ा ही रहेगा और दर्शन नहीं होने देगा।

अब आ गया राग। मैं तो अपनी बात कहूँगा तुम समस्त सम्भवतया जीवन मुक्त हो गए। राग का अभाव देखने में नहीं आता, मेरा तो राग मैं कहूँ आज से ७० वर्ष से मैं साधना में संलग्न हूं वहीं का वहीं बैठा हूँ। यह इतनी जो रचना लेकर बैठा हूँ यह मनुष्य समाज और आश्रम को लेकर बैठा हूँ। यह सब क्या है ? राग दो में हुआ करता है एक तो जड़ पदार्थों में और एक चेतन में। चेतनों में भी राग है, हमारे शिष्य हैं उनसे अति स्नेह, प्रेम करता हूँ। कोई अपना पुत्र पाकर प्रेम करता है। मानने की ही तो बात है। हमने भी आपको पुत्र-पुत्री मान लिया। हमारा इनके साथ में राग हो गया। राग मनुष्य के बन्धन का भी हेतु होता है और मोक्ष का भी होता है। यदि कहीं इस राग का काँटा भगवान् की ओर उन्मुख कर

दूं तो वह राग मेरे मोक्ष का हेतु बन जाएगा। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' यदि इस राग का प्रवाह, स्रोत जो चल रहा है, धन, सम्पदा, जड़, चेतन में सर्वत्र राग प्रवाहित हो रहा है, प्रत्येक के साथ में राग धन के साथ भी राग है, इस आश्रम के साथ में तुम्हारे साथ में भी राग है, जड़ और चेतन दोनों के साथ में राग बना हुआ है। इस राग का अभाव आज तक देखने में नहीं आया किसी भी अवस्था में। जब आत्म-दर्शन की योग्यता बनती है, आत्मसाक्षात्कार होता है, जहाँ 'अहम् अस्मि' का बोध होता है योगी को ज्ञानी को, वहाँ भी राग युक्त ही होता है। यदि मुझे आत्मा के साथ राग नहीं है तो मैं उससे उपेक्षा कर दूंगा। कभी-कभी भगवान् से भी तंग आ जाता हूँ क्योंकि प्रत्येक क्षण भगवान् को ही देखता रहा और कुछ कार्य ही नहीं, संसार में तुम्हारा कार्य कैसे चलाऊँगा। अतः भगवान् भी समय-समय पर कभी-कभी मिले वह अति उत्तम होता है सदा उसके पीछे डण्डे लेकर[1] पड़े रहना भगवान् को सताना है और भी बड़े संसार के कार्य हैं तुम्हारे लिए व्यर्थ नहीं बैठा है अतः भगवान् को भी विशेष तंग नहीं करना चाहिए। भगवान् को शान्त रूप से उसी प्रकार रहने देना चाहिए और कभी-कभी झाँकी मार कर शाम को या प्रातः देख लिया करो। इससे तुमको विश्वास बना रहना है कि भगवान् तुम्हारे साथ है, हमारे से दूर नहीं है।

यदि ऐसी स्थिति आ जाएगी कि दो क्षण में कार्य किया करोगे, एक क्षण में भगवान् की ओर झाँक लिया करोगे, ऐसी भी स्थिति आ जाएगी। मैं तो अभी ऐसा ही करता हूँ, पाँच क्षण तुम्हारा कार्य करता हूँ एक क्षण भगवान् की ओर झाँक लिया करता हूँ जिससे वह रुष्ट न हो जाय। भगवान् को प्रसन्न करना भी तो हमारा धर्म है, क्योंकि उसने हमारे ऊपर अनेक उपकार किए हैं उसको विस्मरण नहीं कर सकते क्योंकि उसके प्रति कृतज्ञ जो हैं। यह कृतज्ञता उससे सर्वथा पृथक् नहीं होने देती। यह रहा राग का विषय।

राग ही कर्म का जनक है, राग ही प्रकृति का हेतु है। एक है प्रवृत्ति एक है निवृत्ति। द्वेष निवृत्ति का हेतु है राग के पश्चात् द्वेष भी आएगा। निवृत्ति भी दो प्रकार से होती है एक तो जैसे आपने मेरा अपकार कर दिया, बुराई की, निन्दा-चुगली की, मेरे लिए अपशब्द कहे, मैं आपसे उपेक्षा कर दूँ कि कोई बात नहीं कह दिया तो, मेरा क्या बिगड़ता है और आपने मेरी बुराई की, आपके प्रति मेरे अन्दर घृणा हो जाय तो यह द्वेष बन जाता है। द्वेष भी दो प्रकार का होता है, एक उपेक्षात्मक, एक घृणात्मक। योगी में यदि उपेक्षात्मक द्वेष हो तो वह क्षन्तव्य हो सकता है किन्तु घृणात्मक द्वेष उचित नहीं। इसी प्रकार राग भी, जैसे परिवार के साथ, बच्चों के साथ, भाई के साथ, सम्बन्धियों के साथ, में राग सदा बना रहता है

१. ये शब्द मनोरंजनार्थ वक्ता ने कहे हैं।

राग का अभाव नहीं होगा। परन्तु राग भी दो प्रकार का होता है, एक स्वाभाविक सा बना रहता है और एक आसक्तिपूर्वक होता है। विशेष आसक्ति न हो तो सम्बन्ध सबके साथ बना रहे जैसे लोक-व्यवहार करते हुए भी अपना कर्तव्य समझ कर सामान्य राग रख कर उसकी सेवा करता रहे। चाहे वह जीवित रह जाय, मर जाय, अधिक हर्ष-शोक न होवे। राग मनुष्य के बन्धन का हेतु भी है क्योंकि समस्त कर्म-व्यवहार जितने भी होते हैं सब रागपूर्वक ही होते हैं। यदि एक राग को हम भगवान् की ओर लगा देंगे, तो वह मोक्ष का हेतु होगा। यह भी एक प्रकार से दुधारी तलवार है।

आप लोगों ने जो मोक्ष की ओर ले जाने वाली विद्या है उसका आचरण करना है, जो मोक्ष की ओर ले लाने वाला अहंकार है उसको अपनाना है। मोक्ष की ओर ले जाने वाला भगवान् के साथ अनन्य भक्ति भाव, प्रीति राग है, यह मोक्ष की ओर ले जाएगा। संसार के साथ में यदि हम राग करेंगे तो हमें कुछ न कुछ क्लेश, दुःख, वेदना आदि बनी रहेगी। भगवान् के साथ अपना राग बढ़ाएँगे तो भगवान् सर्व दुःखों से रहित हैं अतः उसके साथ मिलकर सम्बन्ध बनाने में हम भी दुःखों से रहित रहेंगे। यदि पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी के साथ राग बढ़ाओगे तो यह दुःख का हेतु बनेगा। सन्तान कोई बुरे कर्म व्यवहार करें, हमें भी उनके साथ दुःखी बनना पड़ेगा। कभी-कभी हम भी आप लोगों के साथ मिलकर दुःखी हो जाते हैं क्योंकि स्नेह, प्रेम, राग आदि के दुःख क्लेश का ही हेतु होते हैं। अतः पदार्थों के साथ जो राग है, जड़ात्मक जितने पदार्थ धन, सम्पदा ऐश्वर्य, भूमि, मकान आदि सब जड़ात्मक हैं इनके साथ भी राग हो जाता है। प्राणी मात्र चेतन कहलाते हैं। इसके साथ जो राग है वह बन्धन का हेतु होगा।

परमात्मा के साथ राग होगा वह मोक्ष का हेतु होगा। मैंने भी बड़ा प्रयत्न किया, नास्तिक बनकर भी भगवान् के अन्दर कोई विकार ढूँढूँ, त्रुटि ढूँढूँ, आज तक भगवान् के अन्दर कोई दोष ही दृष्टि में नहीं आया अतः भगवान् के प्रति अपना राग बनाएँगे तो हमारे आगामी दोष भी भस्मीभूत तो हो जायेंगे। भगवान् निर्दोष है, आप भी निर्दोष हो जाओगे और मुक्त बन जाओगे।

शम, दम, उपरति शब्द जो है इसमें उपरति कहते हैं उपराम हो जाना, किसी भी विषय से उपराम होना, इससे द्वेष पर विजय होती है। यह जो राग-द्वेष है जैसे तनिक-तनिक से विषय में क्षुब्ध-सा हो जाना, यह सब जीवन की कमियाँ हैं। अपने आपको गुणवान समझना, दूसरे को हेय समझना, दूसरा कोई बात कहता है उसको न मानना, अपनी बातों को उसके सिर पर थोपना, ये सब कमियाँ हैं। अपनी बात को दूसरे के ऊपर जो आरोप लगाते हो आप अपने ऊपर क्यों नहीं दोष थोपते हो ? दूसरों के अन्दर दोष निकाल कर आप उनको दूषित करना चाहते हैं। आप ही क्यों नहीं उस बात को स्वीकार करते ? जब आप उस बात को

नहीं स्वीकार करते और दूसरों को स्वीकार करना चाहते हो, तो आपके जैसा अल्पज्ञ और कौन होगा ? आपने कोई बात कह दी, मैंने उसके प्रयुत्तर में चार बातें सुना दीं उसमें, मेरी विशेषता क्या है ? मेरी विशेषता तो तब है कि आप मुझे हज़ार गाली भी दें तो भी मैं प्रसन्न रहकर आपकी बात को मुस्कराते हुए सुनता रहूँ, तब तो मेरे ज्ञान की बात बनेगी, मेरी योग्यता की बात सिद्ध होगी। यदि आपने मुझे चार बात कहीं मैंने छः सुना दीं जैसे आप मूर्ख हैं वैसे मैं भी मूर्ख हूँ। कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो द्वेष है यह बन्ध का हेतु भी है और मोक्ष का हेतु भी है। वन्ध का हेतु कब होगा जैसे आपने मेरा अपराध कर दिया मैं आपके ऊपर घृणा, द्वेष करने लगा तब तो यह अनेक उपद्रवों का हेतु वनता है और मैं यदि उपराम हो जाऊँ, उदासीन हो जाऊँ, कोई कुछ कहता रहे, अच्छा करता रहे, न प्रसन्न होऊँ, वुरा कहता रहे दुःखी न होऊँ, ऐसी मेरी भावना हो जाए, उपरामता मन में आ जाय और उदासीनता मन में आ जाय तो यह द्वेष मोक्ष का हेतु बन जाएगा। एक ऐसी स्थिति आ जाएगी कि आपको भगवान् से भी उदासीन हो जाना पड़े, मैं भी तंग आ जाता हूँ।

कभी-कभी भगवान् से भी उदासीन हो जाना पड़ता है क्योंकि अभी अविद्या के और जो आवरण पड़े हैं, शिष्यों, शिष्याओं से मोह, ममता वनी हुई है यह सब भी तो अविद्या के अन्तर्गत है। अब लोग तो इस कार्य को अति उत्तम समझते हैं जंगल में बैठकर मैं पहले साधना किया करता था, लोग कहा करते थे यह तो समाधि लगाकर बैठ जाते हैं हमारा इससे क्या भला होगा। इनका कोई काम करता रहे, इनके गीत गाता रहे, सेवा करता रहे उससे तो लोग प्रसन्न रहेंगे और जो उदासीन होकर परमात्मा की सेवा करते हैं उससे द्वेष करने लगते हैं। घर की कोई लड़की उदासीन होकर परमात्मा की भक्ति में लगी रहे, समस्त परिवार-जन द्वेषी बन जायेंगे। ले, मूर्ख है यह मेरा कार्य नहीं करती, लोक व्यवहार नहीं करती। भगवान् के पीछे पड़ी है, उसने तुझे क्या देना है। कहने का तात्पर्य यह है कि कीचड़ में आप फँसे हैं वैसे ही संतानों को फँसाने का, धकेलने का प्रयत्न करते रहते हैं। यदि उदासीन रूप होकर, तटस्थ रूप में होकर संसार में रहा जाय तो निर्विकार तुम्हारा मन हो जाएगा। न राग के प्रति जाएगा, न द्वेष के प्रति जाएगा। अतः द्वेष बन्धन हेतु भी है, मोक्ष का हेतु भी है।

अंतिम क्लेश अभिनिवेश है। 'अहनं युवम किन्तु भूयासम्' मैं न मरूँ जीवन की सदा मन में कामना बनी रहती है। मरने को मेरा भी चित्त नहीं चाहता, बड़ी साधना की ७० वर्ष तक। कहने का तात्पर्य यह है ७०-७५ वर्ष से इस शरीर पर विजय नहीं पा सका तो भगवान् पर क्या पाऊँगा। शरीर का मोह ही अभिनिवेश नाम का क्लेश है। मृत्यु की इच्छा नहीं होती जीवन की कामना सदा अन्दर बनी

रहती है। संसार के और पदार्थों से कभी दुःखी होकर मनुष्य पत्नी को भी त्याग कर चला जाता है, बच्चों को भी त्याग कर चला जाता है। परिवार से भी विरक्त बन जाता है। परन्तु इस अपने शरीर से विरक्त नहीं होता, इतना मोह इतनी ममता इसके साथ है विदित नहीं इसे। इसको छोड़ने को चित्त नहीं चाहता। रोगी हो, दुःखी हो, क्लेषित हो, इससे पृथक् होने को चित्त नहीं करता। इसका नाम है अभिनिवेश। अब ज्ञात नहीं कब इसपर विजयी होंगे, कितने जन्म धारण करने होंगे, मरने के पश्चात् भगवान् चाहे नरक में भेज देंवे परन्तु वर्तमान अच्छा होना चाहिए।

कुछ मास पूर्व सेवक की गलती से मुझे विषाक्त भोजन (फूड पॉयज़न) जैसा हो गया था। मूत्र बन्द हो गया था। भीतर जलन होने लगी। तड़फकर विकल हो गया। मुझे दिल्ली चिकित्सालय में ले गए। वहाँ बड़े-बड़े इन्जक्शन लगे। मूत्र की विफलता होती थी, रोता तो नहीं था परन्तु नेत्रों से अश्रु आ जाता था। इतनी वेदना होती थी, दाँत बन्द करता, था, रोता, चिल्लाता तो नहीं था क्योंकि लोग कहेंगे कि योगी होकर देखो व्याकुल है, तो हमारी क्या गति होगी। परन्तु नेत्रों से पानी अवश्य बहने लगता था। कहने का अभिप्राय यह है कि भाई इस नालायक नरक के पुतले को मल इसमें से नित्य निष्कासित करना होता है, मूत्र निष्कासित करना होता है, अमृत खाते हुए विष बनकर निकलता है ऐसा निकम्मा देह यह है। इसको छोड़ने को चित्त नहीं करता, इसका नाम है अभिनिवेश क्लेश। अब ज्ञात नहीं परमात्मा की भी बात नहीं रही, आत्मा की भी बात नहीं रही। यह अभिनिवेश क्लेश के लिए ज्ञात नहीं कितना और समय लगेगा, क्या होता है क्या नहीं होता इसका हम कुछ कह नहीं सकते। यह तो ईश्वर जाने, भगवान् जाने या प्रकृतिदेवी जिसने इस शरीर को दिया है वह जाने। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सम्पूर्ण भाषण 'तमेव विदित्वाति मृत्यु मेति' उस महान् पुरुष को जानकर ही मृत्यु पर विजय पाने की बात है। अब महान् पुरुष को जानते-जानते यह प्रकृति के समस्त विकार आ जाते हैं। कारण से लेकर कार्य पर्यन्त, पृथ्वी से लेकर अति साम्यावस्था पर्यन्त, परन्तु अभी ज्ञान हुआ है, परम वैराग्य नहीं हुआ है। परम वैराग्य के लिए विदित नहीं क्या होगा वह हम नहीं कहते, सम्भवतः कोई अंतिम समय ऐसा आ जाय सब कुछ छोड़कर भाग जायें। परन्तु वहाँ भी तो देह के साथ ही रहेंगे। इससे कैसे पृथक् होंगे। इसको त्यागते हुए वेदना होती है। कहते हैं अथवा ऐसे ही गप्पें मार गए समस्त गीतावाले या दूसरे या इनकी स्थिति कोई ऐसी हो जाती होगी। चक्रवर्ती सम्राट जनक भी कहते थे कि मेरे एक हथेली में अग्नि रखो, एक में हिम रखो, इसकी मुझे शीतलता प्रतीत नहीं होती, उसका दाह नहीं प्रतीत होता। हमारी तो ऐसी अवस्था आई नहीं हमने तो देखा भी नहीं

जीवन में ऐसा है। हाँ, देखा था परन्तु वह साधारण भाव था इतना ऊँचा विज्ञान तो प्राप्त हो जाता है किन्तु कई जन्मों से भी वैराग्य प्राप्ति अति कठिन है। वैराग्य ही मोक्ष का हेतु बनेगा। अकेला ज्ञान मोक्ष का हेतु नहीं बनेगा। भाष्यकारों ने कहा है कि "ज्ञानस्य पराकाष्ठा वैराग्यम्" ज्ञान की पराकाष्ठा की जो अन्तिम स्थिति है उसका नाम ही वैराग्य है।

व्याख्यान-९८

ब्रह्माण्ड के साथ में आत्मा और परमात्मा का सम्वन्ध।

ओ३म्—यो भूतं च भव्यं च सर्वम् यश्चाधि तिष्ठति।
स्वर्यस्यच केवलम् तस्मै जेष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।। अथर्ववेद १०-८-१ ।।

ओ३म्—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमंचदैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम् देवं भुवनेषमीढ्यम ।। श्वेता० ६-७ ।।

समादरणीय भद्र पुरुषो तथा देवियो ! कल का मेरा विषय था आत्मा का इस शरीर में कोई अभिमानी है जो सदा इसमें अहम् की भावना के द्वारा प्रकट होता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से उसकी कृतियाँ सामने आती रहती हैं। इसके अतिरिक्त या इस शरीर के अतिरिक्त और भी कोई ऐसी शक्ति है जो इस ब्रह्माण्ड के भीतर अन्तर्यामी रूप से इसको गतिशील किए हुए है। जैसे हमारे शरीर में इसका अभिमानी आत्मा इस में सब व्यापारों का हेतु बना हुआ है, ऐसे ही इस ब्रह्माण्ड का भी अभिमानी यदि हम कह दें तो कोई अन्तर्यामी रूप से इसमें वर्तमान रह कर क्रियाशील, गतिशील, कर्मशील बनाए हुए हैं।

यदि देखा जाए तो इस प्रकार की दो सत्तायें हैं जो गति का हेतु हैं और दो नहीं वरन् मैं अब तीन कहूँगा। एक सत्ता तो जड़ है जो यह दृश्यमान ब्रह्माण्ड उसमें गति का हेतु बना हुआ है। ऐसा शब्द आता है। 'खम् ब्रह्म' 'यद् खम् तद् ब्रह्म' जो खम् है वही ब्रह्म है। खम् शब्द का अर्थ आकाश है। यह आकाश भी एक प्रकार का भगवान् का बाह्य रूप सा है। यदि भगवान् का कोई रूप माना जाए तो यह आकाश ही हो सकता है।

ज्योति की तो सब बातें करते रहते हैं यद्यपि ज्योति का प्रादुर्भाव भी इस आकाश-मण्डल में होता है। वायु का प्रादुर्भाव भी इस आकाश-मण्डल में ही होता है, यह ज्योति सब लोगों की दृष्टि में आ जाती है इससे अनुमान कर लेते हैं कि भगवान् भी ज्योति जैसा ही होगा, वह इन ज्योतियों की ज्योति होगी। परन्तु यह जो आकाश है यह भी तो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि के लिए क्रिया का हेतु बना हुआ है। जहाँ अवकाश या आकाश नहीं होता वहाँ शब्द की भी उत्पत्ति नहीं होती।

यद्यपि शब्द आकाश का ही गुण है और जहाँ शब्द उत्पन्न नहीं होता वहाँ वायु भी गतिशील नहीं होती। जहाँ शब्द और वायु दोनों गतिशील नहीं होंगे वहाँ अग्नि में भी कोई क्रिया उत्पन्न नहीं होगी। जहाँ ये तीनों नहीं होंगे वहाँ जल में भी कोई क्रिया गति व्यापार नहीं होगा और यदि वायु अग्नि नहीं होंगे वहाँ जल की उत्पत्ति भी नहीं होगी। ये चारों मिल कर इस पृथ्वी के उपादान कारण बनते हैं।

ये चारों भूत एक प्रकार से हमारी इन्द्रियों के विषय बने रहते हैं। सबसे स्थूल पृथ्वी महाभूत है, जिस पर हम चलते फिरते हैं, जल भी है, यह संयोग का हेतु बन कर पिण्ड आदि निर्माण करता है, या पान करने से हमारे जीवन का आधार बनता है। इसी प्रकार तेज भी वर्तमान है, जो हमारे शरीर में रह कर इसके पोषण का हेतु बनता है और बाह्य लोक में रह कर भी जैसे सूर्य के बाहर अग्नि है, प्रकाश है, विद्युत का प्रकाश है, यह सब अग्नि के ही कार्य हैं। यह बाह्य रूप से भी हमारा सहायक होता है। इसी प्रकार यह वायु भूत हमारे शरीर में प्राण के रूप में प्रवेश कर जीवन का आधार हो जाता है। बाह्य रूप में भी हम इस वायु का सेवन कर जीवित रहते हैं। यदि इसका आहार हमें न मिले तो, कुछ क्षणों में ही दम घुट कर मरण होने वाली बात बन जाती है। ये चार भूत आकाश के भीतर गतिशील रहते हैं, क्रियाशील बने रहते हैं। यदि इनके भीतर आकाश न हो तो इनमें कभी किसी में गति नहीं होगी, ठोस होकर स्थिर रहेंगे। कोई क्रिया, कोई व्यापार नहीं होगा। यह जो आकाश है एक प्रकाश से इस चार भूतों के लिए तो यही ब्रह्म है।

एक और बात यह है कि हम अपनी वाणी का उच्चारण करते हैं, वाणी में दो बातें हैं जिह्वा में पृथ्वी तत्त्व प्रधान है, पृथ्वी से जिह्वा निर्मित हुई है। जिह्वा एक रस का भी आस्वादन करती है और चौथा भाग इसमें वायु का भी है क्योंकि जिह्वा से स्पर्श करके शीत, उष्णादि सबको यह बता देती है। यह समस्त इन स्थूल विषयों का व्यवहार इस आकाश में ही हो रहा है।

एक और शंका उत्पन्न होती है कि आकाश से जब कोई पदार्थ उत्पन्न होता है वास्तव में आकाश भी क्या वस्तु है। यह एक प्रकार से शब्दों का समुदाय है। जैसे एक शब्द मैं बोल रहा हूँ, उच्चारण कर रहा हूँ। यदि इन शब्दों को एकत्रित कर समस्त को जोड़ दिया जाए तो इनकी आकाश संज्ञा हो जाएगी और जब यह शब्द विभक्त होकर निकलते हैं तब यह सूक्ष्म रूप से गति का हेतु बनकर अवकाश देता है क्योंकि आकाश के भीतर शब्द को पहले अवकाश मिलेगा। वास्तव में आकाश भी एक अति ठोस वस्तु है परन्तु ऐसा ठोस नहीं है जैसा पत्थर होता है। आकाश इतना ठोस है कि आकाश में पत्थर भी नहीं जा सकता, उसमें जल भी प्रवेश नहीं कर सकता, उसमें अग्नि भी प्रवेश नहीं करती, वायु भी नहीं जाता।

परन्तु यह आकाश वायु में भी चला जाता है और अग्नि में भी इसका प्रवेश हो जाता है। जल में भी प्रवेश कर जाता है और पृथ्वी में से भी गमन कर जाता है। इसने अपने स्वरूप का तो त्याग नहीं किया इन सबसे यह सूक्ष्म है। सूक्ष्मता के नाते यह सबमें प्रवेश कर गया है। अतः आकाश को परमात्मा के सदृश उपमा दी गयी है और परमात्मा की उपमा इस आकाश के तुल्य की गयी है। जैसा यह आकाश है वैसा ही ब्रह्म या ईश्वर भी है। आकाश के समान उसको कहा गया है।

अब यह आकाश हमारे सामने विभु है। परमात्मा की विभुता तो सम्भवतया पीछे बुद्धिगम्य हो जाएगी परन्तु सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए तो प्रथम आकाश की विभुता बुद्धिगम्य होना चाहिए क्योंकि ये चार भूत हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारों को धारण करने वाला, अपने गर्भ में रखने वाला यह आकाश ही है और इनमें गति का प्रारम्भ इस आकाश के द्वारा होता है। आकाश जब गतिशील होता है तो इसी कारण से कार्य रूप शब्दों का निर्माण करता है, इसमें पहले कारण रूप से कार्य रूप में शब्दों की उत्पत्ति होती है क्योंकि यह आकाश भी अनन्त है। इस अनन्त आकाश में अनन्त शब्दों की उत्पत्ति होती है। वे अनन्त शब्द गतिशील होकर क्रियाशील जब होते हैं शब्दों का संघर्ष होता है, इससे वायु की उत्पत्ति होती है। वैसे तो आचार्यों ने वायु को गतिशील कहा है क्योंकि वायु को गति करते हुए हम देखते हैं और एक देश से दूसरे देश में उसका गमन होता है, परन्तु आकाश को गमन करते हुए इस प्रकार देखते हैं जैसे यह वायु में प्रवेश करता है पुनः अग्नि में प्रवेश करता है। एक तो इस प्रकार समुच्चय का गमन होता है।

मैं इस शरीर आदि की बात नहीं कर रहा हूँ, ऊपर ब्राह्मी शक्ति की या इस ब्रह्माण्ड की बातें कर रहा हूँ, क्योंकि कल तो मैंने वर्णन किया था, शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध है। आज मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के देश की बात कर रहा हूँ। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध किस के साथ है। जैसे ब्रह्माण्ड में पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र हैं इनको हम ब्रह्माण्ड कहते हैं अर्थात् यह समस्त स्थूल हैं, ठोस हैं, गतिशील हैं और इनमें भी तीनों तत्त्व वर्तमान रहते हैं। पृथ्वी के भीतर जल, अग्नि, वायु, आकाश रहते हैं। परन्तु मैंने यह जो कहा था, आकाश (खम्) ठोस है, पृथ्वी जल, वायु अग्नि की अपेक्षा यह सूक्ष्म होने से इनके प्रति यह ठोस-सा बन गया, इसको पार करके चला या पार करके निकला इसमें कोई विघात नहीं हुआ। इसके लिए कहीं रुकावट नहीं हुई। पृथ्वो में भी चला कोई रोक नहीं सका। जल में भी प्रवेश किया कोई रोक नहीं सका, इसने अपने स्वरूप का परित्याग नहीं किया और समस्त पदार्थों में प्रवेश करता हुआ इनके आर-पार हो गया और यह आकाश भी इन चारों भूतों की अपेक्षा विभु कहा जा सकता है। परन्तु सदा उत्पत्ति मान जो पदार्थ हुआ करता है वह विभु नहीं हुआ करता है, आकाश सर्वथा विभु नहीं है। यह चारों पदार्थों की अपेक्षा विभु है, व्यापक है।

अब यह जो मैं शब्द उच्चारण कर रहा हूँ परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को जानने में करोड़ों में कोई विरली एक आध महान् आत्मा होती है। शेष तो सब त्रिशंकु के समान मध्याकाश में लटके रहते हैं। त्रिशंकु नाम का एक राजा हुआ है वह विश्वामित्र का अनन्य भक्त था। उसने महान् तपस्या की ब्रह्मचारी रहा, उसकी भावना यह थी कि मैं स्वर्ग लोक में गमन करूँगा। तप आदि करके वह तप के पराक्रम से स्वर्गलोक में चला गया। वहाँ जब वह पहुँचा तो उसको देवता कहने लगे कि भाई, यहाँ तो जो गृहस्थी लोग पुण्य कर्म किया करते हैं और जिनकी संसार के भोगों से स्थूल पंच भूतों के भोगों से तृप्ति नहीं हुआ करती वह यहाँ दिव्य भोग भोगने के लिए इस स्वर्ग लोक में आया करते हैं। अतः जाओ तुम्हें यहाँ आने का अधिकार नहीं है। देवताओं ने उसको स्वर्ग से धक्का दे दिया। विश्वामित्र उसका गुरु था, उसको भी अपनी तपस्या पर महान् अभिमान था, बड़ा अत्माभिमानी था। अपने शिष्य को कहने लगा, त्रिशंकु, तुम ठहर जाओ बेटा, नीचे नहीं आना क्योंकि तुमने मेरी बहुत भक्ति, पूजा, सेवा, आराधना की है, मैं तुम्हारे लिए एक और नए स्वर्ग का निर्माण कर देता हूँ। विश्वामित्र भी स्वर्ग के निर्माण करने में लगे हुए हैं, आज तक वे स्वर्ग का निर्माण नहीं कर पाए और त्रिशंकु आकाश-मण्डल में ही लटक रहे हैं। न तो वे पृथ्वी पर आए न स्वर्ग में जा सके। भाई यही अवस्था हमारी भी है। हम भी न तो इस संसार के पूर्ण भोगी ही बनते हैं और न जो यह दूसरा जगत् है, सूक्ष्म जगत् है, न उसके भोगी बने। बीच में लटके रहते हैं।

हम उपासना का विषय बनाते हैं पंच भूतों को, जैसे आकाश चारों ओर ओत-प्रोत हुआ है। ऐसे ही परिपूर्ण रूप से वह जो सर्वव्यापक चेतन सत्ता है, ब्रह्म की, वह भी सम्पूर्ण विश्व में ओत-प्रोत है। हम उसके जानने की बातें करते हैं। अभी तो हमें इस आकाश का भी ज्ञान नहीं है, उसके गुणों का भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार के सर्वव्यापक देव को हम अपनी भावना प्रकट करते हैं स्तुति के रूप में प्रार्थना के रूप में वेद मन्त्रों के गायन के रूप में, गीता के रूप में, भजनों के रूप में वहाँ अपना संदेशा पहुँचाने की बात करते हैं। देखो, भगवान् किसी दूसरे देश में नहीं है, वास्तव में हमारी भावना, शब्द प्रार्थना आदि उत्पन्न होने वाले विषय हैं। यह सामने मेरी ध्वनि निकली आदर रूप से मैं दोनों कर बद्ध कर भगवान् से प्रार्थना करता हूँ यह ध्वनि इस चेतन में और इस आकाश में दो प्रकार के ब्रह्म में, प्रवेश करें। आकाश रूप ब्रह्म यह जड़ है क्योंकि यह वाणी को अवकाश देता है, इसने भी अब मेरे शब्दों को गमन करने के लिए अवकाश दिया, ब्रह्म तो है ही आकाश का यह मेरी वाणी के शब्द, प्रार्थना के शब्द, आतुरता के शब्द आकाश-मण्डल में गए और जैसे स्वर्ण को हम भट्टी में डालते हैं गन्दे, मैले-कुचैले को, वह भट्टी में से कुंदन होकर चमकता हुआ बाहर आता है। ऐसे ही

यह हमारी अन्त.करण की भावनाएँ इस आकाश रूप भट्टी में यह उस चेतन रूपी भट्टी में घुल-मिलकर पवित्र होकर वापस आ जाती है। हमें प्रतीत होता है कि यह भगवान् की ओर से संदेशा आया है। भगवान् ने हमारे लिए विशेष कृपा की है, हमने उसके समक्ष प्रार्थना की थी। वास्तव में भगवान् कुछ करता-धरता नहीं है। जैसे यह आकाश कुछ करता-धरता नहीं है उसमें हमारे शब्द गमन करते हैं, घूम-फिर कर वापस आ जाते हैं। इसमें वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी चलती है घूम-फिर कर आ जाते हैं, यह गमनागमन रूप इन पदार्थों का होता है। इसी प्रकार गमनागमन रूप भी हमारी वाणी का ही हुआ है। हमारे अन्तःकरणों की भावनाओं का ही हुआ है। भगवान् से कोई वस्तु ऐसी नहीं आयी। आती-जाती तो तब थी जब भगवान् यहाँ मुँह के सामने होता। यदि कहीं एक देश में भगवान् बैठा हुआ होता तब तो हम कहते भगवान् के देश से यह मेरे लिए संदेशा आया है। यह कोई मेरे लिए सामग्री आयी, मेरे लिए कोई पदार्थ आया है। यह हमारी ही भावना इस प्रकार की होती है क्योंकि भावना जो है परिणाम वाली है, रूपान्तर होने वाली है। इसमें ही विकास होता है। इसी में पवित्रता और अपवित्रता होती है। भगवान् न पवित्र है न अपवित्र हैं, दोनों बातों से मुक्त हैं, दोनों बातों से रहित हैं। हम जितने भी कर्म-व्यापार करते हैं सब भगवान् के ऊपर आरोप लगाते हैं। जो कुछ भी प्रार्थना-उपासना करते हैं। सब कुछ मानों उसको ही देते जाते हैं। वह लेता तो कुछ नहीं है किन्तु देता भी कुछ नहीं है। देता भी सब कुछ है और लेता भी सब कुछ है। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार आदान-प्रदान हमारी भावनाओं का होता है। भगवान् में आदान-प्रदान नाम की कोई वस्तु कोई ऐसा विषय नहीं है। हम भगवान् के वास्तविक स्वरूप को जान नहीं पाते।

अब आई कर्मों की बात। हम जैसा-जैसा कर्म.करते हैं वैसा-वैसा हमको फल मिलता है। चोर, डाकू सम्पूर्ण जीवन चोरी करते रहे। इस पर आप चाहोगे कि भगवान् इसको भी क्षमा कर दे आदि तब तो संसार में चोरी-डकैती की वृद्धि होती रहेगी। यदि उसको कर्म का फल नहीं मिले, न्यायाधीश दण्ड नहीं दे, तो वह भी रुकेगा नहीं वह चोरी सदा करता ही रहेगा। हम तो ऐसा कर्म कर सकते हैं क्योंकि एक देश में हैं। न्यायाधीश भी निर्णय दे देता है, वह एक देश में है। परन्तु भगवान् के सामने भी हम फैसला लेकर जाते हैं उसमें यदि हम न्याय करने वाली बात मान लेवें तो फिर कर्म का कोई स्वरूप, कोई अस्तित्व नहीं रहता है। मैं तो आजकल यह समझ पाया हूँ कि सम्भव है मैं गलत समझा हूँ कि कर्म संस्कार रूप में, बीज रूप में, फल के रूप में, सूक्ष्म रूप में वर्तमान रहता है। जब देश काल निमित्त सामग्री को अपने पुरुषार्थ से एकत्रित करते हैं, वह कर्म फल के रूप में परिणत हो जाता है। अतः कर्म के किसी को विभाग करने की भी आवश्यकता

नहीं पड़ेगी क्योंकि कर्म स्वयं ही सूक्ष्म रूप से, संस्कार रूप में बीज रूप से वर्तमान रहता है जैसे प्रकृति में समस्त संस्कार बीज रूप में रहते हैं। पुनः वह ज्ञान रूप या कर्म रूप संस्कार ही स्थूल रूप को धारण कर प्रकृति के दूसरे रूप में आ जाते हैं। इस प्रकार कर्म का जो रहस्य है, यह स्वयं ही बीज रूप में रहा करता है। देश, काल, निमित्त, सामग्री हम पुरुषार्थ के द्वारा जुटा देते हैं, एकत्रित करते हैं। कर्म फल देने में उन्मुख हो जाते हैं।

अब रही परमात्मा की बात, मैं तो परमात्मा के विषय में अभी तक यही समझ पाया हूँ कि परमात्मा केवल चेतन होने से गति का हेतु है। प्रकृति में गति का हेतु बना हुआ है, यदि उसमें हम कर्ता रूप धर्म मान लेवें, कर्ता रूप धर्म सदा एक देशी में आया करता है। सर्व देशी में कर्ता रूप धर्म उत्पन्न नहीं हुआ करता। न उसका वह स्वाभाविक धर्म होता है, न निमित्त से उत्पन्न होता है क्योंकि पहले आदि सृष्टि में प्रकृति के कारण रूप में जैसे चेतन वर्तमान था वैसा ही चेतन यहाँ कार्य रूप सृष्टि के भीतर भी वर्तमान है। उससे वहाँ से चलकर यहाँ तक आने में कोई मति रूप धर्म नहीं हुआ, कोई परिणाम धर्म नहीं हुआ, कोई कर्ता रूप धर्म उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि कर्ता रूप धर्म जहाँ उत्पन्न होता है वहाँ उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, और गमन रूप कर्म अवश्य उत्पन्न होता है। उत्क्षेपण—ऊँचा उठाना, अवक्षेपण—नीचे जाना, आकुंचन—सिकुड़ना, प्रसारण—फैलना, गमन—गमन करना, परमात्मा में यदि ये पाँचों बातें मान लें तो परमात्मा कर्ता यथार्थ सिद्ध हो जाएगा। हम उसके तत्त्व को वास्तव में यथार्थ समझ नहीं पाते हैं क्योंकि यह उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि भी जिसमें परिणाम-क्रम होगा जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आएगी उसमें ये पाँचों स्थितियाँ उत्पन्न होंगी। परमात्मा जैसा इस आकाश-मण्डल में वर्तमान है वैसा ही जहाँ आकाश का अन्तिम छोर होगा उसी प्रकार वह चेतन रूप से वहाँ भी वर्तमान है।

मैं अभी तक यह समझ पाया हूँ कि बिना चेतन के संयोग के चाहे वह सूक्ष्म रूप से व्याप्त रूप से उसका संयोग हो, चाहे एक देशी रूप से संयोग हो, हमारे शरीर के अन्दर चेतन जीवात्मा का एक देशी रूप से संयोग है। हमारा शरीर भी सदा क्रिया का हेतु, कर्म और व्यापार का हेतु बना रहता है। अन्तःकरण भी कर्म, व्यापार का हेतु बना रहता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर भी व्यापार का हेतु बने रहते हैं, क्योंकि यहाँ चेतन का सम्बन्ध है। अतः चेतन का विच्छेद होता है तो शरीर मृत रह जाता है। यद्यपि अग्नि, वायु, जल आदि पंच भूत सब वर्तमान हैं, वहाँ चेतन नहीं रहता, मृत में कोई कर्म, व्यापार आदि नहीं रहता। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में बड़े-बड़े लोक-लोकान्तर में है। उनके गर्भ के अन्दर 'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तर जायमानो' ईश्वर को

प्रजापति कहा है। वह प्रत्येक पदार्थ के गर्भ के अन्दर ठहरा हुआ है। अतः उसकी व्यापकता सिद्ध होती है।

वास्तव में यह व्यापकता उसका कोई गुण विशेष नहीं है, एक प्रकार से महान् होने से यह उसका स्वरूप ही है। चेतन का भी उसका कोई गुण विशेष नहीं है, उसका रूप ही है। परमात्मा को हम जैसे सत्-चित्-आनन्द कह देते हैं। सत्—उसका विनाश कभी नहीं होता। जैसे आदि कारण रूप सृष्टि में था वैसे ही कार्य रूप सृष्टि में है। चित्—वह पहले भी था, अभी भी है, आगे भी रहेगा। आनन्द—आनन्द की बात दूसरी है। वास्तव में यदि देखा जाए तो उसके ये दो ही स्वरूप ठीक हैं—सत् और चित्। सत् तो विनाश नहीं होता और चित् जो है चेतना है वह सदा रहता है। रही आनन्द की बात, आनन्द भी उसका गुण विशेष कहते हैं। यदि आनन्द उसका ही गुण मान लिया जाए तब तो फिर दूसरे गुण भी मानने पड़ेंगे। गुण जो उत्पन्न हुआ करते हैं एक देशी में हुआ करते हैं। सर्वदेशी के लिए किसी गुण की आवश्यकता नहीं होती। किसी कर्म की आवश्यकता नहीं होती। वह अन्तर्यामी रूप से, व्यापक रूप से, सूक्ष्म रूप से, चेतन रूप से सर्वत्र गति कर्म का हेतु बना रहेगा। किसी एक देश में उसके सम्बन्ध का और गति का अभाव नहीं होगा। अब आनन्द की जो बात है उसमें जब हमारा अन्तःकरण चेतना के साथ सम्बन्धित होता है, तब आनन्द की उपलब्धि होती है, सो तो मान लोगे विनाश नहीं हुआ। चेतन भी कह दोगे कभी गति से रहित यह पदार्थ नहीं। चेतन बना हुआ है। इसके अन्दर क्योंकि निर्जीव के अन्दर चेतना नहीं रहती, गति का अभाव हो जाता है। कोई पदार्थ संसार में आपको ऐसा नहीं मिलेगा जो गतिशील न हो। विश्व में समस्त पदार्थ गतिशील हैं।

अब आनन्द की बात है, आनन्द को कहें कि यह चेतन का गुण है या स्वरूप है यदि आप उसको स्वरूप ही कह दें। पुनः आनन्द की उपलब्धि हमें इस अन्तःकरण के द्वारा ही प्रतीत होगी। शरीर के देश में आकर परमात्मा की चेतना संबंधित हो गयी। अब बतलाओ इस चेतन में और ब्रह्माण्ड में रहने वाली चेतना में क्या अन्तर है, कौन-सा विषय है जो दोनों का विभेद करेगा ? इस प्रकार की अनेक शंकायें उत्पन्न होती हैं कि दोनों चेतनाओं के भिन्न-भिन्न स्वरूप को दिखाने वाली और कौन सी सत्ता है।

अब रही परमात्मा की बात, परमात्मा के लिए महान्-महान् मान्यताएँ हम मानते हैं। बड़े-बड़े गीत गाते हैं। ये समस्त मनोरंजन के साधन हैं। मन में एक प्रकार की विकलता-सी उत्पन्न होती रहती है जैसे कोई मदिरा पीने का स्वभाव बना लेता है। यह भजन, ज्ञान, ध्यान आदि में भी एक प्रकार की मादकता हो है। जैसे एक शराबी मद्य पीकर मदमस्त हो जाता है, एक भक्त भक्ति के रूप

में भक्ति का ही उसको मद-सा चढ़ा रहता है। उसके अतिरिक्त और कुछ भी उसे अच्छा नहीं लगता, जैसे बहुत-से मनुष्य भाँग पीकर किसी पदार्थ का चिन्तन करते हैं, एक प्रकार के समस्त नशेवाले से ही होते हैं। इस प्रकार का एक मद-सा चढ़ा रहता है कि परमात्मा को मिले विना मैं तो मर जाऊँगा, मेरा यह हो जाएगा, वह हो जाएगा।

अरे भाई परमात्मा मिलने वाली कोई दूर की वस्तु थोड़ी ही है, तुम्हारे अन्दर ही तो है। वह समझने की वात बनेगी, वह तो अनुभव की बात बनेगी। यदि कोई किसी देश में वैठा हुआ होता, हम जाकर मिल आते, भगवान् को अपनी बात सुना कर और उसकी भी बात सुनकर आते। इस प्रकार यह मन के द्वारा, अन्तः-करण के द्वारा नाना प्रकार की भगवान् के प्रति कल्पनायें कर ली हैं, उसका स्व-रूप उसकी बात कोई समझते तो नहीं, अपनी इच्छा का भगवान् बना बैठते हो क्योंकि सर्वव्यापक तो समझ में नहीं आता। जैसे यह आकाश सबकी बुद्धि में तो नहीं आता अपने-अपने देश का जैसे हम ऋषिकेश का आकाश मान बैठे हैं, हमारी सरकार भारतवर्ष के ऊपर के देश का आकाश अपना मान बैठी है। ऐसे ही भगवान् के देशों को हम आकाश के समान मान कर भिन्न-भिन्न रूप से किसी ने मूर्ति के रूप में ले लिया, किसी ने अवतार के रूप ले लिया। कोई गुरु के रूप में ले आया, किसी ने मात-पिता को भगवान् का रूप दिया। यह मानव तो पिट्ठू है, किसी न किसी का पिट्ठू बना रहता है। यह अपने आपको निराश और हताश सदा समझता रहता है। अतः दूसरों के पीछे चलने की चेष्टा करता है। अल्प इसका ज्ञान कहते हैं, अल्प ज्ञानी होने से यह सदा भगवान् का भी पिट्ठू बना रहेगा। गुरुओं का, मात-पिता का, सबका ही पिट्ठू बना रहता है। इसकी पिट्ठूता, दासता, दीनता कभी जानी नहीं और कभी सम्भतया मोक्ष भी नहीं होगा।

अब रही आत्मा को जानने की बात, आत्मा तो ज्ञान का विषय बन जाएगा। परमात्मा भी ज्ञान का विषय बनेगा। अब उपासना की बात रही। मेरी बुद्धि में तो उसके कोई गुण ही नहीं आते, क्या गुण उसके लिए रखूँ, वह मेरे आत्मा के पास न होता तब तो कहते वह गुणवान है। जब वह सर्वत्र व्यापक है, किस गुण से उसका वर्णन करूँ? किस रूप से मैं उसका कथन करूँ? अतः यह जो वर्णन करने के रूप और साधन हैं ये सब मनुष्यों के, ज्ञानियों के, योगियों के, ऋषियों के, मुनियों के अपने भिन्न-भिन्न हैं। इतने जो सम्प्रदाय, धर्म, मत बन गए हैं, क्योंकि परमात्मा भी अनन्त है, ज्ञान भी अनन्त है, यह ब्रह्माण्ड भी अनन्त है, थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर उसी में जैसे एक कूप मण्डप बन जाते हैं। उस कुएँ को ही समझता है इससे बड़े कोई कुएँ, सरोवर, सिन्धु आदि नहीं हैं। ऐसे ही अल्प-अल्प सी परमात्मा की बात समझ कर ऐसे अभिमानी बन कर बैठते

हैं, जैसे परमात्मा का ठेकेदार ही मैं बन गया हूँ। इस विश्व का ठेकेदार ही मैं बन गया हूँ। मैं तो इस अपने शरीर का ठेकेदार नहीं बन सकता। इस शरीर पर नियन्त्रण नहीं रहता, अपनी इच्छा से विरुद्ध अनेक प्रकार की व्याधियाँ, क्लेश, दुःख, वेदना आदि इसमें होते ही रहते हैं। मैं तो अपने मन आदि पर नियन्त्रण नहीं कर सका। सदा इसका दास ही बना रहता हूँ। इसके पीछे ही हम सब लोग चलते रहते हैं।

परमात्मा की बात दूर रही यदि माना जाए कि आज ही मेरा मोक्ष हो जाए और आत्मा उस परमात्मा में चला जाए। यदि उससे टूट कर आत्मा आया था तो उसमें जाकर मिल गया। उसका पृथक् चेतन स्वरूप था तो जैसे आनन्द स्वरूप परमात्मा बैठा है ऐसे ही जीवात्मा भी बैठा है।

हमारा सम्बन्ध या बन्धन तो वास्तव में प्रकृति के संयोग में है। हम कहते हैं कि "तमेव विदित्वादि मृत्यु मेति" उस भगवान् को जानकर ही इन बन्धनों से मुक्त हो सकते हैं। वास्तव में हमारा बन्धन का हेतु भगवान् नहीं है। हमारे बंधन का हेतु तो यह माया, प्रकृति, शरीर और यह संसार है। इन्हीं से हमने मुक्त होना है। हम पुकारते हैं भगवान् को कि हे भगवान् मुझे आकर छुड़ा दो। बाँधा भी आप ही ने था, छुटाना भी आपने ही है। जब आप बँधते हो तब भगवान् से पूछा करते हो, तू हमें बाँध रहा है, जो भगवान् को छुड़ाने के लिए बुलाते हो, उसने कभी तुम्हें बाँधा था? बँधने भी अपने आप ही यह मनुष्य निर्माण करता है। जैसे रेशम का कीड़ा अपने भीतर से धागे निकाल कर कोश के रूप में अपने ऊपर आप ही बाँध लेता है। इसी प्रकार मोक्ष और बन्धन भी विचारों के ऊपर ही निर्भर है, ज्ञान और अज्ञान के ऊपर निर्भर है। जो अज्ञानी है वह कहने लगता है मैं बंधा हुआ हूँ। जिनको परमात्मा के स्वरूप का कुछ ज्ञान हो जाता है अथवा प्रकृति के स्वरूप का कुछ ज्ञान हो जाता है वह कह देता है कि मैं बन्धन से मुक्त हूँ। यदि मोक्ष नाम की कोई वस्तु है तो वह आप लोगों को इसी जीवन में इस शरीर के रहते हुए प्राप्त करना चाहिए।

इसी शरीर के रहते हुए तो ऐसा मोक्ष मिल नहीं सकेगा कि किसी प्रकार का शरीर का दुःख न हो, किसी प्रकार की वेदना न हो, कोई पीड़ा न हो, काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार, राग, द्वेष आदि कुछ भी इसमें उत्पन्न न हो। ऐसा शरीर में तो आज तक इस जीवन में नहीं देखा है। जिसका शरीर कुछ रोगी न हो, जिसका अन्तःकरण रोगी न हो। कुछ न कुछ वेदनाएँ, दुःख सबको बने रहते हैं। कोई इस शरीर के रहते हुए ऐसा मुक्त नहीं देखा है जैसा कि शास्त्र, गीता, उपनिषद्, वेदादि में वर्णन किया है। जीवन मुक्ति की बात आती है। मैंने बहुत अच्छे-अच्छे ज्ञानियों के सम्पर्क में भी रह कर देखा, उनमें भी कुछ न कुछ दुःख, वेदना दृष्टि में आती थी। जब इस प्रकार कोई व्यक्ति होता है कि ज्ञानी

के लक्षण जो शास्त्र में कहे हैं इनको सिद्ध करना चाहता है, देखना चाहता है कि कोई जीवन में भी घटते हैं अथवा नहीं। ज्ञानी का भी जब हम निरीक्षण-परीक्षण करने लगते हैं, वहाँ भी अनेक प्रकार के दोष ही दोष प्रतीत होने लगते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति शरीरधारी संसार में दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है कि जिसको हम मुक्त कह देवें।

हम कहते हैं यदि मोक्ष नाम की कोई वस्तु है तो वह इसी जीवन में प्राप्त होनी चाहिए जिससे मरणोपरान्त भी हम उस मोक्ष-सुख का अनुमान कर सकें। मोक्ष से आकर हमें किसी ने बताया नहीं कि मैं मोक्ष में यह सुख भोग कर आया हूँ। कोई लौट कर आया हो, उसने कहा नहीं कि मैंने भगवान् की गोदी में बैठकर यह सुख भोगा। केवल यहाँ ही जो हम ध्यान, साधनादि करते हैं जो किंचितमात्र शक्ति, आनन्द आदि की उपलब्धि होती है इसी से अनुमान कर लेते हैं कि मोक्ष में तो इससे अत्यधिक आनन्द, शान्ति सम्भवतया होगी। यह भी प्रत्यक्ष को देखकर केवल भविष्य का हम अनुमान कर लेते हैं। मरणोपरान्त भी हमारी कोई गति होगी कि इस प्रकार का कोई मोक्ष होगा।

वास्तव में बन्ध और मोक्ष तो ज्ञान और अज्ञान की वात है। परमात्मा किसी को बाँधता नहीं है, छुटाता भी नहीं है। "मन एव मनुष्याणाम कारणम् वन्ध मोक्षयोः" वन्ध और मोक्ष का कारण यह मन बना हुआ है। बुद्धिगम्य बात तो यह है जिनसे हम बँधे हुए हैं, छूटना हमने उनसे हैं। राग ही हमारी प्रवृत्ति का हेतु वना हुआ है। आसक्ति ही हमारी प्रवृत्ति का हेतु बनी हुई है। यदि हमें यह ज्ञात हो भी जाए कि परमात्मा अन्तर्यामी रूप से संसार के भीतर गति कर रहा है तो क्या इससे हमारा मोक्ष सिद्ध हो जाएगा? एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी हमारे भीतर कि इस संसार का निर्माण करने वाला कोई है। वह विषय हमारी समझ में आ गया कि हाँ ठीक है। अन्तर्यामी रूप से चेतन रूप से पदार्थों को अन्दर से गतिशील किया हुआ है। परन्तु उससे तो हमारा मोक्ष नहीं होगा। मोक्ष तो हमारा होगा जिससे हम बँधे हुए हैं उससे छुटने से। इस शरीर से बँधे हुए पंच भूतों से बँधे हुए हैं, प्रवृत्ति से बँधे हुए हैं। अन्तःकरण से बँधे हुए हैं। छूटना तो हमें इनसे हैं। ये ही हमारे बन्ध और मोक्ष का हेतु वने हुए हैं। इनके स्वरूप को ही जानना है, आँकना है।

इनसे जब तक निवृत्ति नहीं होगी तब तक वैराग्य भी नहीं होगा। वैराग्य भी इनसे करना है। परमात्मा से तो वैराग्य नहीं करना, आत्मा से भी वैराग्य नहीं करना। हमारा अनुराग है, जहाँ हमारी आसक्ति है, वहाँ ही उनके प्रति हमें वैराग्य उत्पन्न करना है। वह हमारे लिए निवृत्ति का हेतु होगा। वास्तव में यह प्रवृत्ति वैरागी को स्थिर नहीं होने देती, और निवृत्ति वैराग्य को दृढ़ करती है। जितनी-जितनी प्रवृत्ति होती चली जाएगी, उतनी-उतनी आसक्ति और बन्ध दृढ़

होता चला जाएगा। प्रवृत्ति और निवृत्ति जो विषय है इनमें निवृत्ति नाम है उपरामता, उदासीनता और वैराग्य का, प्रवृत्ति नाम है, कर्म, व्यापार, क्रिया आदि का।

उदासीन बनने की आवश्यकता है, प्रकृति से भी उदासीन होना है। मैं तो अपने लिए यह कहा करता हूँ कि मुझे मोक्ष भी मिले जैसे यहाँ मैं भगवान् के लिए लटकता रहा वहाँ मुझे न लटकाए। यदि मेरा मन यह नालायक ऐसा ही साथ में रहा यहाँ भी लटकाने का हेतु बना हुआ है वहाँ भी भगवान् के पीछे प्रत्येक पल हाथ जोड़ कर खड़ा रहा तो यह करूँगा और बँधा रहूँगा। मैं तो ऐसा मोक्ष चाहता हूँ कि यहाँ भी मुझे इस प्रकृति का भी बन्धन न रहे, भगवान् का भी वहाँ बँधन न रहे। वहाँ जाकर मैं, जैसे हमारे भाइयों ने कहा है कि स्वर्ग में जाकर भगवान् की और उनके भक्त लोग ऐसे मुंह करके देखते रहते हैं। मेरा भगवान् तो सर्वत्र यहाँ भी वर्तमान है और वहाँ भी वर्तमान है। उसके लिए कहीं आने-जाने की आवश्यकता नहीं है। कोई लोक विशेष में जाने की आवश्यकता नहीं है। यहीं बैठे हुए जैसे कभी-कभी समाधि की स्थिरता आ जाती है, शान्ति और आनन्द की स्थिरता आती है। उस शान्ति और स्थिरता को ही उसका लोक समझ लेना चाहिए। जो निरन्तर धाराप्रवाह आनन्द की स्थिति तुम्हें कभी-कभी ध्यान की स्थिति में बनी रहती है। निरन्तर शान्ति का प्रवाह बहता रहता है। वास्तव में भगवान् के उत्तम श्रेष्ठ यही दो लोक शान्ति और आनन्द हो सकते हैं, क्योंकि उनमें आनन्द की अनुभूति होती है, शान्ति की अनुभूति होती है।

कहने का तात्पर्य यह है उसके लोक आदि कोई विशेष नहीं, सब ही उसके लोक हैं। सब देशों में वह एक समान है। सब में एक रूप है। उसमें कोई अन्तर कोई भेद नहीं है। यह तो हमने उसको पूर्ण रूप से न समझकर, न जानकर, न देखकर, न अनुभव कर अपनी इच्छा का भगवान् मान लिया। अपने मन का भगवान् बन लिया। जो सब की तर्क की कसौटी पर सिद्ध हो जाए। सब की युक्ति और प्रमाणों के द्वारा समाधान हो सके, ऐसा जब उसका अनुभव हो जाए उसको दूसरा कोई तर्क-वितर्क उठाकर अवाक् न कर सके, ऐसी अनुभूति उस चेतन की होनी चाहिए क्योंकि "तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातम् भवति" कहते हैं उस ब्रह्म के ज्ञान हो जाने पर सब कुछ ज्ञान हो जाता है, सर्वत्र उसकी व्यापकता, परिपूर्णता आकलन में आ जाएगी। प्रकृति के कार्य और कारण रूप में सर्वत्र भगवान् दृष्टि में आएगा, बुद्धि में आएगा, अनुभव में आएगा। उसका तो कोई देश विशेष रहेगा नहीं। मर कर कहीं जाने की भी आवश्यकता नहीं होती।

वास्तव में यह देखा गया है कि अन्तःकरण तो कभी पवित्र होगा ही नहीं क्योंकि अनादि काल से इसमें इतने संस्कार चले आ रहे हैं कि उनका तो भोग भोग कर के कभी क्षय नहीं होगा। रही आत्मा की बात। यदि आत्मा भी कर्ता-

भोक्ता है, तो आत्मा का भी मोक्ष नहीं होगा, अन्तःकरण का भी मोक्ष नहीं होगा। अन्तःकरण में वेदना बनी रहती है, दुःख बने रहते हैं, दुःख का कभी अभाव नहीं होता। अनादि काल के संस्कार असंख्य संस्कार दुःख रूप में पड़े हैं, सुख रूप भी पड़े हैं। एक इनको भोग-भोग कर मोक्ष में जाना हो तब भी मोक्ष नहीं होना है। रही आत्मा की बात, आत्मा भ्रान्त होकर अपने आपको सुखी-दुःखी समझने लगा है। केवल इसकी भ्रान्ति को ही दूर करना होगा। सुख-दुःख नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहेगी, क्योंकि सुख रूप तो यह पहले है ही, दुःख रूप तो है ही नहीं आनन्द रूप है। केवल अपनी भ्रान्ति को दूर करना होगा। जो यह समझ वैठा था कि मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं भोगी हूँ, इस प्रकार की अविद्यात्मक भ्रान्तियात्मक अनेक प्रकार की भावनाएँ बनाए बैठा था। इन भावनाओं को निरोध करना है रोकना है। यह भावना दबकर चित्त में विलीन हो जाएँगी। मोक्ष यदि माना जाए तो अब भी मोक्ष वर्तमान है। जो तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्त होता है उसके पश्चात् वह कहाँ जाकर ठहरेगा, यहीं इस लोक में ही तो ठहरेगा। इस लोक में तो एक-एक व्यक्ति की मुक्ति होगी।

जब प्रलय काल की अवस्था आती है तब तो समस्त मुक्त-बद्ध एक समान से हो जाते हैं। प्रलय काल की अवस्था में प्रकृति के अन्दर कोई भी भोगने योग्य सामग्री नहीं रहती। अन्तःकरण भी सब विलीन हो जाते हैं। आत्मा भी तटस्थ सा होकर रह जाता है अकेला ही। अन्तःकरण आदि जिससे उत्पन्न हुए थे उसमें जा मिलेंगे। यह आत्मा बेचारा विकलित अकेला ही रह जाएगा, क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि अन्तःकरण अपने प्रकृति में चले गए, यह कहाँ जाएगा। भगवान् में जाएगा, भगवान् के निकट जाएगा। भगवान् विदित नहीं इसको किस रूप में अपनाएगा क्योंकि वहाँ भी करण आदि कुछ नहीं है, भगवान् सब देश में है, सर्वत्र है, वह प्रेम भी नहीं करेगा, दिलासा, सन्तोष भी नहीं देगा। वहाँ से विछुड़ कर आया आत्मा, जैसे हमारे समीप कई भक्त एक दूसरे महात्मा के निकट से आते हैं, उनको प्रेम भी करते हैं, यह भी कहते हैं कि कोई नहीं तुम्हें बड़ा ज्ञान, ध्यान देंगे। क्या परमात्मा भी वहाँ इसी प्रकार का व्यवहार करेगा, नहीं परमात्मा के कोई व्यवहार नहीं। अतः पातञ्जलि ने कह दिया "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। हम यह वाद-विवाद नहीं करते कि वहाँ आत्मा विभु है अथवा अणु, अर्थात् इस शरीर के भीतर जो है, जो चित्तवृत्तियों का दास बना हुआ था, वृत्तियाँ तो थीं अन्तःकरण की, योगी ने अन्तःकरण की वृत्तियों को निरोध किया हुआ है, बीज रूप से उसके अन्दर चित्त में वृत्तियाँ स्थित हैं, क्या इसी को मोक्ष मान लेवें।

इस प्रकार यदि अन्तःकरण का सम्बन्ध सदा मान लेवें, इसके साथ रह कर ही जीवात्मा का भोग होता है, तो जीवात्मा की भी कभी मुक्ति नहीं होगी।

क्योंकि जब प्रकृति का प्रादुर्भाव होगा, उत्पन्न होकर आएगी, वही अन्तःकरण उस आत्मा को पुनः पकड़ लेगा। जैसा अन्तःकरण यहाँ छोड़ कर गए थे वैसा ही आकर पुनः मिल जाएगा। वहाँ मुक्ति से अथवा प्रलय से लौटने का कारण तो यही अन्तःकरण बनेगा। यदि अन्तःकरण का विनाश मान लेवें, विनाश नाम की कोई वस्तु नहीं है। विनाश किसी भी पदार्थ का नहीं होता, चित्त का भी नाश नहीं होता, क्योंकि जो परिवर्तन होने वाली वस्तु है, उत्पन्न होने वाली वस्तु है, वह कारण रूप से नित्य होती है, कार्य रूप से अनित्य होती हैं, ये अपने कारण में जाकर कुछ विश्राम-सा ले लेता है जैसे किसी पदार्थ में पुरातनता आ जाती है कोई भवन में पुरातनता आ गयी ५-१० सहस्र वर्षोपरान्त मिट्टी में ही जा मिलता है। पुनः मिट्टी के रूप में नवीनता को धारण कर भवन के रूप आदि में ये वस्तुएँ निर्माण होने लगती हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण आदि यह हमारे तीनों शरीर प्रलय काल की मिट्टी में चले जाते हैं। वहाँ कुन्दन बनते रहते हैं, पिघलते रहते हैं। आत्मा बेचारा दोनों के मध्य में वहाँ पिसता रहेगा। एक ओर प्रकृति खड़ी है दूसरी ओर भगवान् है, यह आत्मा दोनों के मध्य में होगा। यह सोचेगा कि इधर जाऊँ या उधर, इसके लिए सदा ये कष्टमय कठिनाइयाँ बनी रहेंगी। शरीर को प्राप्त करके भी यह सम्पूर्ण जीवन परेशान, कष्टमय रहता है। भगवान् के दरबार में जाएगा उस काल प्रकृति कहेगी तू तो सदा मेरी निन्दा करता रहा, सदा बुराई करता रहा, चल तुझे भी नहीं अपनाऊँगी। भगवान् भी वहाँ कह देगा, तू तो इसका ही पिट्ठू बना रहा, सम्पूर्ण जीवन इसका ही दास बना रहा, इसको ही भोगता रहा, अब तू मेरे समीप क्या लेने आया है। इस प्रकार की विषमता वहाँ मोक्ष में जाकर हो जाएँगी। यदि अपने स्वरूप में उसकी स्थिति मान लेवें यह तटस्थ होकर रह जाएगा। न प्रकृति की चिन्ता करेगा, न भगवान् की चिन्ता करेगा। ऐसा मोक्ष यदि मिलेगा तो मैं भी वहाँ जाऊँगा और जहाँ भगवान् का दास रहना पड़ेगा तब मैं नहीं जाऊँगा आप लोगों को ही भेज दूँगा।

व्याख्यान-९९

इन्द्रियों और अन्तःकरण का कार्य इनका तत्त्वज्ञान और इन पर वशित्व ।

ओ३म्—विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद भद्रम् तन्न आसुव ॥ यजुर्वेद ३०-३ ॥

मन की शान्ति और आनन्द की बात चल रही थी । इसके लिए तो पहले आपको प्रत्याहार की सिद्धि करनी पड़ेगी । प्रत्याहार का लक्षण "स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुकार श्वेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः ॥ योग २-५४ ॥ यहाँ चित्त शब्द का प्रयोग किया गया है । कुछ विद्वान् बुद्धि को कभी-कभी चित्त में ही समावेश कर देते हैं और कहीं-कहीं योग और सांख्यवाले बुद्धि और चित्त दोनों को ज्ञान प्रधान होने से एक ही कहने लगते हैं । 'बुद्ध अवगमने' धातु से बुद्धि शब्द बनता है और 'चिति संज्ञाने' धातु से चित्त शब्द बनता है । दोनों का अर्थ ज्ञान ही हो जाता है । 'स्वविषयासम्प्रयोगे इन्द्रियाणाम् चित्तस्वरूपानुकारः इव प्रत्याहारः' यह इसका अन्वय है और इन्द्रियाणाम् में बहुवचन दिया है । इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध को छोड़कर चित्त की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है उसका नाम प्रत्याहार है । इसी के आगे कह देते हैं—'देश बन्धश्चित्तस्य धारणा' ॥ योग ३-१॥ प्रत्याहार के बाद इन्होंने धारणा कही है । जिस पदार्थ का आप साक्षात्कार करना चाहते हैं, जो भी आपके विज्ञान का विषय है या जो आप अपना विज्ञान का विषय बनाना चाहते हैं उस पदार्थ के एक देश में यदि अपनी बुद्धि को ठहरा दिया जाय तो वह धारणा बनेगी और कहते हैं 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' ॥ योग ३-२ ॥ धारणा के विषय में या उस पदार्थ के विषय में जो एक देश में धारणा बनी हुई है यदि वह दीर्घ काल तक निरन्तर बनी रहे तो वह ध्यान की स्थिति हो जाती है । सांख्यवाले 'ध्यानम् निर्विषयम् मनः' कहते हैं । योग वाले कहते हैं कि जो धारणा है उसमें लगातार वैसे ही चित्त की स्थिति बनी हुई रहे दीर्घ काल तक, वह ध्यान की स्थिति बन जाती है ।

जब ध्यान की स्थिति आती है इसमें दो अवस्थाएँ आपके सामने आयेंगी एक 'विशोकावा ज्योतिष्मति' यदि आप के मस्तिष्क में किसी प्रकार के प्रकाश का प्रादुर्भाव हो जाय और वह प्रकाश आपका ऐसा हो कि जो आपको अन्दर के

पदार्थों को दिखाने में समझाने में समर्थ हो। वह तो कहलाएगी 'विशोका ज्योतिष्मति'। बुद्धि, और यदि आपको वैसे ही प्रकाश आता है जैसे मैं ऊपर बैठा हुआ था पाँच मिनट आँख बन्द करके देखा आँखों के सामने एक गोला-सा बन कर उसके आस-पास प्रकाश के मण्डल बन गए और मध्य में एक और छोटा-सा मण्डल बन गया। यदि यह मण्डल हमारे सामने नेत्र खुले हुए भी आ जाय तब तो समझना चाहिए कि यह अन्दर का ही विज्ञान था, अन्यथा आँखों से हमारी जो ज्योति निकल रही है बाहर के पदार्थों को दिखाने के लिए यह पटल बन्द हुए हैं। इन पटलों में ज्ञानवाहक, प्रकाशवाहक, गतिवाहक सूत्र लगे हुए हैं, वे प्रकाश को प्रक्षेपण करते रहते हैं और वह रुकने से सामने कंपन से होने लगते हैं। तरंगें-सी बनने लगती हैं और इस प्रकार प्रकाश पुंज-सा दीखने लगता है। वह थोड़ी देर तक रहता है स्थायी दीर्घकाल तक रहता नहीं है। इसको भी विज्ञान का विषय बना सकते हैं। कभी-कभी आप लोगों को वह भी मालूम होने लगता है जैसे हृदय में ध्यान कर रहे हैं, वहाँ भी इसी प्रकार के वृत्त से बनने लगते हैं। वहाँ मध्य में एक बिन्दु-सा आ जाता है। हमारे साधक अभ्यासी समझने लगते हैं कि यही आत्मा है। इसी प्रकार मस्तिष्क के अन्दर यह देखा है कि जब हम नेत्र खोलकर अभ्यास करते हैं तब तो इस प्रकार का अभ्यास या प्रतिबिम्ब हमें कोई नहीं प्रतीत होता कि बाहर प्रकाश निकल कर वृत्त जैसे बन रहे हों, यह नेत्र बन्द करने से ही होता है। यदि आपके नेत्र खुले हुए हों, इनके दर्शन की जो चेष्टा है उसको आप यदि पीछे को मोड़ देवें, यह दृष्टि बाहर कुछ न दिखा कर अन्दर को दिखाने लगेगी। स्थूल शरीर की रचना को दिखाने लगेगी। यदि आप नेत्र खोल कर अर्धोन्मीलन कर फिर अन्दर ध्यान करते हैं तब आपको ज्योति में कई पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं या विभु-सी शक्ति दीखती है। समझ में आती है, सामने अनुभूति होती है। वह यथार्थ इन्द्रिय समझो या मन बुद्धि आदि इनके ही प्रकाश पुंज हैं या ये ही दिव्य ज्योतियाँ आपको देखने में आने लगती हैं। जब नेत्र खुले हुए हैं हृदय में देखते हैं, तो वहाँ भी प्रकाश पटल-सा जो हम कहते हैं या ग्रन्थों में कहा है उस प्रकार का पटल सामने आने लगता है। अनेक साधकों ने जिन्होंने हमारा 'आत्म-विज्ञान' ग्रन्थ पढ़ा है, वे उधर का स्मरण करते हैं, स्मृतिजन्य भी ज्ञानस्मरण होने लगा करता है। कभी-कभी पूर्ण ध्यान की स्थिति में यथार्थ ज्ञान भी सामने आने लगता है। यह निर्णय करना होता है कि यह स्मृतिजन्य ज्ञान है या अनुभूतिजन्य। स्मरण होने वाला पुस्तक विज्ञान है या अनुभव होने वाला अन्दर का विज्ञान है, यह साधक को स्वयं निर्णय करना होता है। यदि इस प्रकार विज्ञान के क्रम से साधक चलता है तो विज्ञान बढ़ता रहता है, अनुभूति होती रहती है। यदि विज्ञान के क्रम को नहीं अपनाता तो फिर एक प्रकार का स्वविषया चित्तस्य स्वरूपान् कारणाम्—चित्त अपने स्वरूप में स्थित हो कर फिर क्या

करता है यहाँ हम तो बुद्धि ही मानते हैं। बुद्धि अपने स्वरूप में स्थिर होकर फिर क्या करती है, क्या इसका व्यापार होता है, क्योंकि सदा इन्द्रियों के व्यापार शान्त हो जाने पर मन और बुद्धि का सम्पर्क बना रहता है। जब तक आपका चिन्तन रूप व्यापार चल रहा है तब तक मन और बुद्धि दोनों मिल कर अपना व्यापार करते रहते हैं। बुद्धि यहाँ ज्ञान का व्यापार करती है, मन कर्म का व्यापार करता है, क्योंकि जो विज्ञान अनुभव में आता है या मानो शान्ति की अनुभूति आप में हो रही है, शान्ति का अनुभव आप हृदय में या मस्तिष्क में या वैसे ही अपने आप अनुभव कर रहे हैं।

यहाँ शान्ति में भी दो बातें होती हैं, एक तो यह होती है कि वहाँ शान्ति का प्रवाह निरन्तर बह रहा है, निरन्तर चल रहा है। वहाँ उसके साथ में ज्ञान भी काम कर रहा है। क्योंकि ज्ञान के द्वारा आपको शान्ति का अनुभव हो रहा है, कर्म भी वहाँ मन का हो रहा है, क्योंकि मन, कर्म-प्रधान है, वहाँ शान्ति धारा-प्रवाह निरन्तर हो रही है। गमन उसमें है। गमन रूप, क्रिया रूप व्यवहार वहाँ मन करता रहता है। दीर्घकाल तक शान्ति की अनुभूति होती रहती है। इसमें कुछ वैराग्य की भावना-सी हुआ करती है। कोई पदार्थ सामने आता है उसको भी देखने को चित्त नहीं करता। उसको भी जानने की, देखने की इच्छा नहीं होती। शान्ति का प्रवाह निरन्तर धाराप्रवाह से बहता रहता है। यहाँ कुछ वैराग्य की पुट-सी लगी हुई होती है। इन्द्रियाँ स्तब्ध-सी हुई होती हैं। मन-बुद्धि इसी व्यापार की शान्ति को दीर्घकाल तक स्थायी रखने के लिए कर्म करते रहते हैं, व्यापार करते रहते हैं, क्योंकि प्रयत्न रूप जो चेष्टा है पुनः-पुनः उसी को स्थिर रखना है। मन उसको स्तब्ध रखने में सहायक होता है। बुद्धि उस शान्ति को निरन्तर बनाए रखती है क्योंकि ज्ञान के द्वारा शान्ति की अनुभूति हो रही है। बुद्धि उसको निरन्तर बढ़ाती है, चलाती है, निरन्तर उसका वहन करती रहती है। शान्ति की स्थिति में ज्ञान और कर्म दोनों कार्य करते रहते हैं, कर्म मन का है और ज्ञान बुद्धि का निरन्तर शान्ति की धारा या प्रवाह-सा बहता रहता है। शून्यता में भी शान्ति होती है। तीनों अवस्थाओं में शान्ति की अनुभूति होती है। उसके पश्चात् यह शान्ति आनन्द के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि इन्द्रियों के विषय तो शान्त हो जाया करते हैं।

शान्ति जब आनन्द के रूप में परिणत होती है उसमें दो बातें और हुआ करती हैं जैसे आह्लाद, प्रसन्नता, शान्ति का भी कोई रूप देखने में नहीं आता। आनन्द और शान्ति में इतना अन्तर होता है कि शान्ति में एक समान स्थिति बनी रहती है। आनन्द में जैसे हर्ष-सा होता है, आह्लाद, प्रसन्नता या मुग्धता-सी होती है। विषय कोई नहीं होता केवल आनन्द का ही भान-सा होता है। लक्ष्य भी कोई नहीं होता। केवल आनन्द की स्थिति होती है। ये दोनों अवस्थाएं चित्त के ही अन्तिम धर्म बनते हैं।

यह कब बनते हैं जब चित्त का सम्पर्क आत्मा के साथ बना हुआ होता है या बन जाता है। हमारा सम्पर्क जब परमात्मा के साथ बन जाता है, बीच में और कोई व्यवधान नहीं होता। या आत्मा चित्त के साथ में हो या परमात्मा हो दोनों को लक्ष्य बनाया गया है। लक्ष्य बना कर हम चल रहे थे वहाँ ज्ञान तो नहीं होता कि यह आत्मा है, यह भी ज्ञान नहीं होता कि परमात्मा है। परन्तु उसके सम्पर्क में पहुँचने से पहले ही शान्ति का राज्य छा जाता है। फिर वह शान्ति आनन्द के रूप से परिणत हो जाया करती है। दीर्घकाल तक आनन्द-सा, हर्ष-सा, प्रसन्नता-सी, रोमांच-सा आदि ये बातें बनी रहती हैं। एक यह मार्ग है शान्ति का और आनन्द का, इसमें आत्मा का, परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता, उसके समीप यह पहुँच जाते हैं। जैसे कोई अग्नि के पास जाकर बैठेगा उसको तेज की प्रतीति होने लगती है।

वास्तव में आत्मा और परमात्मा के ऊपर आनन्द और शान्ति के ये भी दो आवरण हैं। जब योगी पहले आत्मा के समीप पहुँचता है या परमात्मा के समीप तक, आत्मा के ऊपर भी पहले शान्ति का आवरण आता है फिर आनन्द का आवरण आता है। सत्-चित्-आनन्द आत्मा के तीन रूप कहे हैं। सत् तो इसलिए कि विनाश नहीं होता, चेतन इसलिए कि ज्ञान की प्रधानता है और जहाँ चेतनता होती है वहाँ आनन्द का भी प्रादुर्भाव होगा या आनन्द की अनुभूति भी होती है। अतः आचार्यों ने आत्मा के ही सत्-चित्-आनन्द के रूप मान लिए। परन्तु सत्-चित् आनन्द रूप एक प्रकार से चित्त के भी बन जाते हैं।

जब तक हमारा जीवन है, जब से हम उत्पन्न होते हुए चले आए हैं, हमारा चित्त के साथ सम्बन्ध बना रहता है। प्रलयकाल की अवस्था तक चित्त का सम्बन्ध रहता है। जब सृष्टि की उत्पत्ति होती है तब हमें चित्त मिलता है, तब आत्मा का सम्बन्ध चित्त से बनता है और चित्त आत्मा को लेकर चलता है। जब तक प्रलय-काल की स्थिति नहीं आएगी, चित्त आत्मा को धारण किए हुए जन्म-जन्मान्तर में चलता रहेगा। तुम उसके चार अरब वर्ष समझो, चाहे ६-८ अरब वर्ष समझो, चाहे सृष्टि का कितना भी काल समझ लो। प्रलयकाल की स्थिति में चित्त का एक प्रकार से लोप हो जाएगा, चित्त भी अपने उपादान कारण में प्रवेश कर जाएगा, चित्त अपने संस्कारों को लेकर और आत्मा को लेकर वहीं शयन कर जाएगा। वह चित्त परिणत होता हुआ महत्तत्त्व की अवस्था में चला जाएगा। आत्मा भी उसके साथ मिला हुआ चला जाएगा। फिर महत्तत्त्व जब अपने कारण में प्रवेश करेगा, प्रकृति की साम्यावस्था में यह चित्त भी अपने संस्कारों को सूक्ष्म सी वासनाओं को लेकर शयन करेगा। पहले चित्त में जो स्थूल संस्कार हैं फिर वे भी परिणत होते हुए महत्तत्त्व के रूप में चले जाते हैं क्योंकि चित्त महत्तत्त्व के रूप में अपने कारण में विलीन हो रहा है। अतः संस्कार जब तक चित्त में थे तब तक

स्थूल छापें थीं, फिर उनकी सूक्ष्म छापें बन जाती हैं और वह महत्त्व में लीन होती हैं, क्योंकि उसी का अंश पहले चित्त था, अपने कारण संस्कारों को लेकर प्रवेश कर जाता है। शयन किया हुआ चित्त, आत्मा भी उसमें एक प्रकार से दबा हुआ या बँधा हुआ या बैठा हुआ, उसमें स्थिर होता हुआ आत्मा भी उसके साथ चलता-चलता प्रलयकाल की स्थिति में चला जाता है। प्रलयकाल की अवस्था में महत्त्व भी अपने कारण रूप प्रकृति में विलीन हो गया, वह जब कारण में चला गया यह आत्मा भी प्रकृति के कारण रूप अवस्था साम्यरूप अवस्था में ही शयन कर जाता है, ठहर जाता है या रह जाता है।

पता नहीं, हम नहीं कह सकते कि कितने काल तक यह प्रलय रहती है। ज्योतिषी लोग तो कहते हैं कि चार अरब वर्ष तक प्रलय रहती है। यदि थोड़ी देर के लिए प्रौढ़ीवाद से मान लिया जाय कि चार अरब वर्ष तक ही यह उसमें शयन रूप से बना रहेगा। वहाँ एक प्रकार से प्रकृति के गर्भ में ठहरा हुआ हिलोरें-सी खाता रहेगा। क्योंकि वह इस स्थिति में एक समष्टि चेतन है उस चेतन का हम अंश आदि कोई बात नहीं कहते, परन्तु जिस समय यह जाकर साम्यावस्था रूप प्रकृति में शयन-सा कर जाता है, विलीन-सा हो जाता है वहाँ जो ब्रह्म की चेतन सत्ता का कारण रूप प्रकृति के साथ संयोग सम्बन्ध बना रहता है। उस संयोग सम्बन्ध में यह हिलोरें लेता रहता है। इसी को हमारे आचार्यों ने कहा है कि वहाँ मोक्ष जैसी स्थिति, मोक्ष जैसा आनन्द इसको प्राप्त हो जाते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में जाकर बन्ध और मुक्त आत्मा दोनों ही समान-से हो जाते हैं। वहाँ करण का अभाव हो जाता है, करण का सम्बन्ध वहाँ नहीं रहता। सुख-दुःख की अनुभूति का हेतु करण होता है या अन्तःकरण होता है। अन्तःकरण तो अपने कारण में जाकर विलीन हो गया। अतः किसी प्रकार के सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि आनन्द चेतन का स्वरूप माना है या सत्-चित्-आनन्द ईश्वर को माना है या आत्मा को माना है, वहाँ सत्-चित्-आनन्द रूप ही स्थिति कह लो परन्तु वहाँ भगवान् आनन्द रूप है। अन्तिम छोर उसका आनन्द रूप ही है, उस आनन्द के अन्दर व्यष्टि जो आत्मा पहुँचा है वह प्रकृति के गर्भ में पड़ा हुआ यह आत्मा भी आनन्द में ही हिलता जुलता रहेगा या जो कुछ स्थिति होगी उसको हम नहीं जानते क्योंकि वहाँ करण का अभाव होता है। इस प्रकार शान्ति और आनन्द को लेकर आत्मा या परमात्मा के पास पहुँच सकते हो।

यह तो विज्ञान का बहुत छोटा मार्ग है। यह तो मुझे दीर्घकालोपरान्त आया, पहले मैं भी 'ब्रह्म-विज्ञान' के और 'आत्म-विज्ञान' के क्रम से चलता रहा। अब तो मैं कई क्रम इसके निकालने के लिए समर्थ हो गया हूँ, इस विज्ञान को समझने के लिए एक ही क्रम नहीं और भी कई क्रम बन सकते हैं।

इस प्रकार से जब आप का प्रत्याहार सिद्ध हो जाय, इन्द्रियों के विषय का अभाव हो जाय और बुद्धि तथा चित्त की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाय, शान्ति की अनुभूति कुछ काल तक होने लगे, शान्ति की अनुभूति आनन्द के रूप में परिणत हो जाय और आनन्द के रूप में परिणत होते हुए उसमें यह जो क्रम ऊपर का बतलाया है इस प्रकार भी साम्यावस्था में विज्ञान की स्थिति में परमात्मा के पास पहुँच जाता है। जब सृष्टि का व्युत्थान होता है, उत्पत्ति प्रारम्भ होती है फिर उधर से इसका गमन होता है।

जैसे साम्यावस्था से चित्त महत्तत्त्व के गर्भ में आकर प्रवेश कर जाता है। जब महत्तत्त्व के अन्दर विकार उत्पन्न होता है उससे व्यष्टि चित्तों की उत्पत्ति होती है। यह चित्त के गर्भ में आ जाता है। एक प्रकार से प्रकृति की साम्यावस्था पहले सम्पूर्ण महत्तत्त्व के रूप में परिणत हुई फिर महत्तत्त्व परिणत होते हुए चित्तों के रूप में परिणत हो गया। जब यह चित्तों के रूप में आता है तब आत्मा का सम्बन्ध विशेष रूप से माना जाता है। चित्त यहाँ व्यष्टि भाव को प्राप्त हो गए हैं, पहले समष्टि चित्त ने व्यष्टि चित्त को अलग-अलग अनेक विकीर्ण चित्त बना दिए। उस काल आत्मा के सम्बन्ध चित्त के साथ हो गए, फिर यह अपनी सृष्टि को लेकर चलता है। कारण शरीर को लेकर चलता है। इसका नाम हो जाता है आत्मा की कारण रूप अवस्था, क्योंकि महत्तत्त्व एक प्रकार की हिरण्यगर्भ अवस्था है। इस हिरण्यगर्भ रूप से व्यष्टि चित्तों का निर्माण हुआ। इस स्थिति में आत्मा को एक-एक व्यष्टि चित्त ने पकड़ लिया।

फिर आगे यह चलता है, अहंकारिक सृष्टि में आता है, अहंकार से उत्पन्न होने वाले जितने पदार्थ हैं वहाँ उनसे सूक्ष्म शरीरों का निर्माण होता है। कारण शरीर फिर सूक्ष्म शरीरों के रूप में परिणत होता है। अहंकार सृष्टि सूक्ष्म सृष्टि कहलाती है। तमःप्रधान अहंकार सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है। सत्त्व-प्रधान अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, रज-प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। वह जो सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए पचतन्मात्रा के रूप में वे सूक्ष्म शरीर के निर्माण को आकाश-मण्डल में ही एक पुतले के रूप में प्रकट कर देते हैं, इस आकृति के रूप में कारण शरीर आ जाता है; जिस आकृति को छोड़कर मानव प्रलयकाल की स्थिति में आ गया था वही आकृति जैसे एक बट के बीज के अन्दर या आम के बीज के अन्दर सम्पूर्ण वृक्ष समाया हुआ होता है। जब हम उस बीज को बोयेंगे, उसी प्रकार के आकार-प्रकार के आम होंगे। जैसे हमारी सन्तान भी माँ-बाप के आकार-प्रकार की होती है, उसी प्रकार के आकार-प्रकार का सूक्ष्म शरीर मिल जाएगा। अब तक स्थूल भूतों का निर्माण नहीं हुआ होता है, वह सूक्ष्म शरीर करोड़ों वर्षों तक, आकाश-मण्डल में रह कर विचरते रहते हैं

क्योंकि करोड़ों वर्ष सृष्टि-निर्माण में लगते हैं। स्वर्ग लोक जिसको कहा जाता है स्वर्ग लोक जैसी स्थिति सूक्ष्म शरीरों की होती है। वहाँ दिव्य भोग में भोगते रहते हैं। पंचतन्मात्राओं के भोग दीर्घकाल तक बने रहते हैं। पंचतन्मात्रा या सूक्ष्म भूत परिणाम भाव को प्राप्त होकर आगे चलते हैं, फिर बड़े-बड़े लोक-लोकान्तर या पंचस्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इन स्थूल भूतों के उत्पन्न होने पर इन मानव-शरीरों का निर्माण होता है। इस प्रकार अवरोहण उसका चलता है।

नीचे से ऊपर जव प्रलय काल प्रारम्भ होता है, इस शरीर का विनाश होता है और फिर सूक्ष्म शरीर का विनाश होता है फिर कारण शरीर का विनाश होता है, या स्थूल शरीर का आभास सूक्ष्म शरीर लेकर चल देता है। सूक्ष्म शरीर के आभास को कारण शरीर लेकर चल देता है। अन्तःकरण का चित्त और आत्मा कारण शरीर के आभास को लेकर प्रकृत्ति की साम्यावस्था में शयन कर जाते हैं। इस प्रकार यह विज्ञान का क्रम चलता है। मैंने आपको वतलाया शान्ति के क्रम से और आनन्द के क्रम से इस प्रकार प्रवेश करते चले जाना और दूसरा क्रम है हमारा 'आत्म-विज्ञान' का और 'ब्रह्म-विज्ञान' का, उस क्रम से भी आप चल सकते हो।

व्याख्यान-१००

प्रारब्ध और पुरुषार्थ का सम्बन्ध; प्रारब्ध बलवान है या पुरुषार्थ प्रधान है।

ओ३म्—अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान।
युयो ध्यस्मज्जुहुराण मेनो भुयिष्ठान्ते नमः उक्तिं विधेम।।
यजुर्वेद ४०-१६।।

प्रारब्ध और पुरुषार्थ ये दो विषय हैं। प्रत्येक आचार्य प्रारब्ध को नहीं मानते और वे पुनर्जन्म को भी नहीं मानते। परन्तु भाग्य को वे भी मानते हैं। हमारे मुसलमान भाई पुनर्जन्म को नहीं मानते परन्तु भाग्य को वे भी मानते हैं। कभी-कभी मस्तक पर हाथ लगाया करते हैं। वह भाग्य क्या चीज है, वास्तव में उसका नाम भी प्रारब्ध है। भले ही वह पुनर्जन्म नहीं मानते, परन्तु स्वर्ग के अन्दर इस प्रकार के भोग मानते हैं कि वहाँ भौतिक भोग प्राप्त होते हैं। वहाँ मधु की नदियाँ बहती हैं, अमृत की सरितायें बहती हैं। स्वर्ग में अनेक प्रकार के विषयों का वर्णन किया गया है। ये लोग वहाँ स्थूल शरीरों का ही भाव मानते हैं। यह स्थूल शरीर तो इसाई, मुसलमान और हिन्दुओं के कब्र के अन्दर समाप्त हो जाते हैं। जो कब्र में दबाते हैं या अग्नि में जलाते हैं या पानी में फेंकते हैं, उनके अनुसार तो स्थूल शरीर मानव मात्र के इसी लोक में समाप्त हो जाते हैं। स्वर्ग में जाने वाला कौन सा पदार्थ है। यदि केवल रूह (आत्मा) ही स्वर्ग में जाती है तो आत्मा को करण की आवश्यकता है, बिना किसी करण के द्वारा वह भोग नहीं भोगा जा सकेगा। यदि उनका यह शरीर कब्र से जागकर स्थूल ही वहाँ पहुँच जाता है तो यह स्पष्ट देखने में आता है कि कब्र में तो हड्डियाँ ही रह जाती हैं। स्थूल शरीर कभी किसी को देखने में नहीं आया। इससे सिद्ध होता है कि ये लोग जिसको भाग्य कहते हैं उस भाग्य का नाम ही प्रारब्ध है।

बहुत-से केथोलिक लोग प्रायः पुनर्जन्म को मानते हैं और क्राइस्ट ने भी एक प्रकार से पुनर्जन्म को माना है। हिन्दू लोग तो मानते ही हैं। माना जाय थोड़ी देर के लिए, यदि प्रारब्ध नाम की कोई वस्तु नहीं है, पुनर्जन्म नाम की भी कोई वस्तु नहीं है, तो भी पुरुषार्थ नाम की वस्तु तो वर्तमान में माननी ही पड़ेगी। पुरुषार्थ तो सब ही करते हैं, परन्तु एक समान, एक प्रकार से न तो भोगों की उपलब्धि होती है

न बुद्धि ही इस प्रकार की प्राप्त होती है। विद्यालय के अन्दर अनेक लड़के, लड़कियाँ पढ़ते हैं, सबकी बुद्धि समान नहीं होती है। विक्रय केन्द्र में एक प्रकार का व्यापार करने वालों को भी धन, ऐश्वर्य आदि की सब को समान रूप से उपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार का विभेद जो रहता है वह क्यों रहता है ?

हमारे आचार्यों ने 'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।' योग० २-१३।। ऐसा कहा है कि जिस समय मनुष्य का मरण होता है उसके पश्चात् उसको आगामी क्या वस्तु प्राप्त होंगी, आयु, जाति और भोग। एक प्रकार से ये तीनों प्रारब्ध के रूप में परिणत होकर दूसरे जन्म में उपलब्धि का हेतु वनते हैं। विना प्रारब्ध के तो कोई बात देखने में नहीं आती, वनने में नहीं आती और यदि माना जाय प्रारब्ध नाम की कोई वस्तु वर्तमान में नहीं है, केवल पुरुषार्थ ही है। यदि पचास बच्चों को हम लें और सबको एक ही गुरु एक ही प्रकार की शिक्षा, खान-पान आदि सब कुछ दिया जाय, तब भी उनकी शिक्षा, बुद्धि ग्रहण करने की शक्ति आदि समान नहीं होते। फिर कहते हैं कि माता-पिता के कारण से इसके अन्दर बुद्धि का भेद हुआ है। यह भी देखा है कई माता-पिता स्वयं मूर्ख होते हैं, किन्तु उनकी सन्तान विद्वान होती हैं; अनेक माता-पिता विद्वान होते हैं उनकी सन्तान मूर्ख होती है। अतः प्रारब्ध नाम का कोई विषय आपको मानना ही पड़ेगा। मानव को जाति, आयु और भोग उसके पूर्व-संचित कर्मों के अनुसार स्वतः ही प्राप्त होते हैं। एक आदमी थोड़ा-सा पुरुषार्थ करता है, उसको विपुल ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के प्रधान भोग भी पहले से निश्चित होकर आते हैं। वेद में तो कम से कम आयु का विधान १०० वर्ष किया गया है। १०० वर्ष से पहले मनुष्य का मरण जो होता है, वह अकाल मृत्यु मानी जाती है। पुरुषार्थ आदि से संयम नियम से रहकर मनुष्य १०० वर्ष से ऊपर चला जाता है। पहले प्राचीन काल में सुश्रुत, चरक आदि में दीर्घ-आयु का विधान आता है। जाति, आयु और भोग पहले ही मनुष्य के प्रारब्ध के रूप में भाग्य के रूप में प्राप्त हो जाते हैं।

अब रही पुरुषार्थ की बात, जैसे मुझे प्रारब्ध के द्वारा मुख्य-मुख्य भोग अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति उसको बुद्धिपूर्वक उपभोग करता है, व्यापार करता है तो उसको पाँच लाख भी बना सकता है। मूर्खता से दुरुपयोग करे तो उसको जुए आदि दुराचार में लगाए, उसको एक घंटे में भी हार सकता है। इतनी कमाई प्रारब्ध से जो प्राप्त हुई थी जिसमें पचासों वर्ष जीवन का निर्वाह किया जा सकता था, उसको एक घंटे में भोग करके परिसमाप्त कर दिया। दुःख अथवा सुख भोग तो अवश्य भोगना है जैसे मुझे कोई दुःख होना है, कष्ट आना है। अनेक कष्ट तो वंशानुक्रम से भी शारीरिक बीमारी के रूप में आ जाया करते हैं। ऐसी आत्माओं का ऐसे ही माता-पिता के पास जाना होता है जहाँ दुःख-क्लेश

आदि भोग हों। वैसा ही शरीर मिल जाता है क्योंकि जाति मिली है शरीर के रूप में। अनेक बालक या बालिका बाल्यकाल से ही रोगी रहते हैं, बाल्यकाल से ही कामी होते हैं, क्रोधी होते हैं, लोभी और अभिमानी होते हैं। सम्पूर्ण जीवन में उनके इस प्रकार के अवगुण बने ही रहते हैं जाते नहीं हैं। जो स्वभाव से प्राप्त होता है इसको पुरुषार्थ के द्वारा भी परिवर्तन किया जाता है। पुरुषार्थ के द्वारा परिवर्तन यदि नहीं किया जा सके तो यह जो आप लोग शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, साधना कर रहे हैं, यह आपको प्राप्त नहीं हो सकेगी क्योंकि प्रारब्ध के भोग तो पूर्व निश्चित हैं ही। किन्तु पुरुषार्थ के द्वारा उनमें परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ के द्वारा एक लाख रुपए से पाँच लाख रुपए बना दिए जा सकते हैं। कष्ट, दुःख आ रहा था, दुःख जैसे एक गरीब को भी आता है, एक धनवान् को भी आता है। प्रारब्ध से जो भोग प्राप्त हुए हैं वे बुद्धि के द्वारा, पुरुषार्थ के द्वारा, बुद्धिमानी के द्वारा उनके स्वतन्त्र रूप से अधिकार रखते हुए भी उनमें कुछ परिवर्तन किया जा सकता है। मैं अब भोगना नहीं चाहता था कालान्तर में भोग लूँगा। प्रारब्ध से बड़ा ऐश्वर्य धन और प्राप्ति हुई, किन्तु मेरी इच्छा भोगने की नहीं है तो नहीं भोगूँगा। जनता में बाँटूँगा, दूसरों के हित के लिए दे दूँगा। प्रारब्ध से तो मुझे मिल गया, अपनी इच्छा से भोग सकता हूँ या बाँट सकता हूँ।

इसी प्रकार प्रारब्ध के कर्मों को भी मनुष्य पुरुषार्थ के द्वारा रूपांतरित कर सकता है। पुरुषार्थ की यहाँ प्रधानता है। कहीं-कहीं प्रारब्ध की भी प्रधानता देखने में आती है। परन्तु वहाँ प्रधानता देखने में आती है जहाँ मनुष्य की निश्चयात्मक बुद्धि नहीं हुआ करती। यदि व्यक्ति निश्चयात्मक बुद्धि कर लेवे कि चाहे मैं मर जाऊँ, जो आपत्ति कष्ट आए, उस काम को अवश्य करके छोड़ूँगा, ऐसा निश्चय करने वाले को पुरुषार्थ के द्वारा सफलता प्राप्त होती है। जब निश्चयात्मक बुद्धि मनुष्य की हो जाती है तो उस कर्म के लिए मर-मिटने की शक्ति या योग्यता उसमें आ जाया करती है और उसके लिए सब प्रकार का बलिदान करने के लिए वह तत्पर रहता है। उसको उसमें सफलता हो जाया करती है।

सब कर्म हम प्रारब्ध पर ही क्यों छोड़ें, जाति, आयु भोग आए हैं परन्तु कुछ सामान्य कर्म और भोग होते हैं जिनको नित्य ही किया जाता है नित्य ही भोगना होता है। प्रारब्ध के मुख्य कर्मों के द्वारा और वर्तमान के पुरुषार्थ के द्वारा गौण कर्म और गौण भोग भी साथ में चला करते हैं। प्रारब्ध का एक प्रधान कर्म होता है उसके साथ में गौण कर्म चला करता है। पुरुषार्थ के द्वारा जो कर्म उत्पन्न किए जाते हैं वे भी वर्तमान में मनुष्य को भोग देते हुए चला करते हैं और प्रारब्ध भी चला करता है। दोनों का मेल रहता है। यदि व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करता है तो प्रारब्ध के कर्म भी दबे रहते हैं। जैसे मुझे धन, सम्पदा ऐश्वर्य प्रारब्ध से मिल गया। किसी

राजा के घर में जन्म हो गया। मेरे चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, राजगद्दी को भोगना नहीं चाहता। ऐसे अनेक दृष्टांत मिलते हैं। प्रारब्ध के भोगों को भी परिवर्तत कर सकते हैं। राजा के परिवार में जन्म लेकर भी बुद्ध भगवान्, भर्तृहरि आदि को वैराग्य उत्पन्न हुआ। प्रारब्ध के वर्तमान के भोगों को परिवर्तित कर दिया। अपने कारण में लौटा दिया। यदि यह बात नहीं होती, पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध के कर्मों को क्षीण करने की योग्यता नहीं होती, तो संसार में कोई पुरुषार्थ ही नहीं करता। अतः पुरुषार्थ की प्रधानता रहती है। सब धन, सम्पदा, ऐश्वर्य मुझे प्राप्त है, थाली भर कर खाना आ रहा है, यदि मैं नहीं हाथ से उठाकर खाऊँगा तो थाली तो मेरे मुँह में नहीं पड़ेगी। कोई मनोबल के संकल्प से धन, सम्पदा, ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेते हैं, कोई शरीर के बल से प्राप्त कर लेते हैं, कोई वाणी के बल से प्राप्त कर लेते हैं।

तीन प्रकार के पुरुषार्थ होते हैं। एक तो शरीर का पुरुषार्थ होता है, उसके द्वारा भी धन, सम्पदा, एश्वर्य आदि प्राप्त किया जाता है और उपभोग किया जाता है। एक वाणी का पुरुषार्थ है। जैसे एक प्रवक्ता होते हैं, वक्ता होते हैं, वे वाणी के द्वारा ही जनता से धनोपार्जन करते हैं। वाणी के द्वारा ही धन संग्रह करते रहते हैं। वाणी के द्वारा लोगों को प्रेरणा करते रहते हैं। उत्साहित करते रहते हैं। उनको भी धन, ऐश्वर्य, भोग प्राप्त होते हैं। कोई जंगल में, बन में बैठ कर दूसरों के मनों को प्रेरित करते रहते हैं। अपनी भावनाओं को भेजते रहते हैं। वहाँ भक्त लोग, गृहस्थी, सम्पन्न लोग पहुँचकर उसको भी धन-सम्पदा जुटाने लगते हैं। उसके लिए भी भोग के साधनों को उपस्थित कर देते हैं।

शरीर, वाणी और मन इन तीन प्रकार के साधनों के द्वारा भोगों का संग्रह किया जाता है, इसी का नाम है पुरुषार्थ। यह पुरुषार्थ योगियों में भी रहता है, ज्ञानियों में भी रहता है, मूर्खों में भी रहता है। बिना पुरुषार्थ के तो योगी को ज्ञान की भी उपलब्धि नहीं होती और साधारण व्यक्तियों को तो भोगों की उपलब्धि कैसे होगी ! मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ की प्रधानता है। अतः यह मनुष्य का जीवन बना है। पशुओं में और हमारे में अन्तर यह है कि सामान्य पुरुषार्थ तो पशुओं में भी होता है। पशु भी अपने खूँटे से खुल कर बाहर जंगल में चरने के लिए नहीं जाएगा तो उसका भी पेट नहीं भरेगा। इतना पुरुषार्थ तो पशुओं को भी करना पड़ेगा। जंगल के पक्षी यदि अपने घोंसले से निकल कर नहीं जायेंगे तो उनको भी कुछ प्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार का सामान्य पुरुषार्थ तो सबको करना पड़ता है। परन्तु मनुष्य के अन्दर विशेष पुरुषार्थ की योग्यता है। और उसमें ज्ञान-विज्ञान कारण है, क्योंकि मनुष्य के जीवन में ज्ञान की प्रधानता है, ज्ञान की विशेषता है। अतः मनुष्य अपने प्रारब्ध को भी रूपान्तरित करने के लिए समर्थ हो जाता है और दूसरों का प्रारब्ध भी रूपान्तरित करने के लिए

समर्थता प्राप्त करता है। जैसे एक राजा होता है, और एक बड़ा नेता होता है, वह नगर के गाँव को या छोटे परिवार के भाग्य को भी रूपान्तरित करने के लिए कर्मशील या पुरुषार्थशील हो जाया करता है। जैसे एक मनुष्य अपना भाग्य रूपान्तरित करता है दूसरों को रूपान्तरित करने के लिए भी शक्ति उसमें होती है। अतः मेरा तो कहने का तात्पर्य यह है कि हम अपने प्रारब्ध को भी रूपान्तरित कर सकते हैं, रोक सकते हैं। अब भोग लेना नहीं चाहते तो बड़ी उमर में जाकर भोग ले लेंगे, या दूसरे जन्म में भोग ले लेंगे। यदि हमें भोगने की आवश्यकता नहीं है तो वे अपने कारण में लौटेंगे।

अनादि काल से हमारे जो कर्म चले आ रहे हैं उनके जो संस्कार हैं बीज रूप में पड़े हैं वे भी तो वैसे ही पड़े हैं। यदि भोग ही प्रधान है तो हम कर्म भी क्यों करें, वे आकर भोग देते रहेंगे। प्रारब्ध के भोगों को भोगने के लिए देश, काल, निमित्त और सामग्री इन चार साधनों को हम जुटाते हैं। ये चार साधन पुरुषार्थ के द्वारा ही जुटाये जाते हैं। यदि हम पुरुषार्थ नहीं करेंगे तो चार साधन हमारे उपस्थित नहीं होंगे और हमारे जो प्रारब्ध के कर्म हैं वे कुंठित-से होकर पड़े रहेंगे, वे भोग नहीं दे सकेंगे जैसे अनादि काल से अनेक जन्मों के, अनन्त जन्मों के संस्कार पड़े हैं, इस पिछले जन्म के भी यदि पड़े रहेंगे तो क्या आपत्ति है। विवेक के द्वारा, वैराग्य के द्वारा भी प्रारब्ध कर्मों को लौटाया जा सकता है। उनको कुंठित कर प्रवृत्ति में भेजा जा सकता है। योगी लोग यही तो किया करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुरुषार्थ की ही प्रधानता है।

पुरुषार्थी व्यक्ति संसार में इतना कुशल होता है कि वह पुरुषार्थ के द्वारा प्रारब्ध को पलटने की समर्थता, शक्ति उसमें हो जाया करती है और प्रारब्ध के भोगों को भी वह लौटा दिया करता है या समाप्त कर दिया करता है या कुछ काल के लिए कुछ दिनों के लिए या कुछ वर्षों के लिए ठहरा दिया करता है, रोका जा सकता है। मेरे पास धन, सम्पदा, ऐश्वर्य है, दो-चार दस वर्ष तक भी भोगता रहूँ या कुछ दिनों में भी समाप्त कर सकता हूँ या पचास वर्ष में भी समाप्त न करूँ दूसरों के लिए भी छोड़ जाऊँ यह भी तो हो सकता है। कोई आवश्यक नहीं कि इसी जन्म में सब भोग कर के जाना है, बलात् भोग भोग करके जाना हो यह भी कोई बात नहीं, अनेक ऐसी बातें देखने में आती हैं कि बलात् आकर कर्मफल इकट्ठे हो जाया करते हैं। व्यक्ति निराश और हताश हो जाया करता है। व्यक्ति निराश न होवें, हताश न होवें, दृढ़ बुद्धि कर लेवें, निश्चयात्मक बुद्धि कर लेवें, चाहे कुछ हो जाए मैं इसको आने नहीं दूंगा, मैं फल देने नहीं दूंगा, इसको भोग नहीं देने दूंगा, मैं इस प्रकार का कार्य नहीं करूँगा। यदि हठ, बल और निश्चय करके बैठ जाए तो प्रारब्ध के भोग कुंठित होकर पड़े रहते हैं। उनको भोग देने का अवसर ही नहीं मिलता। भोग देने का अवसर कब आता है जब देश, काल

निमित्त और सामग्री हम पुरुषार्थ के द्वारा निर्माण कर लेते हैं; देश, काल, निमित्त और सामग्री निर्माण करने के लिए सम्पूर्ण जीवन लगे रहते हैं और प्रारब्ध या संचित संस्कार अन्तःकरण में चित्त के अन्दर पड़े हुए हैं, बीज रूप से प्रलय अवस्था आती है तो यह बीज रूप संस्कार प्रकृति के अन्दर चले जाते हैं।

ऐसा मालूम होता है कि जैसे संस्कारों का आश्रय चित्त है, ऐसे ही मूलरूप या कारणरूप जो प्रकृति है वह भी एक प्रकार से संस्कारों का ही समुदाय है। संस्कार ही बीज रूप में या प्रकृति ही बीज रूप में संस्कारों के रूप में वर्तमान रहती है और जो संस्कार गमन करते हैं, स्थूल में आकर वे कर्म का बड़ा आकार-प्रकार धारण कर लेते हैं। इन कर्मों और ज्ञान का उपादान कारण संस्कार ही होते हैं। संस्कार यदि नहीं होगा तो ज्ञान भी उदित नहीं होगा और कर्म भी उदित नहीं होगा। कर्म करने में भी समर्थ नहीं होगा। अतः ज्ञान और कर्म का सदा सम्वन्ध रहता है। ज्ञान और कर्म ये दोनों ही संस्कार को लेकर चलते हैं।

प्रकृति जव संस्कार का सृजन करती है वहाँ भी ज्ञान और कर्म दो ही प्रकृति के प्रेरक होते हैं या नियोजक होते हैं। एक प्रकार से ज्ञान और कर्म को प्रकृति को ही गुण विशेष मान लिया है।

हमारे चित्त के अन्दर हृदय में भी ज्ञान और कर्म भी एक प्रकार से चित्त का ही स्वरूप है या परिणाम विशेष है। चित्त में ही इनका प्रादुर्भाव होता है।

चेतनात्मा का संयोग जब इस चित्त के साथ में बनता है इसमें ज्ञान और कर्म का उदय होता है। ज्ञान को तो विवेक कहते हैं और कर्म कहते हैं, क्रिया को, गति को व्यवहार को। व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है। पशुओं में भी सामान्यज्ञान होता है। परन्तु मनुष्य में सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान दोनों रहते हैं। विशेष ज्ञान समाज से प्राप्त होता है या गुरुजनों से प्राप्त होता है अथवा मनुष्यों से प्राप्त होता है। अतः मनुष्य के जीवन में ज्ञान की विशेषता है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्रारब्ध को पलटने में, उलटने में, लौटने में समर्थ होता है। नष्ट तो कोई वस्तु नहीं होती, अपने कारण में लय हो जाती है और फिर पुनः प्रादुर्भाव होकर भोग देने में समर्थ होती है। यही मनुष्य के जीवन की विशेषता है। जो आलसी और प्रमादी होकर बैठ जाता है, मैं कुछ नहीं कर सकूँगा, थोड़ा-सा जीवन है, ऐसा बैठ जाय तो फल नहीं मिलता है। व्यक्ति की निश्चयात्मक बुद्धि हो जाय तो संसार में कोई ऐसा कर्म नहीं है जिसको वह न कर सके, कोई ऐसी अनुपलब्ध वस्तु नहीं है जिस को वह प्राप्त न कर सके। निश्चयात्मक बुद्धि होनी चाहिए और उस कर्म के लिए हर प्रकार का त्याग होना चाहिए। मनुष्य अपने त्याग को भी पलट दिया करता है। भाग्य कुंठित-सा होकर पंगु-सा होकर बैठा रहता है। यदि वर्तमान में पुरुषार्थ के द्वारा देश, काल, निमित्त, सामग्री निर्माण करेगा तो भाग्य भी बैठा रहता है। अतः प्रधानता

पुरुषार्थ की है। 'कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन' यह जो कर्म का अधिकार दिया है इसीलिए दिया है कि मनुष्य कर्म करते हुए कम से कम सौ वर्ष तक जीवित रहे।

कर्म से भागना नहीं चाहिए। कर्म मनुष्य के बन्धन का हेतु नहीं होता है। कर्म तो वायु भी कर रही है, अग्नि भी कर रही है। वायु चल रही है। यह कर्म हो रहा है। अग्नि गति कर रही है, इसमें विद्युत का कर्म हो रहा है। जहाँ गति है वहाँ कर्म वर्तमान रहेगा। संसार में कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो गतिशील न हो। सर्वथा स्थिर रहने वाली संसार में कोई वस्तु नहीं है। इसके अतिरिक्त परमात्मा की और सब ही गतिशील, क्रियाशील, व्यापारशील देखने में आते हैं गतिशील होनें में उसमें स्थिरता नहीं आयेगी। कभी ठहरेगी नहीं। जो लोग मोक्ष आदि की उपलब्धि मानते हैं, मोक्ष भी यदि प्राप्त होने वाली वस्तु है तो उसकी अवधि और विनाश भी मानना पड़ेगा। जिस पदार्थ की उत्पत्ति हुआ करती है उसका विनाश भी हुआ करता है। विनाश का तात्पर्य कार्य है जो अपने कारण में विलीन हो जाता है। नाश नाम की कोई वस्तु नहीं है। अभाव जिसको कहा जाए जैसे गधे के सींग का सर्वथा अभाव है। खरगोश के सींग नहीं होते, उनका सर्वथा अभाव है, न कभी हुए थे, न कभी होंगे, अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती, जो भावात्मक पदार्थ हुआ करते हैं उनमें उत्पत्ति हुआ करती है। कारण जो है वह भावात्मक है, कार्य रूप जो है उसका परिणाम विशेष है, विकृति विशेष है, क्रिया विशेष है, अवस्था विशेष है। मुझे इसी जन्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मरना है, इसी जीवन में मोक्ष प्राप्त करना है, ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि हो जाए तो इसी में प्राप्ति हो जाएगी। अतः मनुष्य के जोवन में पुरुषार्थ की ही प्रधानता है।

जो केवल भोगवाद पर ही रह जाते हैं उनका और पशुओं का जीवन समान होगा। मनुष्य के जीवन में कर्म की प्रधानता है, कर्म भी ज्ञानपूर्वक होगा। कर्म पशु भी करते हैं, उनका कर्म इतना विज्ञानपूर्वक नहीं होता सामान्य ज्ञानपूर्वक होता है। मनुष्य का कर्म विशेष ज्ञानपूर्वक होता है। विशेष ज्ञान की उपलब्धि आपको समाधि के द्वारा होगी, योग के द्वारा, तत्त्वज्ञान के द्वारा होगी।

एक तो होती है एकाग्रता एक होती है निरोध अवस्था। एकाग्रता का फल होता है सम्प्रज्ञात समाधि। निरोध का फल हुआ करता है असंप्रज्ञात समाधि। जब हम बुद्धि को एकाग्र बनाते हैं, शान्त बनाते हैं, विषयों से हटाते हैं, तब यह अपने स्वरूप में ठहर जाती है फिर संप्रज्ञात समाधि में प्रवेश करती है और पदार्थों का साक्षात्कार कराने लगती है। संप्रज्ञात समाधि का विषय बन जाना एकाग्रता

का फल है। संप्रज्ञात समाधि में जब हमें पदार्थों का साक्षात्कार हो जाता है, उनका ज्ञान भी हो जाता है, ज्ञान होने से हम उनसे विरक्त होना चाहते हैं, उनसे हटना चाहते हैं, वह हमारे बन्धन का हेतु बने हुए हैं उनसे अलग होना चाहते हैं, निवृत्त होना चाहते हैं। वहाँ वैराग्य की जो भावना होती है उनसे निवृत्त होना चाहते हैं। वहाँ वैराग्य की जो भावना होती है उनसे निवृत्त कराने में समर्थ हुआ करती है। वैराग्य की प्रधानता ही मोक्ष का हेतु बनेगी। वैराग्य की प्रधानता जो है यह समस्त कर्मों के निरोध का हेतु बनेगी। अपने प्रकृति में लौटा देगी। इस वर्तमान के जो कर्म हैं यदि हमारी भोगने की अभिलाषा नहीं है, अन्त में वैराग्य उत्पन्न हो गया है, समस्त कर्म कुंठित होकर पीछे लौट जायेंगे। भोग भी इधर-उधर बिखर जायेंगे। अपने भोगने की इच्छा नहीं होती, त्याग और वैराग्य इसका ही नाम है। समस्त पदार्थों की उपलब्धि हो, सब ऐश्वर्य पास हों और फिर उनके भोगने की इच्छा न हो। अनमिले के त्यागी तो प्रायः सब ही बन जाया करते हैं।

मनुष्य के जीवन में पुरुषार्थ की विशेषता है और ज्ञान की भी विशेषता है, पुरुषार्थ के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त किया जाता है। विशेष पुरुषार्थ देश, काल, निमित्त और सामग्री का निर्माण कर देता है। पशुओं का जो पुरुषार्थ होता है, देश, काल, निमित्त और सामग्री तो वे भी कुछ जुटाते हैं, क्योंकि ऐसे देश में वे चले जायेंगे जहाँ अच्छी घास मिलेगी, ऐसे ही मौसम में वे रहने लगेंगे। निमित्त ऐसे ही निमित्त भी बन जायेंगे। चाहे मनुष्य बन जाये, चाहे पशु-पक्षी बन जाए। सामग्री भी उनको वहाँ मिलने लगेगी। यह सामान्य ज्ञान और सामान्य भोग उनका होता है। मनुष्य के भोग की विशेषता ज्ञानपूर्वक होती है, पशु में यह विवेक नहीं होता। यह विवेचना नहीं होती त्यागने और ग्रहण करने की जितनी कि मनुष्य में होती है। मनुष्य ज्ञान की विशेषता के द्वारा कर्म को कुंठित-सा बना देता है। निर्जीव-सा बना देता है, वह भोग देने के लिए नहीं आयेगा। सौभाग्य से बलपूर्वक कोई भोग प्राप्त भी हुए हों उनको भी इच्छापूर्वक नहीं भोगेगा, त्याग देगा। दूसरों को वितरण कर देगा। दूसरों को दे देगा, दूसरों को जुंटा देगा, अपने में भोगने की सामर्थ्य होते हुए भी नहीं भोगेगा, यही जीवन की विशेषता है। मेरा कहने का तो तात्पर्य यह था, प्रारब्ध और वर्तमान का पुरुषार्थ अपने-अपने स्थान में दोनों ही विशेषता रखते हैं। प्रारब्ध की तो विशेषता इसलिए है कि वह संस्कार बीज रूप में पड़े हैं। जब भी उनको अवसर मिलेगा भोग देने के लिए आ जायेंगे। पुरुषार्थ की विशेषता यह है कि यदि यत्न करें तो उनको भोग देने के लिए आने ही नहीं देगा, उनको अवसर ही नहीं देगा। यदि अवसर देता रहेगा, अनादि काल के इतने कर्म पड़े हैं, इतने संस्कार पड़े हैं, सहस्रों जन्म धारण करके भी, भोग करके भी

उनसे छुटकारा नहीं हो सकता। मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए। कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको वह प्राप्त न कर सके, जिसको वह नहीं ले सकते और कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जिसको वे त्याग नहीं सकेंगे, छोड़ नहीं सकेंगे। सब कुछ छोड़ भी सकते हो और सब कुछ प्राप्त भी कर सकते हो, इसी कारण हमको यह मानव-जीवन प्राप्त हुआ है।

व्याख्यान-१०१

प्रारब्ध और पुरुषार्थ में पुरुषार्थ की प्रधानता।

ओ३म्—गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ॥ ऋग्वेद १-८६-१० ॥

शंका—प्रारब्ध और वर्तमान जीवन के पाप और पुण्य कर्मों के संस्कारों में क्या अन्तर है ? समाधान—यह अन्तःकरण ही सब संस्कारों को धारण करता है। मेरे विचार में इसके लिए तो प्रारब्ध और इस जन्म में आज से जितने भी कर्म किए हैं ये सब ही प्रारब्ध का रूप धारण करके बैठ जाते हैं। स्मृति के लिए तो दोनों ही समान हो जाते हैं। स्मृति वृत्ति जैसे वर्तमान के जीवन के लिए हुए कर्मों के संस्कारों को उठाकर या लाकर अथवा जगा कर सामने ले आती है, इसी प्रकार पूर्व-जन्म के संस्कारों को भी उठाकर जगा कर ला सकती है। जैसे इस जन्म के संस्कारों को जागृत करके भोगोन्मुख करती है। इसी प्रकार पूर्व के संस्कारों को भी जागृत करके इस कार्यक्षेत्र में ला सकती है, यदि नहीं ला सकती है तब पुनर्जन्म के संस्कारों और प्रारब्ध की भी कोई बात सिद्ध नहीं होती। और तब कर्मों के संस्कारों का सिलसिला इस जन्म के संस्कारों के साथ जुड़ता हुआ दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है। कर्मों के संस्कारों का इस जन्म के साथ सम्बन्ध तब ही हो सकता है जब कि आप पूर्व-जन्म की बात मानो। यदि नहीं मानते हो तब पुनर्जन्म की बात भी सिद्ध नहीं होती। अतः यही सिद्ध होता है कि जैसे इस जन्म के पूर्वोपार्जित संस्कार भोग देने के लिए आते हैं तो इससे पूर्व जन्मों के संस्कार भी भोग देने के लिए आ सकते हैं। जबकि दोनों का सम्बन्ध मानते हो। जिनको आप प्रारब्ध के संस्कार कहते हो वे भी तो भूतकाल के हैं और जो हम इस जन्म में जो कर्म बना चुके हैं वे भी तो भूतकाल के हो गए हैं, अतः दोनों में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। आपने इस जन्म के संस्कारों से अगले जन्म में प्रारब्ध के संस्कार बनाने हैं जो अभी तक भोग नहीं दे सके हैं। हमारे अन्दर अनेक कामनायें भी हैं वे पूरी नहीं हुई हैं। उनके लिए अनेक प्रकार से पुरुषार्थ किया, परन्तु पुरुषार्थ से भी सफलता नहीं हुई। उन संस्कारों को बिना

फल दिए आप अधूरे ही लेकर अगले जन्म को लिए चले हैं।

शंका इसमें क्या होती है कि वर्तमान में ये जो संस्कार भोगोन्मुख होना चाहते हैं वे इसी जन्म के हैं या पूर्व-जन्म के हैं। क्योंकि गुरुजनों, माता-पिता, समाज से भी अनेक संस्कार या वासनायें सुनकर सीख कर हृदय में ठहर जाती हैं। वे ही परेशान करने लगती हैं। कार्यक्षेत्र में भोग देने के लिए हम प्रारब्ध की प्रधानता तो तब मानें जब कि गुरुजनों से या समाज से संस्कार न मिलें। इनके बिना सिखाये ही प्रारब्ध आकर भोग देना, कर्म कराना प्रारम्भ कर दें। यह तो करता नहीं है। यदि करता होता तो एक नवजात बालक को वन में रख दो। किसी भी व्यक्ति, गुरुजन या समाज का उससे सम्बन्ध न होने दो, तब क्यों नहीं वह प्रारब्ध आकर उस नवजात बालक से कर्म कराता है? केवल सामान्य ज्ञान ही उसका रहेगा, टट्टी, पेशाब, सोना, जागना, खाना, पीना, रोना, हंसना, चिल्लाना, क्रुद्ध होना, खाने में लोभ की मात्रा होना या राग होना। ये स्वाभाविक कर्म ही बिना गुरुजनों के उसमें उत्पन्न होंगे और सामान्य भोग देते रहेंगे। जैसे कि पशुओं को देते हैं। और जो विशेष कर्म, भोग या ज्ञान हैं, ये गुरुजनों के द्वारा ही प्राप्त होंगे। गुरुजनों से अभिप्राय जो सिखाने वाले शिक्षा देने वाले हैं। उनके बिना न विशेष ज्ञान होगा, न विशेष कर्म या भोग होगा। इस प्रकार तो बिना प्रारब्ध से भी इस जीवन का काम चला सकता है। परन्तु इस में एक आपत्ति होगी। यदि प्रारब्ध को न माना जाय तो फिर समान कर्म करने वालों में फल की प्राप्ति या सफलता और असफलता अथवा भोगों में लाभ या प्राप्ति में क्यों विषमता आती है? समाज कर्म करने वालों को समान ही भोग मिलना चाहिए जब कि समान कर्म करते हैं। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। मार्केटों में सैकड़ों व्यक्ति एक तरह का व्यापार करते हैं, एक जैसा ही पुरुषार्थ करते हैं; परन्तु फल-प्राप्ति में अन्तर होता है। किसी को थोड़ा लाभ होता है तो किसी को बहुत लाभ होता है। इस अवसर पर प्रारब्ध की विशेषता कहोगे कि वर्तमान के कर्मों की विशेषता कहोगे? यहाँ तो प्रारब्ध की विशेषता माननी होगी। तब क्या पुरुषार्थ निष्फल जाएगा? पुरुषार्थ में भी तो कम या अधिक पुरुषार्थ की विशेषता माननी होगी। बहुत बार थोड़ा अथवा बहुत पुरुषार्थ भी निष्फल होते देखा गया है। उस काल में यह भी पता नहीं लगता कि यह प्रारब्ध का इस प्रकार का फल है या वर्तमान के कर्मों का फल है। कर्म करने से सफलता हो जाती है तो इस जन्म का पुरुषार्थ समझना चाहिए। यदि कर्म का फल न मिले तो प्रारब्ध की बात समझनी चाहिए। फिर संस्कारों और पुरुषार्थ की जो प्रधानता आपने कही थी वह बात तो सिद्ध न हुई।

शंका—परन्तु इस बात का समाधान न हुआ, प्रारब्ध बलवान ही बना रहा। समाधान—पूर्व-जन्म के कर्मों से आप प्रारब्ध मानते हैं, क्या इस जन्म से

पूर्व के ही ? एक ही जन्म के कर्मों को ही प्रारब्ध मानते हो या अनेक जन्मों के संस्कारों को प्रारब्ध मानते हो ? इससे पूर्व-जन्म के यदि मानते हैं, तो फिर शंका होती है कि वे अनेक जन्म के संस्कार कहाँ जायेंगे, उनको भोग देने का अवसर ही नहीं मिलेगा। अतः एक ही जन्म का प्रारब्ध नहीं बन सकता है। उसमें दूसरे अनेक जन्मों के भी संस्कार मानने होंगे। जैसे एक जन्म के हुए, वैसे ही अनेक जन्मों के हो सकते हैं। अतः यह बात भी सिद्ध नहीं होती है, कि यह जो प्रारब्ध बना है कितने जन्मों के संस्कारों से बना है, और आगे जो प्रारब्ध बनेगा क्या उसमें इसी जन्म के संस्कार जायेंगे जो शेष रह गए हैं और जिन्हें भोग देने के लिए अवसर नहीं मिला है ? एक सामान्य प्रारब्ध है और दूसरा विशेष प्रारब्ध है। केवल सामान्य प्रारब्ध जन्म का हेतु है और विशेष प्रारब्ध प्रधान भोगों का हेतु होता है ?

समाधान—सामान्य प्रारब्ध तो केवल जन्म का हेतु ही मानना होगा। इसके लिए किसी पुरुषार्थ विशेष की आवश्यकता नहीं है, परन्तु विशेष प्रारब्ध तो आपको वर्तमान के जीवन से बनाना होगा। वर्तमान में विशेष पुरुषार्थ के द्वारा ही सामान्य प्रारब्ध, विशेष प्रारब्ध का रूप धारण कर लेता है। सामान्य जैसे, बीज, और विशेष जैसे वृक्ष है। इसी प्रकार सामान्य प्रारब्ध ही अगले जन्म के लिए बीज रूप में चलता है और यह पशु-पक्षी, मनुष्यो में समान ही होती है। पशु-पक्षी आदि जन्मों में इसको विशेष बनाने की मनुष्य के समान योग्यता नहीं हो सकती है। परन्तु एक मनुष्य-जीवन ही ऐसा है जिसमें पुरुषार्थ के द्वारा सामान्य को विशेष बनाया जा सकता है। अतः इसमें मानव के पुरुषार्थ की विशेषता माननी होगी। यदि पुरुषार्थ की प्रधानता न मानोगे तो उस जंगली बालक को भी ज्ञान हो जाना चाहिए, परन्तु वह तो पशु के समान ही रहता है। पुरुषार्थ की अपेक्षा निमित्त को क्यों न प्रधान मानें जैसे नवजात बालक के लिए माता-पिता, गुरुजन निमित्त बनते हैं ?

समाधान—नवजात बालक भी है और माता-पिता, गुरुजन भी हैं, यदि वे बालक को कुछ भी न सिखायें, वह जंगली ही बना रहेगा। अतः माता-पिता का पुरुषार्थ ही अज्ञानी बालक के लिए विशेष भोग और विशेष ज्ञान का हेतु होगा। सामान्य प्रारब्ध तो पशु-पक्षियों के समान सदा जन्म का हेतु बनता ही रहेगा और पुरुषार्थ के द्वारा उसका विकास भी हो सकता है। मूल रूप से तो वह ही जन्म का हेतु है। विशेष रूप में वह मानव के पुरुषार्थ के द्वारा ही विकास भाव को प्राप्त होगी। वरना वह बीज रूप में ही सदा बनती रहेगी। जैसे पशुओं के जन्म की परम्परा चलती है वैसी ही मानव के जीवन की भी परम्परा चलती रहेगी। माता-पिता और गुरुजनों के पुरुषार्थ की ही प्रधानता माननी होगी। पुरुषार्थ के द्वारा उसको विशेष बनाया जा सकता है, वरना सामान्य तो वह सदा रहती है भोग

देने के लिए और जीवन की परम्परा बनाये रखने के लिए। मानव का जीवन ही उसको विशेष रूप में सम्पादित पुरुषार्थ द्वारा परिणत कर सकता है। इसमें परमात्मा का भी कोई हस्तक्षेप नहीं होता। केवल मनुष्य माता, पिता, गुरुजन, समाज ही पुरुषार्थ के रूप में निमित्त कारण बनते हैं। यदि उन प्रारब्ध रूप संस्कारों के फल खाने हैं, भोगते हैं, तब पुरुषार्थ को ही प्रधानता देनी होगी। इन दोनों का सम्बन्ध ही सन्तान रूप में या फल रूप में प्रकट होगा। मूल रूप में प्रारब्ध और फल रूप में पुरुषार्थ समझना चाहिए।

शंका—यह शंका तो बनी ही रही कि प्रारब्ध के भोगों का निवारण कर सकते हैं या नहीं, आगे पीछे कर सकते हैं या नहीं, हमारे वह अधीन है या हम उसके अधीन हैं?

समाधान—प्रारब्ध को सदा हमारी और पुरुषार्थ की अपेक्षा करनी होगी। बिना पुरुषार्थ के वह नपुंसक के समान बन कर रह जाएगा। उसको न्यूनाधिक पुरुषार्थ के द्वारा किया जा सकता है। वह तो हमारे ऊपर ही निर्भर करता है। समाप्त या नाश तो इसका हो नहीं सकता, परन्तु पुरुषार्थ के द्वारा इसे निस्तेज या नपुंसक के समान अथवा पुत्रवान के समान बनाया जा सकता है। अतः इसको हमारे पुरुषार्थ की सदा ही अपेक्षा बनी रहेगी। इसके द्वारा जो भोग उपलब्ध होने हैं या हो सकते हैं उनको न्यून या अधिक हम बना सकते हैं या कर सकते हैं। पुरुषार्थ के अभाव में ये न्यून या क्षीण से बन जाते हैं, इनको पनपने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता और पुरुषार्थ के द्वारा इनका या 'इस प्रारब्ध का बहुत ही ऊँचा विकास किया जा सकता है और ऐसे सहस्रों प्रारब्ध बनाए जा सकते हैं। अतः इसके लिए भोगने में मानव स्वतन्त्र है। इस प्रारब्ध को चाहे जैसा पुरुषार्थ के द्वारा बनाया जा सकता है। अतः पुरुषार्थ की ही प्रधानता है।

व्याख्यान-१०२

आकाश और आत्मा की विभुता, इनमें अन्तर। आकाश के माध्यम से साक्षात्कार।

ओ३म्—असतो मा सद गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥ बृहदारण्यक उप० १-३-२८ ॥

उपनिषद् में "यद् खम् तद् ब्रह्म" ये दो शब्द आते हैं। जो आकाश है तदवत् ब्रह्म भी है। यहाँ एक प्रकार से आकाश के साथ ब्रह्म की व्यापकता की उपमा दी गयी है, कि जैसे यह आकाश व्यापक है वैसे ब्रह्म भी व्यापक है। दोनों में अन्तर इतना हैं कि यह जड़ है और वह चेतन है। चेतनता और जड़ता का ही भेद वतलाया है। एक तरह से व्यापकता दोनों की समान-सी बनी है।

हम बड़े इच्छुक-से बने रहते हैं, जिज्ञासा-सी बनी रहती है कि हमें परमात्मा के दर्शन हो जाएँ और वह हमारे दर्शन का विषय बन जाय। बहुत जगह वेदादि में "ज्योतिषांम् ज्योति" उसको कह दिया है, वह ज्योतियों की भी ज्योति है, "प्राणस्य प्राणः" प्राण का भी प्राण कह दिया है। वेदों में बहुत जगह परमात्मा को उपादान कारण भी माना है और निमित्त कारण भी माना है। परन्तु वेद हो, चाहे कोई भी हो, जब हम तर्क करते हैं, युक्ति और प्रमाण से देखते हैं, तो ये दोनों बातें बनती नहीं हैं। क्योंकि जो उपादान कारण होता है उसके गुण कार्य में आया करते हैं। "कारण गुण पूर्वकाः, कार्य—गुणाः दृष्टाः" जो कारण में गुण हुआ करते हैं वे कार्य में आया करते हैं। यदि परमात्मा में चेतनता रूप गुण है तो उसके कार्य में भी चेतनत्व आना चाहिए। इस प्रकार उससे बने हुए कोई चेतन पदार्थ हमारे देखने में नहीं आते हैं। इसलिए उपादान कारण तो परमात्मा नहीं बन सकता है निमित्त कारण बन सकता है, क्योंकि निमित्त कारण होने से, निमित्त के गुण नहीं आया करते हैं, केवल वह सहकारी कारण-सा बन जाया करता है। सहकारी निमित्त कारण बन जाता है। वह यदि निमित्त कारण नहीं होगा तो कारण अपने कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। उसका कार्य संयोजक होना चाहिए। उसका मेल करने वाला होना चाहिए। जो लोग कहते हैं कि चेतन आत्मा या परमात्मा नाम की कोई चीज नहीं है, पंचभूत मिल करके संसार का उत्पादन कर लेते हैं, यह सिद्धान्त गलत है।

इस लोक में जितने भी पदार्थ हम देख रहे हैं, जो हमने निर्माण किए हैं, हमारे बिना गति के वे क्रियाशील नहीं होते। जैसे मोटर आदि यान हैं। उन सब चीजों में चलने की शक्ति है। परन्तु अपने आप क्रियाशील नहीं होते हैं। इस-लिए चेतन को निमित्त कारण मानना पड़ेगा। उपमा दी गयी है आकाश की। जैसे परमात्मा व्यापक है ऐसे आकाश भी है। अब हम आपसे पूछना चाहते हैं कि आप जो कहते हो कि परमात्मा हमारे दर्शन का विषय बन जाय, हम उसको देख लेवें। पहले तुम इस आकाश को देखो जिसमें तुम बैठे हो। इसका तुम्हें क्या रूप नजर आता है। चाहे तुम इसको समाधि की अवस्था में देखो। इन आँखों से कम से कम तुम्हें यह पोल तो दीख रहा है। परमात्मा तो इन आँखों से भी ऐसा पोल रूप सा नजर नहीं आता। हालाँकि उपमा दी गयी है। आकाश, हवा की निस्वत, अग्नि, जल, पृथ्वी की निस्वत (अपेक्षा) व्यापक है और सूक्ष्म है। यह सूक्ष्म और व्यापक होने से तुम्हारे सामने एक प्रकार से प्रत्यक्ष का विषय भी बना हुआ है, क्योंकि कम से कम पोल तो देखने में आ रहा है। आँखों का इतना तो विषय बना है। परमात्मा आँखों से ऐसा भी नजर नहीं आता। इस आकाश में शब्द आदि उत्पन्न होते हैं, यह भी सामने देखने में आ रहा है। हमारा गमनागमन इसमें होता है, यह भी प्रत्यक्ष रूप में देखने में आता है। आकाश इस प्रकार का तो प्रत्यक्ष है, परन्तु तुम परमात्मा की इस प्रकार के प्रत्यक्ष की बात कहो तो शायद वह तुम्हारी बात समझ में नहीं आयेगी। परन्तु उपमा दी गयी है इस आकाश की जब इस आकाश का आप कोई रंग रूप नहीं देख रहे हो, इसमें कोई गन्ध नहीं देख रहे हो, रस भी नहीं देख रहे हो, परन्तु प्रतीति का विषय हो रहा है। इस प्रकार परमात्मा की व्यापक होते हुए तुम्हारे इस शरीर में तुम्हारी प्रतीति का विषय बन सकेगा। जैसे इस आकाश के अन्दर में लोक-लोकान्तर चल रहे हैं। ऐसे ही परमात्मा रूपी आकाश के अन्दर हमारे शरीर का और अन्तःकरण का स्थूल सूक्ष्म, शरीरों का गमनागमन बना रहता है। जैसे हवाई जहाज एक-एक देश को छोड़ कर जाता है, आकाश उसके साथ ही रहता है क्योंकि आकाश सर्वव्यापक है।

इसी प्रकार यदि आत्मा की सत्ता को भी मान लिया जाय कि आत्मा भी विभु है। क्योंकि आत्मा शब्द से दोनों का अर्थ हो जाता है। 'अत् सातत्य गमने' से आत्मा शब्द की सिद्धि होती है। ज्ञान ही इसका अर्थ होता है। यहाँ परमात्मा को भी आत्मा रूप से कह दिया गया है। बहुत जगह उपनिषदों में आत्मा रूप से इसका वर्णन है। इस प्रकार जैसा कि इस आकाश के अन्दर ये स्थूल पदार्थ गतिशील हो रहे हैं। इसी प्रकार तुम्हारे आत्मा-रूपी या परमात्मा-रूपी आकाश के अन्दर भी तुम्हारे शरीर आदि गतिशील, क्रियाशील, व्यापारशील, कर्मशील हो रहे हैं। आप इस आकाश को अनुभव तो करते हो, प्रतीति इसकी होती है; परन्तु इस आकाश का रंग-रूप देखने में नहीं आता। आपको अभ्यास के अन्दर कभी-कभी भ्रान्ति हो जाती

है। एक जगह श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा के नौ रूप बतलाए हैं कि इन नौ रूपों से परमात्मा पहचाना जाता है। नौ प्रकार की ज्योतियाँ बतलाई हैं। एक प्रकार से इन ज्योतियों के द्वारा जैसे यहाँ आत्मा के लिंग (चिह्न) बता दिये हैं वैसे वहाँ परमात्मा के लिंग बताए हैं। अग्नि रूप ज्याति, वायु रूप ज्योति, चन्द्रमा रूप ज्योति, सूर्य रूप ज्योति, जुगनू रूप ज्योति, इस प्रकार नौ प्रकार के रूपों में वर्णन किया है। परन्तु इसके विषय में हमने भी बहुत अनुसंधान किया है और पाया है कि आत्मा या परमात्मा किसी प्रकार की ज्योति नहीं। जैसे यह आकाश ज्योति-वाला नहीं है। यदि आप हमें इसमें ज्योति दिखाते हैं तो ठीक परमात्मा में भी देख सकते हैं कह तो दिया है कि जैसे 'ज्योतिषां ज्योतिः' सारे पदार्थों का यह आकाश आधारभूत है, चाहे इसको कुछ भी कह दो। ज्योति रूप कह दो, आधार रूप कह दो, आधेय रूप कह दो, सर्वव्यापक कह दो। पदार्थों के अन्दर चाहे आप कुछ कह दो परन्तु रूप की प्रतीति इसमें नहीं होती। किन्तु अनुभूति होती है। आकाश को अनुभव करते हो, इसी प्रकार परमात्मा भी या आत्मा भी तुम्हारे किसी रूप का विषय नहीं है।

वैसे तो यह कहा है कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्वनाम महद्यशः' परमात्मा की कोई प्रतिमा नहीं। प्रतिमा तो एक देशी चीज में होती है, सर्व देशी चीज की प्रतिमा नहीं बनती, वह तो प्रतिमा रूप ही होता है। एक देश का जो पदार्थ होगा उसकी आप मूर्ति बना लोगे, सर्व देशी की कोई मूर्ति नहीं, सर्व देशी की मूर्ति तो सारा संसार ही बनेगा। यदि परमात्मा की कोई मूर्ति देखना चाहते हो, सारा ब्रह्माण्ड एक प्रकार से परमात्मा की मूर्ति है। परन्तु यदि तुम कहो कि उसकी मूर्ति बन सकती है तो यह बात बन नहीं पाएगी। इसलिए परमात्मा तुम्हारे इस प्रकार के रूप का विषय नहीं बनेगा, चमकती हुई विद्युत की चमक जैसी नजर नहीं आयेगी। चमकता हुआ सा भी तुम्हें कब प्रतीत होता है जब तुम्हें भ्रान्ति हो रही होगी। यदि आप मन को ज्योतष्मान मान करके और मन के साथ उसका सम्बन्ध बनाओगे तो वह मन रूप सा प्रतीत होने लगेगा। एक जपा कुसुम मणि होती है। जिस प्रकार का फूल उसके पास रखोगे वह तद्वत् भासने लगती है। उसमें कोई विकार नहीं आता, ऐसे आत्मा को जानने के लिए मिलने के लिए किसी भी चीज़ का माध्यम बनाओगे। यदि प्राण को तुम माध्यम बनाओगे तो वह प्राण रूप सा प्रतीत होने लगेगा, क्योंकि वह प्राण में भी व्याप्त है। ज्योति को लेकर जाओगे तो परमात्मा ज्योति रूप सा प्रतीत होने लगेगा। किसी को भी माध्यम तो बनाना पड़ेगा।

परमात्मा ऐसे किसी स्थान में नहीं रहता है, कि जहाँ प्रकृति न हो, या कोई पदार्थ न हो। क्योंकि जब हम उसको सर्वव्यापक कहते हैं, तो सब पदार्थों के गर्भ में उसका होना अनिवार्य होगा। सब प्रकार के पदार्थों के गर्भ में रहने से उनसे

उसका भेद भी हो जाता है अभेद भी हो जाता है। भेद तो इसलिए हो जाता है कि परमात्मा उस पदार्थ से भिन्न जाति वाला है। एक प्रकार से भिन्न है इसलिए भेद हो जाता है और अभेद इसलिए हो जाता है कि परमात्मा कभी उस पदार्थ से अलग ही नहीं हुआ। न अब है, न पहले था, न कभी होगा, भेदाभेद दो पदार्थों का हुआ करता है, चेतन का भी होता है और जड़ का भी होता है। जैसे योग और सांख्य की परिभाषा में कार्य जो है, पदार्थ जो उनमें कारण हमेशा अनुद्भूत रहता है और कारण का कार्य से भेद नहीं होता। कारण भी कार्य के साथ में रहता है। जैसे कपास से कपड़ा बनता है, रूई से कपड़ा बना है, रूई भी उपादान के रूप में कपड़े के अन्दर वर्तमान है। रूई से धागा बना, धागे से कपड़ा बना, कपड़े का उपादान कारण रूई बन गयी। इसलिए उपादान कारण भी कार्य के साथ रहा करता है। वास्तव में यहाँ इस प्रकार का तो भेद नहीं क्योंकि कार्य बिल्कुल ही अलग हो गया। न्याय और वैशेषिक की परिभाषा में एक प्रकार से अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं। जिस समय धागे से कपड़ा बन गया तो धागा खत्म हो गया, धागे नाम की कोई चीज़ नहीं रही। योग और सांख्य वाले कहते हैं कि नहीं, धागे से भिन्न कपड़ा नाम की कोई चीज़ नहीं है। एक अवस्थान्तर परिणाम हुआ है। बहुत-से धागों को इकट्ठा करके जोड़ दिया। कपड़े के अन्दर धागे ही हैं और कुछ नहीं है। यह एक प्रकार से विचार-भेद चल रहा है। परमात्मा का एक प्रकार से भेद भी पदार्थों से रहता है क्योंकि यह दूसरी जातिवाला है और अभेद भी रहता है क्योंकि कभी इनसे अलग ही नहीं हुआ। परमात्मा अलग तो तुम्हें कभी देखने में नहीं आएगा। जैसे यह आकाश तुम्हें अलग देखने में नहीं आ रहा है। आकाश के गर्भ में तुम जाओगे यह आकाश भी किसी से उत्पन्न हुआ है।

यह आकाश या पोल जो है, यह एक प्रकार से सूक्ष्म कण मात्र परमाणु एटम मात्र शब्दों का समुदाय या संघात है। जो शब्द मैं बोल रहा हूँ इसका कोई रूप तो है। बाहर निकल करके फैलता है इस प्रकार से बाहर निकल करके ध्वन्यात्मक होता है। ध्वन्यात्मक शब्द सूक्ष्म रूप से या कारण रूप से सारे एटम की तरह ठहरे हुए हैं। उनका ही एक संघात यह आकाश है। यह भी उत्पत्तिमान है। इसकी भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। उस आकाश का ही शब्द सूक्ष्म रूप मानना पड़ेगा। यह नित्य नहीं हो सकता। अगर इसको नित्य मानोगे, तो ये जो तुम्हारे चार भूत हैं अग्नि, वायु आदि इनकी उत्पत्ति कहाँ से हुई, कौन सा पदार्थ है जिसने इनको उत्पन्न किया हुआ है? इसलिए पंचभूतों में चार भूत तो दृश्यमान होने से गतिशील होने से ऊर्ध्वगमन अग्नि में होता है वहन रूप जल में होता है, पृथ्वी में चलना आदि होता है। ये सब ठोस देखने में आते हैं। परन्तु आकाश का रूप देखने में नहीं आता।

नैय्यायिक लोग इस आकाश को विभु और नित्य मानते हैं और संसार का

उपादन कारण परमाणु या एटमों को मानते हैं। एटम से भिन्न और कोई चीज नहीं मानते। एटम का वे विभाग नहीं मानते। एटम संयुक्त हो करके आरम्भिक होते हैं। वे अन्तिम अवस्था परमाणु तक मानते हैं। परन्तु योग और सांख्य की परिभाषा में लोगों का सिद्धान्त यह है कि एटमों को और खण्ड-खण्ड कर दिया जाए, क्योंकि नित्य अनेक अनन्त परमाणु इतने नहीं बन सकेंगे, उनको गतिशील करने वाली कोई और चीज माननी पड़ेगी जो कि इनसे भिन्न रह कर इनके गर्भ में ठहर सके। इसलिए वहाँ भी चेतन सत्ता माननी पड़ेगी अगर उनका भी खण्ड-खण्ड कर दिया जाए तो एक विभु सत्ता ही हो जाती है। सारे उन एटमों को खण्ड-खण्ड करके टुकड़े करके आकाश-मण्डल में उड़ा दिया जाय तो वे भी एक प्रकार से विभुआत्मक बन जायेंगे। इस प्रकार जैसे कि व्याप्य-व्यापक भाव संबंध होता है। कारण अपने कार्य में वर्तमान रहता है। परमात्मा के लिए आकाश की उपमा दी गयी है। जब आकाश का कोई रंग-रूप आदि देखने में नहीं आता, तो परमात्मा को कैसे रंग-रूप आदि में आप अन्दर देखोगे। परन्तु यह कह दिया है कि "रूपम् रूपम् प्रतिरूपो बभूव" अर्थात् जैसे यह आकाश वायु के रूप में भी परिणत हो जाता है, तेज के रूप में भी परिणत होता है। इस आकाश के अन्दर भी यह विशेषता है कि जो पदार्थ इसके साथ में आता है वह तद्रूप-सा बन जाता है। अगर वायु इसमें आयेगी तो वायु के गर्भ में होकर तद्रूप-सा बन जाता है। वायु के रूप में प्रतीति होने लगेगी। यदि तेज इसमें आयेगा तो तेज सब में प्रवेश करके तद्रूपसा हो जाता है। तेज रूप सा भासने लगेगा। अगर पृथ्वी इसके साथ में आयेगी, पृथ्वी के साथ संबंधित हो करके तद्रूप-सा भासने लगता है।

यही बात परमात्मा के विषय में भी है। परमात्मा को जिस पदार्थ के द्वारा जानना चाहते हो माध्यम बना करके, वह तद्रूप-सा ही प्रतीत होगा। यदि अपने शरीर में इस आकाश को ही परमात्मा मान लिया जाय, यदि चेतन परमात्मा नाम की कोई चीज न मानें, तब एक दोष उत्पन्न होता है कि जिस वक्त मरण होकर मुर्दा शरीर हो जाता है, यह आकाश तो वहाँ रहता ही है। फिर उसमें मरण होने वाली यह कौन-सी चीज चली गयी? आकाश तो वहाँ वर्तमान ही था। परन्तु, वह क्रिया क्यों नहीं उसमें हो रही है? इसलिए इससे भिन्न और ही शक्ति या और ही चेतन सत्ता के संबंध का वहाँ अभाव हो गया। या यह पंचभूतों से बनी हुई थी, जिस कारण यह शरीर भोग और कर्म के योग्य नहीं रहा। क्योंकि शरीर तो पंचभूतों की रचना से मानोगे? आकाश भी तो इसमें सहकारी कारण मानोगे। पंचभूतों का बना हुआ पुतला यह शरीर तो जीर्ण, शीर्ण, खराब हो गया, इसके पुर्जे हिल गए, टूट गए, कुछ नुक्स आ गया। यह उसके कर्म करने योग्य नहीं रहा। चेतन के रहते इसमें कर्म-व्यापार हो सके। यह शरीर रूप मशीन खराब हो गयी है। इसलिए चेतन का कोई काम नहीं बनता। इसमें चेतन खड़ा ही रह जाता

है। इसी प्रकार परमात्मा भी अगर हम उसको न मानें तो जड़ पदार्थ भी खड़ा ही रह जाता है। यह आकाश प्रत्येक पदार्थ को अवकाश देता है। गति तो यह भी देता है और परमात्मा भी गति का हेतु है। परन्तु इसकी गति जो होगी अन्धी-सी होगी और परमात्मा की गति जो होगी वह आँखों वाली सी होगी। ज्ञान वाली सी होगी। ज्ञानपूर्वक इसकी गति होगी। चेतन की जो गति है जैसे शरीर में जब तक चेतना का संबंध है ज्ञानपूर्वक सारे कर्म-व्यापार हो रहे हैं। जब चेतन के संबंध का अभाव हो जाता है आकाश तो बना रहता है तब इसकी गति अन्धी-सी पड़ जाती है। आकाश में जो गतियाँ होती हैं, वे अन्धी-सी होती हैं। चेतन में जो गतियाँ होती हैं वे सर्व गुणपूर्वक होती हैं, इसीलिए चेतन और जड़ में अन्तर हो जाता है।

परमात्मा की बात चल रही थी, वह अकेला कभी देखने में नहीं आयेगा, इसलिए लोग उसको निराकार कहते हैं। निराकार तो संसार में कोई वस्तु नहीं है जिसका आकार न हो। जो पदार्थ है, उसका कुछ न कुछ आकार, कुछ न कुछ स्वरूप मनना ही पड़ेगा। परन्तु उसका स्वरूप ऐसा है कि उसके स्वरूप के साथ किसी और पदार्थ की तुलना नहीं कर सकते क्योंकि उसके समान और कोई रूप वाला वैसा पदार्थ नहीं है। उसके समान रूप वाला यदि आप कोई मानोगे, तो यह आत्मा ही हो सकता है। क्योंकि आत्मा और परमात्मा में वहाँ परम शब्द लगाया है। है भी वह आत्मा ही उसमें परम शब्द क्यों लगा दिया है? क्योंकि हमारे शरीर से बाहर भी वह है। इसलिए परम शब्द का प्रयोग कर दिया है। वास्तव में वह है एक ही आत्मा। इस शरीर में इतने देश में रहने से, उसकी आत्म-संज्ञा हो गयी है। शरीर से भी बाहर निकल करके रहने से उसकी परमात्मा संज्ञा हो गयी है, इतने ही शब्दों का भेद हुआ है। व्यवहार के भेद से शब्दों का भेद हो गया है। परमात्मा भी व्यापक रूप से ठहरा हुआ है। यदि बुद्धि के द्वारा आप जानना चाहोगे तो बुद्धि रूप में बुद्धि में मिश्रित-सा, मिला हुआ प्रतीत होगा। अगर चित्त के द्वारा जानना चाहोगे तो चित्त रूप-सा, मिश्रित-सा, मिला हुआ प्रतीत होगा। प्राण के द्वारा जानना चाहोगे तो प्राण रूप में प्रतीत होगा। तेज रूप से जानना चाहोगे तो तेज रूप में प्रतीत होगा। वहाँ दोनों प्रकार से उसकी प्रतीति हो जाएगी। क्योंकि दो पदार्थों का संयोग है। उसमें जो उसकी प्रतीति होगी उसके रूप की हम कल्पना कर लेंगे। इसमें मिली हुई बुद्धि के रूप की तो कल्पना कर लेंगे, उसमें मिली हुई प्रकृति की भी कल्पना कर लेंगे, क्योंकि इनके रूप का परिणाम-क्रम होता है।

परमात्मा के रूप में कोई परिणाम-क्रम नहीं होता। रूप तो अवश्य इसका भी है, कुछ न कुछ रूप तो मानना ही पड़ेगा। जैसे चित्त में आनन्द की अनुभूति तो आपको होती है। इसी प्रकार परमात्मा भी अनुभूति का विषय बनेगा, प्रतीति का विषय बनेगा। जैसे यह आकाश अनुभूति का, प्रतीति का विषय बना हुआ है।

इसका कोई रूप आप नहीं बतला सकते। जब इस आकाश का रूप आप नहीं बतला सकते हो, तो परमात्मा का रूप कैसे बतला सकते हो? इसके लिए यहाँ 'तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते' वाली बात बन जाती है। स्वयं संवेद्य होने से कल्पना करने में नहीं आता। वैशेषिक शास्त्र में भी कहा है यथा "विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा" ॥ वैशेषिक, ७-१-२२ ॥ जैसे विभु व्यापक आकाश है तद्वत् ही आत्मा या परमात्मा भी व्यापक है।

व्याख्यान-१०३

परमात्मा और आकाश की तुलना, परमात्मा निरवयव आकाश सावयव है।

ओ३म्—सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चित् दुःख भाग् भवेत् ॥

भगवान् के लिए आकाश की उपमा देते हुए प्रसंग चल रहा था। जैसे यह आकाश विभु है, वैसे परमात्मा भी महान् और विभु है। इस महान् और विभु परमात्मा को हमें अपनी धारणा, ध्यान, समाधि का विषय कैसे बनाया जाय। धारणा के पश्चात् ध्यान आता है। धारणा का अर्थ किया जाता है कि "देश वन्ध-चित्तस्य धारणा" किसी पदार्थ के देश विशेष में चित्त या बुद्धि को ठहरा देना उसका नाम है। धारणा, जैसे किसी शरीर के देश में मस्तिष्क में, नाक, कान, आँख आदि देश में मन को ठहराना धारणा हो जाएगा। फिर बहुत काल तक यह धारणा निरन्तर बनी रहे। २-४ घंटे तक, तब यह ध्यान की स्थिति बन जाएगी। फिर जिस पदार्थ को धारणा, ध्यान का विषय बनाया गया था उसको हम अपनी समाधि का विषय बनाते हैं; उसके अंग, प्रत्यंग आदि की विवेचना करें, साक्षात्कार करें, यह समाधि का विषय बनता है। परमात्मा का ऐसा कोई रंग-रूप तो आपने देखा नहीं, मनुष्य की तरह या किसी पदार्थ की तरह आकार-प्रकार वाला नहीं, तब उसको हम ध्यान का विषय कैसे बनावें ? अब जैसे यह आकाश है, पोल है, आपको हम कहेंगे कि इसको तुम ध्यान का विषय बनाओ, अब बतलाओ, कैसे उसको ध्यान का विषय बनाओगे ? कैसे उसकी उपासना, भक्ति करोगे ? एक बात है कि जैसे आकाश में कोई गति, क्रिया-व्यापार नहीं हो रहा है, यह शून्य-सा हो करके खड़ा हुआ है, इसी तरह किसी को हम लक्ष्य बना करके अपने मन, चित्त, बुद्धि को भी शून्य-सा बना देवें तो तब शायद आकाश की उपासना बन जाएगी। आकाश की तरह अन्तःकरण शून्य हो जाएगा। परन्तु यह शून्य होता नहीं है। उसको कुछ न कुछ हर वक्त अवलम्बन चाहिए। कोई न कोई उसके अन्दर कर्म-व्यापार होते ही रहना चाहिए, क्योंकि चेतन का संबंध बना हुआ है। चेतन का संबंध ही अन्तःकरण में क्रिया का रूप बना हुआ है। उसमें कुछ न कुछ क्रिया-

व्यापार बना रहेगा। फिर हम आकाश को साक्षात्कार का विषय कैसे बनायें, क्योंकि इसका कोई रंग-रूप आदि तो देखने में नहीं आता। तब इस प्रकार का जो विभु पदार्थ ध्यान का विषय शायद नहीं बन पाएगा।

जैसे हम इस आकाश को मस्तिष्क रूपी आकाश में भी देखें क्योंकि यह स्थूल शरीर है, आकाश इसमें व्याप्त होकर आँख, कान, नाक आदि शरीर में सर्वत्र वर्तमान है। इसको ध्यान का विषय बनाइए या समाधि का विषय बनायें फिर भी वह रंग-रूप की कोई बात नहीं बनती। केवल इसमें तीन गुण हैं आकाश के अन्दर एक तो विभुता, व्यापकता, दूसरा है सर्वतो गति, गमन इसमें हो जाए, तीसरा रचना कर सके, किसी भी प्रकार की उस आकाश के अन्दर रचना हो सके जैसे चारों भूतों की रचना हुई है या चारों भूतों की रचना उसमें फैलती है। ये तीन गुण इस आकाश के अन्दर हैं एक व्यापक करना, एक रचना करना और एक सर्वत्र गति करना, क्या परमात्मा के भी ऐसे गुण मान लेवें कि परमात्मा भी तो गति का हेतु है, क्योंकि प्रकृति से सूक्ष्म है प्रकृति इसमें गमन-आगमन करती है, इसलिए गति का हेतु भी बन जाता है, परमात्मा विभु है, प्रकृति से सूक्ष्म है। जैसे यह आकाश जो है यह अग्नि, वायु, जल से सूक्ष्म है, इसलिए इसमें भी विभुता है। परमात्मा में भी विभुता है, उसमें गति, गमनागमन है, उसमें रचना भी होती है। प्रकृति उसके गर्भ में रह करके रचना करती है। ये तीन बातें, तीन गुण तो एक तरह से भगवान् के साथ इसके मिलते-जुलते हैं। परन्तु एक ही गुण नहीं मिलता। इसमें जड़ता है उसमें चेतनता है। इसके जितने भी कर्म और व्यापार होंगे यह एक प्रकार से ज्ञानपूर्वक नहीं होते और चेतना का जहां संबंध है जैसे हमारे शरीर में चेतना का संबंध है इसमें ज्ञानपूर्वक व्यवहार होते हैं। एक प्रकार से सर्वव्यापक चेतना भी इस आकाश के अन्दर वर्तमान रहती है, क्योंकि जब इस आकाश को व्याप्त करके सर्वव्यापक चेतनात्मा ठहरेगी तभी तो उसका व्याप्य-व्यापक भाव संबंध होगा।

आकाश भी नित्य वस्तु नहीं है, बनी हुई है, यह भी जैसे और भूत बने हुए हैं वैसे बना हुआ है। यह आकाश भी प्रकृति का एक गुण विशेष ही है। यह आकाश कब उत्पन्न होता है जैसे प्रकृति खड़ी है, परमात्मा भी खड़ा है, अब प्रकृति परमात्मा के चेतन सम्बन्ध से उधर को या इधर को चलती है। उसको अवकाश चाहिए। वह अपने ही अन्दर या उस चेतन के अन्दर ही उसको अवकाश मिल जाता है। सर्वव्यापक जो चेतन सत्ता है उसके अन्दर ही प्रकृति को गति करने का अवकाश मिल जाता है। वह जो गति करने का अवकाश मिला उसकी आकाश संज्ञा हो गयी। जैसे एक एटम है परमाणु खड़ा है उसने चलना है उसको भी आकाश चाहिए। आप कहोगे कि प्रकृति अपने आप में कैसे अवकाश प्राप्त करेगी। अपने अन्दर यदि अवकाश न मिले जो चेतन उससे सूक्ष्म है व्यापक है, उसमें इसको गति करने का

अवकाश मिलता है। जो वह अवकाश मिलेगा उसकी आकाश संज्ञा हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि भले ही प्रकृति का ही यह एक देश विशेष हो परन्तु आकाश जरूर उत्पन्न होने वाली चीज़ है।

हम आपके ब्रह्मज्ञान की विशेषता तब समझेंगे, इस पोल के अन्दर या इस आकाश के अन्दर तुम्हें भगवान् की ज्योति दीखे। तब तो तुम्हारी बात मान लेंगे कि हाँ, तुम्हें आकाश के अन्दर परमात्मा का दर्शन हो गया। यह जो इधर-उधर मस्तिष्क में कल्पना कर लेते हैं ज्योतियों की, प्रकाश की, दूसरी चीज़ की, एक तो एक प्रकार से भौतिक या प्रकृति के पदार्थ तुम्हारे दर्शन का हेतु होते हैं। जैसे दर्शन का हेतु मन बन गया, इन्द्रिएँ, स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर ये तुम्हारे दर्शन का विषय बन जाएँगे क्योंकि बुद्धि का विकास या उत्पत्ति माया से या प्रकृति से होती है। यह अपने अर्थ और कारणों को ही जतला सकती है। अपनी जाति वाले पदार्थों का ही बुद्धि साक्षात्कार करा सकती है। आत्मा इसकी जाति का या परमात्मा इसकी जाति का विषय नहीं है। विजातीय होने से यह साक्षात्कार रूप से दर्शन का विषय नहीं बन सकता है, जैसे और पदार्थ बन जाते हैं, इसलिए आचार्यों ने इसको प्रत्यक्ष अनुमान, आगम का विषय नहीं माना। शंकराचार्य आदि ऋषियों ने प्रमाण का विषय आत्मा को या परमात्मा को नहीं माना, परन्तु हमारा विचार और सिद्धान्त यह है कि जब संसार में कोई पदार्थ है तो वह दर्शन का ज्ञान का विषय अवश्य बनेगा, चाहे जड़ हो, चाहे चेतन हो, चाहे परमात्मा हो, कोई भी हो। इस संसार में जो पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं बनता वह पदार्थ ही नहीं हैं। जैसे हाथी के सींग नहीं हैं, गधे के सीग नहीं हैं, घोड़े के भी सींग नहीं हैं। इनका सर्वथा अभाव है। सर्वथा अभाव होने से उनके सींग ज्ञान का विषय कभी नहीं बनेंगे। इसी प्रकार परमात्मा का सर्वथा अभाव तो नहीं है, भाव तो उसका है परन्तु वह हमारी इस बुद्धि का विषय नहीं बनता, ज्ञान का विषय नहीं बनता, इन्द्रियों का विषय नहीं बनता। हालाँकि इनके साथ में होतें हुए भी एक प्रकार से इनके प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता है। मैं भी बहुत बार तुम्हें कह दिया करता हूँ तुम्हें वहाँ तक पहुँचाने के लिए कि देखो, तुम्हारी बुद्धि के अन्दर चेतना के कम्पन से होते हैं जैसे तालाब के अन्दर कोई तुम्बा पड़ा हो, कोई चीज़ हो, लहरें चलेंगी तो तुम्बा उनके ऊपर हिलता-जुलता चलेगा, तो परमात्मा भी लहरों के अन्दर हिलता-जुलता चलेगा। जैसे मैंने ब्रह्म-विज्ञान के अन्दर गोल चित्र बना कर उसके अन्दर कम्पन दिखाए हैं, वहाँ सर्वव्यापक चेतना को भी प्रकृति के गर्भ में कम्पितहोता हुआ-सा दिखाया है। वास्तव में यह एक समझाने का तरीका है। यह नहीं कि उसमें कम्पन से इस प्रकार से वह तुम्हारे दर्शन का विषय बन जाएगा, क्योंकि वह अकेला कभी नहीं है, अकेला न होने से उसको दर्शन का विषय नहीं माना है। जब दर्शन का विषय माना है तो प्रकृति विशिष्ट दर्शन

का विषय माना है। इसी प्रकार आत्मा को भी जब दर्शन का विषय माना है तो वह भी चित्त विशिष्ट माना है। चित्त से पृथक् तो कभी आत्मा ठहरता नहीं, ठहरता भी होगा तो वह दर्शन का विषय नहीं बनेगा। यही बात है कि आचार्यों ने यों कह दिया कि इसमें है कोई चीज़, इस प्रकार से उसका निश्चय हो जाता है।

वास्तव में इसके गर्भ में कोई ऐसी चेतन सत्ता है। शरीर में भी इस प्रकार की चेतन सत्ता है जो इस जीवन का हेतु बनी हुई है। इसी प्रकार संसार के जितने पदार्थ हैं जैसे पृथ्वी, जल आदि, इनमें भी हम उस चेतना का अनुभव करेंगे तो शायद अन्तिम गर्भ में, अन्तिम छोर में जा करके उस पदार्थ का सूक्ष्म अन्तिम भाग होगा, उसमें जा करके उसकी व्यापकता का अनुभव होने लगेगा। उसकी सूक्ष्मता का अनुभव करेंगे वहाँ तद् विशिष्ट अनुभव होगा या प्रत्यक्ष होगा। जैसा कि चित्त विशिष्ट, बुद्धि विशिष्ट हमारे शरीर के अन्दर उसका अनुभव होता है। केवल आत्मा-परमात्मा अनुभव का विषय बनेंगे, प्रतीति का विषय बनेंगे। जहाँ एक पदार्थ हो उसमें कभी कोई परिणाम न देखो, कोई तब्दीली न देखो, कोई विचार न देखो, कोई रंग-रूप न देखो, परन्तु उसकी प्रतीति तुम्हें हो। वहाँ वह प्रतीति निश्चयात्मक हो जाएगी, वही तुम्हारा यथार्थ विज्ञान कहलाएगा—आत्मा के विषय में भी और परमात्मा के विषय में भी।

अब आप जो यह उपासना, साधना आदि करते हैं यह तो केवल मन को बहलाने की बातें हैं। मन को इधर ठहरा दिया, उधर ठहरा दिया, किसी पदार्थ के देश में ठहरा दिया, उसका ध्यान करने लगे। उनके ज्ञानों में उसका ज्ञान भी निकल आता है, उसके ज्ञान में परमात्मा का ज्ञान भी समझ में आने लगता है। जब कोई पदार्थ है तो वह ज्ञान का विषय जरूर बनेगा। क्योंकि परमात्मा है, इसलिए अनुभूति का, प्रतीति का विषय बनता है। आत्मा भी अनुभूति का, प्रतीति का विषय बनता है। परमात्मा भी ध्यान आदि का विषय बनता है। जैसे आप कह देते हैं, परमात्मा का ध्यान कर रहे हैं।

शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीन चीजें होती हैं। जैसे हम आकाश को कहते हैं, इसमें शब्द, अर्थ, ज्ञान तीन चीजें हैं। हमने बोला, आकाश वह कैसा आकाश है? अब उसके अर्थ की बात करेंगे। पहले शब्द बोल दिया आकाश, अर्थ इसका हम कहेंगे, आकाश पोल है, तीन गुण वाला विभु है, एक प्रकार से इसके मोटे स्वरूप का वर्णन करते हैं। इसकी सिफ्तें (गुण) बतलाते हैं कि आकाश विभु है, व्यापक होता है। यह रचना करने वाला है, गति देने वाला है, तीन सिफ्तें इसके अन्दर देखीं। तीन सिफ्तें इसके सुनने में आईं विद्वानों से, शास्त्रों से, वेदों से, पुस्तकों से। यह हो गया अर्थ। अब ज्ञान की बात आएगी। जिसके विषय में शब्द के रूप में पुकारा गया है, फिर अर्थ के रूप में देखा, फिर आँखों के सामने लाकर देखता

हूँ तो यह ज्ञान का विषय बन जाता है। जब तक अर्थ का विषय पदार्थ रहता है तब तक ऊहा-पोह, तर्क आदि बातें होती रहेंगी। उसके अर्थ को समझने के लिए, जानने के लिए, देखने के लिए, जब तक इसका अर्थ सम्पूर्ण रूप से समझ में आ गया तब अस्मि रूप से ज्ञान बन जाएगा। वह ज्ञान का निर्विकल्प अवस्था का विषय बन जाएगा। इसी प्रकार परमात्मा की बातें बहुत सुनने में आ रही हैं। जैसे आकाश के विषय में कहा, शब्द, अर्थ, ज्ञान। इस प्रकार का जब हम ज्ञान करेंगे। आकाश को विभु भी देखते हैं, पदार्थों की रचना भी होती है, हमारा गमनागमन भी होता है। अब लेते हैं परमात्मा को कि परमात्मा के अन्दर भी सृष्टि का गमनागमन रूप कर्म होता है और सृष्टि की रचना होती है इसलिए व्यूह कर्म भी है। इसके अन्दर और शब्द जैसे परमात्मा कोई है और इसका अर्थ यह है कि वह प्रकृति को धारण करके रखता है। उसमें व्यापक हो करके रहता है। इसको गति देता है, आकाश देता है, उसकी क्रिया का हेतु बनता है तब यह हो जाता है अर्थ।

क्रिया का हेतु, अवकाश का हेतु, रचना का हेतु ऐसे कोई चीज़ हमारे इस शरीर में होनी चाहिए। जो इसमें गति का हेतु बनी हुई हो, क्रिया का हेतु बनी हुई हो और गति या रचना का हेतु बनी हुई हो, यह कह देंगे कि इसमें तो आकाश है इसी की गति, क्रिया और रचना मान लेते हैं तो इसकी गति, क्रिया आदि जो हैं उसमें ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं होता। जैसे इसकी गति, क्रिया आदि तो पृथ्वी में भी हैं परन्तु पृथ्वी भूत में ज्ञान का उदय या ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस प्रकार हमारे शरीर के अन्दर जो विशिष्ट चेतन है जिसमें गति, कर्म, व्यापार आदि हो रहे हैं, वह चेतन सत्ता इस शरीर से भिन्न ही है। इस प्रकार आपका निर्णय हो जाएगा उस चेतन सत्ता के विषय में भले उसको प्रत्यक्ष नहीं देख रहे हों, मिली हुई देख रहे हों परन्तु उसमें कोई विलक्षण और भिन्न सत्ता है। गुर्दे में नहीं है और इस शरीर में वर्तमान है। इस प्रकार से परमात्मा भी, आत्मा भी प्रत्यक्ष का, विज्ञान का, अनुभव का, अनुभूति का हेतु बन जाते हैं। जब इस प्रकार की सूक्ष्म बुद्धि आप लोगों की होगी तब यह आत्मतत्त्व समझ में आएगा नहीं तो तब तक यह एक प्रकार से जीवन बिताने वाली बात बनी रहेगी। जब संसार से उपराम हो करके इस मार्ग में आए हो, इसके लिए बैठे हो, तब इसकी पूर्ण रूप से अपने अन्दर खोज करनी चाहिए, समझना चाहिए, निश्चयात्मक बुद्धि से अनुसंधान करना चाहिए। बुद्धि को ध्यान की कसौटी पर, बार-बार रगड़ करके इसको तीक्ष्ण बनाना चाहिए, सूक्ष्म बनाना चाहिए ताकि तुम्हारे हृदय में ही यह तुम्हें आत्मा या परमात्मा को दिखाने का हेतु बन जाए, कारण बन जाए, तुम्हें निश्चय हो जाए।

जैसे मैं अपनी तारीफ तो नहीं करता मुझे आत्मा-परमात्मा के लिए अपने अन्दर निश्चय हो गया है। और मुझे किसी से निश्चय कराने की आवश्यकता

नहीं है। हाँ, यह बात दूसरी है मैं उसको कुरेदता हूँ, कोई चीज़ प्राप्त हुई है, कभी काटूँ, छीलूँ, कभी फाड़ूँ, उसका कचूमर निकालता रहूँ यह बात दूसरी है। परन्तु वस्तु को समझ तो लिया है, देख तो लिया, चाहे मैं उसको किसी भी तरह उपयोग में लाता हूँ, किसी भी तरह काम में लाता रहूँ। यह बात तो हो गयी। अब इसके विषय में कोई शंका, कोई जिज्ञासा नहीं रही। आपकी भी एक स्थिति ऐसी आ जाएगी। बार-बार मनन करते हुए, निदिध्यासन करते हुए, साक्षात्कार करते हुए। समाधि की गहनतम अवस्था में अनुभव करते-करते एक ऐसी स्थिति हो जाएगी। एक ऐसी वस्तु को अन्त में चाहे भले ही अनुमान से ही समझ लो, प्रत्यक्ष उसकी अनुभूति न हो, क्योंकि बुद्धि के गर्भ के अन्दर वह वर्तमान है, वहाँ तुम्हें प्रत्यक्ष तो नहीं हो रहा है परन्तु अनुमान हो रहा है। जिस चेतन के आधार पर बुद्धि गतिशील हुई है यह एक प्रकार से अनुमानपूर्वक ही उसका प्रत्यक्ष हो जाएगा, या वह अनुभूति का विषय बन जाएगा, या तुम्हारे निश्चय का विषय बन जाएगा। यह है आत्मा और परमात्मा के विषय में ज्ञान की बात।

जैसा आकाश विभु है ऐसे परमात्मा भी विभु है। वैसे तो इस आकाश के अन्दर अवयव हैं। परन्तु यह चार भूतों को अपेक्षा सूक्ष्म होने से उनको व्याप्त करता है। है यह भी अवयव। क्यों है? क्योंकि यह अनन्त शब्दों का समुदाय है। इस आकाश के अवयव हैं इसके सूक्ष्म शब्द जैसे यह गन्ध, पृथ्वी का धर्म है, गन्ध पृथ्वी के प्रत्येक कोने में, जर्रे-जर्रे में व्याप्त हो करके ठहरी हुई है। पृथ्वी जब परिणाम भाव को प्राप्त होती है उसकी गन्ध भी उसके साथ परिणत होती है। जो पदार्थ का स्वरूप होता है वह स्वाभाविक गुण होता है, वह पदार्थ के साथ ही चलता है, परमात्मा में तो कोई ऐसा परिणाम आदि नहीं है ताकि उसके साथ कोई चीज़ चलने वाली हो इसलिए परमात्मा एक ऐसी शक्ति है, अडोल-सी खड़ी है। यह आकाश तो तुम्हारा सावयव है क्योंकि शब्द इसमें गति करते हैं, शब्द इसमें उत्पन्न होते हैं; शब्दों का आकाश उपादान कारण है। परमात्मा प्रकृति का उपादान कारण नहीं है। वेदों में तो कई मन्त्र मैंने पढ़े हैं वे दो प्रकार का कारण बतलाते हैं। एक तो निमित्त कारण भी मानते हैं और उपादान कारण भी भगवान् को मानते हैं। परन्तु मुझे उपादान कारण की बात समझ में नहीं आयी चाहे वेद मानें, चाहे कोई ऋषि, मुनि माने, यह बात मुझे खटकती है। उपादान कारण जो होगा वह तबदील होने वाला होगा इसलिए लोगों ने उसके अन्दर गुण-गुणी भाव सम्बन्ध मान लिया है। उपादान कारण यदि कोई है तो प्रकृति है, ब्रह्म तो निमित्त कारण ही बनेगा। उपादान कारण नहीं बनेगा। अगर हम उपादान कारण मानते हैं तो भगवान् तो चेतन है उसमें चेतनों की उत्पत्ति होनी चाहिए। जड़ों की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसे चेतन पदार्थ तो उससे उत्पन्न होकर चलते नहीं, जैसे प्रकृति से पदार्थ उत्पन्न होकर चलते हैं, सारे संसार की रचना होती है। भगवान्

की चेतना में कोई रचना होती हुई देखने में नहीं आयी। इसलिए भगवान् निरवयव है अथवा कोई विभाग या खण्ड नहीं हो सकता है।

आकाश का तो हम विभाग या खण्ड कर सकते हैं। आकाश की उपमा वैसे भगवान् के लिए घटती है। परन्तु इससे बढ़िया और कोई उपमा भी नहीं है, समझाने के लिए, ऐसी तुलना करने के लिए कोई ऐसा पदार्थ भी नहीं है जिस की थोड़ी-बहुत तुलना परमात्मा के साथ कर सकें। यदि तुलना हो सकती है तो आकाश की हो सकती है। आकाश सावयव है, परमात्मा निरवयव है, इसलिए परमात्मा इस आकाश के भी अवयवों को व्याप्त करके ठहरेगा। संसार के सारे पदार्थों को व्याप्त करके ठहरेगा। दो ही सत्ताएँ सिद्ध होंगी। एक सर्वव्यापक सूक्ष्म चेतन सत्ता और दूसरी जड़ सत्ता जो कारण और कार्यात्मक है। यह है परमात्मा की और आकाश की तुलना की बात। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि अगर कहीं तुम्हारी बुद्धि इस प्रकार की सूक्ष्म बन जाए कि तुम अपने शरीर में या बाहर भी चेतन सत्ता का अनुभव कर लो या तुम अपने स्वरूप का ही अनुभव कर लो जो इस शरीर में जितना लम्बा और चौड़ा तुम्हारा आत्मा है, तो तुम उसी का ही पहले ज्ञान कर लो। इसके ज्ञान से उसका भी ज्ञान हो जाएगा। क्योंकि दोनों की चेतना समान है। चेतनता में कोई अन्तर नहीं, दोनों क्रिया के हेतु बने हुए हैं। इसलिए एक चेतन के ज्ञान होने पर अगर तुम्हारी दृष्टि में दूसरा चेतन भी है तो उसका भी ज्ञान हो जाएगा। जैसे एक आदमी को देखा तो उसकी जाति वाले सब आदमियों का ज्ञान हो जाएगा। चाहे जो भी किसी भी देश में देख लो। यदि तुम भगवान् की तरह चेतन स्वरूप या आत्मा की जाति मानते हो तो एक चेतन के ज्ञात हो जाने पर दूसरे चेतन का भी ज्ञान हो जाएगा। भले ही इसमें अनेक दोष क्यों न हों, क्योंकि जातिवाचक जो पदार्थ होंगे उनमें अनेकत्व धर्म होगा। परमात्मा में भी फिर अनेकत्व धर्म मानना पड़ेगा क्योंकि वह भी जातिवाचक बन जाएगा। संख्यावाचक तो है परमात्मा क्योंकि एक भी तो संख्या ही है। परन्तु एक जातिवाचक नहीं है। जिसमें बहुत संख्याएँ होती हों जैसे मनुष्यों की संख्या है ये सब जातिवाचक हैं। परमात्मा में संख्या तो है जाति नहीं है इसलिए उसको भिन्न ही मानना होगा। सब से अलग ही मानना होगा। उसको निरवयव मानना होगा। जहाँ जातिता आएगी वहाँ सावयवता आएगी, निरवयव पदार्थ में जाति नहीं बनेगी। सावयव पदार्थ में अनेकत्व आएगा। जातिवाद आएगा, जाति चलेगी। इसलिए जीवों की जाति बन जाती है परमात्मा की जाति नहीं बनती। ये हैं विज्ञान की बातें, जो कि आत्मा और परमात्मा के विषय में समझने योग्य हैं। स्वयं ही तुम्हें संवेद होगा, स्वयं ही अनुभूति होगी।

मेरे विचार से मेरे उपदेशों से कहने से तुम्हारा सन्तोष नहीं होगा। जब मुझे भी आचार्यों से बहुत उपदेश मिले, बहुत ज्ञान मिले, बहुत कुछ हुआ, परन्तु

उपदेश ज्ञान सुन कर अन्त में बैठ करके मनन, निदिध्यासन किया। तब मेरे अपने निर्णय बने, उनके निर्णयों से मेरा निर्णय नहीं हुआ। जैसे मेरे निर्णय से तुम्हारे निर्णय नहीं हो पा रहे हैं। अभी तक जब तक तुम्हारा अन्तःकरण अपने आप निर्णय न करेगा कि हाँ यह ठीक है, समझ लिया है, तब तक मेरा ज्ञान, उपदेश वगैरा एक तरह से फजूल-सा बेकार-सा ही रहेगा। कारामद कब होगा जब आप लोग भी मेरे समान अपने निर्णय करोगे, तब तुम्हारी सन्तुष्टि होगी, तृप्ति होगी, आत्म-साक्षात्कार, परमात्मा-साक्षात्कार होगा।

व्याख्यान-१०४

निर्गुण ब्रह्म का परिचय—

ओ३म्—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्यु मेति नान्यः प्रन्था विद्यतेऽयनाय ।।
श्वेताश्वतरोपनिषद् तृतीय अध्याय ।।८।।

दिन-रात आप आत्मा और परमात्मा की चर्चा सुनते आ रहे हैं। उसके अनेक प्रकार के गुणों को हम गायन करते आ रहे हैं। संसार में तीन वाद हैं—एक आत्मवाद, दूसरा द्वित्ववाद इसमें जड़ और चेतन दो पदार्थ होते हैं। तीसरा तृत्ववाद जीवात्मा की पृथक् सत्ता मान कर तृत्ववाद या त्रैतवाद। कल का तो मेरा विषय होगा आत्मा के विषय में और परसों परमात्मा के विषय में। मैं इस विषय में क्या समझ पाया हूँ मैं अपना विचार रखूंगा। तुम चाहे जो मानते रहो, तुम्हारे ऊपर किसी प्रकार का मेरा आक्षेप या दबाव नहीं होगा। मैं क्या समझ पाया हूँ, हो सकता है मैं गलत समझा हूँ। उसके विषय में जैसे ५ अन्धों को एकत्रित कर दिया जाए और एक हाथी को बीच में खड़ा कर दिया जाए। तब जिसने पूँछ पकड़ी है वह पूँछ की बात बताएगा। जिसने सूँड पकड़ी वह उसकी ही बात बताएगा। सब पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे। ऐसे ही हमारे लिए आत्मा और परमात्मा बन गए हैं। अब उस आत्मा को आपने जानना है। एक अणु है यदि उसको भी खंड कर दिया जाए। आत्मा को उससे भी सूक्ष्म बताते हैं। आपने इतने छोटे से सूक्ष्म पदार्थ को, बाल का अग्रभाग का सौवाँ भाग यदि उसका भी खण्ड किया जाए, तो उतना सूक्ष्म आत्मा माना है। ऐसे आत्मा को तुमने ढूंढना है। यदि किंचित् और स्थूल होता तो हमारे डाक्टर आदि दूसरे लोग हैं या अणु-वीक्षण आदि देखने वाले हैं, ढूँढ लेते, तुमसे पूर्व जान जाते, वे भी नहीं जान पाए। आप भी नहीं जान पाए उस आत्मा को। आपने अपने भीतर अन्वेषण करना है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म है और जिसको महान् कहते हैं। आकाश के सदृश आकाश से विशाल जगत् में कोई पदार्थ नहीं है। यह शून्य हमारे कर्म का गमनागमन आदि का हेतु बना हुआ है। इससे महान् और कोई वस्तु नहीं। भगवान् इससे महान् है। भगवान् को 'अणोरणीयान' अणु से भी अणु कहा है और 'महतो महीयान'

भी कह दिया है कि महान् से भी अति महान् है। उसको आपने समझना है, जानना है और वह तुम्हारे ज्ञान का विषय बनेगा। एक स्थिति आ जाती है जब बुद्धि ऋतम्भरा हो जाती है। प्रत्येक पदार्थ को लेकर अपने शरीर के किसी भी अंग को किसी भी भाग को लेकर तेज या प्राण को लेकर चेतन सत्ता के निकट पहुँच सकता है। एक ऐसी अवस्था योगी की आ जाती है कि प्रत्येक पदार्थ के साथ सम्बन्धित हुआ चेतन सत्ता का भेदाऽभेद दोनों प्रकार का ज्ञान हो जाता है। ऐसी बुद्धि आपने उत्पन्न करनी है, वह होगी योग के द्वारा।

इतने वर्ष योग साधना करते हुए आपको हो गए हैं। तुमने जिस चेतन सत्ता को ढूँढना है वह तुम्हारी बुद्धि का विषय बनेगी। अभी तो आपके सामने एक यह समस्या उत्पन्न हुई है कि जिस मन, बुद्धि के द्वारा आप वहाँ पहुँचना चाहते हो वही तुम्हारे अधिकार में नहीं है। वह बेलगाम के घोड़ों के सदृश, बिना अंकुश के हाथी के समान दोनों बने हुए हैं। बुद्धि जो इच्छा हो चिन्तन करती है, उस पर कोई तुम्हारा अधिकार नहीं, मन भी दौड़ कर चला जाए उसको भी निरोध करने की शक्ति नहीं है। यह तो स्थूल पदार्थ है। मन बुद्धि सावयव पदार्थ है जो तुम्हारे मस्तिष्क में हैं, वही बात समझ में नहीं आती तो जो परमाणु रूप आत्मा है, वह कैसे तुम्हारे देखने में आएगा; और रहा दर्शन का विषय, तुम दैनिक आकाश को देखते हो। अब बताओ आकाश का क्या रूप है। ऐसे भगवान् के विषय में भी बात होती है, ऐसे ही उसको कह देते हैं "आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्" अभी मैंने मन्त्र बोला था उसको सिद्ध करने के लिए यह हमारी अपनी एक प्रकार से कल्पना है। जैसे आदित्य चन्द्रमा, आकाश, प्राण की कहीं ज्ञान की उपमा देते हैं।

वर्तमान में कुछ विद्वान् परमात्मा के दो रूप मानते हैं। एक सगुण और दूसरा निर्गुण। हमारे बहुत-से आचार्यों ने उसको दोनों रूपों में वर्णित किया है। सगुण और निर्गुण। मुझे उसके एक रूप का वर्णन करना है, निर्गुण का। जिस समय आप ध्यान में बैठते हो पहले तो यह क्रिया करो कि तुम्हारी इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ने का जो स्वभाव है उसको उनसे हटाकर परमात्मा के साथ मन को जोड़ देना या "ध्यानं निर्विषयं मनः" मन को निर्विषय बनाकर पुनः उसको आत्मा के साथ जोड़ो या परमात्मा के साथ या अपने शरीर में खोज करो, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर में परमात्मा व्याप्त है फिर तो उसकी व्याप्ति इन आँखों में भी है। इनमें भी परमात्मा को देखा जा सकता है, जाना जा सकता है। जैसे आकाश की वायु में व्याप्ति है, अग्नि में भी व्याप्त हुआ है, पृथ्वी में भी व्याप्त हुआ है, ऐसे ही सबमें परमात्मा की व्याप्ति है क्योंकि सम्पूर्ण जगत् के दृश्यमान पदार्थ सावयव हैं। इन सावयव पदार्थों में इनके विभागों में या देशों में परमात्मा ओत-प्रोत होकर व्याप्त होता हुआ स्थित है। उस परमात्मा को ढूँढना है।

अनेक जन्मों के संस्कार इस ओर आकर्षित करते हैं। संसार के ऐश्वर्यों से, भोगों से, कार्यों से अभी तक सन्तुष्टि नहीं हुई है तो दस-बीस, पच्चीस वर्ष के जीवन में क्या सम्भावना हो सकती है तृप्ति हो जाने की ? जिस बात के लिए आप प्रवृत्त हुए हैं वह तुम्हारे शरीर के भीतर है, उसकी व्याप्ति सर्वत्र है। ध्यान के समय में ऐसे शान्त-सा हो जाया करो, जिस काम में लगे हो आपकी बुद्धि वैसी ही तद्‌रूप-सी बन जाए। यदि इस घड़ी का चिन्तन करने लगे हो, घड़ी ही तुम्हारे सामने रहे और सबको भूल जाओ। घड़ी को छोड़ कर कहीं अन्यत्र तुम्हारा मन न जा सके। उपर्युक्त योग्यता बनती है अभ्यास के द्वारा, बड़ी साधनाओं से, बड़े तप के द्वारा अन्तःकरण की भूमि निर्माण करनी पड़ेगी।

आप तो अनेक जन्म भी मानते हो, यह मत विक्षेप आवरण एकाध जन्म से नहीं घुलते। कहने का तात्पर्य यह है कि इन इन्द्रियों के, मन के दोषों को क्षीण करने के लिए तप की आवश्यकता है। यदि तप करते-करते भी यह क्षीण हो जाएँ तो बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए। साठ वर्ष तक तो लोक-संग्रह के लिए व्यतीत किए हैं। यह लोक तो सुधर गया। अब परलोक की बात है। तप, त्याग की भावना से जीवन में समदर्शिता लाकर उस परलोक का संग्रह यहाँ किया जा रहा है। कल को मरण हो जाए तब भी किसी प्रकार की लौकिक वासना साथ में न रहनी चाहिए। यह वासना जन्म का हेतु बनती है। कामना, इच्छा ही जन्म का हेतु बनती है। हम तो पुनर्जन्म को मानने वाले हैं। रात भी जन्म था, अभी भी है। तो कल क्यों नहीं होगा ? परसों क्यों नहीं होगा ? आत्मा के लिए यह शरीर कपड़े के समान ही तो है, जन्म-मरण आप इस शरीर का मानते हो, आत्मा का तो नहीं मानते हो, चाहे वह जैसा भी है। अतः अपने स्वरूप को खोजने के लिए इच्छा उत्पन्न हुई है।

फिर इस संसार का सृजन करने वाला वह कैसा है उसको भी जानने की जिज्ञासा होती है क्योंकि इस सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु आदि को किसने रचा है और हमें उनको दे दिया है। उसका धन्यवाद करो या न करो, परमात्मा तुम्हारे धन्यवाद का इच्छुक नहीं है। तुम्हारी प्रार्थनाओं से भी प्रसन्न होने वाला नहीं है। चोर भी जिस समय चोरी करने जाता है वह भी कहता है, हे परमात्मा ! यदि मेरी चोरी सफल बना देगा तो तुम्हारे नाम का इतना प्रसाद बाँटूंगा। यह सब हमारी मान्यताएँ हैं भगवान् के प्रति। यदि भगवान् प्रसन्न होने वाला होता तो अब तक जीवन के जितने भी समस्त दुर्गुण थे उनको भस्म कर देता। "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि" हमारे जो इतने जन्म-जन्मान्तर होते आ रहे हैं, इसका कारण यह है कि जो कर्म करते हैं वे बिना भोग दिए हुए जाते नहीं हैं। बीज वोया है, जमीन में समस्त साधन हैं, उसने तो पनपना ही है उगना ही है, वृक्ष के रूप में बनना है। दिन-भर में हम जितने कर्म करते हैं, यह सब कर्म अपना बीज

रखते हैं। जब हम देश, काल, निमित्त सामग्री, निर्माण करते हैं तो कार्य-क्षेत्र में आकर वे अपना फल देने लगते हैं। जो कर्म कर रहे हैं उनको तो भोगना ही है। परमात्मा से तुम जितनी भी प्रार्थना करो वह क्षमा नहीं करेगा। राज्य सत्ता हमें क्षमा नहीं करती तो क्या भगवान् कर देगा। राज्य सत्ता भी फाँसी पर चढ़ा देती है। और उससे तुम आशा करते हो कि क्षमा कर देगा। हमने भगवान् को अपनी इच्छा का बनाया हुआ है, मोम जो होती है जैसे मोड़ा वैसे मुड़ जाती है। भगवान् को हम ऐसे समझते हैं।

भगवान् की सर्वव्यापकता को आपको इस शरीर में देखना है। आत्मा की अणुता को भी इस शरीर में देखना है। जब ध्यान की स्थिति में बैठो तो पूर्ण रूपेण शान्त और समाहित हो जाओ। मन में जो विचार उत्पन्न होते हैं उनको भी छिटका दिया करो। जैसे निद्रा की अवस्था से पहली अवस्था तुम्हारी होती है। वैसे ध्यान की अवस्था में अपने मन की अवस्था को बनाओ। जैसे निद्रा में अन्धकार में प्रवेश करते हैं, भगवान् को प्रकाश रूप समझ कर समाधि की अवस्था में उस प्रकाश के भीतर प्रवेश कर जाओ। निद्रा की अवस्था में प्रकाश के अन्दर प्रवेश करते हो क्योंकि वह तमः प्रधान अवस्था है। समाधि की अवस्था सत्त्व प्रधान अवस्था है। सत्त्व का अर्थ होता है प्रकाश, वहाँ भगवान् भी तुम्हें प्रकाश के रूप में मिल जाएगा क्योंकि भगवान् को बुद्धि की आँखों से देखना चाहते हो तो उसको सूक्ष्म बनाना पड़ेगा, उसको तीक्ष्ण करना पड़ेगा, साधना करनी पड़ेगी, तप करना होगा, संयम करना पड़ेगा। इस जन्म के जो इतने अनेक संस्कार पड़े हैं। बहुत से पाप कर्म हुए हैं, हमारे से, आप से, सबसे हमें निरोध करना है, वे भी अपना प्रभाव दिखाएँगे, क्योंकि बीज तो अन्तःकरण में पड़े हैं उनको किंचित् काल के लिए बन्द करना है। उन संस्कारों को मन्द करके परमात्मा की व्याप्ति को बुद्धि के भीतर देखना है, समझना है, जानना है, ऐसा मन अपना बना लो, शान्त, स्थिर, तल्लीन होकर खोज करो इस मस्तिष्क में। डाक्टर इस मस्तिष्क को चीर-फाड़ कर देखेंगे तो अस्थि, माँस के अतिरिक्त अन्य कुछ दृष्टिगोचर नहीं होगा। परन्तु आपको तो एक ऐसे अनिर्वचनीय पदार्थ की खोज करनी है जिसके रंग, रूप, आकार को अभी तक देखा नहीं है। अवश्य उसके अस्तित्व को इसके मस्तिष्क में समझना है। इसका विषय वह अवश्य बनेगा। ऐसी स्थिति आप ले आओ। यदि इन दोनों बातों की आवश्यकता है तो इस मार्ग में अपने को चलाना होगा। संसार के सब कार्यों से निवृत्त होकर, तृप्त होकर, इस मार्ग में प्रवेश करो। इसमें भी सफलता हो जाएगी। जैसे संसार में सफलता हुई है वैसे इसमें भी सफल हो जाओगे। यदि संसार में आज तक सफलता नहीं हुई है, अधूरे यहाँ चले आते हैं तो पुनः संसार तुम्हें आकर्षित कर लेगा, यहाँ भी असफल रहोगे और वहाँ भी असफल रहोगे। 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणोनिर्वेदमायान्नास्त्य

कृतःकृतेन" जब ब्राह्मण गृहस्थी आदि संसार के भोगों से तृप्त हो जाते हैं पुनः उनकी आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान के लिए जिज्ञासा होती है।

आपने ध्यान में ऐसी वस्तु की खोज करनी है, कम से कम ऐसी वस्तु सामने आ जाए जहाँ अपनेपन की भावना होती है कि मैं हूँ, जहाँ अहंता की भावना हो, यह मेरा स्वरूप है ऐसी वस्तु दृष्टि में आए, उसी स्थान को ढूंढ लेना चाहिए। सम्भवतः वहाँ आत्मा भी मिल जाएगा। जहाँ अहंता का बोध होता है कि मैं हूँ अथवा मैं कर रहा हूँ, यह कौन-सा स्थान है, मैं का उस स्थान में प्रवेश कर आप जब उसको देखेंगे ती सम्भवतः वह मिलेगा। परन्तु उसके लिए किसी की आवश्यकता पड़ेगी। अपनी आँखों में अपना सुर्मा लगाकर उसको देखने के लिए दर्पण सामने लाया जाता है। उसके लिए जैसे दर्पण की आवश्यकता है इसी प्रकार विशुद्ध चित्त की, बुद्धि की भी आवश्यकता है। दर्पण स्वच्छ न हो, मिट्टी पड़ी हो, मैला हो वह भी भद्दा दिखाता है। मुख को स्पष्ट नहीं दिखाता। अतः चित्त रूपी दर्पण को स्वच्छ करना पड़ेगा। एकान्त में रह कर आश्रमों में निवास कर साधना करोगे, तपस्या करोगे तो अन्तःकरण शुद्ध, पवित्र होगा। अतः प्रतिकूल संस्कारों का भी अभाव करना पड़ेगा। जब दुनिया के संस्कार समाप्त हो जाएँगे तब अध्यात्म के संस्कार जागृत होंगे जो कि एक कोने में जन्म-जन्मान्तरों के पड़े हैं। उसी प्रकार के संस्कार पुनः जागृत होने लगेंगे। जिस माल की वहाँ आवश्यकता होती है उसी प्रकार का माल उस विक्रय केन्द्र में आने लगता है तथा पर्याप्त बिक्री होती है। उत्तम सात्त्विक चरित्र का निर्माण करने की आवश्यकता है।

गृहस्थी अपने एक परिवार के दुःखों को निवारण करने के लिए साधन उपाय करता है तो संन्यासी को सम्पूर्ण संसार को अपना परिवार समझना है और समस्त जगत् के दुःखों की निवृत्ति करनी है। यह संन्यासी का धर्म हो जाता है। दुःखों को निवारण हेतु यहाँ साधन उपाय बताते हैं वैसा ही जीवन का निर्माण किया जाता है। इस विज्ञान के महत्त्व के स्वरूप को जिन्होंने समझा है वे संसार के उस ऐश्वर्य को विशेष महत्त्व देते हैं। भर्तृहरि घर को त्याग कर चले गए थे, बुद्ध भगवान् भी गृह, राज, सम्पत्ति को त्याग कर चल दिए थे, इस ऐश्वर्य को उस तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उन्होंने इसके महत्त्व को समझा था। जब इस लोक के ऐश्वर्य, भोक्तव्य पदार्थ और ब्रह्मविद्या के ऐश्यर्य की तुलना करते हैं तो विशेष भाग ब्रह्मविद्या का ही होगा। परमात्मा भी कोई सत्ता है, कोई वस्तु या पदार्थ है। इसका रूप भले दृष्टि में न आए परन्तु विशुद्ध चित्त अथवा विशुद्ध बुद्धि में पुनः उसका अभ्यास प्रतीत होने लगता है, जिसका बिम्ब-सा भासने लगता है।

यह स्थूल शरीर है, इसके ही बराबर आकार-प्रकार वाला सूक्ष्म शरीर समाधि की अवस्था में सामने दीखने लगता है। यह सूक्ष्म शरीर है। इसके भी

गर्भ में कारण शरीर वर्तमान रहता है। यह तीन प्रकार के शरीर स्थूल, सूक्ष्म और कारण एक-एक का प्रतिबिम्ब है। कारण शरीर का प्रतिबिम्ब सूक्ष्म शरीर है, सूक्ष्म शरीर का प्रतिबिम्ब यह स्थूल शरीर है। इनका एक-दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्ध है। अन्त में कारण शरीर में जहाँ चित्त का प्रवेश है, सम्बन्ध है। वहाँ जाकर योगी को आत्म प्रत्यक्ष, ब्रह्म प्रत्यक्ष होता है। ऐसी बुद्धि अथवा ऐसे चित्त का निर्माण करना है। तपस्या, साधना, अभ्यास के द्वारा अन्तःकरण के मल विक्षेप आदि को दूर करना है। जन्म-जन्मान्तरों के जो संस्कार पड़े हैं उनको तनु प्रसुप्त-सा कर देना है। पुनः अपने स्वरूप को उसमें देख सकते हो, परमात्मा के स्वरूप को भी देख सकते हो।

अब आप सावधान हो जाइये। जिसका मन स्थिर नहीं होता है तो वह हाथ की नाड़ी को पकड़ कर बैठ जाए। भगवान् के नाम का या 'ओ३म्' का सम्बन्ध उसके साथ बनाकर मानसिक प्रणव जाप मस्तिष्क में तुम करोगे तो वह भी चेतन को जागृत कर देगा। शब्द, अर्थ, ज्ञान तीन का सम्बन्ध होता है। प्रणवार्थक जो 'ओ३म्' शब्द है वह अर्थ को जागृत कर देता है। ज्ञान उसके रूप को प्रकट कर देगा। अतः मन्त्र, जाप आदि की बात बतलाते हैं। अन्त में जाकर जब अन्तः-करण नितान्त शुद्ध होता है तब शब्द भी जाकर सात्विक हो जाता है। वह चेतन सत्ता को जागृत-सा, उद्बुद्ध-सा कर देता है। जैसे किसी को नाम लेकर सम्बोधन किया तो वह जागृत होकर, खड़ा होकर बोल उठेगा। एक प्रकार से वहाँ परमात्मा भी बोल उठता है। उसकी वाणी न होते हुए भी ऐसी प्रतीति योगी या अभ्यासी को होती है, मानो मैं भगवान् से ही बात कर रहा हूँ। ऐसी स्थिति हो जाती है समाधि की अवस्था में; उस समाधि को आप अनेक वर्षों तक साधना के द्वारा, तपस्या के द्वारा मन, इन्द्रियों के मल विक्षेप आवरणों को हटाते हुए अन्तःकरण को शुद्ध करना है।

परमात्मा भी दूर नहीं है, आत्मा भी दूर नहीं है, हमारे भीतर ही तो है। यह देह ही उसके लिए मोटा आवरण है। उसके भीतर प्रवेश करोगे तो सूक्ष्म शरीर आ जाएगा जो धर्माधर्म संस्कारों को लेकर परलोक में गमन करता है। हम तो वर्तमान को देखकर भविष्य का अनुमान करते हैं। वर्तमान में हमें आत्मानुभूति, ब्रह्मानुभूति होती है। यदि ध्यान की, वैराग्य की, साधना की भावना को लेकर जायेंगे तो यदि पुनर्जन्म भी होगा तो उसका सुख-दुःख हमें नहीं भासेगा। पुनः हमारी वही स्थिति होगी। जैसा विचार रात्रि को लेकर तुम सोते हो पुनः प्रातः उठकर वही चिन्तन करने लगते हो। एक व्यापारी को यदि बहुत चिन्ता लगी हुई है, व्यापार की चिन्ता करते-करते वह सो जाता है। प्रातः उठकर पुनः वही चिन्तन करने लगता है, वही कर्म करने लगता है। एक भक्त या अभ्यासी जैसा विचारों को अभ्यास के, ज्ञान के, ध्यान के रात्रि को लेकर शयन करता है पुनः

उठकर वैसा ही चिन्तन करने लगता है। इसी प्रकार पुनर्जन्म की बात है। जैसे सृष्टि की प्रलय ही है। यह निद्रा भी एक प्रकार से ६ घण्टे की हमारी प्रलय ही है। निद्रा की अवस्था में भी पुनर्जन्म-सा ही होता है।

निद्रा की अवस्था में कुछ प्रतीति आदि नहीं होती, बाद में भले ही अनुमान करते हैं। अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक ही होता है। शब्द प्रमाण के द्वारा आत्मा के विषय में विद्वान लोग भी कहते हैं, वेद कहते हैं, दर्शन शास्त्र भी कहते हैं, प्रमाण भी कहते हैं। आत्मा-परमात्मा के विषय में शब्द प्रमाण भी कथन कर रहा है, अनुमान प्रमाण भी कह रहा है, अब इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता है। "योगिनामेव प्रत्यक्षं भवति न अन्येषाम्" योगियों को ही प्रत्यक्ष होता है अन्यों को नहीं। आप सबको योगी बनना है फिर भगवान् को ऐसे देखोगे जैसे बच्चे को लेकर गोदी में बिठाये हो। भगवान् बच्चे के रूप में तुम्हारे लिए बन जाएगा। तुम्हारे भीतर ही प्रत्यक्ष होगा। इसको जानने के लिए आप सब यहाँ एकत्रित हुए हो।

अब यदि तुम्हारा मन शान्त हो जाएगा तो ध्यानावस्थित होकर बैठे रहना भीतर की कोई भी वस्तु दृष्टि में आए, बाहर की न आये, मस्तिष्क में या बुद्धि का कोई विचार आये, स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों का कोई विचार आये अर्थात् शरीर के अन्दर की ही बात आनी चाहिए। बाहर की बात, संसार की बात नहीं आनी चाहिए। यह तुम्हारी समाधि का विषय बन जाएगा। ध्यान के पश्चात् समाधि का विषय प्रारम्भ हो जायेगा। इस मस्तिष्क में किसी पदार्थ की खोज करनी प्रारम्भ कर देना। मन को मस्तिष्क में ही चिपकाये रखना, लगाये रखना या कभी-कभी जैसे कोई झाँकी-सी मारकर देखा करते हैं। ऐसे मन को शान्त बनाकर मस्तिष्क में ध्यान की अवस्था में झाँकी-सी मारकर देखना तब भी दर्शन की बात बन जाती है। ऐसा सात्विक मन आपने निर्माण कर शान्त हो कर बैठ जाना।

मैं इस प्रकार का हाथ का प्रयोग किया करता हूँ, आपके मनों को समाहित करने के लिए। शान्त वातावरण का निर्माण करो, सात्विक विचारों को, भावनाओं को बनाये रखो। पुनः मैं हाथ को इस प्रकार घुमाकर आपके मस्तिष्क के भीतर पाँच ज्ञानेन्द्रियों को शान्त या समाहित-सा कर देता हूँ, ताकि आप जिस विज्ञान का अनुसंधान करना चाहते हो, उस विज्ञान को आप समझ सकें, जान सकें, साक्षात्कार कर सकें। मैं हाथ का प्रयोग करते हुए इस प्रकार शक्ति को प्रदान करता हूँ जिससे कि आप सबका मन समाहित हो जाए, एकाग्र हो जाए। पुनः इस प्रकार एक उँगली को खड़ी कर देता हूँ। तुम्हारी इन्द्रियाँ स्तब्ध-सी, शान्त-सी हो जाएँ। मन अडोल, अकेला रह जाएँ, बुद्धि के साथ में मिल कर तुम्हें आत्म-साक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार कराने में समर्थ हो सके। अब हो जाइए अभ्यास के लिए सावधान।

व्याख्यान-१०५

मन-बुद्धि का स्वरूप और इनका व्यवहार या कार्यक्रम।

ओ३म्—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिव संकल्प मस्तु॥
यजुर्वेद ३४-१॥

इस वेद मन्त्र में प्रार्थना की गई है मन के लिए। 'यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्'—हमारा जो मन जागृत में इतस्ततः दौड़ता है, भटकता है, जाता है और बहुत दूर तक चला जाता है, इसकी गति इतनी तीव्र है कि किसी और पदार्थ की उतनी तीव्र गति नहीं है। क्योंकि भौतिक पदार्थों से ऊपर के पदार्थों से इसका निर्माण हुआ है। मन इन भौतिक पदार्थों से पहले बन चुका होता है। तब तक यह पंचभूतों की सृष्टि उत्पन्न भी नहीं हुई होती। उससे पहले ही मन बना हुआ होता है। मन की उत्पत्ति योग और सांख्य के सिद्धान्तानुसार अहंकार से मानी गई है। अहंकार को मन का उपादान कारण माना गया है। अहंकार भी कर्म-प्रधान है और मन भी कर्म-प्रधान है। बुद्धि और चित्त ज्ञान-प्रधान है।

सूक्ष्म शरीर को दो प्रधान तत्त्व मिले हैं : ज्ञान-प्रधान बुद्धि और कर्म-प्रधान मन। बुद्धि में तो एक ही गुण विशेष है और वह है ज्ञान, परन्तु बुद्धि की अपेक्षा मन में एक और विलक्षणता है कि कर्म-प्रधान होते हुए भी यह ज्ञान रूप भी है। जैसी निर्णायक अवस्था या स्थिति बुद्धि में होती है, किसी पदार्थ के प्रति वैसे मन में नहीं है। क्योंकि मन कर्म-प्रधान माना गया है और ज्ञान-प्रधान भी। जैसे कि हमारी इन्द्रियों के अन्दर नेत्रेन्द्रिय ज्ञान-प्रधान है। नासिका, त्वचा आदि भी ज्ञानेन्द्रियों में हैं। नेत्रेन्द्रिय की ज्ञान-प्रधानता कुछ स्वाभाविक-सी है, ज्ञानपूर्वक नहीं है। जैसे मैं आपको देख रहा हूँ या आप मुझे देखते हैं, सारे पदार्थ रूपात्मक हैं। रूपवान पदार्थ का कुछ ज्ञान होता है कि रूपवान है। यह रूप कैसा है, काला है, पीला है, नीला है, हरा है, गोरा है किस प्रकार का है? यह जो विभेद है यह मन का कार्य नहीं है, यह बुद्धि निर्णय देती है। मन भी ज्ञानेन्द्रियों को नियोजित करने में समर्थ होता है और ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियों के साथ मिल कर उनमें विलक्षणता, तीव्रता या बल, शक्ति, पराक्रम आदि पैदा करता है। एक प्रकार से

इन्द्रियों के साथ मिल कर दूरबीन का काम करता है। जैसे आप यहाँ भौतिक दूरबीन लगा करके नक्षत्र आदि दूर-दूर के पदार्थ देखा करते हैं, यह नेत्रेन्द्रिय अकेली उनको दिखाने में समर्थ नहीं होती। यदि मन का सहयोग उसके साथ में हो जाता है तब उसमें तीव्र गति हो जाती है। मन भी एक प्रकार से आटोमेटिक रूप-सा है जैसे कि हमारी नेत्रेन्द्रिय आटोमेटिक रूप से काम करती है। ज्ञान-प्रधान होते हुए सामान्य ज्ञान-सा कराती है कि यह पदार्थ है, रूपवान है। यदि मन बुद्धि का इसके बीच में व्यापार न हो तो यह ज्ञानेन्द्रिय भी भेदात्मक ज्ञान को प्रकट नहीं कर सकेगी। काले, पीले, नीले आदि रूप को मन ज्ञानेन्द्रियों के साथ भी मिल करके काम करता है इसलिए ज्ञान-प्रधान कहा गया है। और कर्म-प्रधान इसलिए कहा गया है कि यह कर्मेन्द्रियों के साथ भी मिल कर कर्म करता है।

दो गुण इसके अन्दर हैं। वैसे तो ज्ञान रूप व्यापार भी एक प्रकार का कर्म ही है। जैसे ज्ञान उत्पन्न हो रहा है। बुद्धि में विवेचनारूप कर्म या व्यापार उत्पन्न हो रहा है। बुद्धि में भी ज्ञान सूक्ष्म रूप से वर्तमान है। जैसे विवेचना करते हुए कर्म की प्रधानता और ज्ञान की प्रधानता होती है। ऐसे ही बुद्धि में भी ज्ञान कर्म स्थिति अर्थात् बुद्धि का निर्माण भी त्रिगुणात्मक ही है। सात्विक, राजस भेद से इसमें सात्विकता ज्ञान की है और ज्ञान में भी कर्म निहित है। क्योंकि ज्ञान में गति एक प्रकार का कर्म ही है। इसमें रजोगुण का मिश्रण है और स्थिरता जो है, पदार्थ का ठहर जाना है बुद्धि का अपने स्वरूप में स्थिर रहना जो है यह तमोगुण से आया है क्योंकि सात्विक, राजस, तामस भेद से प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इसलिए उससे जितने भी पदार्थ बनते हैं वे तीनों ही गुणों से बनते हैं। एक गुण या एक पदार्थ किसी वस्तु का या पदार्थ का आरम्भक नहीं होता या उपादान कारण नहीं बनता है। इसलिए बुद्धि भी त्रिगुणात्मक हो जाती है। मन में भी सात्विक, राजस और तामस अहंकार का सम्मिश्रण है। नेत्रेन्द्रिय की भी अहंकार के सत्त्व-प्रधान गुण से उत्पत्ति हुई है। इसमें भी सात्विक, राजस, तामस तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार तारतम्यरूप से प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुण मिश्रित होते हैं। किसी गुण की प्रधानता होती है किसी गुण की गौणता होती है।

जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है एक तो होता है उसमें मुख्य रूप से उपादान कारण एक होता है सहकारी कारण गौण रूप से। जैसे नेत्रेन्द्रिय और बुद्धि में ये दो ज्ञान प्रधान हैं सत्त्व गुण इनका मुख्य उपादान कारण है। रज, तम गौण रूप से सहकारी कारण हैं। सत्त्व-प्रधान अहंकार और रजःप्रधान अहंकार दोनों सम भाव में थे। तब इनमें गौण था। तीनों ने इस मन की उत्पत्ति की। परन्तु प्रधान रूप से दोनों सत्त्व और रज इसमें समान थे। तम कुछ कम था। अगर सत्त्व-प्रधान भी इसे मान लेते तो तब नेत्रेन्द्रिय की तरह हो जाता है और एक ही कर्मवाला होता। केवल ज्ञान-प्रधान होता, क्योंकि जितना भाग मन के

उत्पन्न करने में सत्त्व-प्रधान अहंकार मिश्रित हुआ उतना ही भाग रजःप्रधान अहंकार का भी मिला, दोनों सम भाव हुए हैं। दोनों में समता भी एक वजन के या माप के समान कारण थे। तम का भाग गौण था। बुद्धि जब उत्पन्न हुई उसमें केवल सत्त्व-प्रधान ही मुख्य उपादान था, और रज, तम दोनों गौण थे। मन के विषय में यह बात नहीं हुई, मन में यह विशेषता आई कि वे दोनों समान हुए ज्ञान और कर्म। क्योंकि मन दोनों प्रकार की इन्द्रियों से काम लेता है। सत्त्व-प्रधान ज्ञानेन्द्रियों से भी और रज-प्रधान कर्मेन्द्रियों से भी, मन इन दोनों से कर्म करता है। इसलिए मन में उभयात्मक गुण आया, "उभयात्मकं च मनः" सूत्र भी सांख्य में आता है और जितने पदार्थ हैं, चित्त है, बुद्धि है, अहंकार है, इनमें एक-एक गुण ही प्रधान है, केवल मन ही एक ऐसा पदार्थ बना हुआ है इसमें दोनों समान थे, सत्त्व और रज इसलिए मन के अन्दर यह विशेषता आई, यह दोनों इन्द्रियों से काम लेने लगा। ज्ञानेन्द्रियों से भी और कर्मेन्द्रियों से भी, इसमें जो ज्ञान है वह भी नेत्रेन्द्रिय की तरह आटोमेटिक-सा है। बुद्धि की तरह निर्णयात्मक ज्ञान नहीं है। यह है सूक्ष्म-सी फिलासफी जो कि समझने लायक है। उत्पत्ति और विज्ञान के विषय हैं। इसलिए इस मन्त्र में यह कहा है कि "यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवम्" जाग्रत की अवस्था में मन दूर-दूर तक विचरण करता है दूर-दूर तक जाता है।

शंका होती है, कि क्या यह मन निकल करके बाहर चला जाता है? मेरा तो ऐसा अनुभव है जीवन का, कि न तो सूक्ष्म शरीर निकल करके बाहर चला जाता है न मन जाता है। जैसे हमारी आँखें बाहर निकल करके पदार्थ को देखने नहीं जातीं इनकी रश्मियें जाती हैं। जैसे सूर्य निकल करके यहाँ आ करके प्रकाश नहीं देता उसकी रश्मियें आती हैं, किरणें आती हैं। वे किरणें भी उसका एक तरह से कार्य विशेष है। हमारे नेत्रेन्द्रिय की जो रश्मियें निकल कर बाहर के पदार्थ को या रूप को दिखाती हैं, इसका कार्य विशेष ही है। दूर की चीज नहीं है, उनका उपादान कारण यह नेत्रेन्द्रिय है। परन्तु फिर भी नेत्रेन्द्रिय यहाँ वर्तमान रहती हैं। इसकी रश्मियें निकल करके बाहर को चलती हैं। जैसे मेरे हाथ में टार्च है, उसका प्रकाश या किरणें निकल करके बाहर के पदार्थों को दिखाती हैं। टार्च तो मेरे हाथ में ही है, इसी प्रकार नेत्रेन्द्रिय या सूक्ष्म शरीर निकल करके बाहर नहीं जाता।

बहुत-से आचार्यों ने जो प्रतिपादन किया कि उसका सूक्ष्म शरीर निकल करके चला गया। मेरा अपना अनुभव यही कह रहा है कि जब तक इस स्थूल शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है, सूक्ष्म शरीर इससे निकल करके कभी जाता नहीं। इन्द्रियों और मन की रश्मियें निकल करके चलती हैं। जैसे मन की लाइट निकल कर चलती है। नेत्रेन्द्रिय की लाइट निकल करके जाती है वैसे इनकी किरणें या प्रकाश निकल करके चलता है, न कि यह निकल करके भाग जाता

है। अगर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़ कर चला जाय तो मरण हो जाएगा, जीवन खतम हो जाएगा। अपने अनुभव के आधार पर मैं ऐसा ही निर्णय कर पाया हूँ। सूक्ष्म शरीर कभी निकल कर नहीं गया। मैंने भी बड़ी साधना की, और करता आ रहा हूँ। मेरा तो यही प्रत्यक्षात्मक अनुभव है कि जब तक स्थूल शरीर का मरण नहीं होगा तब तक सूक्ष्म शरीर इसके अन्दर ही वर्तमान रहता है। निकल कर जाने की बात जिन्होंने कही है उन्होंने वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा। इसकी वृत्तियें निकल करके चलती हैं जैसे मन की वृत्तियें हैं, वृत्ति कहो, रश्मि कहो, किरणें कहो, जैसे टार्च का प्रकाश निकल करके चलता है। जैसे नेत्रेन्द्रिय से ज्योति निकल करके चलती है दूर-दूर के पदार्थों को, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र को यहाँ से दिखाती हैं। आँख निकल करके वहाँ नहीं भाग गयी, यहाँ आँख का सम्बन्ध उन रश्मियों के साथ रहता है, उन किरणों के साथ में रहता है। जैसे सूर्य का सम्बन्ध उनकी किरणों के साथ रहता है। चन्द्रमा का सम्बन्ध उसकी किरणों के साथ है। वह स्रोत तो आँख का ही मानना पड़ेगा। स्रोत तो सूर्य या चन्द्रमा को माना जाएगा न कि वह पदार्थ उठकर आता है। जहाँ उत्पत्ति और विनाश होता है वहाँ संकोच और विकास होता है, सिकुड़ना, फैलना आदि सूर्य के, चन्द्रमा के अन्दर ये बातें हैं। इसकी रश्मियें निकल करके चलती हैं। यज्जाग्रतो दूरमुदैति—जैसे जागृत की अवस्था में यह मन दूर तक चला जाता है, इसका भाव यही है, कि इसकी रश्मियें निकल करके चलती हैं, न कि मन भाग जाता है—'दूरंगमं ज्योतिषां ज्योति' – दूर तक इसकी रश्मियें गमन करती हैं वह ज्योतियों की भी ज्योति है। प्रकाश का प्रकाश है क्योंकि पदार्थों को, विषयों को ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को यह प्रकाशित कराता है उनके महत्त्व को बढ़ाता है। इन्द्रियों के साथ मिल कर इसका सम्बन्ध हो करके ज्ञान कराता है।

आप ने यह देखा होगा कि आप कभी चिन्तनरूप कोई व्यापार करते हुए होते हैं तब बाहर के शब्द होते हुए भी नहीं सुनाई पड़ते। आप की कभी-कभी ध्यान की ऐसी ऊँची स्थिति बढ़ जाती है। समाधि की अवस्था में चले जाते हो। तब बाहर से शब्द होते हुए भी उनकी तरफ बुद्धि या मन नहीं जाया करता। आवाज होते हुए भी बाहर के शब्द सुनाई नहीं पड़ते। जैसे बहुत चिन्तन में लगे हुए हो, आँख खुली रहते हुए रूप को देखते हुए भी नहीं देखा करती। ऐसे ही बाहर के शब्दों को जब सुनते हुए भी नहीं सुनते, उस वक्त बुद्धि के अन्दर मन समाहित-सा होता है। बुद्धि का सम्बन्ध नेत्रेन्द्रिय के साथ उस काल में नहीं होता। मन का भी सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय के साथ नहीं होता क्योंकि मन इन्द्रियों की अपेक्षा बुद्धि के ज्यादा समीपवर्ती है। बुद्धि का एक प्रकार से करण यह मन है। बुद्धि इसके द्वारा व्यवहार करती है। क्योंकि बुद्धि में भी जब चिन्तनरूप व्यापार होता है, ध्यान की अवस्था में जब इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं रहता है, उस वक्त

मन उसके साथ मिल करके उथल-पुथल करता रहता है। क्योंकि एक पदार्थ किसी वस्तु का आरम्भक नहीं होता। उत्पत्ति का आरम्भक नहीं होता। दो पदार्थ संयुक्त हो करके ही गति क्रिया उत्पत्ति का हेतु हुआ करते हैं।

जब तुम्हारा चिन्तनरूप, समाधि रूप, व्यापार चलता है उस वक्त केवल मन और बुद्धि का ही व्यापार होता है। इन्द्रियों के व्यापार से मन विरक्त-सा हो करके बुद्धि के साथ ही लगा हुआ होता है। इसीलिए कहा है कि जाग्रत की अवस्था में मन दूर-दूर तक जाता है। "तदु सुप्तस्य" शब्द आया है, शून्य की अवस्था में भी कुछ न कुछ कर्म होता है। क्योंकि बाद में उठ कर सुख और दुःख का जो अनुमान करता है कि मैं सुख से सोया या दुःख से सोया। बुद्धि से उसका विवेचन नहीं करता है तो एक प्रकार से सुषुप्ति की अवस्था में बुद्धि का भी व्यापार बन्द-सा हो जाता है। चित्त का व्यापार रहता है। चित्त के दो मुख्य प्रधान रूप धर्म हैं, सुख और दुःख एक प्रकार से चित्त की ही वृत्ति विशेष हैं और बुद्धि की भी वृत्ति विशेष हैं। जब बुद्धि का सम्बन्ध इन्द्रियों के साथ होता है भोगात्मक या कर्मात्मक वहां तो सुख की अनुभूति होती है और जिस वक्त चित्त का सम्बन्ध इन्द्रियों आदि के साथ नहीं होता केवल आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है वहाँ शान्ति और आनन्द की प्रतीति या अनुभूति करने लगता है। इस मन्त्र में आत्मा के एक ही करण का वर्णन किया है। परन्तु मैं चार प्रकार का करण मानता हूँ : मन, बुद्धि अहंकार और चित्त; क्योंकि इस स्थूल शरीर की अपेक्षा दो शरीर और मानता हूँ : सूक्ष्म और कारण शरीर। सूक्ष्म में मन, बुद्धि और कारण में अहंकार और चित्त कार्य करते हैं।

व्याख्यान-१०६

॥ ब्रह्मचर्य की महिमा ॥

ओ३म्—वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
यजुर्वेद ३१-१८ ॥

इस वेदमंत्र में प्रार्थना की गई है 'वेदाहमेतं पुरुषं महात्सम्' मैं उस भगवान् को जानूं जो सब पुरुषों में महान् है, सबसे बड़ा है। पुरुष शब्द से, मनुष्य का ग्रहण भी होता है और भगवान् का भी होता है। पुरिशेते इति पुरुषः—पुर नगर को कहते हैं और शरीर को भी कहते हैं। इसमें रहने वाला आत्मा, इसको भी पुरुष कहा है। वह भगवान्, "आदित्य वर्णम् तमसः परस्तात्"—जैसे हमारे पृथ्वीमण्डल को सूर्य प्रकाशित कर रहा है, सूर्य उसके समान आदित्य वर्ण वाले प्रकाशमान पुरुष को मैं जानता हूँ। उसकी ज्योति सारे संसार में फैली हुई है। आदित्य वर्णम्—सूर्य के समान वर्ण वाला है। तमसः परस्तात्—अन्धकार से वह परे है। 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति'—उसको जानकर मृत्यु को उल्लंघन कर सकते हैं। मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, मृत्यु को जीत सकते हैं। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' उसकी प्राप्ति का उसके ज्ञान का कोई मार्ग नहीं है। यही एक मार्ग है मृत्यु पर विजय पाने का और उसके साक्षात्कार करने का।

कल्ह के उपदेश में वृत्तियों के निरोध की बात चल रही थी और मन की चंचलता का वर्णन किया गया था। 'मन संज्ञाने' धातु से मन शब्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार मन का अर्थ भी ज्ञान होता है। इसलिए बुद्धि के विषय की बात चल रही थी। 'बुद्धि वृत्ति संवेदी पुरुष' ऐसा कहा गया है। बुद्धि की वृत्तियों को जानने वाला पुरुष हमारे शरीर में वर्तमान रहता है। बुद्धि के दो प्रकार के धर्म हैं या दो प्रकार के कर्म हैं, जिनको हम पाप और पुण्य कहते हैं। कौन से धर्म या कर्म पापात्मक हैं, कौन से पुण्यात्मक हैं ? ऐसा दो प्रकार का प्रवाह, बुद्धि में सदा बहता रहता है। जिनको हम पुण्य कर्म समझ रहे हैं यदि उनका ही प्रवाह इसमें चलता रहे तो उसका नाम श्रेयपथ और जो इसका विपरीत धर्म है उसका नाम है प्रेयपथ। इस श्रेय मार्ग में बहुत प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। उन

विकारों का नाम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग और द्वेष हैं। एक और अन्तिम विकार भ्रान्ति या अविद्या है। ये ८ विकार श्रेयपथ के विपरीत धर्म कहलाते हैं। संसार के लोग अधिकतर इन विपरीत धर्मों का ही सेवन करते हैं। जैसे काम है।

काम संसार में पहला विकार है। मन या बुद्धि की यदि काम पर विजय पाने की इच्छा हो, काम को दमन करने की इच्छा हो, तो उसकी परम औषधि ब्रह्मचर्य का पालन होगी। ब्रह्मचर्य के पालन का बहुत अभाव देखने में आता है। जब तक इन विपरीत धर्मों पर विजय नहीं पाई जायेगी तब तक हमारी बुद्धि या अन्तःकरण पर कन्ट्रोल नहीं होगा। एक प्रकार से संसार सदा काम का गुलाम बना रहा है। यूरोप आदि देशों में ब्रह्मचर्य का कोई महत्त्व नहीं है। हमारे देश में हमारी संस्कृति में ब्रह्मचर्य का बहुत महत्त्व बतलाया गया हैं, क्योंकि शरीर में वीर्य अन्तिम परिणाम है। अन्तिम वस्तु है जिससे हमारे शरीर का पालन-पोषण होता है। यह देखा गया है कि दो प्रकार का वीर्य हमारे शरीर में रहता है, एक तो शरीर का पोषक होता है और दूसरा बुद्धि का। शरीर-पोषक वीर्य सारे शरीर में रक्त की तरह परिभ्रमण करता रहता है और जो बुद्धि का पोषक है उसको अण्डकोश की ग्रन्थियाँ निर्माण करती हैं। जिससे कि ओज बनता रहता है। तेज बना करता है और संतानों का सृजन होता है। जो लोग इन ग्रन्थियों का ऑपरेशन करा देते हैं उनके मस्तिष्क में अनेक विकार उत्पन्न होते रहते हैं। बहुत चंचलता हो जाया करती है और मन सदा विक्षिप्त-सा बना रहता है। हमने कई ऐसे उदाहरण देखे हैं। एक हमारे भक्त अपनी बात सुनाया करते हैं कि उन्होंने ऑपरेशन करा दिया था। वे कहने लगे कि तब से मेरी बुद्धि का संतुलन बिगड़ गया है। शरीर में बल, शक्ति, पराक्रम आदि नहीं रहा है। हमारे शरीर में वीर्य का या ब्रह्मचर्य का विशेष महत्त्व है। संसार के सृजन का भी यह आधार है। क्योंकि सारी प्रवृत्तियों का आरम्भक यही बना रहता है। लोगों ने इस पर विजय पाने का सरल, सुगम उपाय ढूंढा है विवाह करना। मैं विवाह की निन्दा नहीं करता, परन्तु यदि कोई आजीवन ब्रह्मचारी रहता है, उसकी बात तो दूसरी है। परन्तु लड़का या लड़की इसका एकमात्र उपाय करता है विवाह। विवाह अनेक अनर्थों का, अनेक कर्मों का, अनेक झंझटों का मूल कारण बना रहता है। फिर उसको सम्भालना एक जन्म में क्या कई जन्मों में भी कठिन हो जाता है। उसकी शृंखलायें कुछ ऐसी मजबूत-सी, दृढ़-सी हो जाती हैं कि उन झंझटों से निकलना आजीवन बड़ा कठिन-सा हो जाता है।

हमारे धर्मशास्त्रों में चार आश्रमों की मर्यादा बतलाई है। जो एक बार गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाता है, वह सारा जीवन इसी में बँधा रहता है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में उसकी पहुँच नहीं होती। किसी विरले की होती है।

अब बहुत थोड़े दृष्टान्त ऐसे मिलते हैं, जिन्होंने गृहस्थाश्रम को त्याग करके संन्यास धारण किया हो ऐसी बहुत कम मिसालें (उदाहरण) हैं। मानव काम को दमन करने के लिए चला था, उल्टा अनेक उलझनों में उसने अपने आपको बाँध लिया है। रेशम का कीड़ा अपने आप अपने अन्दर से धागा निकाल कर उसमें बन्दी हो जाता है। आदि सृष्टि में, शंकर भगवान् हुए हैं। जब उनके विवाह की चर्चा चली थी, वे तो तब आजीवन ब्रह्मचारी रहना चाहते थे और पार्वती की प्रतिज्ञा थी कि मैं शंकर को ही वरुण करूँगी। हिमवान राजा उसके पिता थे। उन्होंने शंकर को अपने देश में निमंत्रित किया कि आप चतुर्मास हमारे देश हिमालय में आकर योग-साधना करें। कुछ ऐसा विधान स्मृतियों में है कि संन्यासी एवं वानप्रस्थी वर्षा ऋतु में एक ही स्थान में बैठकर साधना किया करते हैं। नदियों के लाँघने का निषेध है। ऐसी मर्यादा पहले से चली आयी है।

शंकर को भी वहाँ चतुर्मास में निमंत्रित किया गया, उनको बुलाया, अपने बगीचे में उनके रहन-सहन आदि की व्यवस्था कर दी और पार्वती को कहा कि तुम शंकर की सेवा का कार्यभार सम्भालो। वह अपनी सहेलियों को लेकर शंकर की सेवा में रहने लगी। शंकर ने उसकी तरफ कभी ध्यान ही नहीं दिया। उधर पार्वती की यह भावना थी कि मेरी सेवा और प्रभाव से यह द्रवित हो जायेंगे या प्रसन्न हो जायेंगे और मुझे वरण कर लेंगे। कई मास बीत गये, शंकर को ऐसी बातों का मन में कोई ध्यान भी नहीं आया। वह चतुर्मास करके चलते बने। गौरी को बड़ी निराशा हुई कि मैं तो अपने मनोरथ में सफल नहीं हो सकी। उसको इस बात का बड़ा धक्का-सा लगा, शंकर ने तो मेरी ओर ध्यान ही नहीं दिया। गौरी ने हिमालय में जाकर गंगोत्री के पास बड़ी कठिन तपस्या की और निश्चय किया कि मैं शंकर का वरण करूँगी या फिर तपस्या करके अपने को खत्म कर दूंगी। बड़ी कठिन साधना उसने हिमालय में की, अन्नादि छोड़ दिया, फल, कन्द-मूल सेवन करते हुए ईश्वरभक्ति में लगी रही। बहुत काल बीत गया। उस देश के राज्य का राजा हिमवान था। संत, महात्मा, ब्रह्मचारी, परिव्राजक आदि गौरी की तपस्या की चर्चा शंकर से किया करते थे। कई ऋषि-मुनियों ने उस समय भगवान् को सूचित किया कि गौरी एक बड़ी भारी प्रतिज्ञा लेकर तप कर रही है। शंकर ने अपने भक्तों को भेजा कि जाओ देखो क्या वह सचमुच मेरे निमित्त वैसी घोर तपस्या कर रही है। वे भी यही भावना लेकर आये कि गौरी की प्रतिज्ञा है कि वरण करूँगी तो शंकर को या फिर इस शरीर को नहीं रहने दूंगी। महात्मा कुछ दयावान् भी होते हैं। जो मुझे निमित्त बनाकर इतनी कठिन तपस्या कर रही है चलो उसे देखना चाहिए, यह सोचकर अपना वेश ब्रह्मचारी का बनाकर गौरी की परीक्षा के लिए गंगोत्री में गौरीकुण्ड पर आए। उन्होंने आकर गौरी के सामने शंकर की निन्दा शुरू कर दी। गौरी कहने लगी कि मेरे वह इष्ट

देवता हैं, मैं उनकी बुराई अपने कानों से नहीं सुनना चाहती। यदि तुम और कोई शब्द बोलोगे तो मैं अपने पिता को सन्देश भेजूँगी जो तुम्हें बन्दी करके जेल में डाल देंगे। जाओ मैं उनके विषय में कोई अपवाद, कोई बुराई, निन्दा सुनना नहीं चाहती हूँ। उन्होंने गौरी को बड़ा उपदेश दिया कि 'बन्धनात् तु बहूवो लोके विवाहो दृढ़ बन्धनः' कि संसार में बहुत प्रकार के बन्धन हैं जैसे हथकड़ी लगाई जाती है। वह भी बन्धन है। रेशम की यदि रस्सी बाँध दी जाय बड़ी कोमल-सी, वह भी तो बन्धन ही है। विवाह की बेड़ियों को आदमी न तो काट सकता है और न तोड़ सकता है। रस्सी को काट सकता है, तोड़ भी सकता है, परन्तु विवाहरूपी बन्धन से मुक्त होना बहुत कठिन है। इसलिए गौरी, इस विवाह का संकल्प जाने दो, क्या लोंगी विवाह करके, अच्छी लगी हुई हो ईश्वर की भक्ति में। वह कहने लगी, बात यह है कि शंकर चाहे जैसे भी हैं, मेरे इस जन्म से पहले जन्म में भी उन्होंने मुझे वरण किया था जब मेरे पिता दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया था। मेरे पति साधु वृत्ति में रहते थे। अवधूत की वृत्ति में रहते थे। मेरे पिता ने अपशकुन समझ करके उनको निमन्त्रण नहीं दिया था यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए। सब देश-देशान्तरों के ऋषि-मुनि, राजे-महाराजे आए हुए थे। उस अपमान को पहले जन्म में सहन नहीं कर सकी थी; मेरे पति शंकर को नहीं बुलाया गया था तो मुझे इस अपमान का बड़ा धक्का लगा। परिणामतः मैंने अपने शरीर को त्याग दिया और सती हो गई थी। मेरी प्रतिज्ञा थी कि जब मेरा दूसरा जन्म होगा तब फिर मैं शंकर को ही वरण करूँगी। उस क्रोध के आवेश में आकर मैंने शरीर त्याग दिया था, वह ज्ञान मुझे अब भी बराबर है। तो भी मेरा निश्चय है कि विवाह करूँगी तो शंकर से ही, अन्यथा जैसे पहले मेरा मरण हुआ था वैसे अब भी होगा। शंकर ने बहुत समझाया, परन्तु वह अपने प्रण पर अटल रही। शंकर कहने लगे, अच्छा गौरी! मैं तुमसे बड़ा प्रसन्न हूँ। शंकर के प्रति तुम्हारी श्रद्धा-भक्ति-विश्वास को देखकर तू मुझसे कोई वर माँग। वह कहने लगी, मुझे तो एक ही वर चाहिए शंकर को वरण करने का और कोई वर नहीं चाहिए। उन्होंने अपना आवरण उतार दिया और शंकर के रूप में प्रकट हो गये। कहने लगे, तुम अपने पिता को सन्देश भेजो कि विवाह की तैयारी करें।

यह तो हुआ दृष्टान्त, इसका भाव यह है कि उन्होंने विवाह के विषय में बहुत लम्बे व्याख्यान दिए, बड़ा वर्णन किया, सैकड़ों श्लोकों में वर्णन इस विषय का हुआ। परन्तु राजहठ, योगीहठ, स्त्रीहठ और बालहठ—ये चार हठ कहे जाते हैं जिन्हें छोड़ना कुछ कठिन-सी बात होती है। इसके लिए बहुत कुछ कुर्बान कर दिया करते हैं, जब जिद हो जाती है। "विवाहो दृढ़ बन्धना:" विवाह संसार में दृढ़ बन्धन का हेतु बन जाता है। यदि इस प्रकार के मोक्ष की जिज्ञासा ही न हो

तो कोई बात नहीं, परन्तु यदि तत्त्वज्ञान की अभिलाषा है तब गृहस्थाश्रम में रह कर कोई बहुत ऊँचा वैराग्यवान् हो जाए, यह जरा कठिन-सा देखने में आता है।

वैसे तो जनक की मिसाल दिया करते हैं। जनक के पास सुलभा नाम की एक राजकुमारी थी। योग्य वर न मिलने से वह संन्यासी के वेश में रहने लगी थी और सुना कि महाराजा जनक बहुत ऊँचे आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी हैं। उनके पास अतिथि के रूप में सुलभा ने प्रवेश किया। सुलभा अपने हाव-भाव से महाराजा जनक को प्रभावित करने लगी। जनक महाराज कहने लगे कि सुलभा! मेरा हृदय रूपी मन्दिर भगवान के लिए सुरक्षित हो चुका है। इसमें और किसी के लिए स्थान नहीं है। सुलभा कहने लगी कि राजन्, हम संन्यासी हैं, संन्यासी शून्यागार ढूँढा करते हैं, गिरि-कन्दराएँ ढूँढा करते हैं। एकान्त स्थान अपने निवास के लिए ढूँढा करते हैं। कोई कहीं शून्य गुफा देखकर वहाँ निवास कर लेता है। मैं तुम्हारा हृदय ऐसा ही शून्य देख कर चली आयी हूँ, क्योंकि इसमें सांसारिक विकार नहीं है। तुम्हारे अन्तःकरण में काम आदि के विकार नहीं हैं। शून्य होने से, खाली होने से एक रात्रि के निवास की बात सोची थी; जैसे कोई चलता-फिरता अतिथि किसी जंगल में, बन में, गिरि में, कन्दरा में निवास कर ले, ऐसा ही मन में सोचा था। यदि तुम्हारी इस प्रकार की स्थिति है, तुम्हारा हृदय भगवान् के लिए सुरक्षित हो चुका है, तुम्हारे हृदय रूपी मन्दिर में किसी के लिए अवकाश नहीं, तो तुम यह सब कुछ रहते हुए राज्य की व्यवस्था कैसे करते हो ? राज्य में तो सब प्रकार की नीतियों का उपयोग करना पड़ता है। जनक कहने लगे कि राजपाट आदि मेरे लिए ऐसे ही हैं जैसे एक जीवनमुक्त पुरुष टट्टी, पेशाब जाता है, अन्न खाता है, सामान्य कर्म उसके लिए रह जाते हैं। ऐसे ही उन सामान्य कर्मों के समान राजकार्य को समझ करके मैं कर रहा हूँ, मेरी इसमें कोई आसक्ति नहीं है। शरीर के रहते हुए कुछ तो करना था। मेरा एक हाथ तुम बर्फ में रख दो, एक अग्नि में। अग्नि की जलन मुझे दुःख का हेतु नहीं होगी और बर्फ की शीतलता भी मेरे लिए दुःख का हेतु नहीं होगी। जब जनक ने यह वचन कहे तो सुलभा ने चरण पकड़ लिए और कहा, मैं आपको आज से अपना गुरु मानती हूँ। अब तक मुझे कोई योग्य गुरु भी नहीं मिला था। फिर जनक ने सुलभा को बहुत ऊँचे दर्जे का उपदेश दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य की महिमा संसार में बहुत गाई गई है "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" ब्रह्मचर्य रूपी तप के द्वारा देवताओं ने 'मुपाघ्नत' मृत्यु पर भी विजय पाई है। ब्रह्मचर्य का महत्त्व हमारे देश में बहुत गाया है। बल्कि भगवान व्यास ने तो यहाँ तक कह दिया है कि ब्रह्मचारी के लिए "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नैकाशय्यासनो भवेत्। बलवान्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति"॥ ब्रह्मचारी के लिए यदि माता, बहन, लड़की युवावस्था की हो तो उनके पास एकान्त में अकेले एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। युवावस्था के ब्रह्मचारी के लिए

इसका भी विधान नहीं है कि बहिन के साथ भी एकान्त में अकेले एक चारपाई पर बैठे।

यह किसी भी अंश में ठीक नहीं कि आजकल लड़के-लड़कियों के कालिजों में सहशिक्षा हो गई है। इसने तो संतानों का इतना सत्यानाश किया है कि पूछो नहीं। क्योंकि इस युग में नवयुवक और नवयुवतियों को जहाँ धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती है वहाँ कोई किसी प्रकार ब्रह्मचर्य के पालन आदि का उपदेश भी नहीं दिया जाता। यह तो कुछ ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है जैसे अग्नि के पास घी का कटोरा रख दिया जाए तो वह घी पिघल जाता है। इसीलिए इस प्रकार का एकान्तवास उस ब्रह्मचारी के लिए, जो जितेन्द्रिय रहना चाहता है, ठीक नहीं है। एक श्लोक भगवान् व्यास ने अपनी स्मृति में लिखा है—ब्रह्मचारी जैमिनी इनका शिष्य था। एक बार अपने गुरुदेव से कहने लगा—महाराज, आपने यह श्लोक ठीक नहीं लिखा, क्योंकि ब्रह्मचारी कहीं भी रहे उसके लिए कोई आपत्ति नहीं है। व्यास कहने लगे—बेटा, मैंने तो अपने अनुभव के आधार पर ठीक लिखा है। जैमिनी कहने लगा—नहीं महाराज, इसको तो काट देना चाहिए, अपनी पुस्तक से निकाल देना चाहिए। व्यास जी कहने लगे कि मैं नहीं काटूँगा, अगर तुम निकालना चाहते हो तो लो यह कलम और काट दो। जैमिनी ने कलम उठायी और वह श्लोक काट दिया। भगवान् व्यास सोचने लगे कि यह नवयुवक है, इसको कुछ बुद्धि देनी चाहिए, सबक देना चाहिए। व्यास ने अपना एक सुन्दर रूप बनाया युवावस्था की लड़की जैसा और जहाँ जैमिनी का एकान्त में आश्रम था वहाँ जा करके जंगल में रोना, विलापना शुरू किया कि न जाने मेरे पति मुझे इस जंगल में छोड़ कर कहाँ चले गए। मैं कहाँ इस रात्रि के अंधकार में भटकूँगी। इधर वर्षा हो रही है, उधर अन्धकार छाया हुआ है, मेरा क्या होगा? भगवान् मेरी रक्षा करो, मुझे कहीं सुमार्ग और सुरक्षित स्थान पर ले जाओ। तब जैमिनी अपनी ध्यान-समाधि में बैठे थे। उनके कानों में ये शब्द सुनाई पड़े, कौन इस प्रकार का विलाप कर रही है, कौन है, चलो इसकी रक्षा करनी चाहिए, मार्ग दिखाना चाहिए। वहाँ गए जहाँ वह रो रही थी, उससे पूछा—क्यों देवी, आप कैसे यहाँ आ गई हो? वह कहने लगी—मैं रास्ता भटक गई हूँ, मेरा कोई ठिकाना नहीं कहीं, कोई मेरा पथ-प्रदर्शक बन रास्ता दिखा दे जिससे मैं अपने ठिकाने पहुँच जाऊँ। मैं जंगल में भटक रही हूँ। जैमिनी कहने लगे—अब तो अँधेरा है, मैं तुम्हें कल प्रातः जहाँ जाना चाहोगी वहाँ पहुँचा दूँगा। तुम मेरे आश्रम में रहो, एक कुटिया तुम्हें दे देता हूँ। अन्दर से तुम कुण्डी बन्द करके रख लेना। जब उसको लेकर जैमिनी जा रहे थे तो सामने से बिजली चमकी। उसके शृंगार और रूप को देख करके जैमिनी के मन में कुछ विकार-सा उत्पन्न हो गया एकान्त में युवती के साथ में चलने से, वह भी अपरिचित स्त्री थी। जब इस प्रकार उसके मन में विकार उत्पन्न हुआ था

तभी तो उसने उससे कहा था कि तू अन्दर से कुण्डी वन्द कर लेना। अगर मैं भी तेरे पास दरवाज़ा खुलवाने के लिए आऊँ तो नहीं खोलना। इतना कह कर उसको ले जाकर दूसरी कुटिया में रख लिया, तब ध्यान में बैठने लगे। ध्यान में जब बैठे तो उस देवी का चिन्तन मन में आने लगा कि पता नहीं यह जंगल में क्यों आई थी, कैसे आई थी, इससे पूछना चाहिए, फिर मिलना चाहिए। जैमिनी के मन में उस देवी के प्रति आकर्षण और आसक्ति बढ़ती ही गई, यहाँ तक हुआ कि ध्यान-समाधि सब भूल गए, उठ कर जाकर दरवाजा खुलवाने की बात करने लगे। देवी कहने लगी— मुझे तो शरणदाता जैमिनी का आदेश है कि जैमिनी भी आएँ तो उनके लिए दरवाजा नहीं खोलना। मन ने जैमिनी को यहाँ तक विवश किया कि ऊपर छत पर चढ़ कर छत को फाड़ा और छलाँग लगाकर नीचे जाने की बात सोचने लगे। जब वह ऐसा चाहते थे तभी छत की एक लकड़ी उनके पेट में चुभ गई। वे बीच में लटक गए, न ऊपर जा सके और न नीचे। खून की धारा बहने लगी। नीचे तो भगवान् व्यास जटाजूट धारण करके ध्यान में बैठे हुए थे। उनकी जटाओंपर रक्त की धारा बहने लगी। तब भी जैमिनी से नहीं रहा गया, आखिरकार नीचे कूद पड़ा। देखा भगवान् व्यास ध्यानावस्थित थे। कहने लगे—अरे, जैमिनी, भटक गया मार्ग से ? वह श्लोक ठीक था या नहीं ? लो कलम फिर लिखो इस स्मृति में यह श्लोक।

यह तो हुआ दृष्टांत। इसका भाव यह है कि जो आजीवन ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसको बहुत ही उच्चकोटि के वैराग्य, ऊँचे दर्जे के आदर्श को अपनाना होगा। "मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति धीराः केचिल्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः। किंतु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः" ।। भर्तृहरि जी महाराज ने कभी यह श्लोक लिखा था, पर जब उसकी पत्नी रानी दुराचारिणी हो गई थी तब यह श्लोक पढ़कर उसको वैराग्य हो गया था और राज्य को त्याग दिया था। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि यह काम अति बलवान है। बड़े-बड़े हाथियों को, शेरों को आदमी दमन कर सकता है, परन्तु इसको दमन करने वाला कोई विरला ही संसार में हुआ है। इसलिए बहुत कम व्यक्ति ऐसे हुए हैं जो आजीवन ब्रह्मचारी रहे हों। वे अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं। काम को मन और बुद्धि का सबसे पहला विकार कहा गया है। जो काम पर विजय पा लेगा, समझो उसने संसार पर विजय पा ली है, उसके लिए मोक्ष का द्वार खुल गया है।

व्याख्यान-१०७

कामदेव का साम्राज्य और उसका युक्ति और ज्ञानपूर्वक उपभोग।

ओ३म्—यां मेधां देवगुणाः पितरश्चोपासते।
तयामामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरू ॥ यजुर्वेद ३२-१४॥

हे सर्व वन्दनीय, पूजनीय, "यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते"—जिस ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति के लिए हमारे पूर्वज आचार्य ऋषि, मुनि, महर्षि आदि उपासना करते आए हैं, क्योंकि यह बुद्धि उपासना के द्वारा, ध्यान-समाधि के द्वारा प्राप्त होती है। "तयामामद्य मेधया"—हे पूज्य देव, वह बुद्धि हमें प्रदान करें।

कई दिन से सत्संग चल रहा है जो हमारा एक प्रकार से कुमार्ग है या विपरीत मार्ग है जिससे बुद्धि कलुषित हो जाती है, दूषित हो जाती है, वे आठ विकार बतलाए थे। काम पर व्याख्या चल रही थी। "कमुकान्तौ" धातु से काम शब्द की सिद्धि की जाती है। काम का अर्थ व्यवहार भी हो जाता है। स्वाभाविक ही कहा करते हैं कि मैंने यह काम करना है या कार्य करना है। काम शब्द जो है कार्य का पर्यायवाचक है। परन्तु यहाँ मुख्य रूप से उसी काम को लिया है जिस काम के द्वारा संसार का सृजन होता है, या सृष्टि की उत्पत्ति होती है। क्योंकि यदि यह काम प्रदीप्त न होता, जागृत न होता, तो संसार का यह सृजन नहीं होता। वर्तमान में तो इतना प्रदीप्त हुआ है कि इसके कारण इतनी जनसंख्या बढ़ती जा रही है। पृथ्वी पर लोगों को बड़ी चिन्ता हो गयी है कि कहाँ रहा करेंगे। कैसे खाया करेंगे। दूसरे लोकों पर जाने की चेष्टा कर रहे हैं। वहाँ भी कुछ उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस काम पर विजय पानी पड़ेगी, इस पर अधिकार करना होगा।

अगस्त्य मुनि की पत्नी लोपामुद्रा थी। अगस्त्य मुनि तपस्या करते-करते वन को छोड़ करके मानधाता के पास गए और उनसे कहा कि मेरी विवाह करने की इच्छा है। अपनी राजकुमारी के साथ मेरा विवाह कर दो। राजा को यह सुनकर बड़ा खेद हुआ, कि मेरी राजकुमारी महलों में रहने वाली बडे सुख और आराम का जीवन व्यतीत करने वाली है, इस बेचारे जंगली ऋषि के साथ वह कैसे अपना

जीवन बिताएगी। कैसे वह रहेगी। क्योंकि प्राचीन मर्यादा कुछ ऐसी भी रही है कि अपनी कन्याओं को उस युग में राजे-महाराजे लोग तपस्वी, ज्ञानी, योगियों को देना पसंद किया करते थे, जिससे उनकी सन्तान उसी प्रकार ज्ञानी हो, तपस्वी हो, मेधावी हो, योगी हो। आजकल के समान प्रथा नहीं थी। आजकल लोग वर के लिए धनियों को ढूँढते हैं धर्मात्माओं को नहीं। आजकल धन किन कार्यों में व्यय होता है, शराब, मांस, दुराचार, जुआ आदि इन अनेक पाप कर्मों में। ऐसे घरों की खोज करते हैं अपनी कन्याओं के लिए। वह युग था, अपनी कन्याओं के लिए ऋषि-मुनियों को ढूँढा करते थे। राजा ने कहा—अच्छा, रानी और राजकुमारी से भी सलाह कर लूँ, क्योंकि हमारे यहाँ स्वयंवर की प्रथा है। जब रानी से जाकर मानधाता ने कहा—अगस्त्य मुनि आए हैं वे लोपा को वरण करना चाहते हैं, तुम्हारी क्या राय है? क्योंकि समान गुण, समान आयु, समान धन—ये बातें जहाँ हुआ करती हैं वहाँ विवाह और मैत्री की बात हुआ करती है और भावी जीवन में अच्छी निभ जाती है। दोनों बड़े दुःखी हो रहे थे। राजकुमारी लोपा बड़ी विदुषी और समझदार थी। कहने लगी—पिताजी, आप क्यों दुःखी हो रहे हैं, आपने तो किसी को मुझे देना ही है। पहले तो हमारे यहाँ मर्यादा यह है कि महा-पुरुष लोग किसी की कन्या या स्त्री पर बुरी दृष्टि नहीं डाला करते हैं। जब अगस्त्य मुनि मुझे अपने मन से वरण कर चुके हैं या करना चाहते हैं, यह उत्तम होगा कि आप इनको ही दे दो। मैं हर प्रकार की स्थिति से निपटना जानती हूँ, प्रत्येक स्थिति में मैं रह सकती हूँ, गरीबी में भी, अमीरी में भी, ऐश्वर्य में भी। राज्य में, जंगल में सब जगह रह कर मैं सन्तुष्ट रहूँगी। जब राजकुमारी ने ऐसा प्रस्ताव रखा तो राजा और रानी तैयार हो गए और विवाह कर दिया। वह राजा था, उसे दहेज में बहुत कुछ देना था। लोपा कहने लगी—पिता जी देखो, यह धन, दौलत आदि बन में शोभा नहीं देंगे यह जैसा तपस्वी है मैं वैसी ही बन में रहूँगी। मैं दहेज में तुम्हारे ये वस्त्र, आभूषण, सेवक, सेविका, धन आदि कुछ नहीं लेकर जाऊँगी, क्योंकि यह जंगल के तपस्वी हैं, बनवासी हैं, ब्रह्मचारी हैं, इनके समान ही मैं अपना जीवन व्यतीत करूँगी, क्यों इनको भोग-विलास की जिन्दगी में, मैं प्रवृत्त करूँ? यह बात उनकी समझ में भी आ गयी। लोपा अपनी एक साड़ी के साथ अगस्त्य मुनि के पीछे चल दी। बहुत काल तक वहाँ दोनों पति-पत्नी तपस्या करते रहे।

कई वर्ष के बाद अगस्त्य को ध्यान आया, बोला—देवी, मैंने पितृऋण को चुकाने के लिए विवाह किया था। अब सन्तान पैदा करना चाहता हूँ। लोपा कहने लगी—महाराज देखो मुझे आप एक राजा के यहाँ से लाए हैं। मैं राजकुमारी ही थी। यदि तुम भी राजकुमार बन कर आओ तब यह सन्तान शोभा देगी। क्योंकि यह तपस्वी का वेश आपने बनाया है, आप जटा-जूट बाँधे हुए हैं, अब मेरी जटाएँ बढ़ गयी हैं। इस बाने को धारण करके सन्तान पैदा करना इस बन में शोभा नहीं

देगा। अगस्त्य मुनि की भी बात समझ में आ गयी। अगर इस प्रकार की गृहिणी हो तो वह घर तो स्वर्ग के समान बना करता है। स्वर्ग देखा तो नहीं हमने, आपने, पुस्तकों में परम्परा से पढ़ते आ रहे हैं कि वहाँ स्वर्ग में सब प्रकार के भोग संकल्प मात्र से उपस्थित हो जाते हैं। वहाँ इस प्रकार इस लोक की तरह प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। लोपा की बात अगस्त्य मुनि को समझ में आ गयी। कहने लगे—अच्छा मैं राजकुमार बनकर आऊँगा, तुम कुछ काल यहाँ तपस्या करती रहो, मैं जाता हूँ। वे श्रुतकीर्ति राजा के पास गए, उससे जाकर कहा कि राजन् मैं आपके पास आया हूँ कुछ याचना के लिए। राजा कहने लगे—महाराज, आपको क्या चाहिए? कहने लगे, आपके कोश में सालाना खर्च पूरा हो करके यदि कुछ बचता हो तो मुझे वह धन दे दो। एक बड़े ऊंचे महापुरुष जो उस युग के बड़े प्रसिद्ध ज्ञानी योगी कहलाते थे, उनके आदेश का पालन उन्होंने करना ही था। कहने लगे कि अच्छा भगवन् मैं कोषाध्यक्ष से कहता हूँ कि हिसाब-किताब करके बताएँ कि क्या बचा है, जो निकलेगा आपको दे दूँगा। दूसरे-तीसरे दिन कहने लगे कि महाराज कोषाध्यक्ष यह कहता है कि जितनी आमदनी है उतना ही खर्च है सालाना कुछ बचता नहीं है कोष में। अगस्त्य मुनि कहने लगे, हमारे पास भी खाकर कुछ नहीं बचता। जैसे हम कंगले, भूखे, नंगे हैं तू भी ऐसा ही है, चल तू भी हमारे साथ। उसको भी साथ ले लिया। इसी प्रकार चार राजाओं के पास वे गए और सब उनको ऐसे ही कंगले मिले। उनके खजाने में साल के बाद कुछ बचता नहीं था। फिर ये चारों राजा और अगस्त्य मुनि लंका नगरी में गए, जो रावण के दादा-पड़दादा की थी। उसका नाम था इल्व राक्षस। इल्व राक्षस के पास जब ये अगस्त्य मुनि और ये चार राजा पहुंचे तो उसने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और हाथ जोड़ करके अतिथि-सत्कार करके कहने लगे—कहो भगवन् कैसे आप लोगों का आगमन हुआ? हम इस जिज्ञासा से आए हैं कि आपके खजाने में सालाना खर्च पूरा करने के बाद यदि कुछ धन बचता हो तो आप हम पाँचों को दे दें। इल्व कहने लगा—भगवन् एक शर्त होगी उसमें कि यदि आप मुझे यह बतला दो कि मैं कितना धन आपको देना चाहता हूँ और कितना-कितना धन इन राजाओं को देना चाहता हूँ; यदि मेरे मन की यह बात आप बतला देंगे तो मेरा खजाना आप लोगों के लिए खुल जाएगा। उसने समाधि लगा कर बाद में कहा कि दस अरब रुपया तो आप मुझे देना चाहते हैं और इतने-इतने करोड़ रुपया और दास-दासी इन राजाओं को देना चाहते हैं। लंकाधिपति कहने लगे, बात तो ठीक है, मैंने विचार तो ऐसे ही किया है। आज्ञा हो गयी खज़ाने खुल गए। अब उन सब में तो गरीब अगस्त्य मुनि थे। अगस्त्य मुनि ने बन में बड़े-बड़े कारीगर, इञ्जीनियर भेज दिए। जैसे राजपुरुषों के महल होते हैं वैसे सुन्दर-सुन्दर बंगले और महल बनाने के लिए आज्ञा दे दी। वहाँ पहले बन था अब जहाँ तालाब है। आजकल

जिसको सेवड़ा कहा जाता है वहाँ बड़ा भारी रचना कार्य हुआ अगस्त्य मुनि के लिए। जब वह निर्माण कार्य समाप्त हुआ और महल आदि तैयार हो गए तब अगस्त्य मुनि स्वर्ण पालकी लेकर गए लोपा के लिए। अपना राजकुमारों का-सा वेश बना लिया। हार आदि पहिन लिए और एक हाथी पर सवार हो करके अपने देश को चले।

लोपा उनके स्वागत के लिए स्वर्ण पालकी में बैठकर आयी। स्वागत करके महल में ले गयी। अब अगस्त्य मुनि लोपा से पूछने लगे, अच्छा अपने घर में कितनी सन्तान पैदा करोगी। लोपा कहती है, "सहस्र सम्मिति पुत्राः एको आपि अस्तु गुणवान तपो धनः बहु साधु असाधु महाराजा" मुझे तो एक ही सन्तान चाहिए। सहस्रों, लाखों व्यक्तियों के अन्दर जैसे बड़ा योद्धा होता है या लाखों-करोड़ों सितारों के अन्दर जैसे चन्द्रमा होता है, तारे चन्द्रमा के सामने फीके पड़ जाया करते हैं, एक चन्द्रमा ही वहाँ चमका करता है। मुझे बहुत-से नालायक पुत्र नहीं चाहिए, एक ही लायक पुत्र होना चाहिए, जो बहुत गुणवान् हो, धर्मात्मा हो, तपस्वी हो, दानी हो, वीर हो, योद्धा हो, सर्वगुण-सम्पन्न हो, ऐसी एक ही सन्तान चाहिए। यह तो हुआ दृष्टान्त। दारष्टान्त इसका यह है कि अब इतनी सृष्टि इस कामदेव से बढ़ती जा रही है। पूछो नहीं कि पता नहीं शायद विनाश का ही समय आने वाला हो।

मैं हेमबर्ग (Hamburg) में था, हमें पता नहीं था एक दिन गलती से जहाँ तक झील हैं उस तरफ चले गए। वहाँ हमने देखा कि कॉलिज के लड़के-लड़कियाँ युवक और युवतियाँ पशुओं की तरह लगे हुए हैं दुराचार व्याभिचार में; जैसे पशुओं को खुले मैदान में शंका, लज्जा, भय आदि नहीं होता, ऐसे वहाँ हमने चेष्टाएँ देखीं। शर्मिन्दा होने लगे। मैंने कहा हे भगवान् यह पृथ्वी तो रहने योग्य नहीं है, इसको तू अपनी गोद में ले जाए तो अच्छा होगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि काम का प्रभाव इतना व्यापक हो रहा है। हम यहाँ भी देखते हैं कि हमारी बेटियाँ प्रेम-मार्ग पर चल कर मर्यादाओं का उल्लंघन करती जा रही हैं। हम छोटे थे आज से ७० वर्ष पूर्व बच्चे थे तब रात्रि को विवाहिता अपने पति के लिए शृंगार करती थीं, परन्तु शृंगार करके बाहर नहीं निकला करती थीं। उन दिनों की ऐसी कुछ प्रथा थी, बाहर शृंगार करके वेश्याएं निकला करती थीं, कुमारियों को तो जब वे १४-१५ साल की होने लगती थीं माता-पिता अच्छे कपड़े ही नहीं पहनाया करते थे। मैले से कपड़े पहिनाते थे, ताकि इसके ऊपर किसी की बुरी दृष्टि न पड़े। सादा जीवन उसका रखा करते थे। अब पता ही नहीं लगता कि कुंवारी कौन-सी है और विवाहिता कौन-सी है। कॉलिज और स्कूल की कुँवारी लड़कियाँ तो इतने शृंगार करती हैं कि उन्हें देख कर शर्म आती है, लज्जा आती है। अब यह फैशन हो गया है। कुदरत ने बाल

दिए थे उन्हें इतने-इतने तुंबे से बड़े से बना करके सिर पर रखती हैं। अब क्या कहें! अपनी बेटियाँ हैं। यदि अपना बेटा गलती करे तो कहना ही पड़ता है। पता नहीं हम तो पुराने जमाने के आदिवासी जंगली से है। हमें तो यह बात कुछ समझ में नहीं आयी। श्रृंगार हो, अपने पति को रिझाने के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए। ये तो प्रतिदिन कितना समय साज-श्रृंगार पर लगा देती हैं। अगर कभी इनके साथ किसी परिवार के बड़े आदमी को चलना हो तो घंटों पहले श्रृंगार में लग जाएँगे। अन्दर खून, तेज, बल तो कुछ होता नहीं, पीले मुरझाए मुँह होते हैं और बाहर के लाल रोगन रंग लेप कर मुख चमकाती हैं। पूछो भला, क्या तुम्हारा जीवन है? अन्दर ब्रह्मचर्य का तेज हो, बल हो, पराक्रम हो तो स्वाभाविक चमक मुख पर आ जाती है। बनावटी चेहरे पैदा करती हैं। अपने केश हों तो बड़े सुन्दर लगते हैं स्वाभाविक जो हुए, उनके स्थान पर पता नहीं गधे के, घोड़े के, बिल्ली के, कुत्तों के बालों के बड़े-बड़े जूड़े बनाती हैं। जैसे हमारे पहले तपस्वी, संत, महात्मा जटाओं को बाँधा करते थे। पता नहीं कैसा समय आ गया। लोग तो कहते हैं, बड़ी उन्नति का समय है। हम बड़े आगे बढ़ रहे हैं। मैं तो देख रहा हूँ कि जितना भोग और ऐश्वर्य ज्यादा बढ़ता जा रहा है, पाप श्रृंखला उतनी ज्यादा मजबूत होती जा रही है। कहीं धर्म की भावना या सदाचार की भावना देखने में नहीं आती। पहले तो यह था कि कहीं जवान लड़की सामने आती थी तो हम नीचे को आँखें करके चला करते थे बड़े, बूढ़े, जवान सब। अब आँखें फाड़ करके चलते हैं। लड़कियाँ भी, बहू-बेटियाँ भी अपने सौंदर्य का प्रदर्शन करती हुई बाजरों में चलती हैं। काम प्रदीप्त नहीं हो तो और क्या इससे होगा।

सादा जीवन होना चाहिए। पता नहीं सब नास्तिक बने हुए हैं, दिन-रात इस शरीर की पूजा में लगे रहते हैं, इसको ही रगड़ना, इसको ही माँजना, इसको ही पोचना, इसको ही खिलाना, इसका ही पालन, व्यवहार सब कुछ इसके लिए है जैसे यही एक रह गया है। ४०-५०-१०० साल तक यह रहता है, जो अजर-अमर वस्तु है इनके पास, उसको तो इन्होंने नरक में डाला हुआ है। वह है इनका आत्मा जिसके लिए पहले मन्त्र में "यां मेधाम् देव गणाः पितरश्चोपासते" ऐसी बुद्धि के लिए प्रार्थना की गयी थी। मनुष्य की शोभा, स्त्री और पुरुषों की शोभा उनके गुणों से हुआ करती है। इस युग के महापुरुष महात्मा गाँधी हुए, एक लँगोटी, पर्ना बाँध कर चल देते थे। अमेरिका में हमने देखा कि वहाँ भी बड़ी संख्या में भक्त हैं। यूरोप और एशिया में भी उनके बड़े भक्त हैं। संसार में गुणों की पूजा होती है। यह इस प्रकार का श्रृंगार कर लेना, बाहर की चमक-दमक बनाना— यह गुण नहीं है, अवगुण है। चेहरे का अपना जो शुद्ध स्वरूप है उसको छिपाया जा रहा है। बल, शक्ति, पराक्रम का उपार्जन और ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

गृहस्थियों के लिए भी ब्रह्मचर्य का विधान है। गृहस्थी यदि ब्रह्मचर्य रखेंगे तो उनकी संतान बलवान् होगी, दीर्घजीवी होगी। आजकल सब रोगी देखने में आते हैं क्योंकि सारे गृहस्थी बहुत भोगी बने हुए हैं। "भोगे रोग भयम्" जितना-जितना भोग अधिक होगा उतनी-उतनी शक्ति क्षीण होगी। जब ५०-५५ साल की हो जाए तो उनको बिल्कुल अलग-अलग सोना चाहिए। दूसरे कमरों में सोना चाहिए। बल्कि माता को तो परिवार में बच्चों में सोना चाहिए। दूसरे कमरों में सोना चाहिए। ताकि बच्चों का जीवन आदर्शयुक्त बने। कोई मर्यादा होनी चाहिए, कोई धर्म होना चाहिए। नहीं तो कैसे सन्तान अच्छी बनेगी? बातें करने से तो नहीं बनती। आचरण से बनती है। शरीर से शुद्ध आचरण नहीं किया जा रहा है, वाणी से भी यथेष्ट आचरण नहीं किया जा रहा है। मन से भी शुद्ध चिन्तन नहीं किया जाता है, कहाँ से देवता, ऋषि, मुनि पैदा होंगे या आएँगे। ऐसे लोगों की सन्तानें तो दुराचारी ही होंगी। एक प्रकार से अगर शास्त्र-मर्यादा देखी जाए तो सारी जिन्दगी में गृहस्थी के लिए दस बार पत्नी के साथ सम्बन्ध करने का विधान शास्त्र में है। अगर शास्त्र तुम्हारे ठीक हैं, वेद तुम्हारा ठीक है, तब तो यही धर्म माना जाएगा। वरना सब अधर्म की ओर ही चल रहे हैं। यदि तुम्हारा जीवन अच्छा होगा, सदाचार का जीवन होगा, आदर्शयुक्त जीवन होगा, तुम्हारी सन्तानों का भी वैसा ही जीवन बनेगा। कहाँ से आएँगी वे सन्तानें, आसमान से गिरेंगी, ऐसे दुराचारियों के घरों में? पहले अपने जीवन को वैसा बनाओ, जैसा आप अपनी सन्तानों को बनाना चाहते हो। पहले स्वयं वही कुछ करो। तब सन्तान भी अनुकरण करने लगेगी। 'मद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवतरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते" ॥ गीता ३-२१ ॥ जैसा आचरण बड़े, बूढ़े, गुरुजन, माता-पिता किया करते हैं, वैसा ही आचरण आने वाली सन्तति और सन्तानें किया करती हैं। उनको अच्छा बनाने की अपेक्षा पहले आप बनो। जैसे खरबूजे को देखकर खरबूजे का रंग पलट जाया करता है; ऐसे ही माता-पिता के शुद्ध पवित्र आचरण को देख कर बुरी सन्तान भी स्वयं लज्जित, शर्मिन्दा हो करके उनके कर्मों का आचरण किया करती है।

हम बम्बई में गए थे। एक परिवार में देखा कि पिता शराब पीता है, साथ में बेटे भी बैठते हैं; और कर्जा ले ले करके शराब उड़ाते हैं। उनकी कई लाख की चालू फैक्टरी थी। सत्यनाश कर दिया। "भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तथापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधी यते" ॥ गीता २-४४ ॥ जो इस प्रकार के भोग और ऐश्वर्य में गर्क रखते हैं उनकी बुद्धि तो कभी परमार्थ की ओर, अच्छे काम की ओर लगेगी ही नहीं। देखो, जीने को तो पशु भी जी रहे हैं। हम भारतियों की अपेक्षा अमेरिका के कुत्ते भी ज्यादा भोगी देखे हैं। बड़ी सुन्दर-सुन्दर गद्दियें, कुर्सियें उनके बैठने के लिए हैं, बड़े अच्छे कपड़े उन्हें पहिनाए जाते हैं। दो

कुत्तों पर एक नौकर रखा होता है। वाजार का बना हुआ अच्छा-अच्छा खाना उनके लिए आता है। यहाँ के अमीरों से वहाँ के कुत्ते अच्छे पल रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि संसार में भोग ही ज्यादा कल्याण, सुख और शान्ति का हेतु हो, तो वे कुत्ते ज्यादा अच्छे होंगे हमारे से, क्योंकि वैसा भोग तो हमें नहीं मिलता।

देखो जीवन में सादगी ज्यादा शोभा दिया करती है। महात्मा गान्धी के जीवन में सादगी थी। हमारे ऋषि-मुनियों के जीवन में सादगी थी। सादगी शोभा का हेतु हुआ करती है, जीवन सादा होना चाहिए। शरीर में वल, शक्ति, पराक्रम, बुद्धि आदि होनी चाहिए। शोभा तो इन बातों से होती है। बाहर की बनावट से क्या शोभा बनेगी? कहने का तात्पर्य यह है कि इस वक्त कामदेव का राज्य है सारे विश्व में। सृष्टि बढ़ती जा रही है। पढ़े-लिखे शहर के लोग समझदार होते जा रहे हैं। कुछ बुद्धि भी है इनमें सन्तानें भी कम पैदा कर रहे हैं। देहात के अनपढ़ जंगली जैसे लोगों की सन्तानें ज्यादा बढ़ती जा रही हैं, कारण कि जो थोड़ा-बहुत विद्या का प्रचार, धर्म का प्रचार है वह शहरों में ही है। बहुत-से देहातों में पशु जैसा जीवन है। सिवाय काम भोग के वहाँ कोई और बात ही नहीं। ऐसे मूर्खों के देश में जनसंख्या बढ़ती ही जाएगी। ६० करोड़ की जनसंख्या हो गयी है। कहाँ से समाएँगे और हर साल एक करोड़ जनसंख्या बढ़ती ही जा रही है। मरते कम हैं। कहने का तात्पर्य है कि यदि काम पर विजय पा लिया जाए तो आधे संसार पर विजय पा लिया समझो। जीवन का जो अमूल्य सार है उसको गन्दी नाली में बहा-बहा कर सुख समझते हैं।

परसों हम जा रहे थे सैर करने, एक कुत्ता सूखी हड्डी को लिए हुए समझ रहा था, मुझे दुनिया में पता नहीं क्या विभूति मिल गयी है। सूखी हड्डी को चबा चूस रहा था। उसके जबड़ों से खून निकल कर बह रहा था, उसके मुँह में ही जा रहा था। कुत्ता समझ रहा था इस हड्डी से खून निकल रहा है। ठीक है भोग भी भोगना ही चाहिए। भोग तो केवल सन्तान पैदा करने के लिए ही था, न कि सारा जीवन इसी में लगाने के लिए। यदि कोई अपने जीवन को स्वस्थ और प्रसन्न बनाना चाहता है, दीर्घजीवी होना चाहता है, तो उसके लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। उसे काम पर, कुछ न कुछ अधिकार या विजय पाने की आवश्यकता है।

व्याख्यान-१०८

क्रोध और काम पर वशित्व के साधन और उपाय।

ओ३म्—मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्नि प्रजापतिः।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे॥ यजु० ३२-१५॥

इस मन्त्र में उस मेधा-बुद्धि की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गयी है। "मेधां मे"—इन्द्र वरुण आदि देवताओं के द्वारा मुझे उस ऋतम्भरा बुद्धि की प्राप्ति हो जिसके द्वारा मैं भवपाश से मुक्त होकर जन्म-मरण के बन्धन से निवृत्त हो जाऊँ।

कई दिन से प्रसंग चल रहा है चित्तवृत्ति निरोध का। उस क्रम में कल का प्रसंग था, बुद्धि वृत्तियों का, और उसमें भी "काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः"। इस श्लोक के आधार पर काम और क्रोध की व्याख्या चल रही थी। रजोगुण से काम और क्रोध की उत्पत्ति होती है। वास्तव में यदि देखा जाए तो जितने भी लड़ाई-झगड़े हैं ये सब क्रोध के ही कार्य हैं। यदि क्रोध पर विजय पा ली जाए तो ये सब उपद्रव शान्त हो जाएँ। काम की प्रधानता पिछले दो-तीन दिनों के उपदेशों में बतलाई थी। दूसरा दर्जा क्रोध का है। क्रोध में एक प्रकार से प्रतिकार की भावना पैदा हो जाया करती है। शरीर, मन, वाणी के कर्मों को अपने से विपरीत देख करके अपनी इच्छा के विरुद्ध दूसरों के आचरणों को देख कर या अपने भी बहुत-से ऐसे आचरणों को देख करके क्रोध को उपज होती है। फिर यह क्रोध अनेक अनर्थों का मूल कारण बन जाया करता है। काम पर भी हमने विजय पानी है। काम के उस प्रसंग में दो अर्थ किए गए थे, सन्तान का सृजन और लोक-व्यवहार। यदि इन दोनों में हम सफल न हों तब क्रोध की उत्पत्ति होती है। जितने युद्ध, झगड़े आदि होते हैं इन सबका हेतु क्रोध है, आवेश है। शरीर से जो हिंसा आदि काम किए जाते हैं, चोरी आदि कर्म किए जाते हैं, इनका भी हेतु क्रोध ही होता है। क्रोध से भी अनेक प्रकार की वृत्ति होती है। जैसे काम से वृत्ति उत्पन्न होती है ऐसे ही क्रोध से भी उत्पन्न होती है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी है। सहनशीलता के द्वारा क्रोध की शान्ति या विनाश हो सकता है। आपने मुझे

कठोंर वचन कहे, उसको बर्दाश्त कर जाना, सहन करना, दूसरे के अपराध को क्षमा कर देना यह क्रोध का प्रतिकार है। किसी कें विरुद्ध आचरण को वर्दाश्त करने की शक्ति है। यह बुद्धि और मन का बड़ा भारी दमन हैं। कोई विरली ही महान् आत्मायें क्रोध के आवेश को दमन किया करती हैं। जब तक इनकी उपज होती रहेगी तब तक कोई साधक आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी नहीं बन सकता। तब तक ज्ञानवान् की पदवी उसको नहीं मिल सकती। क्रोध अनेक अमंगल वृत्तियों की उत्पत्ति का हेतु है। अनेक अनर्थों का मूल है। इसका निवारण क्षमा के द्वारा किया जाता है। महाभारत का कारण क्रोध बना था। द्रौपदी ने दुर्योधन को कठोर वचन कहे थे। यज्ञशाला दिखाते हुए कहा कि अन्धों के पुत्र अन्धे ही होते हैं। पाण्डवों के योग्य चित्रकारों ने यज्ञशाला कुछ ऐसी बनायी थी कि सामने की दीवार खुले द्वार दीखती थी। वहाँ दुर्योधन को धोखा हुआ। उसमें उसकी टक्कर लगी। द्रौपदी उसकी भौजाई लगती थी। उसने उपहास में उपरोक्त वचन कह दिया। जहाँ पानी का तालाब मालूम होता था वहाँ फर्श था, दुर्योधन फर्श पर धोतीं उठाक़र चलने लगा। ऐसे दो-तीन घटनाएँ देख कर उसने उपहास में कह दिया कि अन्धों के पुत्र अन्धे ही होते हैं। "सत्यम् ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यम् अप्रियम्" सत्य भी यदि बोलना हो तो प्यारे वचन होने चाहिएँ। ऐसा सत्य भी अच्छा नहीं होता, जो कठोर वचन के रूप में चुभने वाला हो। इसलिए उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि अच्छा द्रौपदी, तेरे इस उपहास का मैं बदला लूँगा। और भी अनेक कारण थे उसकी सज़ा द्रौपदी को भरी सभा के अन्दर नग्न करने की दी गयी थी। यह उसके उपहास की सज़ा थी। इसलिए हमेशा व्यवहार करते हुए ऐसे कठोर वचन नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि इससे फिर द्वेष की भावना उत्पन्न होती है। द्वेष में फिर प्रतिकार की भावना उत्पन्न होती है।

कब इस क्रोध पर विजय पाई जाएगी। संसार के व्यवहार करते हुए इस धर्म का निभाना बहुत कठिन है। वास्तव में जिस विज्ञान को आजकल हम सिखा रहे हैं, यह गृहस्थी लोगों के लिए नहीं है। यह तो वनस्थ लोगों की विद्या थी आध्यात्मिक विद्या। जब संसार के व्यवहारों से कर्मों से तृप्ति हो जाए, खूब निश्चिन्त हो जाए और फिर वानप्रस्थ का समय आए पचास-पचपन के बाद यदि जिज्ञासा हो, तब इस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए लग जाना चाहिए क्योंकि आधा जीवन संसार के लोक संग्रह के लिए और आधा परलोक संग्रह के लिए है। संसार के लोक-व्यवहार में कहीं भी शान्ति देखने में नहीं आती, कहीं भी सुख, सन्तोष देखने में नहीं आता। कोई सीमा ही किसी बात की नज़र नहीं आती है।

वानप्रस्थ आश्रम का जो समय है यह सन्तोष का है, सीमा का है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का है, और वैराग्य को दृढ़ करने का है। जब व्यक्ति कार्यक्षेत्र में प्रवृत्त होता है तब काम, क्रोध आदि विकारों की उपज होती है। है तो वह भी

कार्यक्षेत्र वनस्थ के लिए परन्तु वह अध्यात्म की ओर ले जाने वाला है। वह श्रेय-मार्ग की ओर ले जाने वाला है। वह संसार के दुःखों से निवृत्ति का मार्ग है, क्योंकि जितनी भी प्रवृत्ति हैं सब क्लेशों और दुःखों को उत्पन्न करती हैं। है तो यह भी प्रवृत्ति, क्योंकि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए यत्न जो है परन्तु एक ही प्रवृत्ति के सात्विक, राजस और तामस रूप से भेद हो जाते हैं। जो गृहस्थियों की प्रवृत्ति है यह प्रायः रजोगुणात्मक और तमोगुणात्मक होती है वनस्थों की प्रवृत्ति में सत्त्व-गुण की प्रधानता रही है। इनके गुणों के फल अलग-अलग हो कहे हैं। आपके चित्त में भी किसी-किसी दिन बड़ी शान्ति होती है। अभ्यास के अन्दर और किसी दिन चित्त बड़ा क्षुब्ध-सा, चंचल-सा बना रहता है। संसार के व्यवहार की ओर दौड़ता रहता है। जिस वक्त आपके अन्तःकरण में सत्त्वगुण प्रधान रहता है निरन्तर इसका प्रवाह बहता रहता है। उस वक्त ज्ञान, वैराग्य, श्रेष्ठ कर्म, दान, पुण्य लोकोपकार आदि ऐसे शुभ कार्यों में इच्छा हुआ करती है। या इस प्रकार की प्रवृत्ति की उपज हुआ करती है। जब रजोगुण प्रधान होता है तब संसार के भोग और ऐश्वर्यों के संग्रह की इच्छा हुआ करती है। देखा जा रहा है कि सारा जीवन भोग, ऐश्वर्य और सुखों के संग्रह में लगा रहता है। कामनाओं की कोई सीमा ही देखने में नहीं आती, जन्म से लेकर मरण तक लोक-संग्रह में ही लगे रहते हैं। वहाँ भी तृप्ति देखने में नहीं आती।

तृप्ति का मार्ग यह वानप्रस्थियों का होता है। वानप्रस्थ में भी एक छोटा-सा गृहस्थ रहता है। इसमें काम, क्रोध आदि विकारों का दमन करने का अवसर मिलता है। पत्नी साथ होती है, उसके साथ कुछ न कुछ राग और मोह होता ही है। या पति साथ में होता है, उसके साथ प्यार और स्नेह तो होता ही है। इससे भी निवृत्त का मार्ग, फिर चौथा आश्रम संन्यास बतलाया है। जो कुछ प्राप्त करने वाली चीज है, यह इन तीन ही आश्रमों में है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम।

संन्यास आश्रम तो उस वक्त ग्रहण करना चाहिए जब सब प्रकार की उपलब्धियाँ हो जाएँ। सब प्रकार की कामनायें सिद्ध हो जाएँ। सब प्रकार के मनोरथ भी पूर्ण हो जाएँ। ये तीनों आश्रम मनोरथों की सिद्ध के लिए हैं। चौथा आश्रम परम वैराग्य को दृढ़ करने के लिए है क्योंकि तत्त्वज्ञान तो वानप्रस्थ आश्रम में हो जाता है, परन्तु परम वैराग्य नहीं होता। कहा है "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।" जिस समय वैराग्य हो जाय उस वक्त संन्यास ले ले। "परीक्ष्य-लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद् विज्ञानार्थम् स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित् पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" ॥ मुण्डक० २-१२ ॥ उपनिषद् में ऐसा वचन आता है। इसमें ब्राह्मण शब्द दिया है। "ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः ब्रह्म को जानने के लिए अब प्रवृत्त होना चाहता है। ५५ साल की आयु तक जो कर्म किए हैं उनका अच्छी तरह निरीक्षण करके भली प्रकार देख करके "निर्वेदं

आयान्नास्ति कृतः कृतेन ।'—अर्थात् जो किए हैं या जो नहीं किए हैं इन सब प्रकार के कर्मों का निरीक्षण कर ले, देख ले कि मैंने इस भूतकाल के जीवन में क्या-क्या कर्म किए हैं। आगे मैंने क्या-क्या करने हैं। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में जाकर मैंने क्या-क्या करने हैं। दोनों प्रकार का निर्णय करके, निश्चय करके, जान करके, निर्वेदम् अर्थात् वैराग्य को। जिसको वैराग्य होने जा रहा है, जो संसार के व्यवहार से निवृत्त होने जा रहा है, निर्वेद प्राप्त हो रहा है। "तद् विज्ञानार्थम्" उस निर्वेद या उस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए या उस वैराग्य को सिद्ध करने के लिए 'गुरुमेवाभि गच्छेत्'—किसी आत्मवित् आचार्य के पास जाए, किसी योगी ज्ञानी के पास जाए।

मुझे ७० वर्ष का घटनाचक्र तो प्रायः सारा ही याद है। जिस प्रकार आज-कल ध्यान योग की मेडिटेशन की क्लासें लगानी प्रारम्भ की थीं। मैं मोहन आश्रम हरिद्वार में रहा करता था। मेरे भक्त अमृतसर, पंजाब आदि के लोग आया करते थे। दो माह तक हम लोग गंगा के किनारे जा करके साधना किया करते थे। उनको बिठा करके मैं साधना कराया करता था, अभ्यास में उनकी बड़ी उन्नति होती थी। जो लोग यहाँ के कर्म और व्यापार छोड़ करके हिमालय में या एकान्त आश्रमों में रह करके साधना करते हैं उन्हें वहां बहुत जल्दी तत्त्वज्ञान की प्राप्ति या सिद्धि होती है। उनके अभ्यास में बहुत अच्छी प्रगति होती है। यहाँ दिन-भर लोक-व्यवहार चलता है और वहाँ ये सब व्यवहार बन्द हो जाते हैं, एकान्त स्थानों में व्यवहार से निवृत्त हो करके जाते हैं। लोक-व्यवहारों का इतना घना आवरण होता है कि चित्त पर यह ज्ञान को दृढ़ नहीं होने देता। वहाँ तो दिन और सारी रात और कोई व्यवहार करने को नहीं होता। अतः सफलता जल्दी होती है। मैंने जब तक हिमालय में स्थायी निवास नहीं किया था, तब तक साल में दो-तीन माह हरिद्वार में चला जाता था। वहाँ आश्रम में ठहर करके लोगों को साधना कराया करता था। कहने का तात्पर्य यह है कि यह तत्त्वज्ञान उन वनस्थों के लिए है जो लोक-व्यवहार से निवृत हो गए हों। संसार के सब भोगों से जिनकी तृप्ति हो गई है। अभी तो भोगों से आपकी तृप्ति ही नहीं हुई है। यह छोटा-सा एक-आध घण्टे का अभ्यास करते हो, उसके प्रभाव को संसार के लोक-व्यवहार ऐसे दबा देते हैं, जैसे छोटा-सा फूलों का गुलदस्ता हो, और उसके ऊपर टोकरी भर करके कूड़ा-कर्कट डाल दें। यह जो एक घंटे का आपका सत्संग है, अभ्यास है, इसकी कुछ ऐसी ही स्थिति है। लोक-व्यवहार करना चाहिए, परन्तु करने में भी तो अन्तर होता है। एक व्यवहार है, परमार्थ का। जैसे स्वाध्याय या अभ्यास आदि हैं, यह भी व्यवहार है और धन-संग्रह करने आदि का व्यवहार। व्यवहारों में भी अन्तर होता है। एक ही प्रकार के व्यवहार से मनुष्य तंग आ जाता है। रोज नई-नई बात चाहता है, नया-नया आविष्कार चाहता है। नई-नई उपलब्धि चाहता है। परिवर्तन चाहता

है। इस प्रकार के परिवर्तन से मन बहलाता रहता है।

वैसे तो देखा जाय तो निरन्तर धाराप्रवाह से मन का एक ही आकार से बहते रहना ही शान्ति का हेतु हुआ करता है। जैसे कोई मिष्ठान्न खा रहा है, बड़ी प्रीति से, प्रेम से दिल लगाकर, मन लगा कर खा रहा है। उसमें बड़े आनन्द, स्वाद की बात आती है। बड़ी शान्ति बड़ा आनन्द आता है। अगर कोई मिठाई का थाल परोस कर मेरे सामने रख दे और फिर नंगी तलवार मेरे ऊपर एक कच्चे धागे से बाँध दी जाय। मेरा ध्यान तो तलवार की तरफ लगा रहेगा। मिठाई खाने का स्वाद इतना नहीं आएगा, क्योंकि ध्यान उधर लगा रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह जो धाराप्रवाह किसी चीज का एक तरह बहते रहना है, यही शान्ति का हेतु होता है। जब यह धाराप्रवाह टूट जाता है तब एकाग्रता नहीं बनती। एकाग्रता का मतलब है कि जो बहुत-से व्यवहार मन के अन्दर चलते रहते हैं या संस्कार उदय होते रहते हैं, उन संस्कारों को अभ्यास के द्वारा बढ़ाया जाता है। "पुनः पोत्र्यं अभ्यासः" अभ्यास का अर्थ है एक ही बात को बार-बार रटना, प्रैक्टिस करना। पुनः-पुंनः की बात बनी हुई है। धाराप्रवाह की बात बनाना चाहते हैं। एकाकार से मन का इन्द्रियों का वहन करना चाहते हैं। तब शान्ति की उपलब्धि होती है। अभ्यास में यही तो विशेषता है। यही बात यहाँ सिखाई जाती है। चाहे वह ओ३म् का ही जाप हो, चाहे राम का या गायत्री मन्त्र का जाप हो। चाहे निर्विषय की अवस्था हो, एकाग्रता लाई जाती है। वही एकाग्रता शान्ति का, सुख का, आनन्द का हेतु बनती है।

जब एक आदमी किसी काम को करके थक जाता है तब शान्ति चाहता है, निवृत्ति चाहता है। सारा दिन लोक-व्यवहार के काम करके भी मनुष्य थक जाता है। उसको निवृत्ति चाहिए, शान्ति चाहिए। शान्ति का अवलम्बन यह श्रेय मार्ग है। यह सुना गया है कि जो ध्यान, योग आदि न करते हुए गृहस्थ में काम-भोग किया करते हैं, उनके जोड़ों में सर्दियों में दर्द हो जाया करती है, क्योंकि ध्यान आदि के लिए, अभ्यास के लिए वीर्य की बड़ी आवश्यकता है। एकाग्रता और निरोध वीर्य पैदा करते हैं। वीर्य बुद्धि को बलवान बनाता है, बुद्धि की तृप्ति करता है, पोषण करता है। मन के पोषण का भी साधन है, उसका जो आहार है वह भोग आदि में स्खलित हो जाता है। इसलिए ऐसे व्यक्तियों की बुद्धि चंचल तथा विक्षिप्त हो जाती है। स्थिरता नहीं आती, ओज नहीं बढ़ता, तेज कांति नहीं बढ़ती, शान्ति नहीं होती है। अनेक प्रकार से वीर्य शरीर से निकल जाता है तब केवल मज्जा, मेद, आदि रह जाते हैं। ये संधियों को ठोस बना देते हैं। वीर्य से शरीर में कोमलता आती है। लचक और तरलता रहती है। यह जितना ज्यादा शरीर में रहेगा उतना इसमें लचकीलापन, शक्ति, पराक्रम आदि रहते हैं। प्राचीन काल के कुछ ऐसे दृष्टांत मिलते हैं, कि जिस दम्पति के सन्तान नहीं हुआ करती

थी वे बन में एकान्त में जा करके तपस्या किया करते थे। राजे, महाराजे, गृहस्थी भी संतान की कामना के लिए कुछ वर्ष तपस्या किया करते थे। फिर सन्तान पैदा करते थे, क्योंकि उस वक्त वीर्य का संचय संग्रह हो जाता है, शरीर में बल, पराक्रम शक्ति बढ़ जाती है। फिर जो संतान पैदा होती थी वह वैसी ही भावनाओं को लिए हुए, वैसे ही संस्कारों को लिए हुए होती थी। आजकल इस प्रकार की संतान कहाँ होती है ? रजोगुणात्मक, तमोगुणात्मक, लोक-व्यवहारों के संस्कारों से जो संतान पैदा होती है वह रजोगुणी, तमोगुणी होती है।

प्राचीन काल में यहाँ गृहस्थी भी संतान को अच्छा बनाने के लिए तपस्या करते थे, क्योंकि अच्छे संसार का निर्माण अच्छी संतानों से ही बनेगा। अच्छी संतानें होंगी, अच्छे बच्चे, बच्चियाँ होंगी, तब एक-एक अच्छे व्यक्ति के मेल से अच्छा समाज बनता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अच्छा होगा तो समूह, समाज भी अच्छा होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार में उत्तम संतान निर्माण करने के लिए भी ब्रह्मचर्य की बड़ी आवश्यकता है, जितेन्द्रियता की बड़ी आवश्यकता है। जितेन्द्रिय होने का अभिप्राय यह है कि हम जिस किसी काम को करना चाहें उसमें रहें। नेत्र से यदि हम रूप को देखना चाहें तो नेत्र रूप को देखें, अगर हम कानों से शब्द सुनना चाहें तो शब्द को कान सुनें, अपनी इच्छा के विरुद्ध न नेत्र रूप को देखें, न कान शब्द को सुनें, न हाथ स्पर्श करें। हमारा मन पर संयम होना चाहिए, बुद्धि पर अधिकार होना चाहिए जिससे कि मन और बुद्धि हमारी आज्ञा के बिना कोई विरुद्ध कर्म में पाप कर्म में प्रवृत्त न हो सकें। यही तो साधन सिखाता है। जैसे यहाँ रोज प्रातः साधना में बैठते हो, घर में भी इसी प्रकार इस साधना को चलाए रखो।

नित्य प्रति उठ करके योग साधना करते रहो, तुम्हारे जीवन की दिन-भर को दिनचर्या भी अच्छी होगी। लोक-व्यवहार भी अच्छा होगा। उधर पाप कर्म में प्रवृत्ति भी नहीं होगी। जितना व्यवहार करोगे सात्विकता को लिए हुए होगा। शान्ति को लिए हुए होगा। ये सारी बातें पैदा होंगी। एक नियम बना लो कि नित्य प्रति ऐसी साधना करनी है। जैसे एक आदमी के पास सौ रुपए हैं, उनको व्यापार में लगा करके उस धन को बढ़ा लेता है। इसी प्रकार जो तुम्हें ज्ञान की उपलब्धि हो उसको अभ्यास के द्वारा बढ़ाने का यत्न करो। अभी तो तुम्हारा संघर्ष मन की शान्ति के लिए ही बना रहता है। ज्ञान के मार्ग पर तो प्रायः अभी चले ही नहीं। क्योंकि मन ठहरे तो ज्ञान की तरफ लगेगा। उसकी तो भाग-दौड़ लोक-व्यवहार की रहती है। दिन-भर ये ८-१० घण्टे का लोक-व्यवहार ज्यादा होता है। उसका तो प्रवाह दरिया के समान उधर ही चल रहा है। हठात् खींच करके इसको अध्यात्म की ओर लगाते हो। जिस तरफ के संस्कार ज्यादा होते हैं, जिस तरफ का राग ज्यादा होता है, मन और बुद्धि उस तरफ ज्यादा दौड़ते हैं।

राग तो है सारे संसार के व्यवहारों की तरफ, उसी तरफ मन दौड़ेगा। जब इस परमार्थ की तरफ, अध्यात्म की तरफ तुम्हारा अनुराग हो जायेगा, प्रेम हो जाएगा, मन फिर दौड़ेगा, इधर की उपलब्धि विशेष होगा। इधर का जीवन भी उत्कर्ष और आदर्शयुक्त बनेगा। इसलिए आप अपने घरों में भी इस प्रकार की साधना प्रातः-सायं किया करें। आपका गृहस्थ जीवन भी बहुत ऊँचा, शान्तिदायक बनेगा। आपका परमार्थ भी और जीवन भी सुधर जाएगा।

□□□





